मीमांसा दर्शन
का
विवेचनात्मक इतिहास

डॉ॰ गजानन शास्त्री 'मुसलगाँवकर'

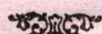
चौखम्बा विद्याभवन : वाराणसी



॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

६४



मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास

लेखक

राष्ट्रपति-सम्मानित

मीमांसाभूषण डॉ० गजानन शास्त्री 'मुसलगाँवकर'

मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्य; एम. ए., पी-एच. डी.

भू० पू० प्राध्यापक तथा अध्यक्ष :

मीमांसा-धर्मशास्त्र विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

प्रथम संस्करण १९९२

मूल्य १५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

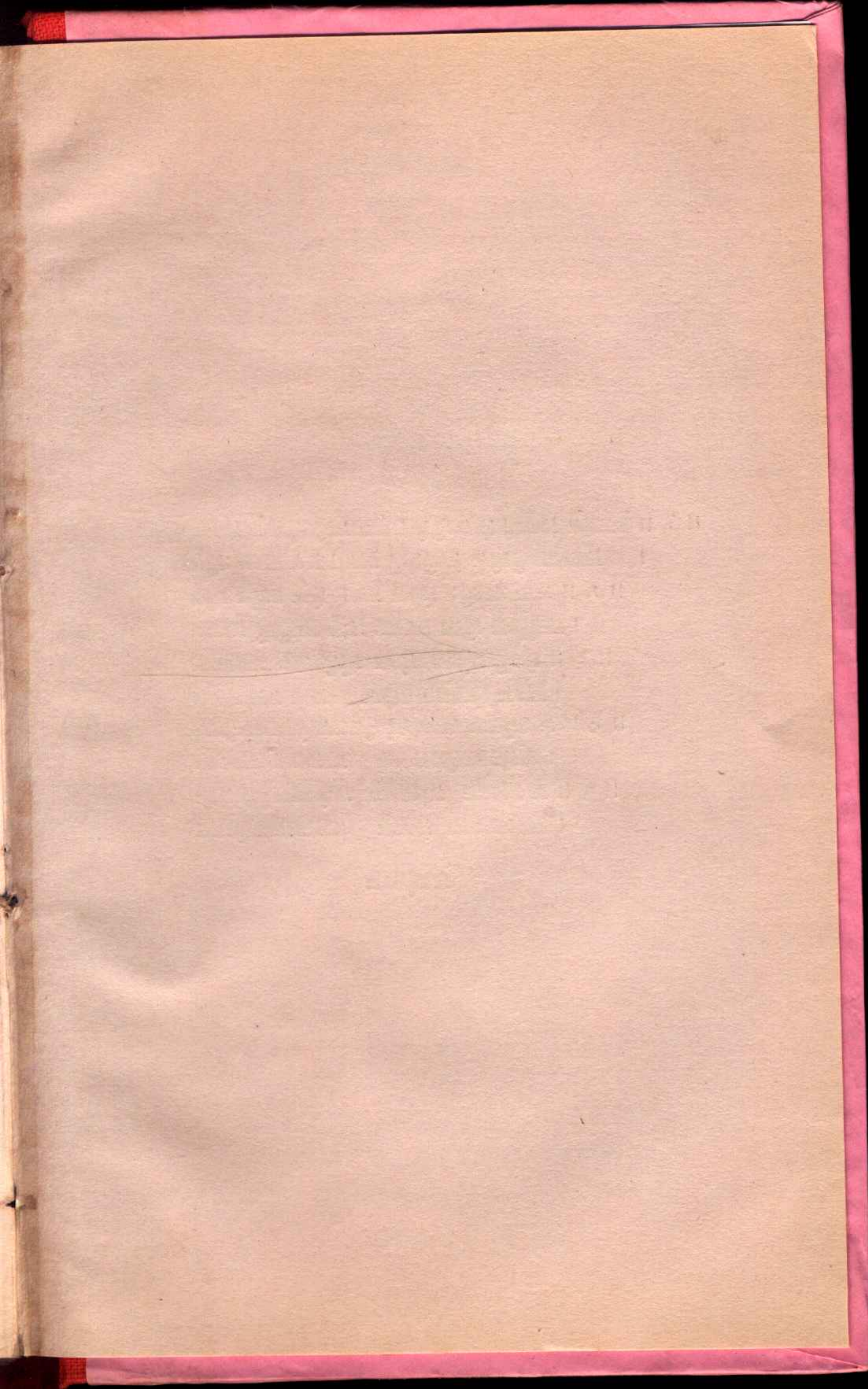
मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

समर्पणम्

दत्तात्रेयस्वरूपाणां गुरूणां पादपङ्कजम् ।
मीमांसैतिह्यपुष्पेण पूजयामि नमामि च ॥ १ ॥
गुरूणाम्पादपद्मस्य सेवयाऽधीतवानहम् ।
तेजस्विनाममोघाऽऽशीर्वचांस्यद्य फलन्ति वै ॥ २ ॥
भवदुप्तस्य बीजस्य लघीयानङ्कुरो महान् ।
तरुस्तस्य फलादीनि त्वदीयान्यर्पयामि ते ॥ ३ ॥
श्रद्धया विहिता पूजा भक्त्या त्वयि समर्पिता ।
मयि मूर्ध्नि गुरो तेऽस्तु वरदो दक्षिणः करः ॥ ४ ॥
श्रीमद्गुरोः पादरजःप्रसादाद् विवेचितं जैमिनितन्त्रवृत्तम् ।
मीमांसकानां सुयशोऽभिगायन् तन्त्रेतिहासो विदुषां मुदेऽस्तु ॥ ५ ॥



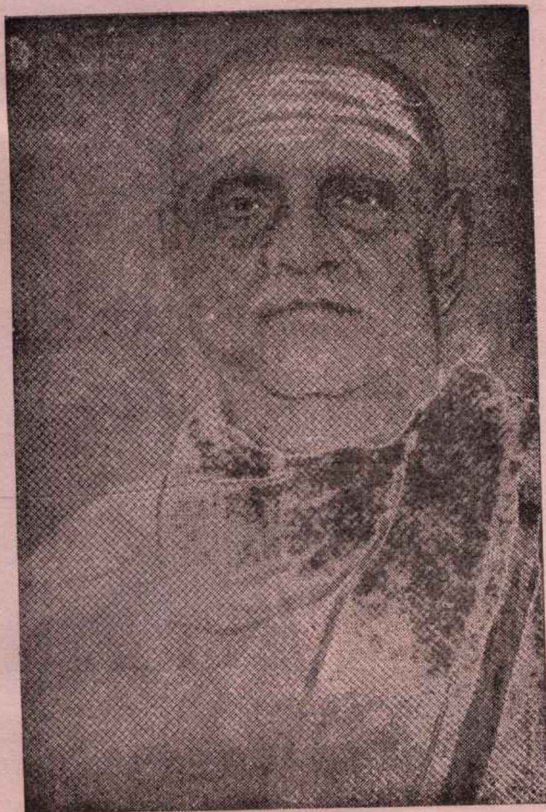
मम पूज्या पितृचरणाः



धर्मशास्त्रकानन-प्रचण्डपञ्चानन-शास्त्ररत्नाकराः
म० म० सदाशिवशास्त्रिपादाः

नानाशास्त्रवचोविचारचतुरो विद्यावतामग्रणी-
र्यो गोपाचलभूपतेश्चिरमभूद्विद्वत्सभाभूषणम् ।
शास्त्राणि स्वयमेव मां प्रियतया सर्वाणि योऽध्यापयद्
वावन्दीमि सदाशिवाभिधमहं तातं तमत्यादरात् ॥

मम पूज्या गुरुचरणाः



पण्डित-सार्वभौम-मीमांसाकेशरिणः
म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिपादाः

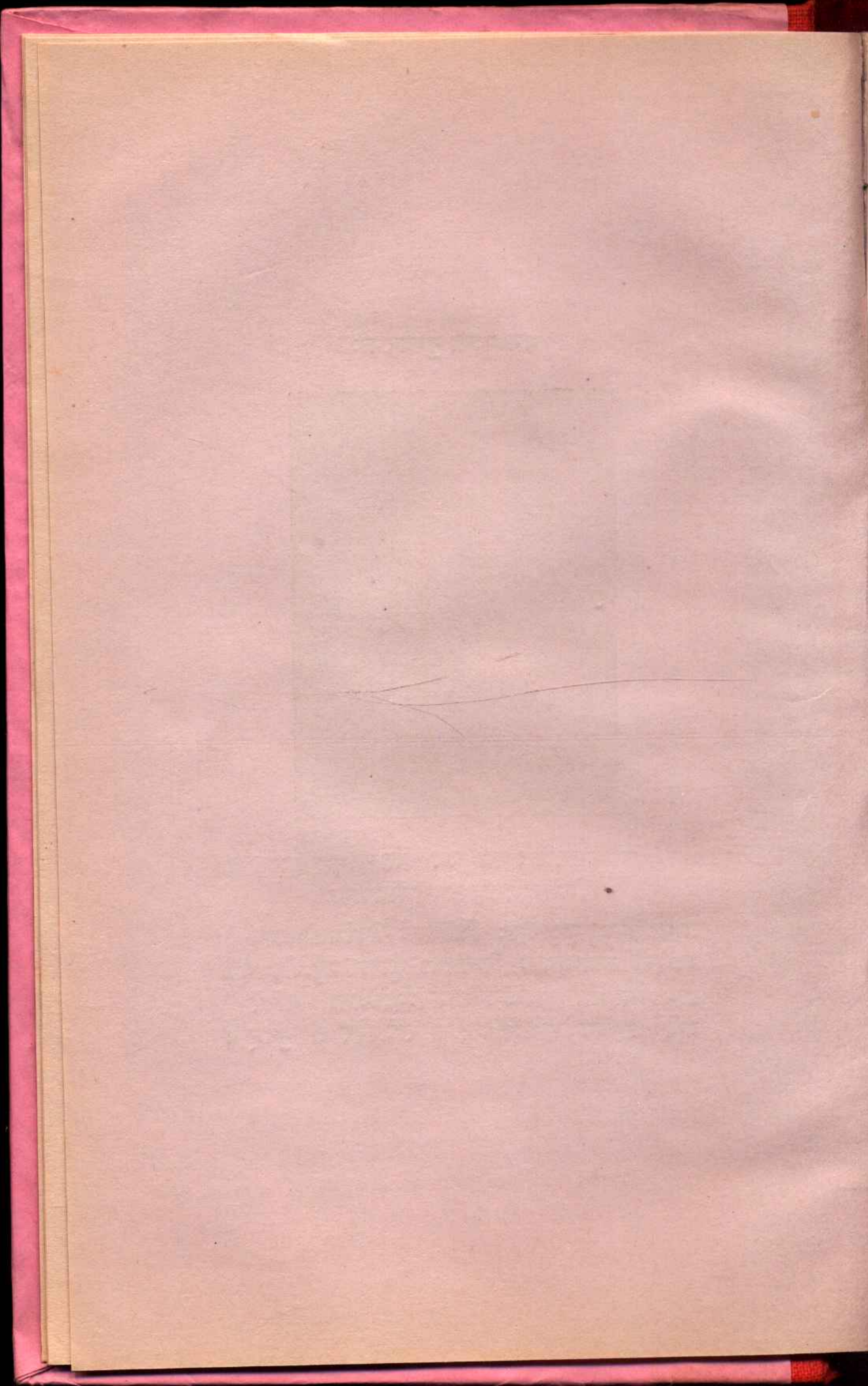
वाग्देव्याश्चलमन्दिरं सुमनसामालम्बनं मञ्जुलं
सम्मानस्य निकेतनं मतिमतां योगस्य चास्यानकम् ।
धन्यं धाम सरस्वतीपदजुषां कौमारिलं विग्रहं
चिन्नस्वामिबुधं नमामि सततं मीमांसकं स्वं गुरुम् ॥

मम पूज्या गुरुचरणाः



शास्त्ररत्नाकर-पद्मभूषण-सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः
पण्डितराजराजेश्वरशास्त्रिपादाः

प्राप्तः किन्तु बृहस्पतिः क्षितितलं गीर्वाणलोकादयं
वाग्देवी स्वयमागता किमथवा धृत्वा वपुःपौरुषम् ।
इत्थं यत्प्रतिभाप्रकर्षचकिता विद्वज्जना मेनिरे
वन्दे द्राविडवंशमौक्तिकमणिं राजेश्वरं तं गुरुम् ॥



प्रस्तावना

हिन्दुओं का मूल निवास-स्थान—हिन्दुओं का मूल निवास-स्थान 'भारत-वर्ष' है। इसका क्षेत्रफल नवसहस्र-योजन विस्तीर्ण है। यह जम्बूद्वीप में बसा हुआ है। किसी समय इसका नाम 'अजनाभवर्ष' था। पश्चात् ऋषभदेव के पुत्र 'भरत' के समय से इसका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा[1]।

स्वायंभुव मनु की पाँचवीं पीढ़ी में ऋषभदेव हुए हैं[2]। ऋषभदेव ने हिमालय के दक्षिण भाग का वर्ष 'भरत' को दिया। उसी महात्मा के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया[3]। प्रजा का भरण-पोषण करने से मनु-पुत्र 'भरत' कहलाये और उनके द्वारा परिपालित होने से इस देश को 'भारत' कहा जाने लगा। भागवतकार महर्षि व्यास ने भी कहा है—'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्, येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति' (भाग० अ० ४, श्लो० ९)।

वर्णाश्रमधर्मानुयायी हिन्दुओं को 'आर्य' नाम से भी कहा जाता था। उस कारण इस भारतवर्ष को 'आर्यावर्त'[4] भी कहते हैं। 'आर्या आवर्तन्ते यत्र सः आर्यावर्तः'—यह निरुक्ति स्पष्ट बता रही है कि 'आर्य' लोग यहाँ के मूल निवासी हैं। अतः कहीं बाहर से आकर आर्य लोगों के यहाँ बसने का जो आधुनिक इतिहास बताया जाता है, वह नितान्त मिथ्या एवं दुरभिसन्धि-पूर्ण है।

यह भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। यह देश आध्यात्मिक, आधिदैविक

---

१. श्रीमद्भागवत, पञ्चमस्कन्ध।

२. स्वायंभुव मनु से प्रियव्रत, उनसे आग्नीध्र, उनसे नाभि और उनसे ऋषभदेव।

३. हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय ददौ पिता। तस्माच्च भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥ (मार्कण्डेयपुराण अ० ५७)। नाभेः पुत्रस्तु ऋषभः भरतश्चाऽभवत्ततः॥ तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतश्चेति कीर्त्यते॥ (नारसिंह पुरा० अ० ३०)। भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते। निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥ (ब्रह्मपु० पूर्वभाग ४८।१०) तथा 'भरतेऽसौ प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते' (महाभार० वनपर्व २११।१)।

४. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ (मनु० २।२२)

और आधिभौतिक तीनों शक्तियों से सम्पन्न था, फिर भी आध्यात्मिक शक्ति की प्रधानता थी, जो आज के दूषित वातावरण में भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो ही जाती है। वर्णाश्रमादि विशेष धर्मों के साथ-साथ दशविध सामान्य धर्म का पालन यहाँ का निवासी प्रत्येक व्यक्ति करता था। चीनी यात्री फाहियान ई० ३९९ में भारत की यात्रा करने आया था। दो वर्ष भारत-यात्रा करके जब वह अपने देश में पहुँचा, तब उसने अपने संस्मरण लिखे। उसमें उसने लिखा है कि—'मैं भारत में दो वर्ष रहा। मैंने वहाँ मिथ्या भाषण करते हुए किसी व्यक्ति को नहीं पाया'। उसने भारत की बहुत-बहुत प्रशंसा लिखी है। भारत के प्रत्येक व्यक्ति की वैदिक धर्म पर अटूट श्रद्धा थी। हिन्दुओं का धर्मग्रन्थ 'वेद' ही है। अन्यान्य जितने भी धर्मग्रन्थ परवर्तीकाल में हुए, वे सभी 'वेद' ही के आधार पर रचे गये। इसीलिए उन ग्रन्थों को वेदमूलक कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति वेद तथा तन्मूलक धर्मग्रन्थों की आज्ञा मानकर अपनी मर्यादा में रहता था। यह धर्मग्रन्थ 'वेद' परमेश्वर की आज्ञारूप है। भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है—'श्रुति-स्मृती ममैवाज्ञे'। भगवदाज्ञारूप यह वेद 'अपौरुषेय' एवं 'नित्य' है। अपौरुषेय होने से ही सर्वथा और सर्वदा दोषरहित है। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व अनादिकाल से 'वेदों' को वन्दनीय एवं अभिनन्दनीय मानता आ रहा है। ये 'वेद' सर्वज्ञानमय हैं—'सर्वज्ञानमयो हि सः'। अतएव विश्व के ज्ञानपिपासु लोग सदा से और आज भी अपनी तृष्णा-शान्ति के लिए उसका अभ्यास, अहर्निश चिन्तन बड़े मनोयोग से करते आ रहे हैं। भारत में तो प्रत्येक त्रैवर्णिक वेदाध्ययन करना अपना नित्य कर्तव्य समझता था और आज भी वाराणसी जैसे अन्य पुण्यक्षेत्रों में कहीं-कहीं पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो नित्य प्रति वेदाध्ययन एवं अध्यापन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

कुसंस्कारवश संशयालु कतिपय मुठ्ठी भर लोगों को यह संदेह होता है कि 'वेद' जब 'शब्दराशिमय' है, तब वह बिना किसी के रचे अपने आप कैसे हुआ? इन लोगों को संदेह इसलिए हुआ कि वे शब्द की नित्यता को नहीं समझ पाये हैं। न समझ पाने का कारण यह है कि वे सांसारिक कार्यों के सम्पादन में ही सदैव लगे रहते हैं। उन्हें कभी ऐसा अवसर ही नहीं मिल पाया, जिसमें शान्तचित्त से विचार किया हो कि 'मनुष्य' जन्म से पूर्व तथा पश्चात् भी कुछ है। प्रतिदिन देखते आये हैं कि प्रत्येक वस्तु पैदा होती है, क्रमशः बढ़ती है और अन्त में नष्ट होती है। इस कारण वे इस बात को समझने में असमर्थ रहे कि कोई नित्य वस्तु भी होती है।

किसी विषय की आलोचना तभी की जा सकती है, जब कोई 'प्रमाण' हाथ लग जाय। अन्यथा किसी विषय में अन्यथा ग्रह बनाकर प्रमाणहीन एक पक्ष बना लेना आलोचकों को शोभा नहीं देता।

अतः वेद की अपौरुषेयता में प्रथम प्रमाण तो यही है कि उसकी 'पौरुषेयता' में किसी 'प्रमाण' का न होना। अर्थात् पौरुषेयता में प्रमाण का न होना ही 'अपौरुषेयता' का प्रथम प्रमाण है। क्योंकि पौरुषेयता में न 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है, और न 'शब्द' प्रमाण ही है। शेष रहा 'अनुमानप्रमाण'; तो स्वयं सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने उसे 'अप्रयोजक' बताया है।

किञ्च अनादिकाल से आजतक वेद की अध्ययन-परम्परा अविच्छिन्नतया चलती आ रही है। गुर्वध्ययनपूर्वक सम्प्रदाय में जब शिष्य (विद्यार्थी) को अच्छी तरह परख लिया जाता है, तब उसे पढ़ाना आरंभ किया जाता है। और तद्विषयक गूढ़ रहस्यों को भी बता दिया जाता है। उन रहस्यों में से यह भी एक रहस्य बताया जाता है कि परम प्रमाणभूत 'वेद' की सदा-सर्वदा अध्ययन के द्वारा रक्षा करते रहना। इस रहस्य को सुनते ही शिष्य के मन में स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मेरे गुरु ने उसकी रक्षा करने के लिए क्यों कहा? 'यह तुम्हारा कर्तव्य है' कहने पर उसमें प्रमाण की खोज की जाती है। इस कर्तव्य के करने या न करने पर क्या लाभ-हानि होती है? शिष्य के मन में उठी हुई इन जिज्ञासाओं को उसका गुरु युक्तिपुरःसर शान्त करते हुए शिष्य को सन्तुष्ट करता है। उसे वेद का प्रामाण्य समझाता है। इस रीति से आचार्य-परम्परापूर्वक सम्पूर्ण वेद, उसके प्रामाण्य का विचार, उसका स्वीकार और तदनुसार अनुष्ठान आदि सब बातें अनादिकाल से चलती आ रही हैं। हमारे पूर्वज प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने मनोयोग के साथ उक्त तथ्यों पर बहुत गहन विचार किया है और निर्णय भी कर दिया है। वेद के 'स्वतःप्रामाण्य' के विषय में उन महर्षियों ने ऊर्ध्वबाहु होकर निर्भीक उद्घोष भी किया है। अतएव प्रत्येक त्रैवर्णिक द्विज वेदों का यथाविधि अध्ययन प्रतिदिन किया करता था। वेदाध्ययन करना प्रत्येक द्विज अपना नित्य कर्तव्य समझता था। यही कारण था कि भक्ति, श्रद्धा, विश्वास के साथ किये जाने वाले मन्त्र-प्रयोगों से अभिलषित फलों की प्राप्ति हुआ करती थी। हमारा भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्यावर्त (भारत) के निवासी सभी आर्यों में निग्रहानुग्रह-सामर्थ्य था। उनका वेदाध्ययन तेजस्वी था, शस्त्रास्त्रविद्या में अद्भुत चमत्कार था, दैवी शक्तियाँ सदा-सर्वदा सहायक होती थीं। भारत के पास यही अध्यात्म-शक्ति पूर्णरूपेण थी, जो कभी भी विफल नहीं होती थीं। हमारे पूर्वज महर्षियों ने अपने उन अनुभवों को ही शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों के रूप में जनकल्याणार्थ प्रकाशित कर दिया है। उनके अनुभवमूलक निर्णय (सिद्धान्त) सदा-सर्वदा के लिए अकाट्य हैं।

कल्प के आरंभ में जगत्सर्जन के लिए जब ब्रह्माजी तैयार हुए, तब उन्हें भी 'वेद' का ही आधार लेना पड़ा। क्योंकि 'वेद' सर्वज्ञानमय (समस्त ज्ञानों का भण्डार) है।

इस इतिहास से वेद का महत्त्व और गौरव अच्छी तरह लक्षित होता है। वेद-विहित आवश्यक अनुष्ठेय कर्मों में सर्वप्रथम 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् वेद का अध्ययन करना चाहिए, कहा गया है। अनुल्लंघनीय इस वेदाज्ञा के कारण प्रत्येक द्विज को वैदिक पद्धति से यथाविधि नियमपूर्वक वेद का अध्ययन करना होता था। जो नहीं पढ़ता था उसे 'व्रात्य' समझा जाता था। 'वेद' न पढ़ने वाले की दुर्जातता को स्वयं ऋग्वेद की ऋचा बता रही है। वेद के अक्षरों को पढ़ लेने मात्र से फलप्राप्ति नहीं होती, उसके लिए वेद का अर्थज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता था। यह अध्ययन केवल विधि के नाते ही नहीं, अपितु लोकयात्रा को सुव्यवस्थित रखने के लिए वेदविद्या की आवश्यकता समझकर किया जाता था। वेदविद्या के बिना सम्पूर्ण जगत् शून्य-सा लगने लगता था। आज भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि बिना शैक्षणिक व्यवस्था के लोकव्यवहार विश्रृंखलित हो जाता है। इस तथ्य को प्राचीन आर्यों ने अच्छी तरह समझा था। यदि किसी व्यवस्था के अधीन न रहकर स्वतन्त्र प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया जाय, तो एक के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण दूसरा व्यक्ति नहीं करता। मानव-बुद्धि का स्वभाव है कि वह परिमित विषय को ही ग्रहण करती है। उस कारण वह व्यग्र-सी, कलुषित एवं आग्रहपूर्ण (पक्षपातिनी) तथा भ्रमबहुल हुआ करती है। किसी तरह ऐहिक बातों को सम्पन्न कर लेने पर भी पारलौकिक बातों को तो मन से सोचने में भी मानव असमर्थ रहता है। 'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार बुद्धिसम्पत्ति एक-सी न होकर भिन्न-भिन्न हुआ करती है। उस कारण 'अनुमान' भी सुव्यवस्थित रूप से नहीं किया जा सकता। अतः दुष्परिहरणीय विश्रृंखलता न फैलने पाए, इस निमित्त संसार में शुद्ध विद्या-सम्प्रदाय की आवश्यकता हुई। इस रहस्य को न समझकर केवल कुतर्कों के द्वारा कोई व्यक्ति कदाचित् 'वेद' पर आक्रमण न कर बैठे, तन्निमित्त प्राचीनों ने वैसा न करने का उपदेश दिया है। एवं च लोकयात्रा को सुव्यवस्थित रखने के लिए चिरकाल से विद्यासम्प्रदाय का प्रवाह अविच्छिन्न गति से चलाया जा रहा है।

वेद की अपनी एक और भी अनन्य साधारण विशेषता है। सर्वत्र अभि-संहित अर्थ के प्रकाशनार्थ 'शब्द' का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि सर्वत्र 'अर्थ' की प्रधानता रहती है, और उसके प्रतिपादक शब्द की 'गौणता' रहती है। परन्तु वेद में 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों की प्रधानता समानरूप से रहती है।

इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'वेद' को शब्द-प्रधान क्यों कहा जाता है? अर्थात् 'वेद' में शब्द की प्रधानता रहती है, यह व्यवहार क्यों होता है।

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि साधारणतया 'शब्द' की अपेक्षा यद्यपि 'अर्थ' की प्रधानता दिखाई देती है, तथापि वेद में फल-प्राप्ति की दृष्टि से 'शब्द' की प्रधानता कही जाती है। जिस शब्द पर जैसा स्वर हो और जैसी शब्दानुपूर्वी हो वैसा ही उच्चारण करने पर वह मन्त्र फलदायक होता है। अर्थ के अनुसार अनेक पर्याय शब्दों के रहने पर भी उनका उच्चारण करने से कोई फल नहीं हो पाता। इसलिए वेद को 'शब्दप्रधान' कहा जाता है और व्यवहार की दृष्टि से 'अर्थ' की प्रधानता कही जाती है। मन्त्रों की फलप्रदता में प्राचीनों का दृढ़ विश्वास था। उस कारण उन मन्त्रों का यथाविधि अभ्यास कर उनके रक्षणार्थ ब्राह्मणों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर घोर परिश्रम किया।

प्राचीन काल में लिखित पाठ का आदर नहीं किया जाता था। जो व्यक्ति लिखित पाठ करता था, उसकी गणना छह अधम पाठकों में की जाती थी। लिखकर पढ़ने में स्वर, वर्ण आदि का उच्चारण होना भी कठिन है और लेखन-प्रमाद से अत्यन्त विपर्यास भी होना संभव है। किञ्चिन्मात्र भी अन्यथा हुआ मन्त्र फलदायक नहीं होता। इस रहस्य को प्राचीन लोग जानते थे। उस कारण वे लोग लिखित पाठ का आदर नहीं करते थे। सम्पूर्ण वेदों को वैदिक ब्राह्मणों ने अपने कण्ठ में सुरक्षित रखा। अर्थ की तरह शब्द की प्रधानता रहने से वेद के साथ ही उनके रक्षणार्थ उनके षडङ्ग भी स्फुरित (प्रकट) हुए। छह अंगों में से प्रथम अंग 'शिक्षा' है। वह वैदिक वर्णों के स्वर, स्थान, मात्रा आदि का विवेचन करती है। उसी तरह 'व्याकरण' भी एक अंग है। वह प्रकृति-प्रत्यय का निरूपण करते हुए 'शब्द' की शुद्धता को बताता है। जिन वृत्तों में मंत्र हैं, उन वृत्तों का निरूपण करने के लिए 'छन्दोविचिति' प्रवृत्त हुई। इन तीन अंगों के द्वारा वेद के वर्ण और उसके समूह तथा पद और उसके समूह एवं 'वृत्तों' की सुरक्षा की गई। इनसे वैदिक अक्षरानुपूर्वी की रक्षा हो पायी। इसी प्रकार 'अर्थ' की सुव्यवस्था रखने के लिए 'निरुक्त' स्फुरित हुआ। इसने पदार्थ का निर्धारण किया। उसी तरह 'काल' का निर्धारण करने के लिए 'ज्यौतिष' प्रवृत्त हुआ। तदनन्तर बिना व्यामोह और सन्देह के 'कर्म' का यथाविधि अनुष्ठान किया जा सके, तदर्थ उसकी पद्धति का प्रदर्शन 'कल्प' ने किया। ये छह वेदांग कहलाते हैं। इनके बिना यदि किसी एक वर्ण का भी लोप या अशुद्ध उच्चारण हो जाता तो वेद पर उसका बहुत ही विपरीत प्रभाव पड़ता। शिक्षा ने कुछ लोगों को वेदाध्ययन में अनधिकारी भी बताया है; जैसे—दुष्ट प्रकृति, खराब दाँत और ओठोंवाला, अप्रगल्भ, अविनीत, सुखार्थी, निद्रालु। इससे स्पष्ट होता है कि वेदों के रक्षणार्थ हमारे पूर्वजों के मन में कितना आदर, कितनी श्रद्धा एवं जागरूकता थी।

इन षडंगों से इतनी सहायता होने पर भी वेदों में अर्थवादवाक्यों की भरमार होने से अतिविस्तृत एवं अतिगंभीर वेदों का अर्थ साधारण लोगों को जब बुद्धिगम्य नहीं हुआ, तब वेदविहित अनुष्ठेय अर्थों को बताने के लिए हमारे पूर्वज महर्षियों ने 'स्मृतियों' (धर्मशास्त्रों) की रचना की। वेद की यह शैली है कि जिस 'कर्म' का अनुष्ठान करने के लिए वह बताता है, वहाँ उसके आस-पास (समीप) ही विद्यमान या अविद्यमान 'हेंतुओं' को भी बताता चलता है। इसी वेदभाग को 'अर्थवाद' कहा करते हैं। वेदों में से 'विधिभाग' को संगृहीत स्मृतियों की रचना करने के पश्चात् 'अर्थवादभाग' को विस्तारपूर्वक बताने के लिए सुहृदुपदेश के समान वेदार्थ को उपन्यस्त कर उधर साधारण लोगों की अभिरुचि बढ़ाने के लिए 'पुराणों' की रचना हुई। इस रीति से गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा वेद, उसका प्रामाण्य, उसके अर्थ-विवेचन के लिए साधन-सामग्री आदि की सुव्यवस्था की गई, तथापि अवैदिकों के द्वारा 'वेदप्रामाण्य' पर किये जानेवाले आक्षेपों के निरसनार्थ यदि कोई प्रयत्न न किया जाय तो 'वेदप्रामाण्य' केवल 'श्रद्धा' पर ही निर्भर रहेगा। अतः प्रामाण्याप्रामाण्य के विवेक की आवश्यकता हुई। तब महर्षि जैमिनि ने मौखिकपरम्परा से होनेवाले न्याय-निर्णयों को सूत्ररूप में संग्रथित कर उसे 'न्यायविस्तर' नाम दिया। इन न्यायनिर्णयों के सहायक रूप में तर्कविद्या (न्याय) की रचना हुई। इन चारों को वेद का उपांग कहते हैं। इस प्रकार छह अंग और चार उपांग मिलकर दस होते हैं। इतनी साधन-सम्पत्ति होने पर ही वेदवाक्यों का असन्दिग्ध अर्थ निश्चित हो पाता है। क्योंकि वेद में कितने ही वाक्य अर्थशून्य उपलब्ध होते हैं, कितने ही वाक्य परस्पर विरुद्ध से दृष्टिगोचर होते हैं, कहीं-कहीं कितने ही वाक्य व्याहतार्थ से प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में अन्यान्य शास्त्रों में कृतपरिश्रम विद्वान् कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो, वह वेदवाक्यार्थ का निर्णय करने में असमर्थ रहता है। यदि यह कहें कि उन स्थलों पर भिन्न-भिन्न तात्पर्यों की कल्पना कर परस्पर विरुद्ध की तरह प्रतीयमान वाक्यों के अर्थ का निर्णय किया जा सकता है, जिससे सन्देह का निरसन हो जायेगा, तथापि तात्पर्यविशेष का ज्ञान उससे नहीं हो पायेगा। यदि यह कहें कि उपदेश-परम्परा से निष्कृष्ट वाक्यार्थ का भी ज्ञान हो सकेगा। किन्तु वहाँपर उपपत्ति की विवेचना में बुद्धि की विचित्रता के कारण होनेवाले सन्देहों को कैसे रोका जा सकेगा। इस विपत्ति के निवारणार्थ सम्पूर्णतया यच्चयावत् व्याख्यान किया जाय तो वह भी संभव नहीं है। क्योंकि इस तरह व्याख्यान करने के लिए तदुपष्टंभक न्यायों को जहाँ-तहाँ सर्वत्र बताना होगा। इस तरह उपष्टंभक न्यायों का निरूपण कर वेदवाक्यार्थ का निरूपण करना यदि संभव होता है तो पुनः विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता क्यों होती है? अतः विस्तृत व्याख्यान की अपेक्षा वेदवाक्यार्थ के निर्धारणार्थ एक न्यायनिबन्धन को मानने में ही अधिक लाघव है। इसी

अभिप्राय से न्यायनिबन्धनरूप यह मीमांसाशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। वेद के साथ ही धर्मविद्या-स्थानों में न्यायनिबन्धनरूप मीमांसाशास्त्र को ही दसवाँ विद्यास्थान समझा जाने लगा। इन चौदह विद्यास्थानों के बल पर ही 'धर्म' का (वेदवाक्यार्थ का) ज्ञान हो पाता है। उसके ज्ञात होने से ही चतुर्विध पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति करना ही मानव का लक्ष्य है, यही भारतवर्ष की परम्परा रही है।

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि प्रथमतः किसी समय एकमात्र 'वेद' ही विद्यास्थान था। पश्चात् क्रमशः आवश्यकतानुसार एक-एक अंग एवं उपांगों की रचना की गई। किन्तु भारतीय परम्परा की विचारसरणि इसके विरुद्ध है। भारतीय परम्परा का कथन है कि धर्म का ज्ञान कराने के लिए अपने परिकर के साथ ही 'वेद' का आविर्भाव हुआ है। वेद और उसके परिकर में अन्तर इतना ही है कि 'वेद' सदा से एकरूप रहे हैं, उनमें कहीं और कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। अंग-उपांगों के विषय में यह बात नहीं है। पाणिनीय व्याकरण से पूर्व अन्य व्याकरण था; उससे पूर्व अन्य और उससे भी पूर्व अन्य। इस प्रकार भिन्न-विभिन्न कर्ताओं के रचे व्याकरणों का समय-समय पर आविर्भाव और तिरोभाव होता चला आया है। इसी प्रकार अंग-उपांगों के बारे में भी समझना चाहिए। अंग-उपांगों के समय-समय पर परिवर्तन होते रहने पर भी ऐसा कोई समय नहीं दिखाया जा सकता, जिसमें अंग-उपांगों का नितान्त अभाव रहा हो। इसलिए यही कहना उचित होगा कि वेद के तुल्य ही स्वरूपतः विद्यास्थानों का प्रवाह भी नित्य है।

वेदों में सभी विद्यास्थानों के नाम उपलब्ध हैं। अतः यह स्वीकार करना होगा कि वेदकाल में ही अंग-उपांगों के स्वरूप भी प्रसिद्ध थे। अतः वेद का जो भी आदिकाल पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण से हो, वही काल विद्यास्थानों का भी उन्हें स्वीकार करना होगा। एवञ्च किसी भी विद्यास्थान का प्रारंभ आवश्यकतानुसार पश्चात् होता गया, यह कहना भूल है।

यह जो कहना है कि—वेदों में इतिहास, पुराण आदि का श्रवण होता है और कुछ व्यक्तियों के चरित्र आदि का वर्णन भी दृष्टिगोचर होता है, वह भी वेद का ही एक भाग है; उस कारण उससे पृथक् अन्य कोई 'विद्यास्थान' नहीं है—यह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों के कथन मात्र से ही तदन्तर्गत 'शिक्षा-व्याकरण' आदि का भी उपादान हो जाता है। उस कारण पुनः 'शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष' आदि को पृथक् कहना उचित नहीं है।

किन्तु यह कथन उचित नहीं है। जैसे चारों वेद परस्पर भिन्न हैं, अर्थात् एक-एक वेद में ऋक्, यजु भी दिखाई देने से उन सब को अखण्ड वेद का एकदेश नहीं कहा जाता, वैसे ही उनके साथ पठित शिक्षा आदि का भी पृथक्

भाव मानना ही उचित है। मीमांसा में एक न्याय भी है, जिसमें बताया गया है कि साथ पढ़े गये अर्थों का अन्य अर्थों के अनुरोध से निर्णय करना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि चार वेदों का निर्देश कर 'इतिहास-पुराण' को पाँचवाँ वेद कहा गया है। यदि 'इतिहास-पुराण' को वेद का ही एक भाग माना जाय तो वेदों की संख्या चार बताकर 'इतिहास-पुराण' को पाँचवाँ वेद कहना उचित न होगा। अतः वेदों में शिक्षा आदि के नामों का उल्लेख रहने पर भी इन विद्यास्थानों को वेदों के अतिरिक्त ही मानना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि जब वेद नित्य हैं तो विद्यास्थान भी प्रवाहरूप से नित्य हैं। यदि विद्यास्थानों को अनित्य माना जाय तो वेद में जहाँ उन विद्यास्थानों का निर्देश मिलता है, उस वेदभाग को उन विद्यास्थानों की अपेक्षा अर्वाचीन कहना होगा। विद्यास्थान विशेष के वाचक 'मीमांसा तथा न्याय'—ये शब्द प्रथमतः सुबालोपनिषद् में दृष्टिगोचर होते हैं। शास्त्रविशेष और पुरुषविशेषों के नामों की खोज-बीन प्राचीन ग्रन्थों में सूक्ष्मता के साथ करनेवाले मिस्टर वेबर लिखते हैं कि 'मीमांसा' शब्द सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण के प्रथमकाण्ड तथा दशमकाण्ड में दिखाई देता है। परन्तु यह नहीं भूलना होगा कि वहाँ आये हुए 'मीमांसा' शब्द का अर्थ केवल 'विचार' है, शास्त्रविशेष नहीं। इसी तरह अर्थान्तर का वाचक 'मीमांसा' शब्द केवल शतपथब्राह्मण में ही नहीं, अपितु 'काठक' में भी मिलता है। 'गोपथब्राह्मण' में 'अनूचानो मीमांसकः' इस प्रकार किसी के विशेषणरूप में आया है। यहाँ पर 'मीमांसक' इस विशेषण का अभिप्राय इतना ही व्यक्त किया गया है कि केवल 'वेदार्थ-कुशल', किन्तु इसकी अपेक्षा 'विद्यास्थान विशेष में अभ्यस्त'— यह अर्थ करना अच्छा प्रतीत हो रहा है। इस रीति से तो उपनिषद् में ही नहीं, ब्राह्मणों में भी 'मीमांसा' नाम का विद्यास्थान प्रसिद्ध है —यह कहने में किसी प्रकार भी संकोच नहीं किया जा सकता। पुराणों में, महाभारत में, मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों में, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में, व्याकरण के मूलग्रन्थों में शास्त्रविशेष का वाचक 'मीमांसा' शब्द पाया जाता है। इस रीति से अन्य विद्यास्थानों की तरह मीमांसा का प्रवाहनित्यत्व प्रतीत होनेपर भी जैमिनि से पूर्व मीमांसासूत्र जैसे निबन्धान्तर की कल्पना नहीं की जा सकती।

यद्यपि मीमांसासूत्रों में कतिपय आचार्यों के नाम पाये जाते हैं, उस-कारण जैमिनि से पूर्व उन आचार्यों के भी प्रबन्ध कदाचित् रहे होंगे, यह कल्पना हो सकती है, क्योंकि उनके प्रबन्धों को यदि जैमिनि ने न देखा होता, तो वे अपने रचित सूत्रों में उनके मतों को कैसे दे पाते? तथापि इसका समाधान इस प्रकार भी दिया जा सकता है कि ये आचार्य जैमिनि के समका-लिक हो सकते हैं। वे आचार्य लोग यज्ञशालाओं की वादगोष्ठियों में वेदार्थ के व्याख्यान के समय अपने-अपने अभिप्रायों को प्रकट करते रहे हों। उन्हें

भिन्नकालिक मानने पर भी उन्होंने कल्पसूत्र या वेदभाष्यों की रचना की हो, जिससे जैमिनि को अनायास ही उनके आशयों का ज्ञान हुआ होगा।

दूसरी बात यह है कि शबरस्वामी स्वयं कहते हैं कि जैमिनि के सूत्रों में कोई भी 'पद' पारिभाषिक नहीं है। यदि वेदकाल से लेकर पृथक् विद्या-स्थान के रूप में परिगणित हुआ यह शास्त्र भिन्न-भिन्न प्राचीन निबन्धों के द्वारा जैमिनि तक आ पहुँचा होता तो शास्त्रान्तरों की तरह इसमें भी उन्हें 'परिभाषा-प्रकरण' अवश्य देना पड़ता। एक अन्य कारण यह भी है कि सभी दृष्टि से जैमिनि की अपेक्षा अर्वाचीन कहे जानेवाले 'कात्यायन' की मीमांसापूर्ण विचार-प्रक्रिया श्रौतसूत्रों में अनेक स्थलों पर दिखाई पड़ती है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन सूत्रों में यह बात नहीं पाई जाती। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि मीमांसा की यह पद्धति महर्षि जैमिनि की अपनी निर्माण की हुई है। इससे पूर्व 'मीमांसा' इस प्रकार सूत्रबद्ध नहीं थी।

'मीमांसा' का अर्थ—'पूजित विचार', वाचस्पति मिश्र जैसे धुरंधर विद्वानों ने बताया है। भारतीय आर्यों के लिए 'वेद' से बढ़कर पूजनीय कोई नहीं है। उस कारण वेदार्थविचार के लिए प्रवृत्त हुआ यह विद्यास्थान निरुपसृष्ट 'मीमांसा' शब्द से व्यवहृत होता है। इसके पश्चात् बादरायण ने ब्रह्मप्रति-पादक वेदभाग के अर्थ-निर्धारणार्थ प्रबन्ध रचना की। वह भी वेदार्थ-विचार रूप होने से 'मीमांसा' शब्द से कही जाने लगी। अतः जैमिनि कृत रचना का उससे पार्थक्य बताने के लिए उसे पूर्वमीमांसा, कर्ममीमांसा, धर्ममीमांसा, अध्वरमीमांसा आदि नामों से कहा जाने लगा, तथापि बादरायण की मीमांसा को वेदान्त और जैमिनि की मीमांसा को केवल 'मीमांसा' शब्द से लोग कहा करते हैं। 'शास्त्र' शब्द अनेकार्थक होने से सामान्यतः उसे 'तन्त्र' शब्द से भी कहा करते हैं। उस कारण मीमांसाशास्त्र को 'तन्त्र' शब्द से भी कहा करते हैं। जैसे 'विश्वगुणादर्शचम्पू' के आरंभ में वेंकटाध्वरी कहते हैं—'तत्सुतस्तर्क-वेदान्ततन्त्रव्याकृतिचिन्तकः'।

प्राचीन समय में महान् पण्डितों को 'पद-वाक्यप्रमाणपारावारीण' की उपाधि से विभूषित करने की प्रथा थी, जो तत्तद् ग्रन्थों की पुष्पिका में दृष्टि-गोचर होती है। यहाँ पर 'पद' शब्द से 'व्याकरण'; 'वाक्य' शब्द से मीमांसा शास्त्र' और 'प्रमाण' शब्द से 'गौतमीय न्याय' समझा जाता है। मीमांसा शास्त्र में वेदवाक्यों का अमुक अर्थविशेष में तात्पर्य है—यह निर्धारण करने के लिए 'न्याय' बताये गये हैं। उसी के अनुरोध से अर्थविशेष प्रति-पादक वाक्यों के विवेचनार्थ मीमांसाशास्त्र की प्रवृत्ति होने से इस विचार-शास्त्र को 'वाक्यशास्त्र' भी कहा गया है। 'शास्त्र' उसी को कहा जाता है, जिसके द्वारा मनुष्य की प्रवृत्ति या निवृत्ति करायी जाती है। इस परिभाषा के अनुसार 'वेद' और 'धर्मशास्त्र' को ही 'शास्त्र' शब्द से कहा जाना

चाहिए। तर्क, व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि को 'शास्त्र' शब्द से कहना अनुपपन्न-सा प्रतीत होता है। क्योंकि इनसे किसी प्रकार की 'प्रवृत्ति या निवृत्ति' का होना नहीं पाया जाता। न्याय-वैशेषिक सूत्रों से तो पदार्थ विज्ञान, पाणिनिसूत्रों से साधु तथा असाधु शब्दों का विवेक और जैमिनि सूत्रों से वेदार्थविचार बताया गया है।

परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर इनमें भी 'शास्त्रत्व' प्रतीत होता है। क्योंकि 'इस प्रकार करना चाहिए, इस प्रकार नहीं करना चाहिए' या 'इस विचार में अमुक न्यायसंचार होगा, अमुक नहीं होगा'—इस प्रकार के उपदेश में ही इनका तात्पर्य रहने से इनका 'शास्त्र' शब्द से व्यवहार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसी तरह 'काव्य' को भी 'शास्त्र' कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि 'रामादिवत् आचरितव्यम्, न रावणादिवत्'—इस उपदेश में ही इनका भी तात्पर्य घण्टानाद की तरह सर्वविश्रुत है। तथापि 'काव्य' में 'उपदेशप्रदत्व' की समानता रहने पर भी 'काव्य' जनमनोरञ्जन का साधन होने से कालयापनरूप लौकिक प्रयोजन ही 'काव्यों' का माना गया है, और 'तर्क, व्याकरण, मीमांसा' आदि परमगंभीर होने से अलौकिक अर्थबोध की व्याकुलता को शान्त करना ही उनका प्रयोजन माना गया है। अतः उनके लिए ही 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग किया जाना उचित कहा गया है। यदि 'शास्त्र' शब्द को 'विद्यास्थान-विशेषों' में 'रूढ' मान लिया जाय तो इतना विचार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

षड्दर्शनसमुच्चय तथा सर्वदर्शनसंग्रह आदि नामों के सुनने से यह स्पष्ट होता है कि जैमिनीय मीमांसा भी एक दर्शन हैं। किन्तु राहुल सांकृत्यायन जैसे कुछ लोगों का कहना है कि 'मीमांसा' तो 'पुरोहितों की विद्या' है, उसे दर्शन कहना ठीक नहीं है। जिसमें आत्मदर्शन का उपाय बताया हो उसे 'दर्शन' कहते हैं। तब मीमांसा को 'दर्शन' शब्द से कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि यागादिरूप वेदार्थ का इसमें विचार किया गया है। मैक्समूलर का कहना है कि मीमांसा की विचार-प्रक्रिया अत्यन्त चतुरतापूर्ण होने से रमणीय प्रतीत होती है। अतः इसकी भी दर्शनान्तरों के साथ गणना कर लिया करते हैं।

किन्तु मैक्समूलर की यह युक्ति उचित प्रतीत नहीं हो रही है। क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने पाणिनीय-व्याकरण को भी 'दर्शन' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि किसी शास्त्र का 'दर्शन' शब्द से व्यवहार करने में 'निमित्त' कुछ और ही है। सूत्रों की प्रवृत्ति यद्यपि किसी और उद्देश्य से हुई है, तथापि उनकी व्याख्या करने के लिए रचे गये भाष्य, वार्तिक आदि ग्रन्थ तदनुकूल पदार्थों का वर्णन करते हुए 'आत्मानात्मविवेचन' भी करते हैं। इस प्रकार 'व्याख्यानों' में तो 'दर्शनत्व' की प्रतीति होती है, किन्तु 'सूत्रे-

ष्वेव हि तत् सर्वं यद् भाष्ये यच्च वार्तिके' इस न्याय से सूत्रों को भी 'दर्शन' कहना अनुपपन्न नहीं है। विद्वत्परम्परा में यह सुना जाता है कि पदार्थों का निर्धारण कर उनका निरूपण करने के लिए जो शास्त्र प्रवृत्त होता है, उसे 'दर्शन' कहते हैं। वास्तव में उचित भी यही है। क्योंकि इसी दृष्टि से 'न्याय-वैशेषिक' को 'दर्शन' शब्द से कहा गया है। तब 'मीमांसा' को 'दर्शन' कहने में कौन-सी आपत्ति है? क्योंकि चिरकाल से वेदार्थ-निर्णय में उपयुक्त होने वाले 'न्यायों' को सोच-विचार कर ही जैमिनि ने सूत्रों का ग्रथन किया है।

कुछ लोग 'मीमांसा' को वेद का उपांग मानने में संकोच करते हैं। उनके संकोच को दूर करने के लिए यह विचार करना होगा कि 'अंग-उपांगों' के विभाग में 'नियामक' क्या है? आपाततः विचार करने पर प्रतीत होता है कि वेद के स्वरूपज्ञान में या उसके अर्थबोधन में जिसका साक्षात् उपयोग हो, उसे तो 'अंग' कहते हैं। जैसे—शिक्षा, व्याकरण और छन्दों का 'वैदिक वर्ण, पद और वृत्त' का निर्णय करने में साक्षात् उपयोग होता है, और निरुक्त, ज्यौतिष, कल्पसूत्रों का 'पदार्थ', तद्विशेष और उनके प्रयोग के व्युत्पादन में साक्षात् उपयोग होता है, उस कारण ये छह 'अंग' कहलाते हैं। इन उभयविध-प्रयोजनों के सम्पादन में उदासीन न रहने वाली और पुराणादिकों की तरह वेदार्थोपबृंहण में भी तात्पर्य रखने के कारण यह 'मीमांसा' उपांग कहलाती है।

किन्तु अधिक सूक्ष्म विचार करने पर यह 'मीमांसा' अंग-उपांग के क्षेत्र से भी बढ़कर उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करती हुई दिखाई देती है। जब कि सभी 'अंग' वैदिक पदार्थ मात्र को बताकर विश्रान्त हो जाते हैं, और वेदार्थ के समझने में नानाविध सन्देह पैदा होने लगते हैं, तब यही मीमांसा स्वयं अग्रसर होकर समस्त सन्देहों को ध्वस्त करके वेदार्थ को विशदरूप से प्रकाशित करती है। इस रीति से वेदार्थ का विशद ज्ञान कराने में उत्कृष्टतम साधन यदि कोई है, तो 'मीमांसा' ही है। इसलिए समस्त अंगों की अपेक्षा इसे अभ्यर्हित स्थान प्राप्त हो जाता है, यह वेदार्थ-चिन्तकों का निश्चित मत है। यही कारण है कि धर्मप्रमिति में साधन रूप 'वेद' की 'इतिकर्तव्यता' के रूप में 'मीमांसा' को ही बताया गया है। फलसाधनार्थ प्रवृत्त हुए करण (साधन) का जो उपकारक होता है, उसे 'इतिकर्तव्यता' कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'मीमांसा' की गणना उपांगों में क्यों की गई है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जहाँ कहीं 'विद्यास्थानों' की गणना की गई है, वहाँ 'शिक्षा' प्रभृति छह अंग ही बताये गये हैं। यद्यपि 'षट्' कहकर उनका 'षट्त्व' श्रौत कहीं भी नहीं है, तथापि जो जितने गिनाये जाते हैं, उनकी उतनी ही 'संख्या' समझी जाती है—यह वेदसम्प्रदायानुरोधियों का औत्सर्गिक नियम

है। इस रीति से 'अंगों' की 'षट्त्व संख्या' सुव्यवस्थित प्रतीत होती है। उनकी 'षट्त्व' संख्या में किसी तरह का कोई सन्देह नहीं है।

किन्तु मैक्समूलर साहब तो सन्देह-सागर में डूबे दिखाई दे रहे हैं। वे पूछते हैं कि अंगों की 'षट्त्व' संख्या कहाँ बताई है? सागर मे डूबे हुए को कौन उबार सकता है, सिवाय मृत्यु के उसकी कोई गति नहीं है।

इस रीति से अंगों की षट्त्व संख्या सुव्यवस्थित होने पर 'वेद' को उपजीव्य मानकर प्रवृत्त हुए 'विद्यास्थानों' के लिए 'उपांग' शब्द से व्यवहार किया जाने लगा। तब 'पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय' के समान 'अंगों' में अनन्तर्भूत 'मीमांसा' भी उसी व्यवहार का विषय हो गई। वेद के द्वारा धर्म का ज्ञान कराने में पुराण, धर्मशास्त्र आदि का इतना उपयोग नहीं हो पाता जितना मीमांसा का होता है। क्योंकि षडंग तो कुछ अल्प उपकार करके उदासीन हो जाते हैं, तब 'मीमांसा' ही निःसन्दिग्ध रुप से वेदार्थ का निर्धारण कराती है। अतः अंग आदि की अपेक्षा मीमांसा का मूर्धन्य स्थान है। विद्या का परापर भेद से विभाग करते समय मीमांसा का उपादान न करने में पुराणों की तरह उसकी बहिरंगता कारण नहीं है, अपितु 'वेद' का उपादान करने से ही उसकी इतिकर्तव्यतारूप मीमांसा का भी उपादान हो जाता है। उस कारण उसकी गणना पृथक् रूप से करने की आवश्यकता नहीं थी। यही कारण है कि न्यायाचार्य ने एक जगह दृष्टान्त रूप में मीमांसा को अभिन्न भी बताया है। कुमारिल ने एक स्मृति उद्धृत की है, जिसमें मीमांसा को साक्षात् 'वेद' कहा है।

व्याकरण को मुख्य अंग के रूप में जो बताया जाता है, वह उसकी प्रधानता के कारण नहीं, अपितु शब्दप्रधान वेद में 'व्याकरण' शब्द का संस्कारक होने से उसे 'व्याकरणं मुखम्' कहने का प्राचीनों का व्यवहार चलता आया है, और 'मुखे भवं मुख्यम्' इस रीति से 'धर्म' की प्रमिति में 'वेद' के अनन्तर प्रधानभूत 'मीमांसा', 'वेद' के आविर्भाव के साथ ही निबद्ध रूप से अथवा अनिबद्धरूप से कहिये, अनादि काल से चली आ रही महर्षि जैमिनि तक आ पहुँची है। तब उन्होंने उन मौखिक विचारों को सूत्रबद्ध किया, जो आज उपलब्ध हो रहा है।

विषय-सूची

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

परिशिष्ट

॥ श्रीः ॥

मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास

ग्रन्थ-परिचय

इतिहास के विविध प्रकार

पुराणों में विविध प्रकार के इतिहासों के उल्लेख मिलते हैं; यथा—राजाओं के इतिहास, ऋषियों के इतिहास, देव-दानवों के इतिहास एवं भूत-भौतिक जगत् के इतिहास।

राजाओं के इतिहास में—इतिहास के पात्र राज्यों में वर्षों तक परस्पर संघर्ष करते हैं, किन्तु उन्हें इतना समय नहीं होता कि वे अपने कार्यों को क्रमबद्ध करते जायें। हाँ; तटस्थ दर्शक-गण अवश्य ही उनके प्रत्येक महत्त्व के कार्य को अपने स्मृति-पटल पर अंकित करते जाते हैं और उन युद्ध-विरामादि कार्यों को समय-समय पर शृंखलाबद्ध इतिहास का रूप देते रहते हैं। किन्तु इस कार्य का सम्पादन एक साधारण व्यक्ति से लेकर विद्वान् तक कर सकता है। यही कारण है कि विगत युद्धों का वर्णन प्राकृत भाषा[1] के ग्रन्थों से लेकर संस्कृत[2] के विशिष्ट पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों तक उपलब्ध होता है।

पुराण-वर्णित ऋषियों का इतिहास तो ऋतंभरा-प्रज्ञा के धनी कतिपय योगियों की बुद्धि ही बतला सकी है, जो साधारण विद्वानों की शक्ति के बाहर है। भूत-भौतिक जगत् के इतिहास की भी यही दशा है।

शास्त्रों का इतिहास—शास्त्रकार परस्पर शास्त्रार्थ करते जाते हैं, विविध कोटि-कल्पनाएँ उनके बुद्धिसागर में दिन-रात तरंगित होती रहती है। अपने-अपने पक्ष के समर्थन की युक्तियों को खोजकर वाद-विवाद में जय-पराजय प्राप्त करते रहते हैं। विद्वानों की वाद-युद्धप्रणाली राजाओं के युद्ध की तरह जनसाधारण की नहीं हो पाती, अपितु कतिपय विशिष्ट विद्वान् ही उस वादयुद्ध को जानते और कहा करते हैं। इस प्रकार के इतिहास में सन्-संवत् आदि काल-निरूपण को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना कि उनकी कोटिकल्पनाओं, ग्रन्थ-रचनाओं एवं खण्डन-मण्डनादि को महत्त्व दिया जाता है। शास्त्रीय इतिहास के इस रहस्य की ओर दृष्टि रखते हुए प्रस्तुत इतिहास लिखने का प्रयत्न किया गया है और उसे चार परिच्छेदों में विभाजित किया गया है—

---

१. पृथ्वीराजरासो—गउडवहो।

२. रामायण-महाभारत-राजतरंगिणी-कथासरित्सागर।

भूमिका और विषय-प्रवेश के पश्चात् **प्रथम परिच्छेद** का आरम्भ किया गया है, जिसमें इतिहास से सम्बन्धित विषय का सामान्यतः परिचय देकर भिन्न-भिन्न दार्शनिक विषयों में प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध दिखलाया है, तत्पश्चात् मीमांसा-पद्धति का आरम्भ और उसका विकास बतलाया गया है। तदनन्तर मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि से पूर्व मीमांसा की अवस्था और उस समय के आचार्यों का निर्देश कराया गया है एवं मीमांसा की विचार-शैली और भाषा की दृष्टि से उसकी प्राचीनता को दिखलाते हुए प्रथम परिच्छेद का समापन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में सूत्रकार जैमिनि, भाष्यकार शबर एवं अन्यान्य व्याख्याताओं एवं मूल ग्रन्थ-रचयिताओं का परिचय कराया गया है।

तृतीय परिच्छेद में मीमांसा के भिन्न-विभिन्न सम्प्रदायों तथा मत-मतान्तर की आलोचना एवं तुलना करते हुए अन्य दार्शनिकों तथा बौद्धों के साथ विचार-संघर्ष बतलाकर वेदार्थ-निर्णय और धर्मशास्त्र में मीमांसा का उपयोग बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद में मीमांसा-दर्शन का ह्रासकाल बतला कर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को प्रदर्शित कर वर्तमानकालीन विद्वानों की कुछ चर्चा की गई है और मीमांसादर्शन की उपयोगिता और महत्त्व को बतलाकर चतुर्थ परिच्छेद को समाप्त किया गया है। परिशिष्ट में ग्रन्थों तथा लेखों एवं हस्तलिखितों की सूचियाँ दी गई हैं। इस रीति से संकल्पित कार्य को पूर्ण किया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण दर्शन पर व्यापक अध्ययन बहुत कम है। इसका कारण इसकी विरल प्रचारता और ज्ञानगरिमा का परिगणित विद्वानों में सीमित होना है।

ग्रन्थ की मौलिकता

यह मीमांसा ग्रन्थ के रहस्यों का गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन है। मीमांसा-दर्शन का विशाल कलेवर इस छोटे-से ग्रन्थ में संगृहीत करने का प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थ के लिखने की आवश्यकता इसलिए हुई कि अभी तक आंशिक अध्ययनों को छोड़कर सर्वांश पर प्रकाश प्रायः नहीं डाला गया था। मीमांसा की व्यापकता का दिग्दर्शन इस ग्रन्थ में कराया गया है, जिस पर आज तक किसी के द्वारा प्रकाश नहीं डाला गया था।

मीमांसा की जानकारी विशेषतः आज के जगत् में इतनी कम हो गई है कि कुछ लोग मीमांसा को एक अनपेक्षित शास्त्र समझने लग गये हैं। मीमांसक शब्द से किसी ने प्रभाकर, तो किसी ने केवल भट्ट को ही समझ रखा है। भट्ट के सिद्धान्तों को प्रभाकर का एवं प्रभाकर के सिद्धान्तों को भट्ट का सिद्धान्त बतलाया जा रहा है, परन्तु इसमें दोष बतलानेवालों का नहीं है। उनके सामने इस प्रकार का विचार या विश्लेषण ही नहीं आ पाया। अतः समय की यह मांग थी कि इस प्रकार का एक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय, जिसमें मीमांसा का पूर्णतया सांगोपांग स्वरूप प्रदर्शित हो और ऐतिहासिक दृष्टि से शास्त्रीय ज्ञान भी हो।

समय की उक्त मांग को सफल बनाने का मैने संकल्प कर लिया और अपने आराध्य गुरुचरणों का ध्यान करते हुए ग्रन्थ लिखना आरम्भ कर दिया ।

मीमांसा-दर्शन के रचयिता जैमिनि मुनि का कथन है कि 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' (मी० सू० ३।१।६) अर्थात् पुरुष कर्म करने के लिए है । 'निष्काम कर्म करना ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए'—इस भगवद्वचन को दृष्टिगत कर मीमांसा जैसे गंभीर विषय को लिपिबद्ध करने के लिए अनेकानेक ग्रन्थों का आलोड़न करने लगा एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों का निरन्तर चिन्तन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है । अतः निवेदन है कि—

'तद् विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः ।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ॥
आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते' ॥

भूमिका

विश्व की इस विशाल भूमि पर दिन-रात, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, देव-दानव आदियों की जुंगल-जोड़ियों के समान ही आर्य-अनार्यों की जोड़ी भी अनादिकाल से चली आ रही है। आर्यों के हृदय की उदारता एवं विशालता ने 'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्' का उपदेश सदा से दिया है। अनार्यों के तामस भाव को दूर करने का प्रयत्न किया है और उन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाया है। तत्कालीन सम्राट् मनु ने पृथ्वी के यच्चयावत् मानवों के ज्ञान-विज्ञान के अध्ययनार्थ अपने विश्वविद्यालय का द्वार खोलकर और 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥' (मनु० २।२०) की घोषणा कर अपनी उदारता का यथार्थ परिचय दिया है।

काल के विकराल प्रभाव से उस सुवर्ण युग की समाप्ति के पश्चात् दूसरे युग का आरम्भ हुआ। आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिक्षण ह्रास होने लगा। उस मूल शक्ति के क्षीण होने से ज्ञान-शक्ति, तपः-शक्ति, विवेक-शक्ति का क्षीण होना भी अनिवार्य था। प्रतिक्षण शीघ्र गति से बढ़ती हुई विकट परिस्थिति को देखकर तत्कालीन व्यासादि महर्षियों तक के हृदय कम्पित हो उठे और करुण स्वर से चीख पड़े—'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे'—इस करुण पुकार से कितने ही ऋषि-महर्षि जग पड़े और लोक-कल्याण की भावना से एवं सतत निरर्गलतया प्रवाहित होनेवाले विशुद्ध सम्प्रदाय के रूप में पूर्वजों से उपलब्ध हुए नाना विषयों के विविध विचारात्मक धन को सुरक्षित रखने की कामना से तत्-तत् विचारों का संग्रह कर उनके ग्रथन करने में वे जुट गये।

यही है **तत्तद् विषयों के सूत्रकाल का आरम्भ।** भिन्न-भिन्न महर्षियों[1] ने एक-एक विषय को लेकर पूर्वपरम्परागत अथवा स्वसमानकालीन अन्य ऋषियों के विचारों

---

१. महर्षि शब्द से शास्त्र-रचयिताओं की योग्यता ध्वनित होती है। 'ऋषि-र्दर्शनात्' अर्थात् 'मन्त्रद्रष्टृत्वं ऋषित्वम्' यह ऋषि का लक्षण है। किन्तु जिसके पास मन्त्रद्रष्टृत्व होते हुए महद्दर्शित्व भी हो, उसे महर्षि कहते हैं। यहाँ 'महत्' का अर्थ 'ब्रह्म' है। ऋषि का लक्षण वायुपुराण और मत्स्यपुराण में इस प्रकार दिया गया है—

'ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत्सन्नियते यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः'॥

(वायुपु० ५९।७९)

'ऋष् गतौ' धातु ज्ञान, सत्य और तप अर्थों में प्रसिद्ध है। अतः ज्ञान, सत्य और तप जिनमें वास करते हैं, उन्हें ब्रह्मदेव ने ऋषि कहा है।

को भी आत्मसात् कर उन-उन विषयों पर सूत्र रचे। जैसे—मीमांसासूत्र, वेदान्त-सूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्र आदि-आदि। ये सब दर्शनसूत्र कहलाते हैं। इन्हें षट् दर्शन कहते हैं[1] और ये ही आस्तिक छह दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मीमांसादर्शन का मुख्य उद्देश्य—'धर्म (यज्ञ-परम्परा) की रक्षा करने के लिए उसके प्रमाण, उसका स्वरूप, उसका साधन और अन्त में उसका फल बतला कर अर्थात् श्रेय तथा प्रेय दोनों की प्राप्ति कराते हुए समाज को सुव्यवस्थित रखना है। जब तक यह यज्ञ-परम्परा कायम रही तथा उसके स्वरूप की परिचायिका मीमांसा का अध्ययन-अध्यापन अच्छी तरह मनोयोग के साथ होता रहा, तब तक समाज और व्यक्ति दोनों सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित रहे। कारण यह था कि समाज या व्यक्ति सभी अपने इतिहास से भली-भाँति परिचित थे, जिसका ज्ञान यज्ञानुष्ठान में सदैव होता रहता था। इतिहास ही वह दर्पण (शक्ति) है, जो स्वरूप का परिचय कराता है। स्वरूप का ज्ञान रहने पर ही अपने कर्तव्यों की पहिचान हो पाती है, अन्यथा नहीं। इतिहास बतला रहा है कि जब तक हमारे यहाँ अपने स्वरूप का ज्ञान यज्ञ-परम्परा के द्वारा स्थिर रहा, तभी तक निग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्य भी यहाँ के लोगों में था। निग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्यसम्पन्न उन्हीं ऋषियों की सन्तान हम आज अपनी यज्ञ-परम्परा तथा उसकी परिचायक साधनस्वरूप मीमांसा को छोड़ बैठे; या यूँ कहिये कि उससे वञ्चित कराये गये, जिसके परिणामस्वरूप हम अपने इतिहास को खो बैठे, अपने स्वरूप को भूल गये, सारा सामर्थ्य जाता रहा, शक्तिहीन हो गये। उस इतिहास का ज्ञान पुनः पाने के लिए हमें मीमांसा को ही देखना होगा। मीमांसा के अध्ययन से ही आर्यों के यथार्थ इतिहास का ज्ञान होना सम्भव है, साथ ही अन्यान्य दर्शनों एवं व्याकरणादि शास्त्रों के ऐतिहासिक सूत्रों के अर्थों का ज्ञान भी मीमांसा के द्वारा ही हम पा सकते हैं।

उपर्युक्त छहों दर्शन परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। सांख्य और योग मिलकर 'योग'; वैशेषिक और न्याय मिलकर 'न्याय'; मीमांसा और वेदान्त मिलकर 'मीमांसा'—ये तीन वर्ग किये जाते हैं और उन्हें क्रमशः पूर्वोत्तर रूप में समझते हैं। सांख्य ने सृष्टि का विचार संख्या के द्वारा और वैशेषिकों ने 'विशेष' नामक गुण के द्वारा किया है। किसी भी वस्तु का आधिभौतिक (Physical) दृष्टिकोण से विचार करना हो तो (Quantity) और विशेष (Quality) के द्वारा ही करना पड़ता है; यह आधुनिक सिद्धान्त है, जिसे प्राचीनों ने कितने ही पूर्व बतला दिया है।

योग में व्यष्टि के उत्कर्ष का और मीमांसा में समष्टि की धारणा का भिन्न-भिन्न कर्ममार्ग बतलाया गया है। इन दोनों में मिलकर आधिदैविक (Theological) विचार की पूर्णता हो पाती है।

---

१. 'वेदप्रमाणकानीह प्रोचुर्य दर्शनानि षट्।
न्यायवैशेषिकादीनि ते स्मृता आस्तिकाभिधाः' ॥ (दर्शनाङ्कुरा पृ० १)

न्यायशास्त्र में अनेक व्याप्यों के वैयक्तिक उदाहरणों के द्वारा एक व्यापक के व्यापनरूप धर्म को सिद्ध करने के नियमों को बतलाया गया है, तो वेदान्त में इस समस्त द्वन्द्वमय और त्रिगुणान्वित विश्व में एक अद्वय, गुणातीत ब्रह्म के अवशिष्ट रहने का वर्णन किया गया है। इस प्रकार से इन दोनों में मिलकर आध्यात्मिक (Metaphysical) विचार की पूर्णता हुई है।

मीमांसादर्शन वैशेषिकों के समान ही सृष्टि को सत्य मानकर चलता है, क्योंकि उसे सृष्टि की धारणा के तत्त्व को बतलाना है। वह तत्त्व और कुछ न होकर **'यज्ञ'** ही है, अर्थात् इस कर्ममीमांसा को ही यज्ञमीमांसा भी कहते हैं। यह मीमांसादर्शन पूर्णतया वेदवादी है। इसके मत में **'शब्द' नित्य** है। वेदों का रचयिता कोई नहीं है, अर्थात् **वेद 'अपौरुषेय'** हैं। यह दर्शन अव्यक्त के अन्वेषण में नहीं उलझता। कारण यह है कि उसे 'व्यक्त जगत्' की स्थिति को स्थिर (कायम) रखना है। व्यक्त और अव्यक्त में पूर्णतया वैधर्म्य है। अव्यक्त एक है, अद्वितीय है, तो व्यक्त अनेक है, सद्वितीय है। अव्यक्त 'तमसा गूळ्ह' है, तो व्यक्त तेज में विराजमान है। अव्यक्त 'दिक्, काल और आकाश' के परे है, तो व्यक्त 'दिक्, काल, आकाश' में सुप्रतिष्ठित है। अव्यक्त 'निर्गुण, अमूर्त' है, तो व्यक्त 'सगुण' (साकार) है। इस प्रकार के व्यक्त जगत् की अनेक सगुण देवताओं की अर्थात् तेजस्वी शक्तियों की शंसन, हवन और स्तवनात्मक तीन प्रकारों से पूजा क्यों, कब और किस प्रकार करनी चाहिए—यह बतलाने के लिए ही यह मीमांसा-शास्त्र प्रकट हुआ है। अर्थात् यह शुद्ध आधिदैविक शास्त्र है और इसमें मानव के श्रेष्ठ धर्म का स्वरूप बतलाया गया है। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष के संयोग से जगत् की उत्पत्ति बतलायी है, तो वैशेषिकों ने परमाणुओं के संयोग से उसकी उत्पत्ति कही है। किन्तु यह संयोग क्यों कर होता है, इसका रहस्य ये लोग नहीं बतला पाये। उस रहस्य को मीमांसा दर्शन ने यज्ञतत्त्व के रूप में प्रकट किया है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से निष्पन्न है। 'यज्ञ' का अर्थ है देवपूजा, संगतिकरण और दान। अर्थात् यज्ञ से व्यक्ति का संगतिकरण होता है, तभी समाज की स्थापना हो पाती है। इससे स्पष्ट है कि संगतिकरण का बीज 'यज्ञ' में हैं, इस बात को 'यज्' धातु के अवशिष्ट दो अर्थों ने विशद किया है। मीमांसा का सर्वस्व वेद है। वेद में कहा है कि जो यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वे धर्म-स्थापक कहलाते हैं, जो धर्मस्थापक होते हैं वे स्वर्ग में निवास करते हैं। यज्ञ में देवताओं को बुलाया जाता है, वे आते हैं इत्यादि। इस प्रकार यज्ञ और देव, धर्म और स्वर्ग का सम्बन्ध जैसा वेद ने बतलाया है, उसको जैसे का तैसा ही मीमांसा ने स्वीकार किया है, यही उसका आधिदैविक वाद (स्वरूप) है। एक अद्वितीय ईश्वर भी सर्वव्यापी होने से इन यज्ञों में रह सकता है, परन्तु मीमांसा को इन बातों की ओर ध्यान देने की या सोचने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ईश्वर अव्यक्त है और मीमांसा 'अव्यक्त' की ओर नहीं देखती, लेकिन अदृष्ट या अपूर्व की ओर दृष्टि को दौड़ाती है। कारण यह है कि अदृष्ट या अपूर्व का कर्म के साथ बहुत

निकट का सम्बन्ध है। इस प्रकार 'मीमांसा' शुद्ध कर्मवादी है। वह तो कर्म की उपासना में रममाण रहती है। ब्रह्म की ओर ध्यान देने का उसके पास अवकाश कहाँ है ? अतः उसका अन्तिम ध्येय स्वर्ग है, जो देवताओं का निवासस्थान है। क्योंकि व्यक्त जगत् का सर्वोच्च स्थान वही है। निष्कर्ष यह है कि **सांख्यशास्त्र** 'प्रकृति-पुरुषात्मक द्वन्द्व' मानता है, **वैशेषिकशास्त्र** 'नाना जीवात्माओं' को स्वीकार करता है और **मीमांसाशास्त्र** 'अनेक देवताओं' को अपनाता है। इन तीनों दर्शनों ने अपने मुख्य वर्णनीय तत्त्वों की ही चर्चा की है। ईश्वरतत्त्व की चर्चा न करने पर भी उसका किसी ने कहीं पर भी निषेध नहीं किया है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट तीन दर्शनों—योग, न्याय और वेदान्त ने पृथक् रूप से स्वतन्त्र ईश्वरतत्त्व को स्वीकार किया है। परन्तु तीनों के यहाँ उस ईश्वर का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। योग ने 'सांख्य' के पच्चीस तत्त्वों का जैसे के तैसे ही स्वीकार कर लिया है, इसीलिए योग में सांख्य की तरह प्रकृति **'एक'** और पुरुष **'अनेक'** हैं, किन्तु सांख्य के पच्चीस तत्त्वों की अपेक्षा एक अधिक स्वतन्त्र **'पुरुष-विशेष'** है। इस 'पुरुष-विशेष' शब्द की रचना सांख्य के 'पुरुष' और वैशेषिक के 'विशेष' शब्दों के संयोग से की गई है—यह स्पष्ट है। इस पुरुष-विशेष को योगशास्त्र में ईश्वर कहा गया है, जो सर्वशक्तिमान् तथा अनादि है। इसकी इच्छामात्र से प्रकृति 'सृष्टि' का निर्माण करने लगती है। इस ईश्वर में मनुष्य की तरह क्लेश, कर्म, विपाक और आशय आदि का लेशमाश भी स्पर्श नहीं है। निष्कर्ष यह है कि योगशास्त्र का ईश्वर 'पुरुष-विशेषरूप' है, किन्तु नैयायिकों का ईश्वर इनसे कुछ भिन्न स्वरूप का है—

नैयायिकों ने वैशेषिकों के असंख्य जीवत्माओं को लेकर अपनी विशिष्ट पद्धति से एक परमात्मतत्त्व को प्रकट किया है। इन्होंने आत्मतत्त्व को 'ज्ञान' का अधिकरण माना है। इनके मत से 'आत्मा' दो प्रकार का है—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। जीवात्मा प्रत्येक के शरीर में भिन्न-भिन्न, नित्य और विभु है; किन्तु परमात्मा एक है, सर्वज्ञ है और ईश्वर है। जीवात्मा का मन से सम्बन्ध होने के कारण सदा-सर्वदा सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में उलझा रहता है। क्योंकि 'मन' ही एक ऐसी इन्द्रिय है, जो सुख-दुःखादि का ज्ञान कराती रहती है। प्रत्येक की आत्मा के लिए इसकी आवश्यकता होने से उसे असंख्य, नित्य और परमाणुरूप माना गया है। इस प्रकार के 'मन' को जीत कर सुख-दुःख के परे पहुँचने को ही इन्होंने परमात्मभाव की प्राप्ति माना है और यह प्राप्ति सृष्ट पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से होती है। प्रमाणवाद के द्वारा सृष्ट पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कराना ही न्यायशास्त्र का उद्देश्य है। ऐसी परमात्म-प्राप्ति में दुःखनाश तो अवश्य है, किन्तु साक्षात् सुखोपलब्धि नहीं कही जा सकेगी। यही नैयायिकों का अपवर्ग है।

सांख्य-योग का कैवल्य, वैशेषिकों का निःश्रेयसाधिगम और मीमांसकों का स्वर्ग जिस प्रकार प्रत्यक्षतया सुखानुभव कराते हैं वैसा नैयायिकों का अपवर्ग नहीं।

योग और न्याय की अपेक्षा वेदान्त का ईश्वर भिन्न है। वेदान्त सचमुच में ईश्वरशास्त्र है। इसमें अध्यात्म-विचार पूर्णरूपेण हो पाया है। इसका ईश्वर योग

के ईश्वर की तरह अनेक पुरुषों में से 'पुरुष-विशेष' नहीं, या न्याय के ईश्वर की तरह अनेक जीवात्माओं में से एक परमात्मा भी नहीं। वह सृष्टि का कर्ता होकर भी अकर्ता है—'तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्'। उसे ब्रह्म या परब्रह्म कहते हैं।

षड्दर्शनों में से सांख्य, योग और वैशेषिक—ये तीन दर्शन नियोजनात्मक, विभजनात्मक, विघटनात्मक, विच्छेदनात्मक या पृथक्करणात्मक (Analytical) व्यष्टिस्वरूप के तथा आत्मिक दृष्टि के हैं और न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त—ये तीन दर्शन संयोजनात्मक, संकलनात्मक, संघटनात्मक, संगतिकरणात्मक या एकत्रीकरणात्मक (Synthetical) समष्टिस्वरूप के तथा ब्राह्मी दृष्टि के हैं। वैशेषिक शास्त्र से पदशास्त्र अर्थात् व्याकरणशास्त्र (Analytics) निष्पन्न होता है, जिसे पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में शब्दानुशासन नाम से कहा है। उसमें प्रत्येक शब्द का व्यक्तिगत विवरण किया जाता है। ऐसे अनेक शब्दों के एकत्रित होने पर वाक्य की निष्पत्ति होती है, यह प्रथम समष्टि है। शब्द भी अनेक वर्णों के समूह से निष्पन्न होने के कारण उतने भर के लिए समष्टिस्वरूप ही हैं, किन्तु आगे चलकर वाक्य में अवयव के रूप में अवतरित होने से व्यष्टिभाव को पा लेते हैं। इन वाक्यों की छान-बीन मीमांसाशास्त्र के द्वारा होती है, इसलिए मीमांसा को वाक्यशास्त्र या वाक्यदर्शन (Exegetics) कहते हैं। अनेक वाक्यों के समूह से न्याय-घटित अनुमान निष्पन्न होता है। वह अपने अंगांगिभाव में स्थित होकर ऊँची समष्टि को बतलाता है। स्वार्थ-परार्थानुमानपरक (Inductive and deductive) पञ्चावयव-वाक्य के द्वारा अन्तिम निगमन को बतलानेवाला न्यायशास्त्र ही विवादशास्त्र (Dialecties) के रूप में निष्पन्न होता है। सब के अन्त में वेदान्त की जो अन्तिम समष्टि (Final Synthesis) है, वह उदित होती है, वही परमोच्च व्यष्टिरूप परमेष्ठी है। इस रीति से मीमांसा (वाक्य), न्याय (प्रमाण) एक दूसरे से हस्तान्दोलन करते हुए चलते हैं। तथापि मीमांसा शुद्ध कर्मशास्त्र है, तो न्याय शुद्ध ज्ञानशास्त्र है। मीमांसा का 'कर्म' या न्याय का 'ज्ञान' दोनों योग के कर्म की तरह या वैशेषिकों के ज्ञान की तरह व्यष्टिरूप न होकर समष्टिरूप हैं। वेदान्त में समस्त भौतिक, दैविक और आत्मिक शास्त्रों और मतों का सप्रमाण समन्वय हो जाने के कारण उसमें से जैसे आरम्भवाद, वैसे ही परिणामवाद भी निकलता है, सत्कार्यवाद वैसे ही असत्कार्यवाद, विवर्तवाद, प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद आदि कितने ही वाद निकलते हैं। किन्तु सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय और मीमांसा इन पाँचों में विवर्तवाद को कहीं भी स्थान उपलब्ध नहीं होता। अद्वैती वेदान्तियों ने 'उपमान प्रमाण' के बल पर विवर्तवाद को जन्म दिया है।

जगत् की स्थिति का मूलतत्त्व यज्ञ होने से उसका 'दाम्पत्यसिद्धि' तथा 'प्रजाभिवृद्धि' में कारण होना अर्थात् सिद्ध हो जाता है। इस 'प्रजाभिवृद्धि' में एक ओर 'आत्मा की अमरता' है तो दूसरी ओर 'ब्रह्म' की प्राप्ति है, ऐसी द्विविध कार्यकारिता योग में नहीं है। उसमें केवल 'आत्मकैवल्य' है, 'ब्रह्मसाफल्य' नहीं।

यही कारण है कि जगत् की दृष्टि से **'योगदर्शन'** की अपेक्षा **'यागदर्शन'** का महत्त्व अधिक है, जिसे जैमिनि की **पूर्वमीमांसा** कहते हैं। धर्मजिज्ञासा से इस दर्शन का आरम्भ होता है। इसमें योग की तरह चित्तवृत्ति-निरोध की आवश्यकता नहीं, यहाँ तो चित्त की असंख्य वृत्तियों के क्षेत्र में बिखरी हुई अनेक कामनाओं का फैलाव है। यहाँ उठते-बैठते 'संकल्प', तदनुसार कर्मानुष्ठान और कर्मानुष्ठान के अनुसार क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ अर्थात् यहाँ जो भी कर्म है वह यज्ञमय है। इसीलिए उससे किसी को बाधा पहुँचने की सम्भावना ही नहीं। ऐसे कर्मों का ज्ञान करने में मुख्य प्रमाण शब्द है। इसलिए मीमांसकों ने शब्द का **नित्यत्व** सिद्ध किया है। आकाश में 'शब्द' नित्य है किन्तु अव्यक्त है, इसलिए उसे आकाशविषय या आकाशवृत्ति कहा गया है। वायु की लहरियों के साथ-साथ उसकी अभिव्यक्ति होती जाती है। वैशेषिकों के मत से आकाश 'निर्गुण' है, परन्तु **नैयायिक** उसे 'शब्दगुणक' कहते हैं। **आकाश** को एक, नित्य और विभु कहने पर शब्द भी 'एक, नित्य और विभु' सिद्ध होता है। **आकाश** विभागरहित होने से **'शब्द'** भी विभागरहित है, वह आकाश का **गुण है** और गुण तथा गुणी का सम्बन्ध नित्य माना गया है, तथापि पतञ्जलि ने महाभाष्य में गुणी का अर्थ गुणसमूह बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि गुणी के रहने पर भी गुण अनेक हो सकते हैं। यह 'अनेकत्व' उसमें वायु के कारण प्राप्त होता है। क्योंकि वैशेषिकों के अनुसार 'वायु' परमाणुरूप और नित्य माना गया है। किन्तु मीमांसकों के मत में वह अविभाज्य, निरवयव है और निरपेक्ष (Absolute) है अर्थात् किसी से उस शब्द-ध्वनि का सम्बन्ध नहीं है। उसकी दीर्घता, ह्रस्वता या भिन्नता उपाधि पर निर्भर है। जैसे कान में यन्त्र लगाने पर ध्वनि बड़ी सुनाई पड़ती है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त में जिस प्रकार 'ब्रह्म' एक, अद्वितीय, नित्य, निरपेक्ष, अविभक्त, अविभाज्य है, उसी प्रकार मीमांसा में 'शब्द' एक, अद्वितीय, नित्य, निरपेक्ष, अविभक्त, अविभाज्य है। शबरस्वामी ने मी० सू० १।१।२१ सूत्र में दिये गये 'अनपेक्षत्वात्' का अर्थ 'अकारणत्व' किया है, उसे उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई तत्त्व नहीं है। वह अनादि, स्वयंभू (Self-existent) है। जैसे न्याय में 'ईश्वर'; **वैशेषिक में** 'परमात्मा'; **योग में** 'पुरुषविशेष' वैसे ही **मीमांसा** में 'शब्द'। मीमांसकों के मत का ही ठीक-ठीक अनुकरण **बायबिल ने** भी किया है। बायबिल के नवे करार (प्रकरण) में येशू का कथन है कि 'सर्वप्रथम शब्द था और शब्द ही देवता था' (In the beginning was the word and the word was god)। मीमांसकों ने **धर्म में** 'शब्दप्रमाण' को ही पूरा-पूरा महत्त्व दिया है। शब्द में ही अर्थ की शक्ति है और वही वाक्यार्थ बोध का कारण है। वाक्य में स्वतन्त्र कोई अर्थशक्ति नहीं है। शब्द की इस नित्यता के बल पर ही **वेदों के अपौरुषेय होने का यश** मीमांसकों ने ही पाया है। किन्तु नैयायिक इन सब बातों से सहमत नहीं हैं। वे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाणों को मानते हैं। इनके मत में 'शब्द' नित्य न होकर अनित्य है, शब्द की अर्थशक्ति से वाक्यार्थशक्ति भिन्न और स्वतन्त्र है तथा वेद पौरुषेय हैं। मीमांसासूत्रकार जैमिनि

ने नैयायिकों के मत को पूर्वपक्ष में रखकर अपना मत सिद्धान्त रूप में बतलाया है। यहाँ जिज्ञासा यह हो सकती है कि मीमांसासूत्रकार इस उधेड़बुन में क्यों पड़े? इस पर विचार करने पर दो पक्ष सामने आते हैं, एक व्यावहारिक और दूसरा शास्त्रीय। व्यवहार में पक्ष-प्रतिपक्ष को मान्य कराकर किसी स्टाम्प (आलेख्य पत्र) को न्यायाधीश के सामने रखकर जब विचार आरम्भ होता है, तब इस पत्र को किसने किया? कब किया? इस विचार का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता, उस समय तो उपस्थित किये गये पत्र का 'अर्थ' क्या है, इस बात को मुख्यतया सोचा जाता है। उसमें लिखे हुए वाक्यों का अर्थ करते समय प्रत्येक शब्द की कस-कस कर परीक्षा करनी होती है। केवल वाक्यार्थ कर देने से अर्थ-विचार की सबलता या अकाट्यता नहीं होती। इसलिए प्रत्येक शब्द में 'अर्थशक्ति' है और वही वाक्यार्थ-शक्ति की भी कारण है—यह सिद्धान्त किया गया। अब शास्त्रीय पक्ष से विचार करने पर धर्मोपदेश और उसके कर्ता परमेश्वर दोनों को आदि मानने में गौरव का व्यर्थ ही स्वीकार करना होगा। उस पर प्रश्न हो सकता है कि गौरव के भय से धर्मोपदेश को ही अनादि मानने में विनिगमक क्या है? जब कि मनुष्य को परमेश्वर ने धर्मोपदेश किया, तभी उसकी उत्पत्ति हुई, अतः उसे 'सादि' क्यों न कहा जाय? किन्तु परमेश्वर सर्वज्ञ होने से उसमें स्थित धर्मोपदेश को ही 'अनादि' मान लेने से गौरव-दोष का निराकरण हो जाता है तथा धर्मोपदेश को 'अनादि' मान लेने पर उसकी अपौरुषेयता अनायास ही सिद्ध होती है। वेदकर्ता के बारे में नैयायिकों का सोंचना ठीक है, कारण वेद भ्रामक हैं या प्रमाकारक हैं? यहीं से तो उनके विचार का आरम्भ है। नैयायिकों के यहाँ प्रमाण-परीक्षा' का विशेष महत्त्व होने से उन्होंने सिद्धान्त बना दिया है कि 'बिना कारण के कार्य हो ही नहीं सकता'। इसलिए उनका मीमांसकों के सिद्धान्त से मेल नहीं बैठता। इस प्रकार दर्शनान्तरों के साथ **मीमांसा** का साम्य और वैषम्य एवं उसकी विशेषता का स्फुट परिचय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि **मीमांसा-दर्शन** का सामान्य स्वरूप, अन्य दर्शनों से उसका सम्बन्ध, मीमांसा-पद्धति का आरम्भ और विकास, मीमांसा के विचारक और उनकी विचारशैली पर पुष्कल प्रकाश डाला जाय। इसके लिए मीमांसा सूत्र और सूत्रकार, भाष्य और भाष्यकार, वार्तिक और वार्तिककार आदि का निरूपण करना परम आवश्यक है। इसके साथ-साथ मीमांसा के आन्तरिक संघर्ष और विकास एवं अन्य दार्शनिकों के साथ संघर्ष करते हुए अपने प्रधान उद्देश्य की सिद्धि मीमांसा ने कैसे की है, इसकी भी सुव्यक्त चर्चा की जानी चाहिए। विकसित मीमांसादर्शन का सुवर्णकाल एवं आचार-विचार पर उसकी अभिट छाप एवं भारतीय संस्कृति का पूर्ण अभ्युदय और मीमांसा के ह्रास के साथ-साथ उसका धूमिल स्वरूप दर्शाया जाय। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में यथाशक्ति उक्त विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

विषय-प्रवेश

ऋषि-महर्षियों का अनुभव ही दर्शन शब्द से कहा जाता है। ऋषि शब्द का निर्वचन 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त अ० २ खण्ड ११, पृ० १६२, आनन्दाश्रम, पूना से मुद्रित, सन् १९२१) कहकर यास्क ने किया है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋषियों के तत्त्व-दर्शन ही 'दर्शन-शास्त्र' के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं।

जैसे न्याय-वैशेषिकदर्शन 'प्रमाण-प्रमेयादि' पदार्थों के विवेचनार्थ प्रवृत्त हुए हैं और साथ ही साथ कतिपय आनुषंगिक विषयों का विवेचन भी करते गये हैं।

दर्शन वही है जिसमें पदार्थों की विवेचना, सृष्टि-संहार-प्रक्रिया, ईश्वरतत्त्व, संसार में जीव का आना, शरीरेन्द्रियादि से सम्बन्धित होना, उसका कारण, उससे मुक्त होने का उपाय, जीव के इहलोक-परलोक व्यवहार आदि बातों का सांगोपांग विवेचन किया जाता है। विवेचन करना ही दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है।

सभी दर्शनों में कर्मसिद्धान्त तो मूलरूप से है ही, क्योंकि 'कर्मसिद्धान्त' भारतीयों का सर्वस्व है। इसके बिना किसी दर्शन की पूर्णता नहीं हो पाती। कर्मसिद्धान्त में शरीरेन्द्रियादि से आत्मा की भिन्नता, नित्यता, कर्तृता, भोक्तृता, स्वर्ग-नरक, जन्म-मरण इत्यादि सभी बातों का समावेश हैं। स्थूल दृष्टि से देखने वाले कर्मसिद्धान्त की ओर अनादर की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु कर्मसिद्धान्त को अपनाने से ही जीव 'दानव' न होकर मानव बनता है। यास्क ने मनुष्य (मानव) का निर्वचन इस प्रकार किया है—'मनुष्यः कस्मात् ? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्याः' (पी० के० राजवाडे संपा० प्र० भाग; निरुक्त अ० ३ पृ० ४५)। अर्थात् मनुष्य अच्छे कर्मों के द्वारा अपनी उन्नति कर सकता है और दुष्कर्मों के द्वारा अपनी अवनति भी। 'धर्म' शब्द कर्म का पर्याय है। उसके दो प्रकार हैं—सामान्य व विशेष। सामान्य धर्म वह है जो मनुष्य मात्र के लिए हो। विशेष धर्म 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' को लेकर चलता है, अर्थात् त्रैवर्णिक सुसंस्कृत मनुष्य ही आधानादि अश्वमेधान्त कर्मानुष्ठान के अधिकारी हैं। इन धर्मों का मूल स्रोत वेद में पाया जाता है। इसका क्रमबद्ध विवेचन श्रौतसूत्रों में पाया जाता है। जहाँ-जहाँ वाक्यार्थ-निर्णय में सन्देह होता है उसका निर्णय मीमांसाशास्त्र के द्वारा किया जाता है[1]। यही भारत का मुख्य प्राण है। जैसे अमेरिका में वाणिज्य ही मुख्य है, उसके अविरोधेन दर्शन, कला, धर्म इत्यादि की व्यवस्था वहाँ होती है; उसी तरह भारतवर्ष में धर्म तो प्राण के स्थानापन्न है, उसके अविरोधेन ही सभी को चलना है। यही कारण है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदों में ऋषियों के लिए 'महाश्रोत्रिय-महाशाल'[2] आदि विशेषण दिये गये हैं। ये विशेषण सोमयागादि-विशिष्ट यज्ञों के सूचक हैं। मंत्र-

---

१. 'धर्मे प्रमीयमाणे····मीमांसा पूरयिष्यति ॥ मतिर्बहु····नोपजायते ॥'

(कुमारिल, बृहट्टीका)

२. महाशाला, महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रुः । (छां० उ० ५।११।१)

ब्राह्मणात्मक वेद का सम्बन्ध त्रैवर्णिक वर्णाश्रमी मनुष्य के साथ है। उसे ऋषियों ने अपने त्याग एवं तपस्या के द्वारा उसे प्राप्त किया है और अध्ययन तथा अध्यापन की अक्षुण्ण परंपरा से उसकी रक्षा की है। इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कितने ही विद्वानों ने की है[1] तथापि सर्वांगीण व्याख्या मीमांसा-पद्धति से ही होती है, दूसरे से नहीं।

प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियाः। (छां० उ० ५।११।३) एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रियाः। (छां० उ० ६।४।५) ते होचुर्यत् किमिव वालिशानुपासदत महाशाला वै महाश्रोत्रिया वर्षीयांसः। (छां० उ० ३)

१. (क) **आध्यात्मिक पद्धति**—वेदान्ती—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—न तं विदाथ य इदं जजानान्यद्युष्माकम् अन्तरं भवाति तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यं चानृतञ्च सत्यमभवत्, आत्मनः आकाशः सम्भूतः'। 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' इत्यादि वाक्यों से जो सङ्क्षेपतः अध्यात्मवाद का उपक्षेप है उसी का यह समस्त वेद अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड विश्लेषण मात्र है तथा पुराण भी। यही आध्यात्मिक पद्धति है। (ख) **आधिदैविक पद्धति**—निरुक्तकार–'सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः। अथाकारचिन्तनम्। एतस्यैव विसृष्टिः। तत्र देवतासंख्याविवादाः'। दैवत काण्ड में इसका विशद व्याख्यान किया गया है, जो कर्मकाण्ड के मन्त्रों की तरह झलकते हैं। जैसे—आपान्तमन्यु (ऋ० १०।९८।५)। इस मन्त्र की व्याख्या में यास्क ने (नैगमकां० ५।२) बहुत विस्तारपूर्वक अनेक पक्षों का प्रतिपादन किया है। इस नैगमकाण्ड में मन्त्र-व्याख्या के बहाने आधिदैविक पक्ष का उपपादन तथा समर्थन किया है। (ग) **ऐतिहासिक पद्धति**—पाश्चात्य विद्वान्—पाश्चात्यों के अनुसार वेदों की व्याख्या के लिए तुलनात्मक भाषाशास्त्र तथा इतिहास की आवश्यकता होती है। साथ ही साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीति-रिवाज का भी अध्ययन अपेक्षित होता है, क्योंकि इन दोनों की पारस्परिक तुलना ही वैदिक धर्म के मूल स्वरूप का परिचय दे सकती है। इसी कारण इसे ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं। (घ) **अधियज्ञ पद्धति**—मीमांसक—'यज्ञ के स्वरूप को बतलाने के लिए वेदों की प्रवृत्ति है। 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इस यजुर्मन्त्र का व्याख्यानरूप ब्राह्मण इस प्रकार है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म तस्मात् एवमाह' इत्यादि। इस मन्त्रब्राह्मण से यज्ञ को ही सर्वश्रेष्ठ कर्म बतलाया गया है। इस मन्त्र के भाष्य में महीधराचार्य कहते हैं कि कर्म चार प्रकार के होते हैं—प्रशस्त, अप्रशस्त, श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम। 'चतुर्विधं कर्म—अप्रशस्तम्, प्रशस्तं, श्रेष्ठं श्रेष्ठतमञ्चेति। लोकविरुद्धं वधबन्धचौर्यादिकमप्रशस्तम्, लोकैः श्लाघनीयं बन्धुवर्गपोषणादिकं प्रशस्तं, स्मृत्युक्तं वापीकूपतडागादिकं श्रेष्ठम्, वेदोक्तं यज्ञरूपं श्रेष्ठतममि'ति। (शु० य० महीधर भा० पृ० ५ नि० प्रे० द्वि० आ०) इसी आशय के अभियुक्तों के वचन भी हैं—'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च०'। 'काण्डद्वयोपपाद्याय कर्मब्रह्मस्वरूपिणे। स्वर्गापवर्गरूपाय यज्ञेशाय नमोनमः॥ (पञ्चरत्न) यही अधियज्ञ पद्धति है।

निर्दिष्ट विचारों के सहारे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब से मानव की उत्पत्ति हुई होगी, **मीमांसा** का आरम्भ भी तभी से हुआ होगा। मीमांसा करने का अभ्यास न केवल मनुष्यों में ही पाया जाता है; अपितु पशु-पक्षी आदियों में भी वह पाया जाता है। वे भी यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है—इस प्रकार मीमांसा करके ही भक्षण (खाने) में प्रवृत्त होते हैं। आरण्यक पक्षी भी प्रसूतिकाल प्राप्त होने पर उसके उचित स्थान के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार करके ही अनुकूल स्थान की खोज कर लेते हैं और वहीं अपने अनुकूल घोसला बनाते हैं। अतः मानना होगा कि पशु-पक्षियों में भी मीमांसा करने का अभ्यास होता है। इस प्रकार स्वाभाविक रीति से रहने वाली यह मीमांसन-शक्ति 'बुद्धि' के अनुरूप क्रमशः वृद्धिङ्गत होती गई और मानव में उसका विशद विकास होता गया। विद्वानों के बुद्धिप्रकर्ष के अनुसार वेदवाक्यों के अर्थों की वह निर्णायक बन बैठी। वाक्यार्थों की मीमांसा के प्रवाह का जो निष्कर्ष है, वही सोलह अध्यायों में विभाजित होकर पूर्वमीमांसा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका प्रथम सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और अन्तिम सूत्र 'यथा याज्यासम्प्रैषो यथा याज्यासम्प्रैषः' है। तात्पर्य यह है कि विचारशक्ति का विकास इतना विशद होता गया, जिसने मीमांसादर्शन के रूप में भव्य मूर्तरूप धारण कर लिया, जिसका ज्ञान समाज को सुव्यवस्थित रखने में आवश्यक सिद्ध हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा शास्त्रीय दृष्टि से उसी का ऐतिहासिक ज्ञान कराने का यह एक लघु प्रयास है।

(१) मीमांसा-शब्द का इतिहास

मीमांसा शब्द के इतिहास को देखते हुए कहना पड़ेगा कि वह भी उतना ही प्राचीन है, जितने वेद। हमें अपनी दृष्टि प्राचीनतम काल की ओर ले जानी होगी। तैत्तिरीय शाखा, मैत्रायणीसंहिता, काठकसंहिता, शांखायनब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, ताण्ड्यमहाब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, पालीकोष आदि ग्रन्थों में 'मीमांसन्ते, मीमांसेरन्, मीमांसा' शब्दों का प्रयोग पाते हैं[1]। तैत्तिरीय

---

१. 'भ्रातृव्येणावर्तते नैनं पात्रे न तल्पे मीमांसन्ते' (तै० सं० कां० ६, प्र० २, अ० ६, मं० ४)। 'उत्सृज्यां३नोत्सृज्या३मिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनस्तद्वाहुरुत्सृज्यमेवेति' (तै० सं० ५।७।१)। 'तद्राजन्यस्याग्निहोत्रं होतव्यं राजन्यस्याग्निहोत्रा३न्नहोतव्यामिति मीमांसन्ते' (मै० सं० कां० १, प्र० ६, अ० १०)। 'होतव्यं गार्हपत्यान्नहोतव्यामिति मीमांसन्ते' (मै० सं० १।८।५)। 'अपरेण दग्धव्याः पूर्वेणा३इति मीमांसन्ते' (मै० सं० १।८।६)। 'ऋतुमेव नात्यनै, होतव्या३न्नहोतव्या३मिति मीमांसन्ते' (मै० सं० १।८।७)। 'अस्यामेव प्रतितिष्ठत्यभिधायां३नाभिधायां३इति मीमांसन्ते' (मै० सं० १।१०।२०)। 'संस्थाप्यान्नसंस्थाप्या३मिति मीमांसन्ते' (मै० सं० ३।७।९)। 'अनुषक्तो हि वा एष पाप्मनाऽथैतन्मीमांसन्ते' (मै० सं० ३।८।४)। 'कति पात्राणीति पृच्छेद्द्वादशपात्राण्युपांशुसवनस्त्रयोदशः यत्तन्मीमांसन्ते' (मै० सं० ३।१०।५)। 'पात्रा३न्नपात्रा३मिति मीमांसन्ते' (मै० सं० ३।१०।१५; काठक-संहिता

शाखा में ब्रह्मज्ञानियों के 'दिन उत्सृज्य हैं या नहीं'—इस विचार-प्रसंग में 'मीमांसन्ते' शब्द आया है। ताण्डचमहाब्राह्मण में ब्राह्मणों के गुण या अवगुण की चर्चा का निषेध करते हुए 'मीमांसेत' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहीं एक अन्य प्रकरण में 'मीमांसेरन्' शब्द का प्रयोग किया दिखलाई देता है। ऋग्वेद के शांखायन (कौषीतकी) ब्राह्मण में 'मीमांसन्ते' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर 'विचार' के अर्थ में उपलब्ध होता है। एक प्रकरण में प्रश्न किया गया है कि 'सूर्योदय के पूर्व अग्नि को हवि दिया जाय अथवा सूर्योदय के अनन्तर'? इस प्रश्न पर विवेचन करते समय उभय पक्ष के साधक-बाधक वचनों का सम्यक् परिशीलन कर अन्त में 'सूर्योदय के पूर्व ही हवि देने का निर्णय दिया गया है। वहीं पर एक प्रकरण में 'मीमांसन्ते' शब्द आया है। वहाँ पैंग्य और कौषीतकी दोनों के भिन्न विचार स्पष्ट रूप से हमें ज्ञात होते हैं। इसी ब्राह्मण में पुनः एक स्थल पर हम 'मीमांसा' शब्द के परिधान की मीमांसा (विवेचन) करते हैं—इस प्रकार विवेचन के अर्थ में दिखलाई देता है। शतपथब्राह्मण में भी 'मीमांसा' शब्द उपलब्ध होता है[1]।

८।३, ८।१२, १९।८, २३।९, २५।३, २७।५, २९।२, ३०।१, ३३।७, ३६।१४, ३७।१)। 'ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसते'—अयं पात्रं भवति न वेति न मीमांसेत विचारन्न कुर्यात् (सायणभाष्य, तां० म० ब्रा० ६।५।९)। 'यस्तल्पे वोदके वा विवाहे वा मीमांसेरन् त एता उपेयुः मीमांसेरन् विवदेयुः' (सा० भाष्य, तां० म० ब्रा० ६।५।९; २३।४।२)। 'मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुता वेति'—(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् पृ० ४१)। 'मीमांसन्ते विचारयन्ति' (शांकरभाष्य, आनन्दाश्रम, सन् १८९५)। 'मीमांसा विचारणा भवति' (शांकरभाष्य, तैत्ति० उप० २।८)। 'मीमांसां चक्रुः—मीमांसां विचारणां चक्रुः कृतवन्तः' (छां० उप० ५।११।१)।

१. 'का मीमांसा सुत्यायाम्' (शांखा० ब्रा० अ० ७ ब्रा० ३)। 'अथातः परिधानस्यैव मीमांसा' (शांखा० ब्रा० १८।४)। 'अथातो गो आयुषोर्मीमांसा' (शांखा० ब्रा० २६।२)। 'अथात ऋतुप्रैषाणामेव मीमांसा' (शांखा० ब्रा० २८।८)। 'यस्यैवंविद्वुषस्ता अन्वाहुः सो एषा मीमांसा' (शतपथब्रा० १ कां०, ३ अ०, ५ ब्रा०, १२ खण्ड)। 'स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्संस्थापयति सो एषा मीमांसैवेतरन्त्वेव क्रियते' (शतपथब्रा० ४।१।१।१६)। 'आग्रयणं गृहीत्वासोऽएषा मीमांसैव प्रातः सवनत्वैनं गृह्णीयात्' (शतपथब्रा० ४।५।३।८)। 'यदुक्थ्यः सोऽएषा मीमांसैव' (शतपथब्रा० ४।५।४।७)। 'अथातश्चितिपुरीषाणामेव मीमांसा' (शतपथब्रा० ८।७।४।१२)। 'अथातः समिष्टयजुषामेव मीमांसा' (शतपथब्रा० ९।५।१।१२)। 'अथातश्चितिपुरीषाणामेव मीमांसा' (शतपथब्रा० १०।२।५।९)। 'देवत्रा दर्शपूर्णमासयोर्मीमांसा' (शतपथब्रा० ११।२।४।४)। 'एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः यदाज्यं तत्रोभयोर्मीमांसा' (तै० ब्रा० ३।३।४।६)। 'पुरोडाशस्यैव बर्हिषदो मीमांसा' (तै० ब्रा० ३।३।८।५)। 'सैषा मीमांसाग्निहोत्र एव सम्पन्ना'

उपनिषदों में यह शब्द बिवेचन के अर्थ में अनेक बार आता है। छान्दोग्य में आया है कि एक समय प्राचीनशाल, औपमन्यव आदि अनेक जिज्ञासु महर्षियों का सम्मेलन हुआ, उसमें उन्होंने बड़े ही सारगर्भित विषय का विवेचन आरम्भ किया। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी 'आनन्द क्या है'? इस विषय पर विवेचन करते हुए अन्त में उसकी मीमांसा की गई है।

इन सब उदाहरणों को देखने पर निश्चित रूप से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक काल से लेकर सूत्र-भाष्य काल तक मीमांसा शब्द विचार के अर्थ में प्रयुक्त होता आया है[1]।

(अ० ३, प्र० १०, अनु० ९)। 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' (तै० आरण्यक पृ० ८, अनु० ८, आ० १)। 'न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणीति श्रुतिः' (आत्मोप० २)।

१. 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' (तै० उ० २।८)। 'मीमांसा विचारणा भवति' (शांकरभाष्य तै० उ० २।८)। 'प्राचीनशाल औपमन्यवः···मीमांसां चक्रुः' (छां० उ० ५।११।१)। 'मीमांसां चक्रुः—मीमांसां विचारणां चक्रुः कृतवन्तः' (शांकरभाष्य)। 'अथातो व्रतमीमांसा इत्यारभ्य अध्यात्ममिन्द्रियाणां अधिदैवतञ्च देवतानाम् असाधारणं कर्म विचारितम्' (बृह० उ० १।५।२१)। 'मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुता वेति' (नृसिंहपूर्वतापनीयोप० पृ० ४१)। 'मीमांसन्ते विचारयन्ति' इति शाङ्करभाष्यम्। 'अथातो होत्राणामेव मीमांसा' 'अत्र होत्रनुष्ठानविचारानन्तरं होत्रकाणामेव विचारोऽवशिष्टः इति व्याख्यानम् आनर्तीय-भाष्ये' (शांखा० श्रौ० सू० १८।२४।३४)। 'अथास्तमिते आदित्ये उदकं गृह्णीयात्, न गृह्णीयात् इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः' इत्यत्र पूर्वोत्तरपक्षपरिग्रहेण विचारो मीमांसापदार्थः स्पष्टः (बौ० ध० सू० १।६।११)। शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः। मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्'। (बौ० ध० सू० १।१०।५) इत्यत्र गोविन्दस्वामिना विवरणे 'मीमांसित्वा विचार्य इति व्याख्यातं, तेन विचारार्थको मीमांसाशब्दः'। 'तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यात् इति मीमांसन्ते'। (गौ० ध० सू० १९।४) इति संशयमुपन्यस्य 'न कुर्यादित्याहुः' (गौ० ध० सू० १९।५) इति पूर्वपक्षप्रतिज्ञामुपन्यस्य 'नहि कर्म क्षीयते इति' (१९।६) इत्यनेन पूर्वपक्षे युक्तिरुपन्यस्ता। 'कुर्यादित्यपरम्' (१९।७) इति सिद्धान्तप्रतिज्ञामुक्त्वा 'पुनः सोमेनेष्ट्वा' (१९।८) इत्यादिभिः सूत्रैः तत्साधिकाः श्रुतय उदाहृताः। तेन पूर्वोत्तरपक्षपरिग्रहेण निर्णयान्तो विचारो मीमांसापदार्थः स्पष्टो भवति।

'तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यात् इति मीमांसन्ते' (वासिष्ठ ध० सू० २२।२) 'न कुर्यादित्याहुः' (२२।३)। 'नहि कर्म क्षीयते इति' (२२।४)। कुर्यादित्येव, 'तस्माच्छ्रुतिनिदर्शनात्' (२२।५) इति अत्रापि मीमांसापदस्य विशिष्टविचार-परत्वं स्पष्टम्।

'वीमांसति' शब्द पर टी० डब्ल्यू० ह्रिस डेविट्स ने अपनी पाली डिक्शनरी में लिखा है कि 'वीमांसति' शब्द वैदिक 'मीमांसते' शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ

इस प्रकार मीमांसा शब्द के इतिहास से परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् जिस दर्शन या शास्त्र के लिए उसका प्रयोग होता आ रहा है, उसके यथार्थ निश्चय के लिए हमें मीमांसा शब्द की निष्पत्ति पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

(२) मीमांसा शब्द की निष्पत्ति

आजकल पठन-पाठन में अधिक प्रचलित पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पूजार्थक 'मान्' धातु से 'सन्' प्रत्यय कर, स्त्रीलिंगबोधक 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' प्रत्यय के जोड़ने से निष्पन्न[1] हुआ मीमांसा शब्द 'विचार' अर्थ को कहता है।

(३) मीमांसा-दर्शन का हीं नामान्तर विचार-शास्त्र हैं

यद्यपि [2]वार्तिककार कात्यायन ने जिज्ञासा अर्थ में सन् प्रत्यय का विधान किया है, तथापि यह सोचना होगा कि जिज्ञासा होती कब है ? वह तो सन्देह के होने पर निर्णय तक पहुँच पाने के लिए की जाती है और वह निर्णय विचार किये बिना कभी हो नहीं सकता। अतः लक्षणा-व्यापार का आश्रय लेकर जिज्ञासा[3] का अर्थ 'विचार' ही निर्णीत किया जाता है। यह 'विचार' अर्थ भी प्रत्यय का न होकर 'धातु' का है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'मान्' धातु का अर्थ तो 'पूजा' है, तब 'विचार' अर्थ उससे कैसे समझ लिया जाय ?

उत्तर यह है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं[4]। अन्यथा सिद्धान्तकौमुदी के

होता है विचार का प्रयत्न करना (To try to think), विचारपूर्वक निश्चय करना (To consider), परीक्षण करना (To examine), प्रयोग के द्वारा परीक्षण करना (To investigate to test), खोजना (To find out), 'छन्द-व्यायाममीमांसाचित्ताकृष्टाः समाधयः। ऋद्धिपादास्तु चत्वारो गुणसम्पत्तियोनयः' ॥ (अभिधर्मदीप, अ० ६, श्लोक ४४८)। यहाँ भी मीमांसा शब्द विचार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः' (मनु०)। 'पुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥ (या० स्मृ० आचाराध्याय, श्लो० ३)। 'अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसान्यायविस्तरः— (विष्णुपु०)।

१. 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' (पा० सू० ३।१।६)। 'अप्रत्ययात्' (पा० सू० ३।३।१०२), 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० सू० ४।१।४)।

२. 'मानेर्जिज्ञासायाम्' (वा० ३।१।६)।

३. 'ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा' (जानने की इच्छा)। यहाँ इच्छा अर्थ में 'ज्ञा' धातु से (सन्) प्रत्यय होता है।

४. अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति'। (महाभाष्य—श्रीगुरुप्रसादशास्त्रि-संपादित वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीस्थ लघुशब्देन्दुशेखर से उद्धृत पृ० ३३; प्र० संस्करण, वि० सं० १९९७)।

चुरादिप्रकरण में १८४४वें 'मान पूजायाम्' धातु पर भट्टोजी दीक्षित के कथन[1] (भ्वादिगण में पठित विचारार्थक 'मान्' धातु नित्य सन्नन्त होता है)—की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि भ्वादिगण में 'मान् पूजायाम्' इतना ही पढ़ा है। अतः 'विचारणे तु भौवादिकः' यह कथन निरर्थक होने लगेगा। इसीलिए 'मानेर्जिज्ञासायाम्' के स्थान पर 'मानेर्विचारे' वार्तिककार ने कहा—ऐसा कुछ लोगों का कहना है। फलतः 'मीमांसा-दर्शन' के 'मीमांसा' का अर्थ है—पूजित-विचार[2]। वही विचार पूजित समझा जाता है, जिसका फल गम्भीर रहस्य का निरूपण या आविष्कार हो अर्थात् मीमांसादर्शन धर्मविचारशास्त्र है। विचार के अर्थ में मीमांसा शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों में पाया जाता है[3] और सभी जगह उसका अर्थ विमर्शपूर्वक व्याख्यान ही माना गया है।

(४) मीमांसा का निरूपणीय

मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद का तात्पर्य किसमें है? उनके प्रतिपादित विषयों में कौन प्रधान है, कौन नहीं? [4]स्तोत्र, [5]शस्त्र, [6]विधि, [7]निषेध और [8]अर्थवादादि भेदों से

---

१. 'विचारणे तु भौवादिको नित्यसन्नन्तः' (चुरा० सि० कौ० पृ० २३२)।

२. पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्दः' (भामती पृ० ४६ मुंबई सं०)।

३. 'यस्यैवं व्विदुषस्ता अन्न्वाहुः सोऽएषा मीमांसैव' (शतपथब्रा० १।३।५।१२)। 'अथातः परिधानस्यैव मीमांसा' (१८।४ शां० ब्रा०)। सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' (तै० आ० ८।८।१)। 'अथातो होत्राणामेव मीमांसा'—अत्र होत्रनुष्ठानविचारानन्तरं होत्रकाणामेव विचारोऽवशिष्टः इति व्याख्यानं आनर्तीयभाष्ये। (शांखायनश्रौतसूत्र १८।२४।३४)। 'अथास्तमिते आदित्ये उदकं गृह्णीयात्, न गृह्णीयात् इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः' इत्यत्र पूर्वोत्तरपक्षपरिग्रहेण विचारो मीमांसापदार्थः स्पष्टः। (बौधायनधर्मसूत्र १।६।११)। 'तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यात् न कुर्यात्, इति मीमांसन्ते' (गौ० ध० सू० १९।४) इति संशयमुपन्यस्य 'न कुर्यादित्याहुः' इति पूर्वपक्षप्रतिज्ञामुपन्यस्य 'नहि कर्म क्षीयते इति' इत्यनेन पूर्वपक्षे युक्तिरुपन्यस्ता। 'कुर्यात्' इति सिद्धान्तः इति विचारो मीमांसा।

४. 'प्रगीतमन्त्रसाध्यास्तुतिः स्तोत्रम्' (जै० न्या० मा० पृ० ६९, आनन्दाश्रम, पूना १८९२)।

५. 'अप्रगीतमन्त्रसाध्यास्तुतिः शस्त्रम्' (जै० न्या० मा० पृ० ६९, आनन्दाश्रम, पूना १८९२)।

६. 'प्रयोजनवदर्थप्रतिपादकत्वं विधेः सामान्यलक्षणम्' (मी० न्या० प्र०—प्रभाटी०, पृ० ६६, भाण्डारकर ओरि० रिस० इन्स्टी० पूना १९३७)।

७. 'अनर्थहेतुकर्मणः सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वम्' (मी० न्या० प्र०—प्रभाटी०, पृ० २४८, भाण्डारकर ओरि० रिसर्च इन्स्टी० पूना १९३७)।

८. 'साध्येऽर्थे प्राशस्त्यरूपधर्मविशेषप्रतिपादकत्वम्' (मी० न्या० प्र०—प्रभाटी०, पृ० १५, भाण्डारकर ओरि० रिसर्च इन्स्टी० पूना १९३७)।

वे भिन्न-भिन्न हैं या स्तोत्र आदि की समानार्थता (एकप्रयोजनता) होने से परस्पर समन्वय है ? इस तरह विचार प्रारम्भ होने पर तत्तत् मन्त्रभागों के द्वारा देवता को उद्देश्य कर प्रतिपादित सवन, होम, याग आदि कर्मों में ही वेद का तात्पर्य है और वे ही धर्म हैं। उसी का ब्राह्मण में बतलाये गये चोदनारूप विधि, निषेध, अर्थवाद आदि के द्वारा विवेचन और विस्तार मीमांसादर्शन में किया गया है।

(५) वाक्यमूलक तर्कशास्त्र का सुसंस्कृत रूप ही मीमांसादर्शन है

पाश्चात्य विद्वानों ने तर्कशास्त्र (Logic) के दो विभाग किये हैं—एक इण्डक्टिव[1] (Inductive) और दूसरा डिडक्टिव[2] (Deductive)। जहाँ किसी एक सिद्धान्त से दूसरा सिद्धान्त निकाला जाता है वहाँ उसे वाक्यमूलक तर्कशास्त्र कहते हैं। इसी वाक्यमूलक तर्कशास्त्र की परिपुष्ट और सुसंस्कृत अवस्था को ही मीमांसाशास्त्र कहा जा सकता है।

(६) जिज्ञासा का विकसित रूप ही मीमांसादर्शन है

याज्ञिक युग में यज्ञानुष्ठान के समय किसी सन्देह या विवाद के उत्पन्न होने पर शिष्ट लोगों से पूछा जाता था और तदनुसार वे लोग निर्णय दिया करते थे। अर्थात् पूर्वपरम्परा की कसौटी पर सन्दिग्ध वैदिक वाक्यों को कसकर किसी सिद्धान्त पर पहुँचा करते थे। इन निर्णायकों को 'मीमांसक' कहा जाता था। अपनी विचार-धारा प्रस्तुत करने के लिए 'जिज्ञासा' शब्द का उपयोग 'जैमिनि'[3] तथा 'शबर'[4] ने किया है, क्योंकि कात्यायन ने जिज्ञासार्थक 'सन्' प्रत्यय का विधान किया है।[5] इन्हीं से प्रभावित होकर आचार्य शंकर,[6] बादरायण[7] और कणाद प्रभृति ने भी 'जिज्ञासा' शब्द से ही अपनी विचार-परम्परा का निर्देश किया है। अतः वैदिक धर्म-विषयक जिज्ञासा का विकसित रूप ही मीमांसादर्शन है।

---

१. Inductive = विशेषात् सामान्यस्य अनुमानम्, अर्थात् प्रत्यक्षसंकलनमूलक।

२. Deductive = निगमनात्मक।

३. 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मी० सू० १।१।१)।

४. 'भवितव्यं तु तेन, यस्मिन् सत्यनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्पते' (शाबरभाष्य १।१।१, पृ० २–३, आनन्दाश्रम पूना संस्करण १९३९)।

५. 'मानेर्जिज्ञासायाम्। मान् पूजायाम् (भ्वादिः), मान् विचारे' (चुरा०) (का० वा० ३।१।६)।

६. 'तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्' (ब्र० सू० भा० १।१।१, नि० सा० प्रे० पृ० ७८)।

७. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१)—साधनचतुष्टय-सम्पत्ति के बाद कर्मफल के अनित्य होने से एवं ज्ञान-फल मोक्ष के नित्य होने से मोक्ष की अभिलाषा करनेवाले सज्जनों को ज्ञान के लिए वेदान्तवाक्यों का विचार करना चाहिए।

(७) मीमांसादर्शन की अनेक संज्ञाएँ

कुछ समय तक मीमांसादर्शन के लिए 'तन्त्र' शब्द का भी प्रयोग किया जाता रहा है ।[१] अतएव रामानुजाचार्य ने अपने विरचित ग्रन्थ का नाम 'तन्त्ररहस्य' ही रखा है । तथा स्वविरचित नायकरत्नव्याख्या में 'गुरुतन्त्रनियन्त्रितोऽप्यहं' कहकर 'मीमांसा' के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग किया है । तथा भट्टपाद ने शाबरभाष्य के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से तृतीयाध्यायान्त तक की व्याख्या का नाम 'तन्त्रवार्तिक' रखा है । पार्थसारथि मिश्र ने भी 'टुप्टीका' पर विरचित अपनी व्याख्या का नाम 'तन्त्ररत्न' रखा है । इसी प्रकार मीमांसा के लिए 'विचारशास्त्र' शब्द का भी प्रयोग किया गया है ।[२] इसी तरह कुछ विद्वानों ने इसके लिए 'न्याय' शब्द का भी व्यवहार किया है ।[३] विचारशील व्यक्ति इसके सहारे किसी भी जटिल समस्या का समाधान पा लेता है । यही कारण है कि आज तक न्यायालयों में निर्णायक गण विवादास्पद विषयों में मीमांसा के तदनुकूल न्यायों के साथ अपने विचारों का समन्वय करने में प्रयत्नशील रहते आये हैं । हिन्दू कानून (Hindu Law) तो कुछ मीमांसा-न्यायों पर ही अधिष्ठित है तथा मीमांसा-पद्धति का अनुसरण करता है । मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द इतना प्रचलित हो गया था कि व्याख्याकारों ने भी अपनी व्याख्या के साथ 'न्याय' शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया[४] ।

(८) मीमांसाशास्त्र का भाषाशास्त्र के साथ सम्बन्ध

भाषा में शब्द-विचार और अर्थ-विचार की ही प्रधानता रहती है । किसी भी वाक्य में उद्देश्य—विधेयभाव, अंग-प्रधानभाव, उपक्रम-उपसंहारभाव, अभ्यास, अपूर्वता, प्रयोजन, अर्थवाद, उपपत्ति, सामर्थ्य आदि का ज्ञान जब तक नहीं हो पाता तब तक उस वाक्य का अर्थ यथार्थ रूप से समझ में नहीं आ सकता । इससे स्पष्ट है कि भाषाशास्त्र से इसका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

कुछ विद्वानों ने इसे 'तर्क' शब्द से भी कहा है । मनु ने उसी को धर्मज्ञ समझा

---

१. 'अन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवी गुम्फेषु जाजागरीत्' (रघुवंश-संजीविनी व्याख्या)

२. 'विचारशास्त्रं नारभ्यमारभ्यं वेति संशयः' (जै० न्या० मा० श्लोक २९, पृ० ११, आनन्दाश्रम पूना, सन् १८९२) । तथा —'इति विचारोपायभूतन्यायनिबन्धनं मीमांसाशास्त्रमारब्धव्यमिति सिद्धम्' (प्र० पं० पृ० १२ चौ० सं० ई० स० १९०४) ।

३. अङ्गानान्तु प्रधानैरव्यपदेशः इति न्यायवित्समयः' (आप० सू० ४।८।१३) । तथा—'न्यायमार्गे महान् दोषः इति यत्नोपचर्यता' (श्लो० वा० १।१।१ श्लो० १५)

४. 'जैमिनीयन्यायमाला श्लोकैः सङ्गृह्यते स्फुटम्' (न्या० मा० वि०, श्लो० ६, पृ० ३, आनन्दा० पूना संस्करण १८९२ ई०) ।

(पार्थसारथिकृत न्यायरत्नमाला ।)

है, जिसने तर्क के द्वारा धर्म का अनुसन्धान किया हो ।[१] कुछ लोग इसे अध्वरमीमांसा भी कहते हैं ।[२] इस नामकरण से स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा का यज्ञ के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है । कुछ विद्वान् इसे 'वाक्यशास्त्र' भी कहते हैं । इसमें वाक्यार्थ-बोध के सभी साधनों का निर्देश किया गया है ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में से प्रथम पुरुषार्थ 'धर्म' के सम्बन्ध में यहाँ अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों के द्वारा अच्छी तरह विचार किया गया है, इसीलिए कुछ विद्वानों ने इसे 'धर्ममीमांसा' भी कहा है ।[3] किसी ने इसके लिए 'कर्ममीमांसा' शब्द का भी प्रयोग किया है ।[४] इसमें ईश्वर का प्रतिपादन न होने से किसी ने 'अनीश्वरमीमांसा' शब्द से भी इसका नामकरण किया है ।[५]

(९) मीमांसा के साथ 'पूर्व' उपपद जोड़ने की आवश्यकता

मीमांसा के साथ 'पूर्व' उपपद जोड़कर उसका 'पूर्वमीमांसा' शब्द से व्यवहार किया जाने लगा । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे ब्रह्ममीमांसा का विकास होता गया, वैसे-वैसे जैमिनि की मीमांसा को उससे पृथक् करने के लिए 'पूर्व' उपपद लगाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी होगी । अतः जैमिनि की मीमांसा को 'पूर्वमीमांसा' और बादरायण की मीमांसा को 'उत्तर-मीमांसा' कहने की प्रथा चल पड़ी । बाद में पूर्वमीमांसा को केवल 'मीमांसा' तथा उत्तरमीमांसा की 'वेदान्त' संज्ञा रूढ़ हो गई ।

कुछ लोगों का कहना है कि मीमांसा शब्द को सुनते ही पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसाओं की उपस्थिति होती है । इसलिए सन्देह होता है कि इस शास्त्र के 'उत्तरमीमांसा के न्याय' विषय है अथवा 'पूर्वमीमांसा के न्याय' ? अतः निश्चित रूप

---

१. 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' ॥ (मनु० अ० १२ श्लोक १०६)
ऋषिदृष्टत्वादार्षं वेदं धर्मोपदेशं च तन्मूलस्मृत्यादिकं यस्तदविरुद्धेन मीमांसादिन्यायेन विचारयति स धर्मं जानाति न तु मीमांसानभिज्ञः । धर्मे करणं वेदः, मीमांसा चेतिकर्तव्यतास्थानीया । तदुक्तं भट्टवार्तिककृता—'धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना । इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति' ॥ (कुल्लूकभट्ट; नि० सा० प्रेस ई० सं० १९२९) ।

२. 'अथेयमध्वरमीमांसानारब्धव्या प्रयोजनाभावात्' (कुतूहलवृत्ति, प्रथम अध्याय; वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् पृ० १) ।

३. धर्ममीमांसावत् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसापि आक्षेप्तुं शक्यते' (भामती १।१।१ पृ० ७८) ।

४. प्रो० ए० बी० कीथ की 'कर्ममीमांसा' ।

५. 'कृतानां कर्मणां कालान्तरभाविफलदाने अदृष्टं कारणमिति अनीश्वरमीमांसकादिमतम्' (ललितात्रिशती भाष्य; शंकराचार्य) ।

से नहीं कहा जा सकता कि इस शास्त्र के विषयभूत कौन-से 'न्याय' होते हैं ? किन्तु यह सन्देह विचार की शिथिलता के कारण होता है। बिना उपपद के प्रयुक्त होनेवाला 'मीमांसा' शब्द स्वाभाविक रीति से पूर्वमीमांसा को ही बतलाता है, क्योंकि कुछ सामान्य शब्द भी नियत-विषयक होते हैं; जैसे 'मालामानय' अर्थात् माला लाओ—यह कहने पर सामान्य रूप से सुना गया 'माला' शब्द पुष्पमाला को ही बतलाता है। उसी तरह यहाँ पर भी 'मीमांसा' शब्द 'पूर्वमीमांसा' को ही बतला रहा है। काव्यप्रकाशकार **मम्मटभट्ट** ने कहा है—'निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते'। अन्यथा 'मीमांसा' शब्द से उत्तरमीमांसा की तरह 'दत्तक-मीमांसा,' 'काव्यमीमांसा,' 'भक्तिमीमांसा' आदि मीमांसाओं की उपस्थिति को कौन निवारण कर सकेगा ? इसी तथ्य को जाननेवाले वैद्यराज-वल्लभ ने अपने वादार्थदर्पण[1] में 'मीमांसक' शब्द से पूर्वमीमांसाज्ञाता को ही बतलाया है, न कि उत्तरमीमांसा के ज्ञाता को। उत्तरमीमांसा के ज्ञाता को वेदान्ती शब्द से कहा जाता है।

(१०) पूर्वमीमांसा की दार्शनिकता

मीमांसा की दार्शनिकता पर आक्षेप—कतिपय विद्वानों का अपना विचार है कि जैमिनीय मीमांसा को दर्शनशास्त्रों के साथ परिगणन करना उचित नहीं है। उनका कहना है कि मीमांसा में केवल अनुष्ठेय धर्म का ही विवेचन किया गया है। ईश्वर, जीव, जन्म और मोक्ष तथा उनके साधन आदि का विवेचन इसमें नहीं दिखलाई पड़ता। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त आदि दर्शनों में उपर्युक्त विषयों का विवेचन अत्यन्त गम्भीर दृष्टि से किया है। क्योंकि ये ही दर्शनशास्त्र के मुख्य विषय माने जाते हैं।

मीमांसासूत्र या भाष्य में इन विषयों का कोई प्रसंग ही नहीं आता। यद्यपि शाबरभाष्य के तर्कपाद में वृत्तिकारमत के निरूपण-प्रसंग में शरीरातिरिक्त आत्म-तत्त्व का विवेचन किया गया है, जो मीमांसादर्शन के लिए अपेक्षित भी है, क्योंकि इसी के द्वारा वेद का प्रामाण्य सुप्रतिष्ठित होता है। भट्टपाद (कुमारिल) के वार्तिक में मोक्ष आदि का विवेचन है। किन्तु सूत्र या भाष्य में उसका उल्लेख नहीं मिलता। यह विवेचन जैसे आचार्य शंकर[2] ने किया है या न्याय आदि दर्शनों

---

१. 'छायायास्तमसश्चापि सम्बन्धाद् गुणकर्मणोः ।
द्रव्यत्वं केचिदिच्छन्ति मीमांसकमताश्रयाः' ॥ (वादार्थदर्पण)

तथा—वेद के पूर्वकाण्ड का विचार करनेवाली 'मीमांसा' के साथ 'पूर्व' उपपद और वेद के उत्तरकाण्ड का विचार करनेवाली 'मीमांसा' के साथ 'उत्तर' उपपद जोड़ दिया गया है। यह भी कहा जा सकता है।

२. 'ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमुक्तम्। सत्यमुक्तं भाष्यकृता, न तु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति'। (३।३।

में मोक्ष[१] आदि का जैसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है, वैसा प्रसिद्ध जैमिनि सूत्र,[२] भाष्य[३], वार्तिक और प्रभाकर (गुरु) की टीका (बृहती) आदि ग्रन्थों में विवेचन ही नहीं, बल्कि उसका निर्देश तक नहीं मिलता।

यद्यपि सूत्र शब्द की परिभाषा[४] को दृष्टिगत करते हुए जैमिनि ने औत्पत्तिक सूत्र[५] के द्वारा देहातिरिक्त आत्मवाद की भी सूचना दी है, यह कल्पना कर सकते हैं, किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में सूत्रकार के द्वारा सूचना देने की कल्पना तो किसी तरह भी नहीं की जा सकती। क्योंकि सूत्रकार ने कर्म के द्वारा फलोत्पत्ति में अपूर्व को ही अवान्तर व्यापार के रूप में स्वीकार किया है;[६] ईश्वर-प्रसाद को नहीं—यह कहकर सूत्रकार ने प्रकारान्तर से ईश्वर का निषेध ही सूचित किया है। इसलिए दर्शन शब्द से इसका (मीमांसा का) व्यवहार करना उचित नहीं है।

आक्षेप का परिहार—सुदीर्घकाल से षड्दर्शनों में मीमांसा की गणना अव्याहत रूप से होती आ रही है, अतः यह विचारणीय विषय है, उपेक्षणीय नहीं। गम्भीर विचार के साथ देखने पर दर्शन की कोटि में मीमांसा का समावेश हुए बिना नहीं रहता। यह कहना ठीक है कि उपर्युक्त रीति से सूत्रकार के द्वारा ईश्वर का निषेध सूत्रित किया-सा प्रतीत होता है। तथापि गम्भीर विचार के लिए पर्याप्त अवकाश है। ईश्वर-प्रसाद को फल का साधन न मानने से ईश्वर का निषेध सूचित हुआ कैसे कहा जा सकता है? जैमिनि-सूत्र के द्वारा तो इतना ही सूचित होता है कि ईश्वर के रहने पर भी उसके प्रसाद से सुखानुभव न होकर वह (कर्मजन्य) अपूर्व से होता

---

५३ ब्र० सू० शां० भाष्य)। शास्त्र के आरम्भ में ही (पूर्वमीमांसा) प्रथम पाद में शास्त्रोक्त फल के उपभोग के योग्य देह से व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व कहा गया है। यह ठीक है, भाष्यकार ने वहाँ देहातिरिक्त आत्मा का कथन किया है। परन्तु आत्मा के अस्तित्व के विषय में वहाँ सूत्र नहीं है।

१. 'नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मोक्षः' (न्या० सू०)।

२. 'लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः'॥ (भामती पृ० ४७; नि० सा० प्रे० मुं० ई० १९१७)

३. 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः'॥ (पराशर उपपु० अ० १८)

४. 'सूत्रनात्सूत्रमुच्यते'—
'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
सूत्रस्य लक्षणञ्चैतत् सहेतु अनुमापकम्'॥ (भामती पृ० ४७)
'लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः'॥ (भामती पृ० ४७ पाठान्तरम्)

५. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (मी० सू० १।१।५)।

६. 'चोदना पुनरारम्भः' (मी० सू० २।१।५)।

है। अतः जैमिनिसूत्र तो कर्म और फल के बीच अपूर्व के अवान्तर व्यापार होने का समर्थन मात्र करता है, न कि ईश्वर का निषेध। तात्पर्य यह है कि जैमिनिसूत्र ईश्वर की फलसाधनता का निषेध करता है, कर्तृत्व का नहीं। अतएव बादरायण ने तृतीयाध्याय में जैमिनि के मत का निरसनीय रूप में उल्लेख किया है।[1] प्रधानादि अचेतन की कारणता का निरसन करते समय द्वितीयाध्याय में नहीं।

मीमांसा पर निरीश्वरवादी होने का आक्षेप—मीमांसा के मत में ईश्वर के अस्वीकार की चर्चा श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भी की है[2] और इसी के अनुगुण क्वचित् क्वचित् प्रसिद्धि भी है[3]। कुमारिल-प्रस्थान और प्रभाकर-प्रस्थान के भेद से मीमांसकों के दो ही प्रस्थान प्रसिद्ध हैं। उनमें कुमारिल ने सकल स्रष्टा ईश्वर का स्पष्ट ही निषेध किया है[4]। किंबहुना, सम्बन्धाक्षेप-परिहार प्रकरण में प्रायः सौ से भी अधिक श्लोक ईश्वर, सृष्टि, प्रलय आदि के निरासपरक दिखलाई पड़ते हैं। कुमारिल यदि सेश्वरमीमांसा के पक्ष में होते तो क्यों भला इतना परिश्रम उठाते? अतः कह सकते हैं कि कुमारिल मीमांसा के सेश्वर होने के पक्ष में नहीं हैं।

आक्षेप का परिहार—किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि 'सम्बन्धाक्षेप-परिहार' प्रकरणगत सभी श्लोकों के द्वारा आनुमानिक ईश्वर के निरसन में कुमारिल का अभिप्राय होगा, वैदिक ईश्वर के निरास में नहीं। हमारी इस कल्पना की पुष्टि कुमारिल के द्वारा दिये गये 'सर्वज्ञवत्' दृष्टान्त से भी हो जाती है। इस निदर्शन के देने से कुमारिल का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि अन्योन्याश्रय प्रसंग उपस्थित

---

१. 'धर्मं जैमिनिरत एव' (ब्र० सू० ३।२।४०)—जिस श्रुति और उपपत्ति से सिद्धान्ती ईश्वर को फलदाता मानते हैं, उसी श्रुति और उपपत्ति से जैमिनि आचार्य धर्म (यागादिक) को फलदाता मानते हैं। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि जैमिनि आचार्य तो इसी हेतु से अर्थात् श्रुति और उपपत्ति से धर्म को ही फल का देनेवाला मानते हैं, क्योंकि यह अभिप्राय 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों के सुनने पर प्रतीत होता है।

२. 'नास्ति सर्वज्ञत्वाद्युपेतं ब्रह्म, आम्नायस्य क्रियापरत्वेन तत्र तात्पर्याभावात्—इति मीमांसकाः' (सिद्धान्तबिन्दु, पृ० १२४ अ० ग्र० मा० सं० १९३२)।

३. 'निरीश्वरा मीमांसकाः' इति प्रसिद्धिः।

४. 'सर्वज्ञवन्निषेध्या नः स्रष्टुः सद्भावकल्पना' (श्लो० वा० सं० आ० प० ११३-११४, पृ० ६७३ चौ० खं० सं०)। वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में वेदकर्तृत्वेन ईश्वर का निरास किया गया है। अपूर्वाधिकरण में अपूर्व के द्वारा यागादि कर्म ही फल के देनेवाले होते हैं, ईश्वर नहीं; आदि बातों को देखने से सूत्रकार ने सूत्र में ईश्वर-निरास के बीज बो रखे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। प्रभाकर मिश्र ने सम्बन्धाक्षेप-परिहार के प्रसंग में ईश्वरतत्त्व का स्पर्श तक नहीं किया है। शालिकनाथ ने वैशेषिकों के मत को पूर्वपक्ष में रखकर उसका निराकरण अच्छी तरह किया है, किन्तु भवनाथ ने शालिकनाथ की निराकरण-प्रक्रिया का तात्पर्य अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।

होने के कारण अनुमान या बुद्ध-विरचित आगम से बुद्ध की सर्वज्ञता का निर्णय करना जैसे अशक्य है, उसी तरह दार्ष्टान्तिक भाग में भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती। इस समस्त सन्दर्भ का तात्पर्य वेद की पौरुषेयता के निरसन में ही है, ईश्वर के निरास में नहीं।

मीमांसा के दोनों सम्प्रदाय निरीश्वरवादी नहीं हैं—दर्शनों की आस्तिकता में वेद का अपौरुषेयत्व ही नियामक है। ईश्वर का अंगीकार उसमें नियामक नहीं हैं। तब स्वतन्त्रतया प्रामाण्य न मानकर एकमात्र अनुमानविधया ही वेदवाक्यों का प्रामाण्य बतलानेवाले वैशेषिकों की आस्तिकता, आनुमानिक ईश्वर के स्वीकार करने पर भी आकाशपुष्प के समान ही है। इस सम्बन्ध में वैशेषिक और प्राभाकरों में अन्तर यही है कि प्राभाकर अनुमानविधया लौकिक वाक्यों को और वाक्यविधया वैदिक-वाक्यों को प्रमाण मानते हैं, किन्तु वैशेषिक दोनों प्रकार के वाक्यों को अनुमानविधया ही प्रमाण मानते हैं[1]। कुमारिल तो नैयायिकों की तरह लौकिक वाक्यों को भी वाक्यविधया ही प्रमाण मानते हैं। कहने का सार यह है कि कुमारिल तथा प्रभाकर ने आनुमानिक ईश्वर का ही निरसन किया है, वैदिक ईश्वर का नहीं। वेद की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में तो उसकी महिमा से केवल ईश्वर ही नहीं बल्कि सृष्टि-प्रलयादि सभी आवश्यक दार्शनिक तत्त्वों का कुमारिल ने स्वीकार तथा विचार भी किया है[2]।

शास्त्रदीपिका से भी वार्तिककार का यही आशय प्रतीत होता है[3]। उसी प्रकार नैयायिकसम्मत सृष्टि-प्रलय प्रक्रिया से कुछ ही भिन्न मीमांसकों की सृष्टि-प्रलय प्रक्रिया को बतलाते हुए भाट्टचिन्तामणिकार ने भी इसी आशय को अभिव्यक्त किया है। किंबहुना, न्यायप्रकाशकार ने भी ईश्वर का अंगीकार करते हुए ही वेद की अपौरुषेयता का विवेचन किया है[4]। निष्कर्ष यह है कि भाट्ट तथा गुरु सम्प्रदाय निरीश्वरवादी सम्प्रदाय नहीं हैं। उसके सम्बन्ध में निरीश्वर-सम्प्रदायवादी होने की चर्चा करना निर्मूल हैं।

इस पर भी यदि कोई यह आक्षेप करे कि प्रभाकर (गुरु) के द्वारा अपनी बृहती व्याख्या के सम्बन्धाक्षेप-परिहार प्रकरण में कुमारिल की तरह ईश्वर का निरसन न किये जाने पर भी उनके शिष्य शालिकनाथ मिश्र ने तो अपनी प्रकरण-पंचिका के

---

१. 'वक्तृज्ञानानुमानताप्रकरणम्' (प्रभाकर-विजय पृ० ८, संस्कृत-साहित्य परिषत्, कलकत्ता संस्करण)।

२. 'एवं ये युक्तिभिः प्राहुस्तेषां दुर्लभमुत्तरम्' (श्लो० वा० ११७, पृ० ६७४)।

३. 'नित्यत्वे वेदस्यावसिते तद्बलेनेश्वरसिद्धिः' (शास्त्रदीपिका नि० प्रे० मुं०, पृ० ११६-१७)

४. 'ईश्वरो गतकल्पीयं वेदं स्मृत्वा उपदिशति''''कल्पनानुपपत्तेः' (मी० न्या० प्र० पृ० ७१९, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट संस्करण, पूना १९३७)।

उसी प्रकरण में ईश्वर का निरसन किया ही है, तब प्रभाकर (गुरु) सम्प्रदाय को निरीश्वरवादी क्यों न कहा जाय ?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि शालिकनाथ के इस लेख का मूल गुरु की बृहती न होकर कुमारिल का श्लोकवार्तिक ही है। अतः कहना होगा कि कुमारिल की तरह प्रकरण-पंचिकाकार शालिकनाथ का भी तात्पर्य आनुमानिक ईश्वर के निरास में ही है।

किन्तु म० म० डॉ० गंगानाथ झा महोदय मीमांसा के सेश्वर होने के पक्ष में नहीं हैं[1]। शास्त्रदीपिका एवं वार्तिक में सेश्वरत्व के पोषक अनेक प्रमाणों के होते हुए भी डॉ० झा महोदय इस पक्ष के प्रतिकूल क्यों रहे, समझ में नहीं आता।

अभी तक विद्वानों में प्राभाकरों के निरीश्वरवादी होने का भ्रम बराबर चला आ रहा है, किन्तु 'प्रभाकर-विजय' के पर्यालोचन से निर्भीकता के साथ कहा जा सकता है कि प्रभाकर-सम्प्रदाय निरीश्वरवादी सम्प्रदाय नहीं है[2]।

मीमांसा के निरीश्वरवाद की प्रसिद्धि में मूल—अब प्रश्न यह अवशिष्ट रहता है कि वह कौन-सा मीमांसा-सम्प्रदाय है जिसके लिए निरीश्वरवाद की प्रसिद्धि चल पड़ी ? बहुत सम्भव है कि यह मुरारि मिश्र का सम्प्रदाय हो। सब की अपेक्षया भिन्न मार्ग के अपनाने में उनकी प्रसिद्धि है[3]। इस सम्बन्ध में किसी समय म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय ने पत्रिका के द्वारा कुछ प्रकाशित भी किया था[4]। खेद के साथ कहना पड़ता है कि मुरारि-सम्प्रदायानुसारी कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। कुछ अंशात्मक 'त्रिपादनीतिनयन' उनके नाम पर उपलब्ध हुआ है, परन्तु उससे अभी निश्चयात्मक कुछ नहीं कहा जा सकता।

मीमांसा की दार्शनिकता के पक्ष में द्वितीय हेतु–सभी दर्शन मीमांसा के कर्म-सिद्धान्त को ही मूलाधार मानकर अपने-अपने सिद्धान्त का विवेचन करते हैं, क्योंकि कर्मसिद्धान्त को बिना माने दर्शनशास्त्रों की स्थिति ही नहीं हो पाती। यही कारण है कि न्यायादि दर्शनों में धर्माधर्मादि तत्त्वों का विवेचन किया गया है। किंबहुना, चार्वाक को छोड़कर चारों बौद्धप्रस्थानों में तथा आर्हत (जैन) सिद्धान्त में भी कर्म का विवेचन किया गया है। जैसे साधनमाला ग्रन्थ में धर्माधर्म से स्वर्गादि की प्राप्ति बतलाई गई है। जैन (आर्हत) सिद्धान्त में धाति कर्म,[5] अधाति कर्म को धर्म शब्द से कहा गया है। सार यह है कि चार्वाकदर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों की मूल शिला कर्मसिद्धान्त ही है।

१. प्रभाकर-विजय की भूमिका, पृ० ४।

२. 'ईश्वरानुमानिकतानिरासप्रकरण' (प्रभाकर-विजय पृ० ७६)।

३. 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' इति प्रसिद्धिः।

४. प्रभाकर-विजय की भूमिका में उल्लिखित—'हिन्दुस्तान व्यू पत्रिका'।

५. ज्ञानस्य दर्शनस्य च आवरणं वेदनीयमोहनीयम्। आयुष्कं नाम गोत्रमन्तरायः इति अष्टप्रवृत्तयः। आवरणमोहविघ्नं जीवगुणघातनात्। आयुष्कं नाम गोत्रं वेदनीयं तथा अघाति इति। (आ० नेमिचन्द्र—कर्मकाण्डगाथा ८।९)

मीमांसा की दार्शनिकता में तृतीय हेतु—न्यायादि दर्शनों में धर्म का नाम लेकर उपक्रम किया गया है, किन्तु आगे चलकर पदार्थों का विवेचन किया है। इस शैली पर उपस्कार-कर्त्ता श्रीशंकर मिश्र ने आक्षेप भी किया है[1]। सामान्य और विशेष के भेद से धर्म के दो प्रकार हैं। सामान्य धर्म में मनुष्य मात्र का अधिकार होता है और विशेष धर्म में वर्ण-विशेष तथा आश्रम-विशेष का अधिकार होता है। यह धर्म आधान से लेकर अश्वमेधान्त तक है। यह नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेद से तीन प्रकार का होता है। फिर भी कुछ प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और अपूर्व (अनुमय) के भेद से चार भेद होते हैं। कर्म (धर्म) के इन विशेष प्रकारों का विवेचन मीमांसादर्शन को छोड़ अन्य किसी दर्शन में नहीं है। अतः धर्मरूप प्रमेय का पूर्ण विवेचन इसमें किया गया होने से इसे दर्शन कहा जाता है।

मीमांसा की दार्शनिकता में चतुर्थ हेतु—मीमांसादर्शन नैयायिकों के द्वारा कल्पित 'ईश्वर' को नहीं मानता, प्रत्युत घोर विरोध करता है। वह तो वेदसिद्ध ईश्वर को मानता है। इसी अभिप्राय को भवनाथ ने नयविवेक के तर्कपाद में कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इनके मत में 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' ही मोक्ष का साधन है और 'शरीरेन्द्रिय-सम्बन्ध' ही 'बन्ध' है तथा शरीरेन्द्रिय-सम्बन्ध का विलय होना ही 'मोक्ष' है[2]। इस प्रकार की पुष्कल सामग्री इसमें होने के कारण इसकी दार्शनिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

मीमांसा का प्रधान लक्ष्य—उपर्युक्त तत्त्वों का प्रतिपादन करना यद्यपि मीमांसा-दर्शन का मुख्य लक्ष्य (उद्देश्य) नहीं है; उसका मुख्य उद्देश्य तो वेदवाक्यों के वास्तविक अभिप्राय को समझाना है, तथापि मीमांसादर्शन मनुष्य को उसके कर्तव्य-पथ पर अडिग रहने की शिक्षा देता हुआ लौकिक-अलौकिक उभयविध तत्त्वों का ज्ञान कराता है।

वेद का आदेश—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'—इस आदेश की ओर ध्यान आकर्षित कराता हुआ यह दर्शन मनुष्य को कर्मठ तथा ज्ञाननिष्ठ बनाता है और चतुर्वर्ग की प्राप्ति करा देता है।

अन्य दर्शनों में मीमांसादर्शन का स्थान—चतुर्वर्ग की प्राप्ति करा देने के कारण ही अन्य सभी दर्शनों की अपेक्षा **मीमांसादर्शन** का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। बारह अध्यायों के विषय की चर्चा से पूर्व मीमांसा शब्द एवं उसका ऐतिहासिक परिचय प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। अतः सर्वप्रथम मीमांसा शब्द के इतिहास पर प्रकाश डाला जा रहा है।

---

१. 'धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थविवेचनम्।
समुद्रं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनं यथा'॥ (उपस्कारभाष्य)।

२. 'शरीरेन्द्रियसम्बन्धविलयो मोक्षः' (शास्त्रदी० अ० १, पा० १, सूत्र ५; मोक्षवाद)।

प्रथम परिच्छेद

मीमांसादर्शन का सामान्य स्वरूप

हम पहले कह चुके हैं कि विचारपूर्वक तत्त्वनिर्णय को मीमांसा कहते हैं। भारतीय छह दर्शनों में से यह एक दर्शन है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा। दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र दर्शन हैं। पूर्वमीमांसा के रचयिता जैमिनि हैं और उत्तरमीमांसा के रचयिता बादरायण हैं। उत्तरमीमांसा 'वेदान्त' के नाम से ही प्रसिद्ध है। हम मीमांसादर्शन के सामान्य स्वरूप का परिचय पाने के लिए तदन्तर्गत विषयों का स्थालीपुलाकन्याय से कुछ विवेचन यहाँ दे रहे हैं। यह मीमांसा-दर्शन पूर्वकाण्ड, कर्ममीमांसा, कर्मकाण्ड, यज्ञविद्या, अध्वरमीमांसा, धर्ममीमांसा नाम से भी व्यवहृत होता है। कुछ लोग इसे द्वादशलक्षणी भी कहते हैं।

वैदिक यज्ञ-यागादि इस दर्शन के द्वारा मीमांसित हुए हैं, इसलिए इसका नाम मीमांसादर्शन है।

कोई भी व्यक्ति बिना प्रयोजन के किसी कार्य में नहीं लगता; जैमिनि ने धर्म-निरूपण के उद्देश्य से इस दर्शन का सूत्रपात किया, इसलिए इस दर्शन को धर्म-मीमांसा भी कहते हैं।

वेद के तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इनमें से जिस वेदभाग को कर्मकाण्ड कहते हैं, उसका इस दर्शन में विचार किया गया है, इसलिए इसका नाम 'पूर्वकाण्ड', पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा रखा गया है।

कर्मकाण्डात्मक वेद में याग, दान और होम आदि नाना प्रकार के कर्मों का उल्लेख रहने पर भी याग की प्रधानता तथा उस सम्बन्ध के विचार इस दर्शन में यथोचित रूप से आलोचित हुए हैं, इसलिए इस दर्शन को 'यज्ञविद्या' या 'अध्वर-विद्या' भी कहते हैं।

इस दर्शन में धर्म सम्बन्धी विचारों का बारह अध्यायों में वर्णन किया गया है, इसलिए इसको 'द्वादशलक्षणी' भी कहते हैं।

वेद के मन्त्रभाग की मीमांसा करना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य नहीं है, किन्तु जहाँ कोई विधि-निषेध नहीं पाया जाता, केवल उसी स्थान में मन्त्र का अर्थ लेकर यह मीमांसा करता है। विशेषकर 'कर्मकाण्डरूप ब्राह्मणभाग' की मीमांसा करने के लिए ही इस दर्शन की रचना हुई है।

प्रतिपाद्य विषय

जैमिनि-कृत मीमांसादर्शन में प्रायः सर्वत्र धर्मतत्त्व का ही विचार है। इससे स्पष्ट होता है कि एक मात्र धर्म की मीमांसा करना ही इस दर्शन का उद्देश्य और प्रतिपाद्य है—'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्' (श्लो० वा० ११, पृ० ४,

अनन्तशयन सं० १९२६ ई०)। धर्म के लक्षण तथा प्रमाण आदि का निरूपण करना ही मीमांसादर्शन का एक मात्र उद्देश्य है। प्रायः सभी जगह जो विषय प्रतिपादन करना होता है, पहले उसी का निरूपण किया जाता है; जैसे वेदान्त-दर्शन में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यही पहला सूत्र है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म-निरूपण ही वेदान्त का प्रधान उद्देश्य है। इसलिए किसी दूसरी बात का आरम्भ न कर सूत्रकार ने 'ब्रह्मजिज्ञासा' को ही कहा। सांख्यदर्शन में 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः' यही पहला सूत्र है। त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को परमपुरुषार्थ कहते हैं। दुःख, उसकी उत्पत्ति तथा निवृत्ति आदि का ही सांख्यदर्शन में प्रतिपादन किया गया है। दुःख-निवृत्ति का उपाय-निरूपण ही सांख्यदर्शन का उद्देश्य है। इसलिए इस दर्शन में प्रथम ही दुःख-निवृत्ति को बतलाया गया है। उसी प्रकार मीमांसादर्शन का धर्म-निरूपण ही मुख्य उद्देश्य है। इसलिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र का आरम्भ में ही समावेश किया गया है।

वर्तमान समय में उपलब्ध मीमांसादर्शन बारह अध्यायों में विभाजित हैं। तथापि इसके अतिरिक्त संकर्षण काण्ड के भी चार अध्याय मीमांसा में ही परिगणित किये जाते हैं। अर्थात् जैमिनि-कृत मीमांसादर्शन सोलह अध्यायों में पूर्ण समझा जाता है[1]। किन्तु अन्तिम संकर्षण काण्ड के चार अध्याय पठन-पाठन में आज प्रचलित न होने से बारह अध्याय ही मीमांसा के कहे जाते हैं। उसी के अनुसार अब हम क्रमशः परिचय देकर अन्त में 'संकर्षण काण्ड' का भी संक्षेप में परिचय देंगे।

बारह अध्यायों का आलोच्य विषय

प्रथम अध्याय—प्रथम अध्याय में धर्मज्ञान का प्रयोजन, उसका लक्षण, उसमें प्रमाण तथा वेदविहित क्रियाकलाप को धर्म क्यों कहा जाता है आदि विषयों की आलोचनापूर्वक चर्चा की गयी है।

द्वितीय अध्याय—इस अध्याय में यज्ञ-यागादि धर्मों के प्रभेद अर्थात् अनेकता का आलोचनापूर्वक विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय—इसमें यज्ञ-यागादि के अंग-प्रधानभाव का निर्णय किया गया है।

चतुर्थ अध्याय—इसमें याग करनेवाले का गुण तथा जिस याग में जो करना पड़ता है, उसका निर्णय किया गया है।

पञ्चम अध्याय—इसमें यज्ञकर्मों का क्रम-निर्णय किया गया है।

षष्ठ अध्याय—इसमें आलोचनापूर्वक अधिकार की चर्चा की गई है।

सप्तम अध्याय—इसमें साधारणतया अतिदेशवाक्यों की विवेचना की गई है।

अष्टम अध्याय—इसमें विशेषातिदेश वाक्यों की चर्चा की गई है। (इस कर्म को ऐसा करना होगा, ऐसे वाक्य को अतिदेश कहते हैं।)

---

१. 'अधिकरणसारावलि' श्लो० १५ तथा श्रीरंगरामानुज-विरचित 'भाव-प्रकाशिका' पृ० ४४।

नवम अध्याय—इसमें ऊह का विचार किया गया है। ऊह का अर्थ 'अपूर्वोत्प्रेक्षणमूहः'—मन्त्र में जो पदार्थ नहीं है उसकी उत्प्रेक्षा या उसके उल्लेख को 'ऊह' कहते हैं। इस ऊह को कैसे स्थान में करना चाहिए, यह निर्णय यहाँ किया गया है। जिस स्थान में लिखा हुआ द्रव्य नहीं मिलता वहाँ उसके बदले में दूसरे द्रव्य (वस्तु) से काम चलाया जाता है। ऐसे स्थान में भी अतिदेश-विधान और अनुष्ठान काल में ऊह-विचार के सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है। जैसे मधु के स्थान में गुड़ देने की व्यवस्था है। लेकिन वहाँ 'मधुव्वाता ऋतायते' इत्यादि मन्त्र पढ़ना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न उठ सकता है। क्योंकि मधु रहने पर तो यह मन्त्र अवश्य ही पढ़ा जाता है, किन्तु जहाँ मधु न होकर उसके स्थान में गुड़ हो वहाँ भी ऊह-विचार के सिद्धान्त से उक्त मन्त्र को ज्यों का त्यों पढ़ना चाहिए, यह निर्णय किया गया है।

दशम अध्याय—इसमें बाध का निर्णय किया गया है। बाध शब्द का अर्थ निवृत्ति है। कहाँ किस मन्त्र या द्रव्य की निवृत्ति (त्याग) करनी होगी, यह निर्णय करना बाध-विचार का उद्देश्य है।

एकादश अध्याय—इसमें तन्त्र का विचार किया गया है। 'अनेकमुद्दिश्य सकृत् प्रवृत्तिः तन्त्रम्' अनेक कर्मों के उद्देश्य से एक ही बार किसी कार्य के अनुष्ठान को तन्त्र कहते हैं। जैसे स्नान प्रत्येक क्रिया का अंग है, लेकिन कर्ता यदि एक दिन में पाँच कर्म करे तो एक ही बार उसे स्नान करना होता है, बार-बार स्नान करने की उसे आवश्यकता नहीं है। एक ही बार के स्नान से अनेक स्नानों का फल उसे प्राप्त हो जाता है। यह निर्णय तन्त्र-विचार के कारण ज्ञात हो पाता है।

द्वादश अध्याय—इसमें प्रसंग का विचार किया गया है। 'अन्योद्देश्येऽन्यसिद्धिः प्रसङ्गः' एक कार्य के उद्देश्य में दूसरे कार्य की सिद्धि को प्रसङ्ग कहते हैं अर्थात् 'एक पन्थ दो काज'। एक कार्य के लिए कुछ करने पर यदि अनिवार्य रूप से दूसरा फल भी सिद्ध हो जाय तो उसे प्रसङ्ग कहते हैं। जैसे आम के लिए वृक्ष रोपा जाता है, लेकिन साथ ही छाया भी मिल जाती है। किसी एक प्रधान याग के लिए पुरोडाश तैयार करने पर पुनः अन्य याग के लिए उसे तैयार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अंगयाग का पुरोडाश प्रसङ्ग सिद्ध हो जाता है।

वेद का स्वरूप—मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] प्रकारान्तर से भी इनके विभाग किये गये हैं;[2] जैसे ऋक्, यजुः और साम। मन्त्र और ब्राह्मण का लक्षण जैमिनि ने बतलाया है—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (जै० सू० २।१।३२) 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३)—जो अनुष्ठान करने के

१. 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः'—आप० परि० ३१। 'मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः'—बौ० गृ० २।६२। 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि'—कौ० सू० १।३। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—आप० यज्ञप० २४।१।३१, कात्या० प्रतिज्ञाप० १।१।

२. तै० ब्रा० ३।१२।९ तथा ऐ० ब्र० ५।५.५।

समय तदुपयोगी अनुष्ठेय पदार्थ का ज्ञान कराता है, उसको 'मन्त्र' तथा अवशिष्ट भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। आचार्य शबरस्वामी ने अपने भाष्य में 'ब्राह्मण' भाग को मन्त्रों की व्याख्यास्वरूप बतलाया है।[1] वेद के निर्दिष्ट विभागों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी उसके विभाग बतलाये गये हैं,[2] जिन्हें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी आदि कहते हैं। वेद के उस अंश को, जिसमें पुरानी घटनाओं का वर्णन किया रहता है, इतिहास कहते हैं। पूर्वावस्था-प्रकाशक वेदांश को पुराण, कर्तव्याकर्तव्यविषयक वेदभाग को कल्प, प्रशंसा और गानयोग्य सन्दर्भ को गाथा तथा मनुष्यचरित्रबोधक सन्दर्भ को नाराशंसी कहते हैं। वेद के ऋक् आदि तीन भाग हैं; उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै० सू० २।१।३५)। 'गीतिषु सामाख्या' (जै० सू० २।१।३६)। 'शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।३७)। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों प्रकार के वेदवाक्यों में जिन वाक्यों की अर्थानुसार पाद-व्यवस्था है, वे सब 'ऋक्' कहलाते हैं। उन ऋचाओं पर जो गीत (गाना) गाया जाता है, उसे साम और शेष यजुष् कहलाते हैं। ऋक्, यजुष् और साम ये तीनों भाग पूर्वकथित दो भागों के अन्तर्गत ही हैं।

समस्त वेद से हमलोग जो समझते हैं, उसी को यथार्थरूप में समझाने के लिए पूर्वमीमांसा की रचना हुई है। उसकी सहायता के बिना वेद का प्रतिपाद्य अर्थ क्या है, हम नहीं समझ सकते। इससे कोई यह न समझे कि पूर्वमीमांसा वेद की एक टीका या भाष्य है। वास्तव में मीमांसादर्शन के किसी एक सूत्र में भी वैदिक पद की व्याख्या नहीं है। फिर भी पूर्वमीमांसा की सहायता के बिना वेदार्थ समझने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

वेद का क्या अर्थ है—इसके उत्तर में मीमांसा के रचयिता जैमिनि मुनि कहते हैं कि 'कर्म' ही वेद का अर्थ है। जिन कर्मों के द्वारा लौकिक दुर्व्यवहार किसी प्रकार भी नहीं चल पाते और जिन्हें लौकिक प्रमाण की सहायता के बिना हम लोग नहीं समझ सकते, वे ही 'कर्म' वेद के प्रतिपाद्य विषय हैं। जैमिनि ने सम्पूर्ण वेद-विभाग के लक्षण और उदाहरण बतलाकर सभी में विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय—इन चार प्रधान विभागों को स्थिर किया है।[3] पश्चात् उनके द्वारा धर्म अर्थात् फलजनक याग, दान, होम आदि कर्मों के स्वरूप तथा अनुष्ठान-प्रणाली का निर्णय किया है।[4] जिस वैदिक वाक्य से याग, दान या होम का अर्थ नहीं निकल सकता, उसे धर्म में प्रमाण नहीं माना गया है।[5] यही **जैमिनि का कर्मवाद** है।

जैमिनि ने अपने कर्मवाद की प्रतिपादक मीमांसा के बारह अध्यायों को साठ

---

१. शा० भा० पृ० ४३६, आनन्द आश्रम पूना ई० स० १९२९।

२. तै० आ० प्र० ४।

३. जै० सू० १।१, २, ३, ४ पाद।

४. जै० सू० द्वि० अध्याय से।

५. जै० सू० १।२।१।

पादों में पूर्ण किया है। बारह अध्यायों में से तीसरे, छठे और दसवें अध्याय के आठ-आठ पाद हैं, अवशिष्ट नव अध्यायों के चार-चार पाद हैं। सूत्र-संख्या हजार से कुछ कम बैठती हैं, ऐसा कुछ लोगों का कहना है, किन्तु वास्तव में आरम्भ से लेकर अन्त तक अर्थात् बारह अध्यायों में २७४५ सूत्र-संख्या उपलब्ध होती है। आजतक सूत्रों के साथ जो ग्रन्थ मीमांसा के मुद्रित हुए हैं, उनको देखने से सूत्रसंख्या तथा अधिकरणों की संख्या में समानता नहीं हो पाती। अधिकरण का अर्थ विचार-पद्धति है। मीमांसाशास्त्र का प्रत्येक अधिकरण पाँच अवयवों में समाप्त होता है।[1] पहले हम बतला चुके हैं[2] कि इस शास्त्र का प्रधान लक्ष्य कर्म की व्याख्या करना है। जैमिनि ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (१।१।२) धर्म का लक्षण किया है। अर्थात् चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। क्रिया के प्रवर्तक वचन को चोदना कहते हैं, जिसे हम वेद का विधिवाक्य कहते हैं। यह चोदना भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को बतलाने में जितनी समर्थ है, उतना सामर्थ्य न तो इन्द्रियों में है, न अन्य किसी पदार्थ में।[3] मीमांसक-गण वेद का तात्पर्य क्रिया में ही मानते हैं। विधि का प्रतिपादन ही वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य है।[4] इसलिए ज्ञानप्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध प्रतिपादन करने के कारण परम्परया क्रियापरक है,[5] उन्हें अर्थवाद कहते हैं। इसीलिए किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यागादि अर्थ 'धर्म' कहलाता है।[6] इन अर्थों के विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से पुरुष को निःश्रेयस की (दुःखों की निवृत्ति करनेवाले स्वर्ग की) उपलब्धि होती है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे) इस वाक्य में 'यजेत' क्रिया के द्वारा 'भावना' की प्रतीति मानी जाती है। वैदिक वाक्यों को सुनकर उन क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए जो 'प्रेरणा' होती है, वहीं मीमांसा में 'भावना' कही जाती है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कैण्ट के सिद्धान्त में ऐसी प्रेरणा 'कैटेगारिकल इम्परेटिव' (शुद्ध प्रेरणा) के नाम से बतलाई गई है। वह भावना दो प्रकार की होती है— शाब्दी भावना और आर्थी भावना। 'यजेत' इस क्रियापद में दो अंश हैं —यज् धातु तथा लिङ् लकार। 'लिङ्' लकार से उत्पन्न होनेवाली भावना को शाब्दी और आख्यात से उत्पन्न होनेवाली भावना को आर्थी कहते हैं। संसार में 'सन्ध्यावन्दन करो' इस वाक्य में प्रवृत्ति के अनुकूल आचार्य आदि प्रेरक पुरुषों में रहनेवाला अभिप्राय 'भावना' कहलाता है। किन्तु वेद का कर्त्ता न होने से यह अभिप्राय लिङ्लकारनिष्ठ माना जाता है। इसीलिए उस भावना को शाब्दी

१. माधवसरस्वती-कृत 'सर्वदर्शनकौमुदी' पृ० १४।
२. पृ० ३६ पर।
३. शाबरभा० १।१।२, पृ० १२-१३, आनं० सं० पूना।
४. जै० सू० १।२।१।
५. जै० सू० १।२।७।
६. शाबरभा० पृ० २०, आ० सं० पूना।

कहते हैं और स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाली याग के सम्पादनार्थ पुरुषप्रवृत्ति को आर्थी भावना कहते हैं, जो आख्यातांश से बतलाई जाती है। भावना का सिद्धान्त मीमांसादर्शन का सर्वस्व है। अतः इसकी यथोचित व्याख्या करने के लिए आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें मण्डनमिश्र का 'भावना-विवेक' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस प्रकार वेद 'धर्म' के साक्षात् प्रतिपादक हैं। वेद के ही अर्थ का अनुसरण करने के कारण स्मृति को भी प्रमाण माना गया है। सदाचार भी धर्म का निर्णायक माना गया है,[1] जिस पर तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने बहुत विचार किया है। आत्मतुष्टि[2] को भी धर्म में प्रमाण माना गया है।

वैदिक कर्मों के फलों के विषय में मीमांसकों के दो मत दिखलाई पड़ते हैं। यह तो प्रसिद्ध है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होता है। प्राणियों की कर्मविशेष के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तभी होती है जब उनके किसी अभिलषित पदार्थप्राप्ति का ज्ञान उन्हें होता है। अतः कुमारिल की दृष्टि में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में 'इष्टसाधनताज्ञान' कारण है।[3] परन्तु प्रभाकर 'कार्यताज्ञान' को कारण मानता है।[4] उसका कहना है कि वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान 'कर्तव्य-बुद्धि' से करना चाहिए, उनसे सुख पाने की आशा या अन्य किसी फल पाने की

---

१. 'विध्यर्थवादमन्त्रस्मृत्याचारनामधेयवाक्यशेषसामर्थ्यरूपाण्यष्टौ प्रमाणानि धर्मे।' (का० हिं० वि० वि०, स० १९४४ ई० तं० सि० र० पृ० ४)

२. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च'॥ (मनु० २।६)

३. 'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते'॥
(तं० वा० २।१।१, पृ० ३७८, आनं० संस्करण, पूना)

इसी का आशय मण्डनमिश्र ने 'इष्टसाधनत्वज्ञानमेव लोके तत्र तत्र पुरुषाणां प्रवृत्तिहेतुर्दृश्यत इति तेनैव लिङर्थेन भाव्यम्'। (विधितत्त्वसं० पृ० ५७१)

४. 'प्राभाकरास्तु लिङ्घटितेषु लौकिकेषु वाक्येषु तत्तत्क्रियानिष्ठं कार्यत्वमेव लिङभिधेयम्, स एव च वाक्यार्थः। वेदे च तावन्मात्रेऽपर्यवसानात् अपूर्वापरनामधेय-नियोगस्य फलपर्यन्तावस्थायिनः लिङर्थत्वम्। तस्यैव च वाक्यार्थमिति कथयन्ति।

'क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं वेद्यं मानान्तरैर्न तत्।
अतो मानान्तराऽपूर्वमपूर्वमिति गीयते॥
कार्यत्वेन नियोज्यश्च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसा निष्णातैरभिधीयते॥
कार्यस्यैव प्रधानत्वात् वाक्यार्थत्वञ्च युज्यते।
वाक्यं तदेव हि प्राह नियोज्यविषयान्वितम्'॥
(प्रक० पं० वाक्यार्थमातृका पृ० १८८, चौ० सं० काशी)

चाह नहीं रखनी चाहिए। कुमारिल का कथन है कि काम्य कर्म कामना-विशेष की सिद्धि के लिए किये जाते हैं, परन्तु प्रभाकर का मत है कि काम्यकर्म में कामना का निर्देश वास्तविक अधिकारी की परीक्षा करने के लिए है। इसी तरह 'नित्यकर्म' के विषय में भी दोनों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुमारिल के मत में सन्ध्यावन्दन जैसे नित्यकर्म के अनुष्ठान से पाप का नाश होता है और उनको न करने से प्रत्यवाय उत्पन्न होता है। परन्तु प्रभाकर नित्यकर्मों के अनुष्ठान को वेदविहित होने के कारण कर्तव्य समझते हैं। वेद की अनुल्लंघनीय आज्ञा है कि प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करना चाहिए। इसी उद्देश्य से कर्तव्य कर्म होने के कारण इनका अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है। अतः निष्काम-कर्मयोग की दृष्टि से कार्यों का सम्पादन प्रभाकर को मान्य है। इस सिद्धान्त पर श्रीमद्भगवद्गीता के 'कर्मयोग' का प्रभाव लक्षित होता है।

वेद ने तीन प्रकार के कर्म बतलाये हैं—(१) **काम्य**—किसी कामना-विशेष से किया जाने वाला कर्म; जैसे 'स्वर्गकामो यजेत', (२) **निषिद्ध**—अनर्थ का उत्पादक होने से प्रतिषिद्ध कर्म; जैसे 'कलञ्जं न भक्षयेत्', (३) **नित्यनैमित्तिक**—अहैतुक किया जानेवाला कर्म; जैसे सन्ध्यावन्दन नित्य कर्म है और अवसर-विशेष पर किया जाने वाला श्राद्धादि कर्म नैमित्तिक है। सार यह है कि कर्म के होने में किसी का विरोध या मतान्तर नहीं है। यही कर्म (धर्म) याग, दान और हवन आदि रूप में सर्वत्र फैला हुआ है।

अपूर्व कल्पना की आवश्यकता—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों से दर्शपूर्णमास, स्वर्ग का साधन है, यह प्रतीत होता है। किन्तु याग क्षणिक है, क्योंकि किसी देवता को उद्देश्य कर जो द्रव्यत्याग किया जाता है, उसे याग कहते हैं। 'इन्द्राय इदं न मम' इस मानस-व्यापार को ही 'त्याग' कहते हैं। इसीलिए यह उत्तरक्षण में नष्ट हो जाता है। निरतिशय प्रीतिविषय को स्वर्ग कहते हैं। वह कालान्तर में अर्थात् जन्मान्तर में प्राप्त होता है। कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में कारण को रहना चाहिए। जन्मान्तरभावी स्वर्गोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में क्षणिक याग का रहना सम्भव नहीं। इसलिए इस श्रुति के आधार से याग का साध्य, स्वर्ग का साधन अथवा याग की उत्तरावस्था, अथवा फल की पूर्वावस्था नाम की एक वस्तु सिद्ध होती है, जिसे अतिशय, अपूर्व या योग्यता कहते हैं। शंकराचार्य ने इसी अपूर्व को कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है। इस विषय का विवेचन कुमारिल ने अपूर्वाधिकरण में युक्तिपूर्ण सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने कहा है कि यागानुष्ठान के पूर्व स्वर्ग का उपभोग करने की योग्यता पुरुष में नहीं रहती। अनुष्ठान के पूर्व याग में भी स्वर्गादि फल देने की योग्यता नहीं रहती। एवञ्च पुरुष की अयोग्यता तथा कर्म की अयोग्यता दोनों का निराकरण कर शास्त्रजन्य सामर्थ्य या अतिशय, योग्यता को 'अपूर्व' कहते हैं। कहा भी है—

'कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।
योग्यता शास्त्रजन्या या सा पराऽपूर्वमुच्यते ॥'
(तं० वा० २।१।२, पृ० ३९४; आनन्दाश्रम-संस्करण)

इसे 'अधिकारापूर्व' या 'फलापूर्व' कहते हैं। यह जहाँ एक ही प्रधान है, वहाँ प्रधान याग से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, उसे 'उत्पत्त्यपूर्व' कहते हैं। अंगों से जो 'अपूर्व' होता है, उसे 'अंगापूर्व' कहते हैं। 'अंगापूर्व' और 'प्रधानापूर्व' दोनों मिलकर 'परमापूर्व' को उत्पन्न करते हैं; जिससे स्वर्गादि फल होते हैं। जहाँ अनेक प्रधानों से फल होता है; जैसे —'दर्श' में तीन याग होते हैं और पौर्णमासी में तीन याग होते हैं। यहाँ तीन प्रधानों से उत्पन्न होने वाले तीन 'उत्पत्त्यपूर्वों' से एक 'समुदायापूर्व' होता है। दोनों 'समुदायापूर्वों' से एक 'परमापूर्व' उत्पन्न होता है। सारांश यह है कि उपर्युक्त पहले उदाहरण में से तीन अपूर्व (उत्पत्त्यपूर्व, अंगापूर्व, परमापूर्व) माने जाते हैं। द्वितीय में—उत्पत्त्यपूर्व, अंगापूर्व, समुदायापूर्व, फलापूर्व माने जाते हैं। यही मीमांसकों का परम सर्वस्व है। भाट्टमीमांसक 'यागेन अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्' (शाबरभा० २।१।२) में शब्द से और श्रुतार्थापत्ति से अपूर्व की प्रतीति मानते हैं। किन्तु प्राभाकरमीमांसक अनुमान से 'अपूर्व' की सिद्धि करते हैं और उसे लिङादि का वाच्य तथा शब्दबोध में मुख्य विशेष्य मानते हैं। सब दार्शनिकों के द्वारा अपूर्व का जो खण्डन किया गया है, उसे उसके वाच्यत्वांश तथा प्राधान्यांश को लेकर समझना चाहिए।

जड़ कर्म के फल का दाता कौन ?—कर्म स्वयं अचेतन है। अतः वह बिना किसी चेतन की अधिष्ठातृता के अपना फल उत्पन्न करने में अत्यन्त असमर्थ है। इसी कारण ब्रह्मसूत्र में तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तिम फलाधिकरण में बादरायण ने ईश्वर को कर्मफल का दाता माना है। किन्तु जैमिनि के अनुसार कर्म 'यज्ञ' से ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है; फल की प्राप्ति ईश्वर के द्वारा नहीं।

ईश्वर के सम्बन्ध में मीमांसादर्शन का मन्तव्य—ईश्वर के विषय में सभी दर्शनों में विधिकोटि या निषेधकोटि को लेकर बहुत गंभीर विचार किया गया है। उनमें न्याय, वैशेषिक और वेदान्त इन दर्शनों की ईश्वरसाधक युक्तियाँ समान ही हैं —'यतो वा इमानि भूतानि, 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः, 'जन्माद्यस्य यतः', क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत्' इत्यादि। किन्तु वेदान्तियों ने श्रुति से ईश्वर को सिद्ध कर अनुमान को उसके सहकारी के रूप में माना है। सेश्वर सांख्य ईश्वर को मानता है, उसे वह 'पुरुष-विशेष' शब्द से कहता है। कापिल सांख्य ईश्वर का स्वयं 'ईश्वरासिद्धेः' कहकर निषेध नहीं करता है, अपितु विज्ञान भिक्षु ने इस सूत्र के साथ 'प्रमाणाभावात्' पद को जोड़कर कापिल सांख्य को सेश्वर ही माना है, निरीश्वर नहीं। मीमांसादर्शन नैयायिकों की तरह विधिमुख से ईश्वर का समर्थन नहीं करता है। परन्तु 'सम्बन्धाक्षेपपरिहार' ग्रन्थ में शब्दार्थ के सम्बन्ध का कर्ता ईश्वर नहीं हो सकता। इस प्रसंग में कुमारिल भट्ट ने ईश्वर का निराकरण किया है। उसका

तात्पर्य 'सम्बन्धकर्ता' ईश्वर नहीं है, इतना ही है। इसी बात को लेकर यह प्रसिद्धि चल पड़ी कि मीमांसक निरीश्वरवादी हैं। कुमारिल भट्ट और नन्दीश्वर इत्यादि मीमांसकों ने अनुमान से सिद्ध किये गये ईश्वर का निराकरण किया है और वेद से सिद्ध होनेवाले ईश्वर को माना है। जैसे—

'यदीयशक्त्यनाविष्टं जगत् स्पन्दितुमक्षमम्।
युक्तिभिस्तमपह्नोतुं कः शक्तः परमेश्वरम्'॥ (बृ० टी०)

'विशुद्धज्ञानदेहाय' इत्यादि से कुमारिल भट्ट ने ईश्वरवन्दनात्मक मंगलाचरण किया है। प्रभाकर-विजय में नन्दीश्वर कहते हैं कि 'ईश्वरे अनुमानं निरस्तं न तु ईश्वरोऽपि' 'तार्किकेश्वरनिरासस्य तार्किकपरिकल्पितेश्वरनिरासपरत्वात्' इति। आपदेव तथा लौगाक्षिभास्कर ने गीता के ईश्वर-समर्पण सिद्धान्त को वेदमूलक मानकर मोक्ष के लिए कर्मफल को ईश्वर को समर्पण कर देने का उल्लेख किया है। वेदान्तदेशिक ने भी 'सेश्वरमीमांसा' नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसका परिचय आगे दिया जायेगा। अतः मीमांसादर्शन निरीश्वरवादी न होकर वैदिक ईश्वर को माननेवाला है। अतः उसकी सेश्वरता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

देवता के सम्बन्ध में मीमांसा का विचार—वेदविहित यागादि कर्म 'द्रव्य' तथा 'देवता' दोनों से साध्य होते हैं। द्रव्य तो दधि आदि लोकप्रसिद्ध है। किन्तु देवता, शास्त्रैकसमधिगम्य है अर्थात् विधिवाक्य जिसे देवता कहे, वही देवता मानी जाती है। यहाँ देवता के विषय में शाबरभाष्य के दशमाध्याय के चतुर्थ पाद में शबरस्वामी ने तीन पक्ष बतलाये हैं—१. 'अर्थो देवता', २. 'शब्दविशिष्टोऽर्थो देवता', ३. 'शब्दो देवता'। इनमें अन्तिम पक्ष ही सिद्धान्त है। क्योंकि अर्थ का स्मरण शब्द के द्वारा हुआ करता है, इसलिए शब्द की ही प्रथम उपस्थिति होती है। अतः शब्द ही देवता है, अर्थात् 'इन्द्राय स्वाहा' यहाँ 'इन्द्राय' यह चतुर्थ्यन्त पद ही देवता है। अर्थ को देवता माननेवाले भी शब्द की उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः तीनों पक्षों में 'शब्द' मुख्य होने के कारण मीमांसकों ने 'शब्द' को ही देवता माना है। यह नियम है कि विधिवाक्य में जो देवतावाचक शब्द हो उसी का आवाहन, त्याग और सूक्तवाक आदि में प्रयोग करना चाहिए, न कि उसके पर्याय शब्द का। जैसे—'आग्नेयमष्टाकपालम्' आदि में अग्नि के पर्यायवाची 'जातवेदसम्' का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन बातों से 'शब्दमयी देवता' इस मीमांसक-सिद्धान्त का समर्थन होता है। (मी० द० शाब० भा० १०।४, सू० २३।२४, पृ० १९२५-१९२९ आनन्दाश्रम-पूना संस्करण)।

देवता के विग्रहादि सदसद्भाव पर विचार—अग्नि आदि देवताओं के यह विग्रहादिपंचक माना जाता है। जैसे—

'विग्रहो हविषां भोगः ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्'॥ (सर्वदर्शनकौमुदी)

इसी के आधार पर वेदान्तियों ने देवता को विग्रहादि-पंचक माना है, अर्थात् हम

लोगों के समान कर-चरणादि अवयव देवताओं के भी होते हैं। वे हवि का स्वीकार और उसका भक्षण कर प्रसन्न होते हैं और यजमान को फल देते हैं। अतः देवता विग्रहादिमती है। इसमें भूतार्थवाद प्रमाण होते हैं। ऐसा ही विचार महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में 'अथ आकारचिन्तनम्' इत्यादि से पुरुषविधता को सिद्ध किया है।

मीमांसादर्शन कहता है कि 'शब्दमयी देवता'—इस सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए शबरस्वामी ने अपने देवताधिकरण-भाष्य में देवता के विग्रह का खण्डन किया है—'अपि वा यज्ञकर्मप्रधानं स्यात्'। आगे चलकर प्रायः सभी लोगों ने अर्थात् पार्थसारथी, खण्डदेव आदि मीमांसकों ने इसी मार्ग को अपनाया है। कुमारिल अपनी टुप्टीका में कहते हैं कि देवता प्रधान न होकर द्रव्य की तरह अंग है और कर्म ही प्रधान है। कर्म ही फल देता है, देवता नहीं। 'नहि स्वामिनि स्थिते दासात् कश्चित् फलं प्रार्थयते। किन्तु 'कर्मण एव फलजनकत्वम्' 'शब्दमयी देवता' इन दोनों सिद्धान्तों का समर्थन देवताविग्रहादि को मानकर भी किया जा सकता है। इसलिए भाष्यकार का देवताविग्रहनिराकरण प्रौढिवाद से समझना चाहिए। मीमांसादर्शन 'शब्दमयी देवता' को मानता है और उसका ज्ञान तद्धित, चतुर्थीविभक्ति तथा मंत्रवर्ण इन तीनों से होता है। उसमें अन्तर यह है कि 'तद्धित' शक्त्यावृत्त्या देवता का बोधन कराता है, 'चतुर्थी विभक्ति' लक्षणया और 'मन्त्रवर्ण' अधिष्ठान-मात्र का बोधन कराता है।

विधि-परिचय—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा अज्ञात अर्थ के बोधक वाक्य को विधि कहते हैं। अर्थात् अज्ञातज्ञापक–अप्रवृत्तप्रवर्तक जो वाक्य हो, उसे विधि कहते हैं। विध्यर्थ के सम्बन्ध में मीमांसकों के दो पक्ष हैं—एक 'प्रवर्तना' को विध्यर्थ मानता है, जिसमें प्रायः सभी मीमांसक आ जाते हैं। दूसरा 'कार्य' को विध्यर्थ मानता है, जो प्रभाकर का सिद्धान्त है। इनमें से प्रथम पक्ष का उपपादन इस प्रकार किया जाता है— लोकव्यवहार में प्रवर्तक पुरुष आचार्य या राजा अपने शिष्य या सेवक को प्रवृत्त कराने के लिए 'गामानय' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते हैं। शिष्य या सेवक उस वाक्य को सुनकर और उसका अर्थ समझकर गवानयन आदि कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए प्रवर्तक पुरुष के अभिप्राय-विशेष को लोकव्यवहार में विध्यर्थ कहते हैं। वह पुरुष में रहता है, अतः उसे पुरुषाभिप्राय भी कहते हैं; किन्तु वेद अपौरुषेय होने के कारण वैदिक लिङादि का अर्थ पुरुषाभिप्राय नहीं हो सकता। इसलिए पुरुष के स्थान पर 'लिङादि' शब्द को अभिषिक्त किया जाता है और उसी का 'व्यापार-विशेष' विध्यर्थ होता है। वह शब्दनिष्ठ होने के कारण उसे **शाब्दी-भावना**' भी कहते हैं—'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलः प्रवर्तकलिङादिनिष्ठो व्यापारविशेषः शाब्दीभावना'। प्रवर्तना, प्रेरणा आदि शब्दों से भी इसका व्यवहार होता है। लोक में दो प्रकार की प्रवृतियाँ पायी जाती हैं—एक तो अपनी इच्छा से अर्थात् इष्टसाधन समझकर 'व्यक्ति' प्रवृत्त होता है और दूसरी प्रवर्तक पुरुष या शब्द के द्वारा प्रेरणा पाकर 'व्यक्ति' प्रवृत्त होता है। जहाँ प्रेरणा के पश्चात् प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रवर्तना

ज्ञान को ही प्रवर्तक माना जाता है। इसे मण्डनमिश्र, पार्थसारथी आदि ने इष्टसाधन माना है। न्यायसुधाकार ने इसे अलौकिक धर्म-विशेष कहा है, किन्तु प्रभाकरमिश्र ने प्रवृत्ति के प्रति 'कार्यताज्ञान' को कारण माना है। इससे इष्टसाधनत्वादि आक्षिप्त हो जाते हैं, इसीलिए चोदनासूत्र के 'आचार्यचोदितः करोमीति हि दृश्यते' भाष्य पर व्याख्या करते हुए शालिकनाथ ने कहा है—'चोदितः—प्रवर्तितः—कार्यमवबोधित इत्यर्थः। कार्यताज्ञानं विना प्रवृत्तेरसम्भवादिति' (प्र० पं० तद्भूताधि०)। इसलिए प्रभाकर-मत में 'कार्यं विध्यर्थः तच्च कार्यं धात्वर्थातिरिक्तम् अपूर्वशब्दवाच्यं तदेव विध्यर्थ इति' कहा गया है।

विधि-भेद—वेदवाक्यार्थ का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए मीमांसादर्शन में विधि के चार प्रकार पहले बतलाये गये हैं; जैसे—उत्पत्ति-विधि, विनियोग-विधि, प्रयोग-विधि, अधिकार-विधि। जिस वाक्य से कर्मस्वरूप की कर्तव्यता सर्वप्रथम मालूम होती है, उसे **उत्पत्ति-विधि** कहते हैं; जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति' अग्निहोत्र नामक होम से अपने अभीष्ट को प्राप्त करे। अंगप्रधान का सम्बन्ध जिस विधिवाक्य से बोधित होता है, उसे **विनियोग-विधि** कहते हैं; जैसे—'दध्ना जुहोति' दही से हवन करे। यहाँ दधि साधन है और होम साध्य है। यहाँ विनियोग शब्द से सम्बन्ध को समझना चाहिए। वह सम्बन्ध साध्य-साधनभाव, अंगांगिभाव या शेषशेषिभाव में समाप्त होता है।

जो प्रधान और अंग दोनों के अनुष्ठान में क्रम का बोधन कराता है, उसे **प्रयोग-विधि** कहते हैं; जैसे—प्रयाजादिकों से उपकृत हुए दर्शपूर्णमास के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करना। इसी अभिप्राय से 'अङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिः' लक्षण किया गया है। जिस विधि से कर्मजन्य फल का भोग 'कर्ता' को बतलाया जाता है, उसे **अधिकार-विधि** कहते हैं; जैसे—'यजेत स्वर्गकामः' यहाँ आत्मनेपद (उपग्रह-विशेष) से क्रियाजन्य फल कर्तृगामी बतलाया गया है। अर्थात् जो याग का कर्ता है, वही स्वर्गरूपफल का भोक्ता है।

इसी प्रकार से अपूर्व-विधि, नियम-विधि, परिसंख्या-विधि के रूप में भी विधि के तीन प्रकार प्रसिद्ध हैं। जो अत्यन्त अप्राप्त विषय का विधान करता है, उसे **अपूर्व-विधि** कहते हैं; जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि। यहाँ व्रीहि पर प्रोक्षण करना तथा दर्शपूर्णमास में स्वर्ग की साधनता को उपर्युक्त वाक्यों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से नहीं बतलाया गया है, अर्थात् दोनों बातें अन्य वाक्यों के द्वारा नहीं बतलाई गई हैं। अतः यह 'अपूर्व-विधि' के उदाहरण हैं। जो पक्ष में प्राप्त हुए अर्थ को नियमित (अप्राप्तांशपूरण) करता है, उसे **नियम-विधि** कहते हैं; जैसे—'व्रीहीनवहन्ति' यहाँ वितुषीकरण के प्रति अवघात साधन है तथा अश्मकुट्टन आदि भी साधन है। जो पुरुष शास्त्रीय अवघातादि उपायों को छोड़कर अश्मकुट्टन या नखविदलन से वितुषीकरण करने लगता है, उसे शास्त्र कहता है कि अवघात से ही वितुषीकरण करना चाहिए (व्रीहीन् अवहन्यादेव)। अतः

यह 'नियम-विधि' का उदाहरण है। अवघात दृष्टार्थ होने पर भी 'अवघात-नियम' अदृष्टार्थ है।

जहाँ एक ही समय में दोनों की समुच्चय से प्राप्ति होती है और दूसरे की व्यावृत्ति (निवृत्ति) करना ही जिसका फल है, उसे **परिसंख्या** कहते हैं, जैसे—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह पंचनखभक्षण राग-प्राप्त है, इसलिए उसका विधान नहीं किया जाता। पंचनखवाले पाँच प्राणियों का भक्षण जैसे रागतः प्राप्त है, वैसे ही पंचनखवालों से भिन्न अपंचनखवालों का भी भक्षण रागतः प्राप्त है, इसलिए यहाँ अपूर्व-विधि या नियम-विधि नहीं है। अतः पंचेतर पंचनखभक्षण की निवृत्ति में ही इसका तात्पर्य है। इसलिए यह 'परिसंख्या-विधि'का उदाहरण है। यह दो प्रकार की होती है, एक **श्रौती** व दूसरी **लाक्षणिकी**। जहाँ 'एवकार' या 'न' शब्द इतर निवृत्ति के वाचक होते हैं, वहाँ **श्रौती परिसंख्या** कही जाती है, जैसे—'अत्र ह्येवावपन्ति' इति। जहाँ इतरनिवृत्तिवाचक शब्द नहीं है, किन्तु लक्षणया इतरनिवृत्ति की प्रतीति होती है, उसे **लाक्षणिकी परिसंख्या** कहते हैं। इन तीनों प्रकार की विधियों के सम्बन्ध में प्राचीन लोगों का एक पद्य प्रसिद्ध है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसङ्ख्येति गीयते'॥
(तं० वा० १।२।४) (पृ० १५२, आनं० पूनासं०)

नियम-विधि और परिसंख्या-विधि में भेद—नियम-विधि और परिसंख्या-विधि दोनों में इतरनिवृत्तिरूप फल समान रहने पर भी अन्तर यही है कि नियम-विधि में इतरनिवृत्ति का वाचक शब्द नहीं रहता। वहाँ इतरनिवृति स्वतः होती हैं। परिसंख्या-विधि में इतरनिवृत्ति का वाचक शब्द रहता है। एवकार का प्रयोग दोनों में समान है, किन्तु नियम-विधि में एवकार 'अयोगव्यावृत्ति' का बोधक होता है और परिसंख्या में एवकार 'अन्ययोगव्यावृत्ति' का बोधक होता है, यही दोनों में अन्तर है।

मेरे आराध्य गुरुचरण महामहोपाध्याय श्री६चिन्नस्वामी शास्त्री अपनी 'तन्त्र-सिद्धान्तरत्नावली' में 'नियम-विधि' और 'परिसंख्या-विधि' के भेद को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं—"ननु नियमस्थलेऽपि साधनान्तरनिवृत्तिः, परिसङ्ख्यास्थलेऽपि सैवेत्युभयत्र निवृत्तेस्तुल्यत्वान्नियम-परिसङ्ख्ययोः को विशेष इति चेत्—

अयं भेदः—**नियमस्थले** वचनस्य न निवृत्तौ तात्पर्यम्, किन्तु अप्राप्तांशपूरणे। अप्राप्तेंऽशे प्रापिते इतरदर्थान्निवर्तते। न तत्र शब्दस्य व्यापारः।

परिसङ्ख्यायान्तु निवृत्तिरेव शब्दतात्पर्यविषयीभूता। अतो **नियमविधिर्भाव-विषयकः, परिसङ्ख्या**-विधिर्वर्जनरूपाऽभावविषयक इति"।

उपर्युक्त विधि के दोनों प्रकारों का समन्वय—उत्पत्ति-विधि, विनियोग-विधि, प्रयोग-विधि और अधिकार-विधि—चारों का **अपूर्व-विधि** में अन्तर्भाव होता है।

नियम-विधि और परिसंख्या-विधि दोनों का **विनियोग-विधि** में ही अन्तर्भाव हो

जाता है। इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए भाट्टचिन्तामणि को देखना चाहिए।

अर्थवाद-परिचय—अर्थवाद उन वाक्यों का नाम है, जो पुरुष में प्रमाद तथा आलस्य को स्वाभाविक समझ कर, उसको प्रवृत्ति के लिए उत्साहित करना आवश्यक मानते हुए कार्य-विशेष में स्तुति तथा निन्दा द्वारा उसे उत्तेजित करते हैं। इन वाक्यों का अपना कोई स्वतन्त्र तात्पर्य नहीं होता। इनका मुख्य प्रयोजन यही है कि पुरुष उत्साहित होकर भिन्न-भिन्न विहित कर्मों का अनुष्ठान करे। यह अर्थवाद भी तीन प्रकार के होते हैं—गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थवाद। जो अर्थ किसी दूसरे प्रमाण से बाधित हो, वह **गुणवाद** कहलाता है; जैसे—'आदित्यो यूपः' यूप अर्थात् यज्ञीय स्तम्भ साक्षात् सूर्य है—यह गुणवाद है। 'यूप' को सूर्य कहना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, क्योंकि स्तम्भ तो सूर्य नहीं हो सकता। अतः इस वाक्य का अभिप्राय गुण से है, जैसे सूर्य 'जगत्' के प्रत्येक कार्य में सहायक है, इसी प्रकार स्तम्भ के बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता। इस गुण-साम्य से यूप को आदित्य कहा गया है।

गुणवाद का दूसरा उदाहरण—श्रीमाधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमालाविस्तर के सारूप्याधिकरण (जै० न्या० वि० १।४।१५) में 'गुणसाम्य' इस प्रकार बतलाया है—'आदित्ये यच्चक्षुर्गम्यं तेजस्वित्वं तद्यूपेऽप्यस्ति, घृताक्तस्य यूपस्य तेजस्वित्वाध्यवसायात्। तत आदित्यशब्देन 'यूपः' स्तूयते। एवं 'यजमानो यूपः' इत्यत्र चक्षुर्गम्योर्ध्वत्वस्य समानत्वाद्यजमानशब्देन यूपः स्तूयते।

गुणवाद का तीसरा उदाहरण—जैसे 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात्'—सृष्टि के आरम्भ में जगत्सिसृक्षु प्रजापति ने सृष्टि-निर्माण करने के लिए कोई याग करना चाहा, किन्तु उस समय यागसाधनभूत किसी द्रव्य के न होने से अपनी ही वपा[1] को ही अपने उदर से निकालकर अग्नि में आहुति दी। उससे श्रृङ्गरहित (तूपर) पशु उत्पन्न हुआ। किन्तु यह घटना प्रत्यक्षप्रमाण के विरुद्ध है, क्योंकि कोई भी अपनी वपा निकालकर उसे अग्नि में डाल दे तो वह जीवित नहीं रह सकता। अतः प्रमाणान्तरविरुद्ध होने से यह 'गुणवाद' रूप अर्थवाद है।

प्रमाणान्तर से सिद्ध अर्थ का बोधन करना अनुवाद है। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति' (तै० सं० कां० २, प्र० १, अनु० १)। वायु अत्यन्त शीघ्रगामी देवता है। वायु के प्रति यजमान उसका भाग लेकर दौड़ते हुए उपस्थित होता है और वह वायु उस यजमान को सम्पत्ति देता है। वायु को उस वाक्य में शीघ्रगामी बतलाया गया है—यह बात लोक में पूर्व से ही प्रसिद्ध है। अतः इसको अनुवाद-वाक्य कहते हैं।

अविरुद्ध तथा अप्राप्त अर्थ का बोधक वाक्य **भूतार्थवाद** है—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' अर्थात् इन्द्र ने वृत्र के विरुद्ध वज्र को उठाया। यह वाक्य किसी

१. वपा नाम नाभिसमीपे आमाशयमावृत्य स्थितः सूक्ष्मवस्त्राकारो मांसविशेषः।

अनुष्ठेय पदार्थ को नहीं बतलाता। इससे केवल यह विदित होता है कि इन्द्र ने वृत्र-वध के लिए वज्र का ग्रहण किया। यह विषय अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं था और किसी पौराणिक कथा से भी उसका कोई विरोध भी नहीं है, अतः यह भूतार्थवाद है—'विरोधे गुणवादः स्यात् अनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' ॥ (तं० सि० र० पृ० ९)

मन्त्र-परिचय—अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशक वाक्य को मन्त्र कहते हैं। यह मन्त्र ऋग्, यजुष् आदि भेदों से युक्त है। उनका उच्चारण प्रयोग-विशेष के समय में किया जाता है। प्रयोग के समय में उच्चारण से मन्त्रार्थ का स्मरण होता है। यद्यपि यह स्मरण ब्राह्मण-वाक्य से भी सिद्ध है, तथापि नियम-विधि ऐसी ही है कि मन्त्र द्वारा ही अर्थ-स्मरण करना चाहिए। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में विचार उपस्थित किया है कि 'अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वमिति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनधर्मा कपालानि सन्तापयति। तत्र च नियमः क्रियते एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।' (पा० म० भा० प्र० अ० प्र० पा० पृ० ५७) अग्नि में कपालों को रखकर मन्त्र पढ़ा जाता है—'भृगु तथा अंगिरस् ऋषियों के तप से तप्त होवे'। बिना मन्त्र के भी अग्नि तपा सकती है, परन्तु इस वाक्य से नियम किया जाता है कि मन्त्र-पाठपूर्वक तपन से ही अभ्युदय होता है।

नामधेय-परिचय—ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' पशु की कामनावाले पुरुष को 'उद्‌भिद्' यज्ञ करना चाहिए। यहाँ पर 'उद्‌भिद्' को विधि तो कह नहीं सकते, क्योंकि पूर्वोक्त विधियों में से किसी में इसका अन्तर्भाव नहीं है। इसे अर्थवाद भी नहीं कह सकते, क्योंकि इससे स्तुति या निन्दा सूचित नहीं हो रही है। इसको मन्त्र भी नहीं कह सकते। अतः यह नामधेय है, क्योंकि यह कर्म-विशेष का नाम है। नामधेय के होने में—१. 'मत्वर्थलक्षणा का भय, २. वाक्यभेद का भय, ३. तत्प्रख्य-शास्त्र, ४. तद्व्यपदेश'—ये चार कारण हुआ करते हैं। जैसे (१) 'उद्‌भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में 'उद्‌भिद्' को यज्ञ का नाम न मानने पर मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार करना होगा। किन्तु इस तरह लक्षणा का मानना अर्थ की दृष्टि से गौरवदोष में आ जाता है। अतः गौरव को स्वीकार करने की अपेक्षा जो अर्थ ठीक हो सके उसी को स्वीकार करना उचित है। अतः यहाँ पर 'उद्भिद्' को 'याग' का नाम मान लिया गया है। (२) कहीं वाक्यभेद के प्रसंग से बचने के लिए नामधेय को स्वीकार किया जाता है। जैसे 'चित्रया यजेत पशुकामः' पशुओं की जिसे इच्छा हो वह 'चित्रा' याग करे। इस वाक्य में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'चित्रा' शब्द किसी याग का नाम है या चित्र-विचित्र वर्ण और स्त्रीलिंग का यहाँ विधान किया जा रहा है? विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'चित्रा' पद यहाँ गुण-विधायक नहीं है, क्योंकि गुण-विधान तो पहले ही एक अन्य वाक्य से किया जा चुका है। इसलिए गुण-विशिष्ट याग का विधान करना अनुचित है। सिवाय एक ही वाक्य के द्वारा 'फलसम्बन्ध' और 'गुण-विधान' करने पर वाक्य की आवृत्ति करनी पड़ेगी। इसी

आवृत्ति रूप वाक्यभेद से बचने के लिए 'चित्रा' शब्द को याग का नाम स्वीकार करना पड़ा। (३) जिस गुण का विधान करना चाहते हैं, उसके ज्ञापक किसी अन्य शास्त्र के होने पर नामधेय को स्वीकार कर लिया जाता है; जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ अग्निरूप गुण का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि अन्य वाक्य से ही अग्नि की प्राप्ति हो चुकी है। अतः पिष्टपेषण की तरह प्राप्त वस्तु का पुनः विधान करना विधि का कार्य न होने से 'अग्निहोत्र' को एक कर्म-विशेष का नाम माना गया है। 'अग्नौ होत्रम्' ऐसा अर्थ कर 'अग्निरूप गुण' का जैसे विधान नहीं किया जाता, वैसे ही 'अग्नये होत्रम्' ऐसा अर्थ कर 'अग्निरूप देवता' का भी विधान नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य वाक्य से अग्निरूप देवता की प्राप्ति हो चुकी है। (४) 'तद्व्यपदेश' से भी नामधेय का निर्णय किया जाता है; जैसे—'श्येनेनाभिचरन् यजेत' यहाँ पर श्येन शब्द तद्व्यपदेश के कारण याग का नाम माना गया है। व्यपदेश शब्द का अर्थ होता है—'उपमान'। अतः श्येन शब्द से यहाँ पक्षी का अर्थ न लेकर 'याग' का नाम ही समझना चाहिए, अर्थात् श्येन नाम का याग। ऐसा अर्थ यदि न किया जाय तो 'अर्थवाद वाक्य' का तात्पर्य ठीक-ठीक नहीं लग सकेगा। 'श्येन' का उपमानरूप से उल्लेख करने वाले वाक्य में जो 'उपमानोपमेयभाव' ज्ञात हो रहा है, उससे स्पष्ट है कि यहाँ पर 'श्येन शब्द' कर्म का ही वाचक है। बिना उसके श्येन की उपमा ठीक नहीं बैठती। क्योंकि उपमानोपमेयभाव सदैव भिन्ननिष्ठ हुआ करता है। स्वयं की स्तुति स्वयं से ही नहीं हुआ करती। अतः यहाँ श्येनयाग को स्वतन्त्र मानकर उसकी तत्सम्बन्धित अर्थवाद के द्वारा स्तुति किया जाना और उसे श्येन पक्षी की उपमा देना आदि सुसंगत होता है।

इन चार कारणों के अतिरिक्त न्यायसुधाकार[1] आदि कुछ विद्वानों ने नामधेय का एक कारण और भी माना है, जिसे **'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व'** कहते हैं। जैसे 'वैश्वदेवेन यजेत' यहाँ पर उक्त चार कारणों में से किसी का भी सम्भव न होने से इसी निमित्त के बल पर 'वैश्वदेव शब्द' को कर्म का नाम माना गया है। उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व का अर्थ है कि उत्पत्ति-वाक्य में बतलाये गये गुण की प्रबलता होना और उससे अन्य किसी भी गुण का समावेश न कर सकना। 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में विश्वदेव देवतारूपी गुण का विधान करना सम्भव नहीं, क्योंकि उसका विधान अन्य वाक्य से किया जा चुका है; तथापि यहाँ पर 'तत्प्रख्यशास्त्र' से नामधेयता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि 'वैश्वदेव' याग में आठ प्रकृत याग हैं, उनमें से सात में 'विश्वदेव देवता' प्राप्त है, आठवें में नहीं। 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य के द्वारा आठों यागों का विधान होने से देवता को अनुवाद रूप में बतलाया गया है।

किन्तु **पार्थसारथीमिश्र**[2] यहाँ पर तत्प्रख्यन्याय से ही नामधेय होना मानते हैं

---

१. न्यायसुधा; पृ० ४७१, चौखम्बा० सं०।

२. 'तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयं वैश्वदेवशब्दः' (शा० दी० पृ० ८०, नि० सा० प्रे० मुं०)।

और भाट्टदीपिकाकार **खण्डदेवादि**[1] केवल तत्प्रख्यन्याय से नामधेयता को स्वीकार न कर उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व को भी उसमें सहकारी मानते हैं। अर्थात् इनके मत से 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वसहकृततत्प्रख्यन्याय' से वैश्वदेव शब्द को कर्म-नामधेय माना गया है।

निषेध-परिचय—निषेध के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसका 'पुरुषार्थ' से क्या सम्बन्ध है? उत्तर में यही कहना होगा कि अनर्थकारक कर्म से मनुष्य को हटाकर उसकी इष्ट (अभिलषित) प्राप्ति में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को दूर करने में निषेध-वाक्यों का उपयोग होता है। वेदवाक्य के द्वारा बतलाये गये कर्म को सुनते ही उसमें जैसी श्रेयस्कर बुद्धि हो जाती है और मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, उसी तरह निषेधवाक्य के सुनते ही निषिद्ध कर्म में अनर्थकारक बुद्धि हो जाती है और उस निषिद्ध कर्म से मनुष्य की निवृत्ति होती है।

निषेधवाचक 'न' का अन्वय-विचार—निषेधवाचक 'न' का अन्वय अव्यवहित धातु के साथ करना उचित है या प्रत्यय की भावना के साथ? जैसे—'न भक्षयेत्', 'न हन्तव्यः' यहाँ अव्यवहित धातु के साथ ही 'न' का अन्वय करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार अन्वय करने पर जैसे 'यजेत' का अर्थ 'याग करो' होता है, उसी प्रकार 'न यजेत' का 'यागाभाव करो' अर्थ होगा। तब यह निषेध-वाक्य न होकर विधिवाक्य ही बन जायेगा। परन्तु यह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

'किसी एक में दिया गया विशेषण अन्य पदार्थ में पुनः विशेषण नहीं बन सकता।' इस नियम से 'प्रत्ययार्थ भावना' में धातु का विशेषण रूप से सम्बन्ध होने के कारण उसके साथ अन्य विशेषणीभूत पदार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता। इसलिए 'न' अव्यय का अन्वय भावनावाचक प्रत्यय के साथ ही करना उचित है। इस प्रकार लिङ् का अर्थ प्रवर्तना है; उसके साथ 'न' का अन्वय करने से 'प्रवर्तना' के विपरीत 'निवर्तना' का अर्थ होना स्पष्ट है। प्रवर्तना और निवर्तना परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। अर्थात् विधि और निषेध में ब्रह्महत्या और अश्वमेध के समान अन्तर है[2]। किन्तु प्रत्यय के साथ 'न' का अन्वय करने में यदि कोई बाधक हो तो धातु के साथ भी उसका अन्वय किया जाता है।

पर्युदास और प्रतिषेध—जहाँ 'न' का धातु (पूर्वपद) के साथ अन्वय किया

---

१. 'उत्पत्तिशिष्टदेवतावरोधसहकृततत्प्रख्यन्यायात्' (भा० दी० पृ० १४७, पं० ३ L. J. Edn.)।

२. 'अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः।
दृश्यते तादृगेवेदं विधानप्रतिषेधयोः'॥
(न्यायसुधायामुदाहृतं बृहट्टीकोक्तम्)

जाता है, वहाँ 'पर्युदास' कहा जाता है और जहाँ 'न' का प्रत्यय (उत्तरपद) के साथ अन्वय किया जाता है, वहाँ 'निषेध' कहा जाता है[1]।

अन्वय में बाधक—प्रत्यय के साथ अन्वय करने में कभी-कभी दो बाधक होते हैं—एक **'उपक्रमविरोध'** और दूसरा **'विकल्पप्रसक्ति'**। पहले का उदाहरण—'तस्य व्रतम्' ऐसा उपक्रम (प्रारंभ) कर 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' यह निषेध बतलाया गया है। यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'ईक्ष्' धातु के साथ 'न' का अन्वय किया जाय या विधि-प्रत्यय के साथ? प्रत्ययार्थ की प्रधानता के कारण प्रत्यय के साथ अन्वय करना उचित है, किन्तु ऐसा अन्वय करने पर 'विध्यर्थ=प्रवर्तना के विरुद्ध निवर्तना' का अर्थ होकर 'तस्य व्रतम्' इस उपक्रम के विरुद्ध अर्थ होने लगेगा। क्योंकि 'व्रत' शब्द से कर्तव्यरूप अर्थ का बोध होता है और आगे चलकर कर्तव्य के अभाव को बतलाया जाय, यह उचित नहीं, इसलिए यहाँ 'न' का अन्वय प्रत्यय के साथ न कर धातु के साथ करना उचित होगा। जिससे 'ईक्षणाभाव करे' यह विधिरूप अर्थ बन सकेगा। अतः **उपक्रमविरोध** से बचने के लिए 'न' का अन्वय धातु के साथ करना उचित माना गया है।

किन्तु किसी नाम या धातु के साथ 'न' का सम्बन्ध होने पर वह कभी निषेधार्थक नहीं होता[2]। जैसे 'अब्राह्मण' कहने से ब्राह्मणभिन्न, ब्राह्मणसदृश क्षत्रियादि अर्थ ही लिया जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र की नारायणीय वृत्ति में 'न नक्तं स्नायात्' का अर्थ 'नक्तं न स्नायाम् इत्येवं सङ्कल्पयेत्' ऐसा ही अर्थ पर्युदास मानकर किया गया है।

विकल्प-प्रसक्ति—अर्थात् विकल्प को स्वीकार न करना पड़े इसलिए भी कहीं-कहीं 'न' का अन्वय प्रकृति (धातु) के साथ किया जाता है। जैसे 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोति' वाक्य में 'न' का अन्वय प्रत्यय के साथ करने पर 'अनुयाज' में 'ये यजामहे' मन्त्र न बोला जाय, यह अर्थ होगा। निषेध हमेशा प्राप्तिपूर्वक हुआ करता है। 'यजतिषु ये यजामहं करोति' वाक्य से प्राप्ति है। अब शास्त्र-प्राप्त का निषेध करने पर वचनों में परस्पर विरोध होने से कोई एक वचन व्यर्थ होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार विरोध के आने पर विकल्प को स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु विकल्प के स्वीकार करने में 'आठ दोष' स्वीकार करने पड़ेंगे। इसलिए ऐसे स्थलों में 'न' का अन्वय प्रत्यय के साथ न कर अनुयाज के साथ किया जाता है। तब अनुयाज के अतिरिक्त स्थानों में 'ये यजामहे' मन्त्र

---

१. 'पर्युदासः स विज्ञेयो यत्र पूर्वपदेन नञ्।
प्रतिषेधः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्'॥ (अभियुक्तोक्तिः)

२. 'नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ'॥
(श्लो० वा० अपोहवाद श्लो० ३३, पृ० ५७५)

बोला जाय, यह अर्थ निकल पाता है। इस तरह अन्वय करने से परस्पर विरोध भी नहीं रहता और न 'विकल्प' ही स्वीकार करना पड़ता है तथा वाक्यार्थ सुसंगत होता है।

निषेध के सम्बन्ध में विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि जहाँ प्रतिषेध 'विकल्प' का कारण बनता है, वहाँ वह अनर्थ का हेतु नहीं समझा जाता, क्योंकि विधि और निषेध दोनों यज्ञ के लिए ही हैं। किन्तु जहाँ स्वभावतः प्राप्ति होने पर शास्त्र-वचन से निषेध किया जाता है, वहाँ निषिद्ध पदार्थ अनर्थ का हेतु होता है, जैसे—'न कलञ्जं भक्षयेत्'।

कहीं-कहीं इससे भी विलक्षण एक अन्य प्रकार दिखलाई पड़ता है। जैसे 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इस वाक्य के द्वारा दीक्षित के लिए दान देने का तथा हवन करने का निषेध किया गया है; और दान देना, होम करना भी शास्त्र ने बतलाया है। किन्तु यहाँ शास्त्र के परस्पर विरुद्ध विधानों के होने पर भी विकल्प नहीं किया जाता। क्योंकि दान, होम आदि का अनुष्ठान 'पुरुषार्थ' को उद्देश्य कर किया गया है और दान, होम आदि का निषेध 'यज्ञ' को उद्देश्य कर किया गया है। अतः एक 'पुरुषार्थ' है तो दूसरा 'क्रत्वर्थ' है। दोनों का उद्देश्य एक न होने से विकल्प नहीं किया जाता। कदाचित् दीक्षित के द्वारा दान-होमादि के कर देने पर भी वह अनर्थ का कारण नहीं हो पाता, क्योंकि यह कर्म 'आसक्ति' से नहीं हुआ है, बल्कि 'शास्त्रविहित' होने से हुआ है।

किन्तु 'स्वस्त्रीगमनादि' कर्मों की प्राप्ति 'आसक्ति' से होती है और शास्त्र से वह निषिद्ध है। इसलिए उनके करने से 'क्रतु' में वैगुण्य हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि 'आसक्ति' के कारण शास्त्र-निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान किया जाय तो उससे अनर्थ होता है।

विधि से लेकर निषेध तक किये गये विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा-शास्त्र का उद्गम स्थान 'वेद' है, जो ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व भेद से कहे जाते हैं। इन्हीं को 'श्रुति' भी कहते हैं। पहले बतला चुके हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागों में वेद का स्वरूप पर्यवसित हो पाता है। केवल मन्त्रभाग या केवल ब्राह्मणभाग को ही वेद नहीं समझना चाहिए। इनमें 'मन्त्रभाग' प्रायः छन्दोमय है और 'ब्राह्मणभाग' गद्यात्मक है। मन्त्रभाग में प्रायः देवताओं की स्तुति आदि विषय प्रतिपादित किये गये हैं और ब्राह्मण भाग में उन देवताओं को उद्देश्य कर यज्ञादि धर्मों का अनुष्ठान किस प्रकार किया जाय इत्यादि बातें बतलाई गई हैं। यह सब विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय और निषेध के द्वारा बतलाया गया है।

मीमांसा की दृष्टि से शाब्दबोध का प्रकार—वाक्य से जो बोध होता है, उसे वाक्यार्थ या शाब्दबोध कहते हैं। वाक्य भी आख्यातान्त ही होता है। उसमें 'सुबन्तचयो वाक्यम्', 'तिङन्तचयो वाक्यम्' 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्' ये तीन पक्ष हैं। लेकिन 'क्रिया' कारकान्वित होनी चाहिए। जैसे अमरकोश में कहा गया है—

'तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इति। सभी वाक्यों का क्रिया में पर्यवसान होता है। मीमांसादर्शन में कुमारिल-प्रभाकर-मुरारि ये तीन मत प्रसिद्ध हैं। अन्तिम में 'त्रिपादनीतिनयन' ग्रन्थ का अल्पतर अंश यथाकथंचित् प्राप्य है और दो प्रस्थानों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उसमें 'अभिहितान्वयवाद' **भट्ट** का है और अन्विताभिधानवाद' **प्रभाकर** का है। शाब्दबोध में 'भावना' को मुख्य विशेष्य माना जाता है। प्रभाकर मत में 'कार्य' को मुख्य विशेष्य माना जाता है। अभिहितान्वय शब्द का अर्थ है कि पदों से अभिहित पदार्थ, आकांक्षा-योग्यता-आसक्ति से विशिष्ट होकर लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ का बोधन कराते हैं अर्थात् पदों की पदार्थों में शक्ति है और पदार्थ लक्षणया 'वाक्यार्थ' का बोध कराते हैं। इस विषय में 'न्याय' की और 'मीमांसा' की समानता है। जैसे—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यहाँ 'यजेत' में दो अंश हैं—'यज' धातु और 'त' प्रत्यय। प्रत्यय 'आख्यातांश' को लेकर अर्थभावना को कहता है। उस भावना की तीन आकांक्षाएँ होती हैं। उनमें 'साध्याकांक्षा' के होने पर 'स्वर्ग का साध्यत्वेन' अन्वय होता है, जैसा कि 'स्वर्गकामाधिकरण' में बतलाया गया है। 'भावार्थाधिकरण' के अनुसार 'साधनाकांक्षा' के होने पर 'धात्वर्थ' का 'करणत्वेन' अन्वय होता है। इतिकर्तव्यताकांक्षा होने पर 'वाक्यार्थाधिकरण' के अनुसार दीक्षणीयादि का 'इतिकर्तव्यतात्वेन' अन्वय होता है।

'भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया।
अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता' ॥

विशिष्ट अर्थ का बोधन करने के लिए लोक में वाक्य-प्रयोग किया जाता है। पदश्रवण से अलग-अलग पदार्थों का ज्ञान होता है, किन्तु जिसके लिए वाक्य-प्रयोग हुआ, वह काम तो हो ही नहीं पाया और जो (पदार्थज्ञान) हुआ है वह हमारा अभिप्रेत नहीं है। इसलिए वाक्य-तात्पर्य की अनुपपत्ति है; इस अनुपपत्ति के होने से ही लक्षणा करनी पड़ती है। सभी दार्शनिकों ने माना है कि 'तात्पर्यानुपपत्ति' लक्षणा में बीज है। किन्तु यह लक्षणा 'सोमेन यजेत' इत्यादि की तरह नहीं है, किन्तु समभिव्याहारमात्रगम्य है। अतः वाक्यार्थ का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त पद ज्वाला की तरह पदार्थ का भी प्रतिपादन कर देते हैं। पदों के दो तात्पर्य होते हैं—अवान्तरतात्पर्य और महातात्पर्य। अवान्तरतात्पर्य पदार्थविषयक और महातात्पर्य वाक्यार्थविषयक होता है। इसलिए वाक्य से वाक्यार्थ का बोध अभिहितान्वयवाद में लक्षणया होता है। भट्टपाद कहते हैं—

'साक्षात् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले'॥

(श्लो० वा० ३४२, पृ० ९४३ चौ० सं०)

'वाक्यार्थभितये तेषां प्रवृत्तो नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थ-प्रतिपादनम्'॥

(श्लो० वा० ३४३, पृ० ९४३ चौ० सं०)

गुरु-परम्परा से अध्ययन न किये हुए कुछ लोगों का कथन है कि पदों के द्वारा 'अनन्वितावस्थ पदार्थ' अभिहित होते हैं और उनकी 'अन्वितावस्था' लक्षित होती है, इसलिए 'अन्विताभिधानवाद' कुमारिल का है—यह समझकर जोर-शोर से खण्डन करते हैं, लेकिन उनके ग्रन्थों में ऐसा लेख कहीं नहीं मिलता।

अन्विताभिधानवाद **'प्रभाकरमिश्र'** का है। अन्विताभिधान शब्द का अर्थ है कि पद अन्वित अर्थ को कहते हैं, अर्थात् अन्वय तथा पदार्थ दोनों को शक्त्यावृत्त्या बोधन करते हैं। इसलिए पदशक्ति से ही 'पदार्थ' और 'वाक्यार्थ' दोनों का ज्ञान हो जाता है। अतः पदशक्ति के अतिरिक्त लक्षणा आदि मानने की कोई आवश्यकता नहीं। व्यवहार में देखा जाता है कि प्रयोज्यवृद्ध-प्रयोजकवृद्ध जब अपने मतलब से व्यवहार करते हैं अर्थात् प्रयोजक-वृद्ध प्रयोज्य-वृद्ध को जब वाक्य के द्वारा किसी कार्य में नियुक्त करता है, तब पार्श्वस्थ व्युत्पित्सु बालक शब्द को सुनता है और प्रयोज्य-वृद्ध की प्रवृत्ति को भी देखता है व निश्चय करता है कि वाक्य से ही इसने वाक्यार्थ को समझा है। अतः वह बालक 'वाक्य' की 'वाक्यार्थ' में शक्ति का ग्रहण पहले करता है, फिर पदों का हेर-फेर (आवाप-उद्वाप) होने पर पदों में शक्ति का ग्रहण कर लेता है। अतः प्रवृत्ति में कारण 'कार्यताज्ञान' ही है। लोक में 'क्रिया' को ही कार्य समझते हैं। यही कारण है कि वेद भी 'यागादि क्रिया' को ही पहले 'कार्य' समझता है। यागादि क्रिया क्षणिक है और स्वर्ग-फल तो कालान्तरभावी है, इसलिए इस (स्वर्गकाम-पदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्ति) वेदवाक्य-विमर्श से यागातिरिक्त 'अपूर्व' नामक वस्तु को वह समझता है। यहाँ एक ही 'कार्य-शब्द' की पूर्वोक्त 'दो अर्थों' में दो शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। इस गौरव का परिहार करने के लिए एक में शक्ति तथा दूसरे में लक्षणा माननी होगी। उसमें भी अलौकिक कार्य (नियोग) में शक्ति है, क्योंकि 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' यह नियम है। लोक में 'क्रियारूप कार्य' में लक्षणा है। इस मत में पद ही वाक्य होते हैं (पदान्येव वाक्यम्) और 'पदार्थ' ही वाक्यार्थ होते हैं (वाक्यार्थः पदार्थः)।

प्रभाकर ने 'ग्राहक' और 'ग्रहण' को माना है, उससे भी अन्विताभिधानवाद सिद्ध होता है। इनके मत में 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य से इस प्रकार शाब्दबोध होता है—'लिङ्' का वाच्य है 'कार्य'; इसे 'विषय' और 'नियोज्य' दोनों की अपेक्षा होती है। जैसे—ज्ञान को 'आश्रय' तथा 'विषय' दोनों की अपेक्षा रहती है। 'यागविषयकं स्वर्गकामनियोज्यकं कार्यम्' इति। यह लौकिक शब्द को 'अनुमानविधया' प्रमाण मानते हैं, किन्तु **भट्टपाद** दोनों प्रकार के शब्दों को 'शब्दविधया' ही प्रमाण मानते हैं—यह दोनों में अन्तर है।

मीमांसकों का शब्दवाद—'अर्थ' के साथ 'शब्द' का जो सम्बन्ध है अर्थात् 'बोध्यबोधकभाव' है, वह **नित्य** है, कृत्रिम या सांकेतिक नहीं है, वरन् स्वाभाविक है। इसीलिए औपदेशिक ज्ञान अर्थात् सुना हुआ अव्यतिरेक अर्थात् अबाधित-अव्यभिचारी-सत्य है। **शब्द अज्ञात विषय का सच्चा ज्ञान उत्पन्न करता है।** इसलिए वह स्थायी

प्रमाण है। इसका प्रामाण्य भी दूसरे पर निर्भर नहीं करता अर्थात् वह स्वतः सिद्ध है। (अन्य स्थान में किसी को या तत्सदृश अन्य को देखने पर उसके सम्बन्ध में सदृश वस्तु का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को 'अनुमिति' कहते हैं। आग के साथ धुआँ उठता है। हम लोग बराबर देखते हैं कि धुआँ और आग बराबर साथ रहती है। जब बुद्धि में एक वास्तविक ज्ञान सञ्चित रहता है कि धुआँ का कारण आग है, आग धुएँ के साथ रहती है। इस सञ्चित ज्ञान के कारण पहाड़ आदि पर धुआँ देखकर अनुमान करते हैं कि जहाँ से 'धुआँ' उठता है, वहाँ 'आग' अवश्य होगी, यही अनुमिति है। इस प्रकार की अनुमिति धर्म में प्रमाण नहीं हो सकती, अर्थात् अनुमानप्रमाण से धर्म का निर्णय नहीं हो सकता।)

जैमिनि ने निश्चय किया है कि 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों ही नित्य हैं तथा उनका 'बोध्यबोधक सम्बन्ध' भी नित्य अर्थात् स्वाभाविक है। जैमिनि ने पहले ऐसी प्रतिज्ञा कर उस पर छह आपत्तियाँ की हैं और पीछे उनका खण्डन किया है। गौतम और कणाद कह सकते हैं कि 'शब्द' एक प्रकार की उच्चारण क्रिया है और वह क्षण-स्थायी है तथा चेष्टा-विशेष से वह उत्पन्न होती है।

शब्द, जो क्रियमाण है, वह प्रत्यक्ष है। उचारण के पहले शब्द नहीं रहता, उच्चारण के बाद अनुभव में आता है। अतएव क्रियमाण और क्षणस्थायी शब्द के साथ अक्रियमाण तथा स्थायी अर्थ का नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता। शब्द स्थिर नहीं रहता और मुहूर्तकाल भी नहीं ठहरता। उससे ज्ञात होता है कि शब्द पहले क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में अस्तित्व को प्राप्त कर तीसरे क्षण में विलीन हो जाता है। लोग कहते हैं कि 'शब्द करो' 'शब्द मत करो', इस तरह का प्रयोग पूर्वकाल से प्रचलित है। इससे निश्चित होता है कि शब्द; मनुष्य-कृत है, नित्य नहीं है। एक ही शब्द का एक ही समय में, यहाँ-वहाँ अनेक स्थानों में, अनेक देशों में मनुष्य उच्चारण करते हैं और सुनते भी हैं। यदि शब्द 'एक' और 'नित्य' होता तो इस प्रकार यौगपद्य (एक साथ) नहीं हो सकता था। व्याकरण की प्रक्रिया में भी देखा जाता है कि शब्दों की प्रकृति में विकार होता है। जैसे— 'इ' शब्द 'प्रकृति' है और 'य' शब्द उसकी 'विकृति' है अर्थात् व्याकरण में 'इ' के 'य' होने का विधान है। सभी नित्य पदार्थ अविकारी हैं। शब्द यदि नित्य होता तो इस प्रकार विकार का विषय न बनता। शब्द की वृद्धि और उसका ह्रास देखा जाता है और उच्चारण करने वाले अधिक रहें तो शब्द बढ़ता है और कम रहे तो शब्द घटता है। जिसकी ह्रास और वृद्धि होती है, उसे नित्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में आपत्तियों को उठाकर उसकी नित्यता का खण्डन किया गया है।

'शब्द' अपने उच्चारण के पूर्व उपलब्ध नहीं होता, उच्चारण के बाद वह उपलब्ध होता है, इतने ही से उसकी अनित्यता का निर्णय करना उचित नहीं। 'नित्य निराकार शब्द' भी उच्चारण के पहले अज्ञात रहता है, अर्थात् 'शब्द'

उच्चारण के पहले 'अव्यक्त' रहता है। उच्चारण की चेष्टा से वह 'व्यक्त' होता है। अतएव उच्चारण क्रिया के बाद शब्द का अनुभव होते देखा जाता है। लेकिन यह शब्द की अनित्यता का कारण नहीं हो सकता। सार यह है कि शब्द अभिव्यक्त किये जाने के कारण उसकी नित्यता अबाधित है। 'शब्द' अपने उच्चारण के बाद ही नष्ट हो जाता है, यह भी तुच्छ आपत्ति है। शब्द नष्ट नहीं होता, वह जैसे का तैसा ही रहता है, केवल सुनने में नहीं आता। ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जिनका अस्तित्व होने पर भी वे इन्द्रियगम्य नहीं हो पातीं।

'शब्द करो' 'शब्द मत करो' यह लौकिक प्रयोग ध्वनि के सम्बन्ध में हैं, शब्द के सम्बन्ध में नहीं है। लोग 'स्थितशब्द' के प्रकाशक 'ध्वनि-विशेष' को ही करने के लिए कहते हैं, शब्द करने को नहीं कहते। जिस प्रकार एक नित्य सूर्य को एक ही समय बहुत स्थानों में बहुत लोग देखते हैं, उसी प्रकार एक नित्य वर्तमान वर्णात्मक शब्द को अनेक स्थानों में अनेक लोग सुनते भी हैं। व्याकरण में 'इ' के स्थान में 'य' वर्ण का विधान है तो सही; परन्तु दोनों वर्णों में प्रकृति-विकृति का सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों वर्ण पूर्ण स्वतंत्र हैं। कोई किसी की 'प्रकृति' नहीं और न कोई किसी की 'विकृति' ही है। 'शब्द बढ़ता है' या 'घटता है' यह भी अत्यन्त तुच्छ आपत्ति है। शब्द बढ़ता नहीं, वरन् उच्चारण करने वालों के कण्ठ की आवाज ही बढ़ती है। बहुत लोग जब एक साथ बोलते हैं तब बड़ी आवाज होती है, शब्द जैसे का तैसा ही रहता है। जैमिनि ने इस प्रकार सभी आपत्तियों का खण्डन कर शब्द की नित्यता का प्रतिपादन किया है। शब्द नित्य है, क्योंकि उच्चारणमात्र से ही वह अभिव्यक्त पदार्थ है। लोग अपने जाने हुए शब्दार्थ का दूसरे को ज्ञान कराने के लिए उस शब्दार्थ को व्यक्त करने वाली 'ध्वनि' करते हैं, जिसको उच्चारण कहते हैं। यदि शब्द पहले ही से रहे तभी दूसरों को उसका ज्ञान कराने के लिए उस शब्द को अभिव्यक्त करने वाला 'ध्वनि' करने की लोगों की प्रवृत्ति हो सकती है। यदि नहीं तो यह प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। 'गो' शब्द का उच्चारण करने पर उस समय सभी गौओं का ज्ञान हो जाता है। यदि शब्द नित्य न रहता तो सम्पूर्णता का ज्ञान न हो पाता। लोग ऐसा नहीं कहते कि आठ बार 'गो शब्द' करो। सब लोगों का अनादिकाल से होता हुआ यह व्यवहार ही शब्द की 'एकता और नित्यता' को सिद्ध करता है। उत्पन्न द्रव्यमात्र का कोई न कोई उपादान कारण रहता है, किन्तु शब्द के उत्पादन का उपादान कारण दुर्लभ है। क्योंकि शब्द की उत्पत्ति और विनाश का कोई कारण नहीं है। अतएव शब्द की न तो उत्पत्ति है और न विनाश ही है। कुछ आचार्यों का कथन है कि 'वायु' ही शब्द का उपादान कारण है। अतः वे शब्द की उत्पत्ति और विनाश को कह सकते हैं, लेकिन बात ऐसी नहीं है। शब्द का कारण 'वायु' नहीं। वायु तो ध्वनि का कारण है। वायु के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न संयोग-विभागादि के वश से ध्वनियों की लहरें चारों ओर तरंग के रूप में फैल जाती हैं। अनन्तर वह कानों में पड़ने से अनुभव में आ जाती हैं। अतएव शब्द ध्वनि-व्यंग्य

होने के कारण ध्वनि से भिन्न है। इसलिए भी 'शब्द' वायु से उत्पन्न नहीं होता। जब कि वायु शब्द की उत्पत्ति-विनाश का कारण नहीं हुआ, तो वह दूसरे पदार्थों के शब्द का कारण कैसे हो सकता है? इसलिए वेद भी कहते हैं कि शब्द नित्य है। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी स्वाभाविक तथा नित्य है। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्याऽर्थेन सम्बन्धः' (मीमांसा-सूत्र १।१।५)। वेद नित्यशब्दसमूहात्मक है, अतः वे भी नित्य हैं (श्लो० वा० पृ० ७२७-८६४, शा० दी० १।१।५)।

अनित्य ध्वनि से अर्थ-सिद्धि न होते देख वैयाकरणों ने वर्णक्रमहीन निरवयव 'नित्य शब्द' की कल्पना की है, जिसे वे 'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्' (जिससे अर्थ स्फुटित हो) इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्फोट' के नाम से उसे अभिहित करते हैं— 'न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः। अर्थस्य वाचका वर्णाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा'॥ (शेषकृष्ण-स्फोटतत्त्वनिरूपण, श्लो० ३)

परन्तु शब्दस्फोट से बढ़कर 'वाक्यस्फोट' होता है, जिसमें नित्य निरवयव अखण्ड वाक्य 'अखण्ड निरवयव वाक्यार्थ' का बोध कराता है। यह वाक्यस्फोट ही नित्य है, तदंगभूत 'वर्ण' तथा 'पद' मृषा हैं। मीमांसा इस सिद्धान्त को युक्तियुक्त स्वीकार नहीं करती। उसका कहना है कि वर्ण, पद तथा अवान्तर वाक्यों को मिथ्या मानने पर तत्प्रतिपाद्य प्रयाजादि अनुष्ठान-विशेषों को भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा; जिससे मीमांसा के मूल के ही उच्छेदन की आशंका है। शब्दाद्वैत मानने वाले वैयाकरण जगत् को कल्पनात्मक मानते हैं, वास्तविक नहीं। केवल स्फोट ही नित्य है, परन्तु जगत् का व्यवहार उसके अंगों को लेकर चलता है। अतः जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या हैं। भर्तृहरि का यह कथन सयुक्तिक है कि बालकों को शिक्षा देने के समान असत्य मार्ग में चल कर सत्य की उपलब्धि कराई जाती है—'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः। असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'॥ (वाक्यपदीय) अतः 'जगत् का मिथ्यात्व' व्याकरण-सम्मत है। परन्तु वास्तववादी मीमांसक जगत् के पदार्थों की सत्ता वास्तविक मानते हैं। अतः स्फोटवाद का आश्रय लेना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस प्रकार मीमांसा की दृष्टि में वर्णात्मक शब्द ही नित्य होता है, न कि स्फोटात्मक। आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (श्लोक १३७) में स्फोटवाद के खण्डन का उपसंहार बड़े सुचारु रूप से इसी युक्ति से किया है— 'वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं फलमादधाति। कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः'॥ (श्लो० वा० १३७, पृ० ४७४ मद्रास यू० सं०) क्योंकि वेदों की नित्यता का सर्वोत्कृष्ट साधक प्रमाण शब्दों की नित्यता ही है।

सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में मीमांसा के विचार—सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में दार्शनिकों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं कि महासृष्टि और महाप्रलय होते हैं; अर्थात् सभी 'भावकार्य' द्वयणुकादि क्रम से उत्पन्न होते हैं और स्थूल से द्वयणुक पर्यन्त विनाश होता है, चार परमाणु नित्य हैं। इस विषय में मीमांसादर्शन का अपना मन्तव्य है कि **सृष्टि के दो प्रकार हैं—एक खण्डसृष्टि और दूसरी**

महासृष्टि; इसी तरह प्रलय, महाप्रलय और खण्डप्रलय। इनमें खण्डसृष्टि और खण्डप्रलय आजकल की तरह माना जाता है। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—इस मन्त्र का भी इसी अर्थ में तात्पर्य है। खण्डप्रलय में जो पदार्थ रहते हैं, उनका विवरण मत्स्यपुराण में भी दिया गया है। महासृष्टि और महाप्रलय को मीमांसादर्शन स्वीकार नहीं करता। सभी पदार्थों का नाश होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वार्तिककार कहते हैं—

'प्रलयेऽपि प्रमाणं नः सर्वोच्छेदात्मके न हि'।

(श्लो० वा० ६८, पृ० ४६६ तारा प्रकाशन)

'तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना' ॥

(श्लो० वा० ११३, पृ० ४७७, तारा प्रकाशन)

सारांश यह है कि मीमांसादर्शन खण्डसृष्टि तथा खण्डप्रलय को मानता है। महासृष्टि तथा महाप्रलय को नहीं मानता। अतएव मीमांसक-सम्प्रदाय में यह प्रसिद्ध है—'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति। मीमांसा जगत् को सत्य मानती है। अन्यथा स्वर्ग-पशु-पुत्रादि फल के उद्देश्य से धर्मानुष्ठान करना सम्भव ही न होगा। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के निरालम्बनवाद में कहा है—

'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे, पुण्यपापादि तत्फलम्।
विध्यर्थवादमन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना ॥ १ ॥
सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः।
वचनव्यक्तिभेदेन पूर्वसिद्धान्तपक्षता ॥ २ ॥
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः, पारलौक्यैहलौकिके।
सर्वमित्याद्ययुक्तं स्यादर्थशून्यासु बुद्धिषु' ॥ ३ ॥ इति।

(पृ० १७९ भा० वि० प्र०)

'स्वप्नादिभोगवच्चापि योपभोगत्वकल्पना।
तन्निवृत्त्यर्थमेवेह परमार्थे प्रयत्यते' ॥ ११ ॥

(पृ० १८२ भा० वि० प्र०)

'नहि स्वप्नसुखाद्यर्थं धर्मे कश्चित् प्रवर्तते।
यादृच्छिकत्वात् स्वप्नस्य तूष्णीमास्येत पण्डितैः ॥ १२ ॥
परमार्थफलावाप्तिमिच्छद्भिस्तेन यत्नतः।
प्रतिपत्तिर्विधातव्या युक्तिभिर्बाह्यवस्तुषु ॥ १३ ॥ इति च।

(पृ० १८२ भा० वि० प्र०)

बृहतीकार ने भी औत्पत्तिक सूत्र के अन्त में कहा है कि—'अहङ्कारममकारौ अनात्मनि आत्माभिमानौ' इति मृदितकषायाणामेवैतत् कथनीयं, न कर्मसङ्गिनां इत्युपरम्यते। द्वैपायन व्यास भी कहते हैं (गीता ३।२६)—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' इति।

मीमांसा की दृष्टि में मोक्ष और उसके साधन—मीमांसादर्शन शरीरातिरिक्त आत्मतत्त्व को मानकर चलता है[1]। वेदान्तदर्शन भी इसी का अनुकरण करता है। क्योंकि कर्मसिद्धान्त के भीतर 'कृतहानि, अकृताभ्यागम' निहित है। उसमें पुनर्जन्म, इहलोक और परलोक में आने-जानेवाला, नित्य, विभु, चेतन, कर्ता, भोक्ता, आत्मा भी छिपा है। इस विषय का बीज 'चोदना पुनरारम्भः' (जै० सू० २।१।५) 'सत्सं-प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम्' (जै० सू० १।१।४) है। वपनादि संस्कार फली (यजमान) का संस्कार है (मीमांसा ३।८।३) और पुरुषार्थ में भी पुरुष शब्द के होने से तथा अस्थियज्ञ (१०।२।२२) इत्यादि में वर्णित कृतयाग आत्मा को ही फल मिलता है। अतः आत्मतत्त्व का विशेषरूप से विवेचन करने के लिए कोई खास सूत्र न्यायादि दर्शनों के समान नहीं है। शबरस्वामी ने बिना सूत्र के ही यज्ञायुध वाक्य को निमित्त बनाकर नास्तिक मत का निराकरण करते हुए आत्मस्वरूप को तर्क तथा श्रुति के द्वारा वेदप्रामाण्य की सिद्धि के लिए सिद्ध किया है (शाबरभा० पृ० ६०)। अतएव शंकराचार्य 'एक एवात्मनः शरीरे भावात्' (ब्र० सू० ३।३।५३) इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि पूर्वतन्त्र (मीमांसा) में आत्मा का प्रतिपादक सूत्र नहीं है, इसलिए यहीं से लेकर आत्मस्वरूप काविवेचन उन्होंने किया है। उसमें वृत्तिकार को प्रमाण रूप में रखते हैं—'आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तां शारीरके वक्ष्यामः इति उद्धारः कृतः'। (अच्यु० ग्रं० मा०, ब्र० सू० भाष्य, पृ० २१०८) इसका आशय यह है कि आत्मा को मानकर दोनों दर्शन चलते हैं; यह बात दोनों दर्शनों में समान है। यह आत्मा नाना है (तर्कपा० शा० दी० पृ० ४९५)। इसका कर्म के द्वारा शरीर-इन्द्रिय-विषय आदि से सम्बन्ध होता है, इसलिए शरीर-इन्द्रिय-विषय को बन्ध कहते हैं। ये तीनों आत्मा को बाँधते हैं अर्थात् आत्मा को बन्धन में डालते हैं (शा० दी० त० पा० ५०२)। अतः अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख होते हैं।

जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश ही मोक्ष है (शा० दी० त० पा० ५०३)। जगत् के तीन प्रकार के बन्धनों ने आत्मा को जकड़ रखा है। आत्मा शरीर की उपाधि में रहकर इन्द्रियों की सहायता से बाह्य विषयों का अनुभव करता रहता है। अतः भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय, भोगविषय पदार्थ—इन त्रिविध बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को ही 'मोक्ष' कहते हैं। 'आत्यन्तिक' शब्द से यह अभिप्राय है कि पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषयों का नाश हो जाता है और बन्ध के उत्पादक धर्माधर्म के बिलकुल निःशेष हो जाने के कारण भविष्य में इनकी उत्पत्ति भी नहीं होती (तर्कपा० ५०२-५०३)। अतः आत्मा को इस भौतिक जगत् में आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष के सम्बन्ध में मीमांसा और वेदान्त के विचारों में अन्तर है। मीमांसा 'प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलय' को

---

१. तर्कपाद—सुदर्शनाचार्य पृ० ४७९।

मोक्ष समझती है,[१] किन्तु वेदान्त 'प्रपञ्च-विलय' को ही 'मोक्ष' मानता है[२]। स्वप्न-प्रपञ्च के तुल्य यह जगत् अविद्या-निर्मित है, इसलिए ब्रह्मज्ञान के द्वारा अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती, अपितु प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है (सु० आचार्य, तर्कपा० ४९९)।

किन्तु वास्तववादी मीमांसादर्शन के विचार इससे बिलकुल भिन्न हैं। मुक्तावस्था में संसार की सत्ता उसी प्रकार वस्तुतः विद्यमान रहती है, जिस प्रकार अविद्या दशा में। केवल बन्ध का विलय निष्पन्न हो जाता है। यही दोनों दशाओं में भेद है।

प्रभाकर के मत से मोक्ष की परिभाषा भाट्टमत से भिन्न है। प्रभाकर 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः'—नियोगसिद्धि को ही 'मोक्ष' कहते हैं[३]। बिना बाह्य फल की कामना किये केवल कर्तव्यबुद्धया नित्यकर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। अतः मुक्ति उस अनवरत कार्य की दशा को कहते हैं, जिसमें क्रिया को छोड़ अन्य फल की आकांक्षा नहीं रहती।

प्रभाकर के मत में आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म का विनाश हो जाने पर जो देहेन्द्रियादि सम्बन्ध का औत्पत्तिक विच्छेद हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं।

भाट्टों में दो मत है—एक पक्ष के अनुसार मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है। बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध का विनाश होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में नियमेन नहीं होती, परन्तु आत्मा के शुद्धस्वरूप का उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है। पार्थसारथि दूसरे मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं, जिसके अनुसार मुक्तात्मा में सुख का अत्यन्त उच्छेद रहता है। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' अर्थात् शरीर से हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक स्पर्श नहीं करते। यदि इस वचन को विषयसुख के विषय में माना जाय तो 'आनन्दं ब्रह्म' में आनन्द का अर्थ दुःखाभावरूप मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है। इन दोनों मतों का उल्लेख मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका के पृ० ४ पर किया है।

मोक्ष के साधन का विचार—'काम्य और निषिद्ध कर्म' बन्धक होते हैं, किन्तु 'नित्यनैमित्तिक कर्म' बन्धक नहीं होते। किसी कामना के लिए किये गये कर्मों का

---

१. 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः'। (शा० दी० पृ० ५०३ वि० वि० प्रेस, काशी) 'त्रेधा हि पुरुषं प्रपञ्चः बध्नाति—भोगायतनं शरीरं, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते। तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः'। (शा० दी० पृ० ५०२)

२. अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते'। (शा० दी० पृ० ५००)

३. प्रकरणपञ्चिका पृ० १८०-१९०।

फल तो भोगना ही पड़ेगा, उसी प्रकार निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से अशुभ फल की उत्पत्ति भी अवश्य होगी। अतः इनसे निवृत्त रहना अभीष्ट है। परन्तु नित्य-नैमित्तिक का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है। अतः काम्य-निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति, परन्तु नित्यनैमित्तिक कर्मों में प्रवृत्ति मोक्ष की साधिका है। तथापि कर्म के साथ आत्मज्ञान उपेक्षणीय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि 'धर्म' प्रधान कारण है और 'आत्मज्ञान' सहकारी कारण है। इसीलिए भट्टपाद ने वेदान्तानुशीलन को उपादेय बतलाया है। पार्थसारथि का कहना है कि 'नित्यात्मसत्तामात्रेणैव वेदप्रामाण्यसिद्धेः तन्मात्रमिह प्रतिपादितम्। दाढर्चार्थिभिस्तु वेदान्तविहितेष्वेव श्रवण-मनन-निदिध्यासनादिषु यतितव्यम्'। इससे स्पष्ट है कि मीमांसकों ने वेदान्त के सफल उपायों को मान्यता प्रदान की है। मीमांसकों के यहाँ आत्मज्ञान के भी दो प्रकार हैं। एक शरीरातिरिक्त आत्मज्ञान, जो 'क्रतु' का अंग होता है और दूसरा 'निःश्रेयस' के लिए होता है (सु० आ०, शा० दी० त० पा० ५२७)।

संकर्ष-काण्ड

मीमांसा के बारह अध्यायों की तो प्रसिद्धि है ही, किन्तु उसके अतिरिक्त एक संकर्ष काण्ड[1] भी है। कुछ लोग उसे संकर्षण[2] काण्ड भी कहते हैं। इस काण्ड के चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार चरण हैं अर्थात् १६ चरण हैं और चारों अध्यायों के अधिकरणों की संख्या ३४२ है।

प्रथम अध्याय में

१–१५ }
२–१७ }
३–२४ } —यूपपाद
४–२५ }

८१

द्वितीय अध्याय में

१–४१—इष्टकापाद
२–१८—अवदानपाद
३–१५—प्रैषपाद
४–२९—होमपाद

१०३

तृतीय अध्याय में

१–२५—कालपाद
२–३६—अग्निपाद
३–२०—ग्रहपाद
४–१४—आर्षेयपाद अथवा वरणपाद

९५

चतुर्थ अध्याय में

१–१३—सामिधेनीपाद
२–१९—निगदपाद
३–२१ }
४–१० } वषट्कारपाद

६३

---

१. सम्यक्–निःशेषतया स्फुटतया च कृष्ट्वा–आकृष्य विप्रकीर्णवेदवाक्येभ्यः सङ्गृह्य निर्णीयन्ते अर्था यत्र इति सङ्कर्षः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इत्यधिकारस्थेन 'हलश्च' इति 'घञ्' प्रत्ययः।

२. अधिकरणल्युटा तथा व्यवहारः।

मीमांसाशास्त्र के विषय में प्रपञ्चहृदयकार कहते हैं कि वह बीस अध्यायों में निबद्ध हैं। उसमें सोलह अध्याय तो पूर्वमीमांसाशास्त्र के हैं, जिसे जैमिनि ने रचा है। इस उपनिषद्-भिन्न वेदभाग अर्थात् पूर्वकाण्ड में धर्म-विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त चार अध्यायवाला उत्तरमीमांसाशास्त्र है। यह उपनिषद् भाग उत्तरकाण्ड कहलाता है। इसमें व्यासजी ने ब्रह्म का विचार किया है। इसी उत्तर-मीमांसा को वेदान्त शारीरकमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा आदि नामों से भी कहा जाता है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र भी जैमिनिसूत्र की तरह मीमांसाशास्त्र का ही एकदेश होने के कारण विभिन्नकर्तृक होने पर भी बीस अध्यायवाला मीमांसाशास्त्र कहा जाता है—ऐसा विशिष्टाद्वैतियों[1] का कथन है। बोधायन का वचन[2] भी इस तथ्य का पोषक है। किन्तु इस पर अद्वैतियों का आक्षेप है कि दोनों की एकशास्त्रता इन्हें सम्मत नहीं है। मीमांसा-वेदान्त की एकशास्त्रता पर विशिष्टाद्वैतियों का पूर्ण अभि-निवेश है। इस अभिनिवेश को यदि देखना हो तो पण्डित-प्रवर श्रीराममिश्र शास्त्रीजी के द्वारा शास्त्रदीपिका पर लिखित भूमिका को पढ़ना चाहिए[3]। अस्तु, इस साम्प्रदायिक कलह में न पड़कर प्रकृत विषय की ओर ही देखें। प्रसिद्ध द्वादशलक्षणी तथा संकर्षकाण्ड के चार अध्यायों को जोड़ने पर षोडशलक्षणी मीमांसा के कर्ता जैमिनि ही हैं। किन्तु कुछ लोग चार अध्याय के संकर्षकाण्ड का कर्ता 'कासकृत्स्न को कहते हैं[4]। किन्तु प्राचीन विद्वान् यही कहते आ रहे हैं कि इनमें से किसी एक का निर्धारण करना असंभव है[5]। तथापि इस पर शिवार्कमणि-दीपिका तथा भावप्रकाशिका के सहारे विचार किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि तथा काशकृत्स्न दोनों के अपने-अपने रचे हुए 'देवताकाण्ड' पृथक्-पृथक् होंगे[6]। तत्तत्कर्मों में आराधनीय देवताओं के स्वरूप आदि का विचार इन चार अध्यायों के द्वारा इस देवताकाण्ड में किया जाता है। यही कारण है कि एक

---

१. 'संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिरिति'।
(बो० वृ० श्रीभाष्य १।१।१, पृ० ३)

२. 'वृतात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषेति'।
(बोधायनवृत्ति श्रीभाष्य १।१।१, पृ० ३, सन् १९३७, वृन्दावन)

३. 'शास्त्रदीपिका—मेडिकल हाल मुद्रणालय काशी से मुद्रित, वि० सं १९४८।

४. 'कर्मदेवता ब्रह्मगोचरा सा त्रिधोद्‌भवा सूत्रकारतः, जैमिनेर्मुनेः काशकृत्स्नतो बादरायणादित्यतः क्रमात्'। (न्यायपरिशुद्धि पृ० २९९)

५. 'वृत्तिग्रन्थे तु जैमिन्युपरचिततया षोडशाध्याय्युपात्ता,
सङ्कर्षः काशकृत्स्नप्रभव इति कथं तत्त्वरत्नाकरोक्तिः।
अत्र ब्रूमः सदुक्तौ न वयमिह भुवा बाधितुं किञ्चिदर्हाः,
निर्वाहस्तूपचारात् क्वचिदिह घटते ह्येकतात्पर्ययोगः'॥
(अधिकरणसारावलि श्लो० १५, पृ० ३, वृन्दावन १९३७)

६. यः खलु जैमिनिः साध्यधर्मविचारार्थं द्वादशाध्यायीं प्रणीय तत्र अविचारि-

ही के उद्देश्य से प्रवृत्त हुई इस चतुरध्यायी को देवताकाण्ड नाम से कहा जाने लगा। बीस अध्यायवाली मीमांसा के प्रथम कर्मकाण्ड और चरम ब्रह्मकाण्ड, जिन्हें शबर-शंकर प्रभृति विद्वानों ने समृद्ध किया और चिरकाल से बड़ी सावधानी के साथ इसकी रक्षा हुई, तथापि बीच से ही यह मध्यम देवताकाण्ड कहाँ, कैसे और कब लुप्त हो गया, पता नहीं चलता। प्राचीन ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में कहीं-कहीं सूत्र उपलब्ध होते हैं[1]। यदि प्रपञ्चहृदय की प्रामाणिकता में सन्देह न हो तो बोधायन, उपवर्ष, देवस्वामी,[2] भवदास आदि विद्वानों ने देवताकाण्ड पर अपने-अपने भाष्य रचे थे, किन्तु वे भी आज दुर्लभ हैं। प्रपञ्चहृदय का कहना है कि देवताकाण्ड पर चार भाष्यों के रहने के कारण शबर ने आदि से द्वादश अध्यायों की व्याख्या कर देवताकाण्ड की उपेक्षा की। पश्चात् किसी 'संकर्ष' नामक व्यक्ति ने उस पर भाष्य रचा, जिससे संकर्षकाण्ड नाम की उपपत्ति बन जाती है। किन्तु इस भाष्य का भी आज नाम ही शेष रह गया है। शाबरभाष्य आदि ग्रन्थों में किये गये संकर्षकाण्ड के उल्लेखों को दे रहे हैं, जिससे संकर्षकाण्ड तथा उसके भाष्य आदि के विषय की पिपासा कुछ शान्त-सी हो सकेगी।

सङ्कर्षे—'आ नः प्राण एतु परावतश्चान्तरिक्षात् दिवस्परि आयुः पृथिव्या अध्यमृतमसि प्राणायत्वा इति हिरण्यमभिव्यनिति' इत्यन्तप्रतीकेन विनियोगस्य वक्ष्यमाणत्वात्। (न्या० सु० पृ० ६८६)

सङ्कर्षे—'स्विष्टकृद्विकारश्च वनस्पतिः' इति वक्ष्यति। (२।४।२०) (भा० १०।४।१६।३२)

सङ्कर्षे—'अहरहर्वा चोदितत्वात्' इति वक्ष्यमाणन्यायेन कौण्डपायिनां होमः

तोऽपि कियानंशोऽस्तित्यालोच्य तद्विचारार्थं पुनः सङ्कर्षणाख्यां चतुरध्यायीं प्रणिनाय। (शिवार्कमणिदीपिका, प्रथम भाग, पृ० ३५)

तथा—सङ्कर्षकाण्डोऽप्यविचारितकर्मविशेषविषय एव। जैमिनिर्हि द्वादशलक्षणीं प्रणीय तत्र अविचारितांशमालोच्य पुनरपि चतुर्लक्षणीं प्रणिनायेति प्रसिद्धिः। अत एव हि संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति वृत्तिग्रन्थोऽपि सङ्गतः। अत एव प्रदानवदेवेत्यधिकरणे रामानुजभाष्ये यत्संवादतयोक्तं नाना वा देवता पृथक्त्वात् इति तज्जैमिनीय एव दृश्यते न तु देवताकाण्डे काशकृत्स्नीये। अतोऽपि सङ्कर्षः कर्मविषय एव, तथैव केषाञ्चिद्देवताकाण्डत्वव्यवहारोऽप्यस्तीति। (श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचित श्रुतप्रकाशिका व्याख्या भावप्रकाशिका पृ० ४४)

१. 'अन्ते हरौ तद्दर्शनात्' (शतदूषणी पृ० १७५), 'स विष्णुराह हि' तद्ब्रह्मेत्याचक्षते—'तद्ब्रह्मेत्याचक्षते' (अणुभाष्यम् पृ० ३५९) 'वचनात्सर्वेषां सहावदीयेरन्' तेषां सहप्रदानमवदानैकत्वात् 'नाना वा देवता अर्थदत्वात्' (शतदूषणी, पृ० १८०) आग्रयणाभ्यासः प्रकरणात् 'दर्शपूर्णमासयोर्वान्तरालसंयोगान्न ह्यन्यत्प्रत्यक्षं विद्यते' (न्या० सु० १४५–४६)।

२. 'उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात्' (जै० सू० ३।२।१२) इति तु कृत्वाचिन्तेत्युक्तं तद्भाष्ये देवस्वामिभिः इति कुतूहलवृत्तिकारः (पृ० २८८)।

प्रत्यहं सकृत् कार्यः। सिद्धान्ते तु कर्मैक्यात् सायं-प्रातः प्राकृतः प्रकृतिवदभ्यसितव्यः। (न्या० सु० ७८८)

'क्रत्वङ्गत्वं वा चित्यङ्गत्वे नोपपद्येते' इति सङ्कर्षणसूत्रं तु क्रत्वपूर्वोपयोगाभिप्रायं व्याख्येयम्। (भाट्टदी० ४।३।१५)

सोमनाथस्तु—'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत' इत्यत्रापि 'चयनेन अग्निसंस्कारनिष्पत्त्यनन्तरं विधानात् अग्निसंस्कारस्य, चयननिष्पन्नस्थण्डिले अग्निनिधानरूपस्य स्वरूपेण फलवत्वाभावेन तत्फलतायाः क्रत्वपूर्वनिष्पत्तिपर्यन्तव्यापनादेः सङ्कर्षे सौत्रामण्याः साग्निकक्रत्वङ्गत्वमेव, न तु चयनाङ्गत्वं, न वा अग्न्यङ्गत्वम् इति व्यवस्थापनात्' इत्याह। (४।३।१८)

सङ्कर्षे—(२।१।२६) 'उत्तरवेद्यां ह्यग्निश्चीयते' इति वचनात् अग्न्युत्तरवेद्योः समुच्चयो वक्ष्यते। (भाट्ट० १०।८।११)

सङ्कर्षे नानाप्रदानाधिकरणस्य (२।३।१५) 'अन्यार्थप्रदर्शनाच्च' इति गुणसूत्रं भाष्यकारेण भवस्वामिना इत्थं व्याख्यातम्—"याज्यानुवाक्याविनियोगपरं वचनं प्रधानभेदं प्रकाशयति। 'प्रथमामनूच्य मध्यमया यजेत्, मध्यमामनूच्योत्तमया यजेत् उत्तमामनूच्य प्रथमया यजेत्' एवं सर्वा अनुवाक्याः सर्वा याज्याश्च भवन्ति" इति परिमलः। (३।३।२८।४३ ब्र. सू., पृ. ८३९, ब्र. सू. शां. भा. नि. सा. प्रेस,सन् १९१७)

ब्रह्मणो निर्गुणत्वविचारप्रसङ्गे सङ्कर्षसूत्रम् 'अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्वविपर्ययाभ्याम्' इति अत्यन्तासदुपास्तिनिषेधपरम्। (अद्वैत० २।३, पृ० ८९१, षड्दर्शन प्रकाशन सन् १९७७)

"न च 'एकविंशतिमनुब्रूयात्' इत्यादौ सङ्ख्येयालाभात् न सङ्ख्याविशिष्टानुवचनान्तरविधिसम्भवः इति वाच्यम्। 'प्रकृतित इत्याश्मरथ्यः' इति सङ्कर्षचतुर्थद्वितीयपादाधिकरणन्यायेन अनुवचनत्वसामान्यात् नित्यसामिधेन्यनुवचनप्रकृतित्वस्य सत्त्वात्"। (कुतूह० ३।१।११।२२, पृ० ३२९; ला० बहा० शा० सं० विद्यापीठ, दिल्ली)

"सङ्कर्षकाण्डे द्वितीयस्य चतुर्थे—'अदेवतासंयोगेन………' इति सिद्धान्तितम्। 'उपदेशो वा याज्या शब्दो हि नाकस्मात्' (३।२।५।१२ जै०) इति तु कृत्वाचिन्ता इत्युक्तं तद्भाष्ये देवस्वामिभिः"। (कुतूह० ३।२।५।१३, पृ० ३५३)

संकर्षकाण्ड के विषयों का प्रतिपादन करने वाला कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हाँ, भास्करमिश्र-रचित भाट्टचन्द्रिका नामक एक निबन्ध अवश्य उपलब्ध है, जिसमें प्रत्येक अधिकरण पर आद्यसूत्र के दो-तीन अक्षरों का प्रतीक लेकर डरते-डरते से बहुत ही शीघ्रता में कहीं-कहीं और कुछ-कुछ भाष्य को प्रमाण रूप में देते हुए अधिकरणों का प्रदर्शन कराया गया है, उसके अवयवों को नहीं; और न ही किसी निश्चित न्याय को ही दिखलाया है। इसमें आलेखन[1]-आश्मरथ्य[2]-

१. आलेखन आचार्य का आश्वलायनश्रौतसूत्र (६।१०) पर उल्लेख उपलब्ध होता है।

२. आश्मरथ्य—अश्मरथ्य का वंशज है, इसका नाम सूत्रग्रन्थों में मतभेद प्रदर्शन के समय में आता है (आश्वालायनश्रौतसूत्र ६।१०)। 'अभिव्यक्तेरि'त्याश्मरथ्यः

कार्ष्णाजिनि[1] आदि प्राचीन आचार्यों तथा याज्ञिकों का उल्लेख उपलब्ध होता है[2]। संकर्षकाण्ड की भाट्टचन्द्रिका में जहाँ कहीं भाष्य का निरसन किया गया है, वह देवस्वामी-कृत भाष्य का ही है।

इससे अधिक संकर्षकाण्ड के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रपञ्चहृदय के अनुसार केवल अध्यायार्थ का ही अनुसंधान हम कर पाये हैं[3]। श्रीवेंकटनाथ के पुत्र वरदाचार्य ने भी अपनी अधिकरणसारावलि के व्याख्यानरूप अधिकरणचिन्तामणि में देवताकाण्ड के चारों अध्यायों के विषयों का एक पद्य में निर्देश किया है[4]। संकर्षकाण्ड का इतना ही परिचय अभी तक मिल सका है।

मीमांसादर्शन की सर्वव्यापकता

सभी शास्त्रकारों ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए मीमांसादर्शन का आश्रय लिया है, इस तथ्य की प्रतीति तत्तच्छास्त्रों के परिशीलन से होती है।

(ब्रह्मसूत्र १।२।२९)। 'प्रतिज्ञासिद्धेलिङ्गमाश्मरथ्यः (ब्र० सू० १।४।२०)। इस प्रकार वेदान्तदर्शन में उसका उल्लेख उपलब्ध होता है।

१. कार्ष्णाजिनि—जैमिनिसूत्र ४।३।१७ तथा ६।७।३५ पर और ब्र० सू० ३।१।९ एवं का० श्रौ० सू० १।६।२३ पर इनका उल्लेख मिलता है। इनके नाम पर एक स्मृति भी उपलब्ध है। पैठीनसि, हेमाद्रि, माधवाचार्य आदि ग्रंथकार उसकी स्मृति का उल्लेख करते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६५), अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका और श्राद्ध-विषयक अन्य ग्रन्थों में भी उसका उल्लेख है।

२. सङ्कर्षकाण्डीयभाट्टचन्द्रिकायाम्—"तत्र सामिधेनीप्रकरणे—'त्रींस्तृचाननुब्रूयात् राजन्यस्य' इति श्रुतम्। ते च तृचाः गायत्रजागतानुष्टुभा उपादेयाः। वैश्यस्य गायत्रत्रैष्टुभानुष्टुभा भवन्ति। 'ता वै गायत्र्यो भवन्ति' इति प्राकृतविधेः नैमित्तिकेन विकारेण बाधः—इत्यालेखनो मन्यते। आश्मरथ्यस्तु—'अष्टावेतानि हवींषि भवन्ति, अष्टाक्षरा गायत्री' इत्यादिवत् अर्थवादमात्रेण छन्दोविशेषपरत्वेन नियमनस्य प्राकृतबाधस्य चायुक्तत्वात् पुनर्विधेः प्रकृतिप्राप्तं तृचान्तरपरिसङ्ख्यार्थत्वेन सार्थक्यात् गायत्रा एव प्राकृतास्तृचा ग्राह्या इत्याह"। (संकर्ष ४।२।१) वाजपेये प्राजापत्यानामुत्सर्ग उक्तः। तत्र 'यूपादुन्मोचनमेव उत्सर्गपदार्थः' इति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। (सङ्कर्ष १।१।४) 'लोकम्पृणया उपधाय सूददोहसा अभिमर्शनं कर्तव्यम्'। याज्ञिकास्तु-उभयोरेकमन्त्रत्वमिच्छन्ति। (सङ्कर्ष २।१।४१)

३. 'तथा देवताकाण्डस्य प्रथमाध्याये सर्वेषां मन्त्रविशेषाणां देवतात्वप्रदर्शने तात्पर्यमिति प्रदर्शितम्। द्वितीयेऽध्याये विध्यर्थवादनामधेयानां मन्त्रदेवताविषयत्वम्। तृतीयाध्याये देवतात्वं स्वेच्छाविग्रहवत्त्वादिगुणगणालङ्कृतम्। चतुर्थाध्याये देवता, फलं, सत्कर्मणाम् अपवर्गाधिकारिणः तादात्म्यलक्षणापवर्गफलमिति'। (प्रपञ्चहृदय)

४. स्वरूपमादौ तद्भेदस्तदुपासनपूर्वकम्।
फलं च देवताकाण्डे देवतानान्तु कथ्यते'॥ (अधिकरणचिन्तामणि)

यद्यपि उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा की शैली में अन्तर लक्षित नहीं होता, तथापि यह दिखलाई देता है कि उत्तरमीमांसा के न्यायों का अन्यान्य शास्त्रों में वैसा उपयोग नहीं किया गया है, जैसा कि पूर्वमीमांसा के न्यायों का किया गया है।

पूर्वमीमांसा के न्यायों का उपयोग व्याकरणादि शास्त्रों में तो किया ही गया है, विशेषतः उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में और धर्मशास्त्रकारों ने धर्मस्वरूप का निर्णय करने में तथा व्यवहारशास्त्र में भी उपयोग किया है। जो वकील वाद-विवाद के समय मीमांसान्यायों का सन्निवेश करते हुए वाद करते हैं, उनकी विजय निश्चित हुआ करती है। क्योंकि मीमांसान्याय की रज्जु से अपने परिपन्थी प्रतिद्वन्द्वी को इस प्रकार जकड़ देते हैं कि वह जाल में फँसे मूषिक (चूहे) के समान घबरा जाता है।

यह अनुभव आधुनिक ही नहीं, बल्कि कुमारिलभट्टपाद से चला आ रहा है, जिसे उन्होंने अपने श्लोकवार्तिक में स्पष्टतया घोषित किया है[१]। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अपने वाग्जाल से प्रतिपक्षी की बुद्धि पर मोह का आवरण छा देना या उसका मुखमुद्रण करना। क्योंकि सभी शास्त्रकारों के वस्तुतत्त्व का निर्णय कर पाना ही विचार का प्रयोजन (फल) बतलाया है। वाद-विवाद में पक्षी-प्रतिपक्षी में से यदि कोई मीमांसा से परिचित न हुआ तो वह मीमांसा के न्यायों को समझ नहीं पाता, तब उसे अगत्या पराजय स्वीकार करनी पड़ती है।

इसके अतिरिक्त वेदों का वास्तविक अर्थ समझ पाने में मीमांसादर्शन का ही उपयोग किया जाता है। जैसे—वैदिक वाक्यों में कौन-से वाक्य विधायक हैं? कौन-से अर्थवाद-वाक्य हैं? किन वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य है? किन वाक्यों का अन्यत्र तात्पर्य है? कहाँ वास्तव में निषेध है? कहाँ निषेध का आभास हो रहा है? कहाँ कौन-सी विधि है? कहाँ विधि का आभास हो रहा है? इन सबका ज्ञान मीमांसा-दर्शन को जाने बिना नहीं हो सकता। रत्नपरीक्षक (जौहरी) ही काँच की मणि और रत्न में चमक-दमक की समानता रहने पर भी उलझन में नहीं पड़ता और तत्काल ही रत्न को परख लेता है। ठीक वैसे ही स्तुति-निन्दात्मक वाक्यों में विभक्ति-प्रत्ययों की तुल्यता रहने पर भी उनकी स्वार्थ-परार्थपरता को, हेतु या विधि के आभासों को मीमांसक ही पहिचान पाता है, अन्य नहीं। वैदिक मार्ग पर उसकी वाणी अकुण्ठित गति से विचरण करती रहती है। उसकी बुद्धि अप्रतिहतगति से अन्यान्य शास्त्रीय विषयों का भी विचार कर पाती है। उसके दिये हुए निर्णय अकाट्य होते हैं। वे निर्णय शास्त्रोक्त मार्ग से किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हो पाते। श्रौत (वैदिक) या स्मार्त वचनों को अन्यथा समझने में या श्रौत-स्मार्त कर्मों का अन्यथा अनुष्ठान करने में महान् दोष होता है, जिसे भाष्य-वार्तिक आदि ग्रन्थों में बतलाया है[२]।

---

१. 'मीमांसका हि वाक्यार्थविचारे प्रस्तुते सति।
लोकदृष्टीः प्रतिघ्नन्ति वचनव्यक्तिपांसुभिः'॥ (श्लो० वा०)

२. 'केचिदन्यं धर्ममाहुः केचिदन्यम्। तत्र अविचार्य प्रवर्तमानः यं कञ्चिदुपाद-दानो निःश्रेयसात् विहन्येत, अनर्थञ्च गच्छेत्'। (शाब० भा०)

अन्य विषयों में भी अतिदिष्ट विषयों के अनुरोध से अर्थ-निर्णय कर पाने में मीमांसक ही समर्थ (क्षम) हो सकता है। इस प्रकार धर्ममार्ग की रक्षा के साथ ही लोकमर्यादा का संरक्षण, उसका दृढ़ीकरण, देवता-सन्तर्पण आदि अनेकत्र मीमांसादर्शन का उपयोग होने से उसकी सर्वव्यापकता स्वतः सिद्ध है।

कुछ लोगों का कहना है कि वैदिक वाक्यों के अर्थ-निर्णयार्थ प्रयुक्त हुए मीमांसाशास्त्र को स्मृतिवाक्यों के अर्थनिर्णय में प्रयुक्त करना उचित नहीं है।

किन्तु उक्त कथन अविचारमूलक प्रतीत हो रहा है, क्योंकि निर्णयसिन्धु, वीरमित्रोदय, व्यवहारमयूख, दत्तकमीमांसा, हेमाद्रि, मिताक्षरा प्रभृति निबन्धों में तथा मनु, याज्ञवल्क्य, पराशरादि महर्षियों के द्वारा प्रणीत स्मृतियों में मीमांसाशास्त्र के अनेकविध न्यायों का अनुसन्धान करके ही श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्मतत्त्व का निर्णय किया गया है।

उदाहरणार्थ—कर्म के दो प्रकार बतलाये गये हैं—एक प्रकृतिरूप कर्म और दूसरा विकृतिरूप कर्म। इस दृष्टि से सभी व्रतों में 'एकादशी व्रत', सभी श्राद्धों में 'पार्वण-श्राद्ध', सभी सोमयागों में 'ज्योतिष्टोम', सभी इष्टियों में 'दर्शपूर्णमास', सभी महादानों में 'तुलादान', सभी स्नानों में 'नित्यस्नान', सभी पूजाओं में 'नित्यपूजा' को 'प्रकृति'[1] कहा जाता है। क्योंकि वहाँ पर उनके सम्पूर्ण अंगों को बतलाया गया है। शेष कर्म 'विकृतिकर्म' कहलाते हैं। इन विकृति कर्मों में अपनी-अपनी 'प्रकृति' से 'अंगों' का अतिदेश[2] (आक्षेप) हो जाता है, यह मीमांसा का सिद्धान्त है। इसी को ध्यान में रखकर महाभाष्यकार ने तथा शब्दकौस्तुभकार ने 'ऊह' को भी व्याकरण का एक प्रयोजन माना है[3]।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'विकृतिकर्मों' में 'प्रकृतिकर्मों' से अतिदेश के द्वारा अंगों की प्राप्ति होने पर दोनों में (एकादशीव्रत तथा अन्य व्रतों में) भेद ही क्या रहा?

इस प्रश्न का समाधान मीमांसाशास्त्र इस प्रकार से करता है कि दोनों कर्मों के 'काल' और 'देवता' भिन्न-भिन्न होने से दोनों व्रतों में भेद है। मीमांसा का सिद्धान्त है कि शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण, प्रकरणान्तर—ये छह 'कर्म-भेदक' प्रमाण होते हैं।

तथा—'मीमांसायां त्विहाऽज्ञाते दुर्ज्ञाते वाऽविवेकतः।
न्यायमार्गे महान् दोष इति यत्नोपचर्यताम्'॥
तथा—'आर्षं धर्मोपदेशं च वेद-शास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'॥

१. 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः'। (मीमां० न्या० प्रका० पृ० १३१, पूना संस्क०)

२. 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' (मीमां० न्या० प्रका० पृ० १३१, पूना संस्क०)

३. प्रकृत्यूह, लिङ्ग का ऊह, प्रत्यय का ऊह। (पस्पशाह्निक)

सर्वत्र व्रत, उपवास आदि साधारण शब्दों का श्रवण होने से 'श्रुति' के द्वारा ही सभी व्रतों में अंगों का विनियोग हो सकता है, तब उसके लिए 'अतिदेश कल्पना' करने की आवश्यकता क्यों ?

इसके उत्तर में मीमांसाशास्त्र कहता है कि साधारणतया श्रुत 'व्रत-उपवास' आदि शब्दों का तात्पर्य सर्वत्र 'एकादशी व्रत' में ही है, क्योंकि 'अधिकार' संज्ञक प्रकरण वहाँ तात्पर्यग्राहक माना जाता है, उसी से किसका किसमें तात्पर्य है—यह समझा जाता है[1]।

(१) मीमांसा का अन्यान्य दर्शनों से सम्बन्ध

पहले बतला चुके हैं कि वेद-वाक्यों के वास्तविक अभिप्राय को समझाना ही मीमांसा का प्रधान उद्देश्य है। वेदवाक्यों के तात्पर्य-निश्चय कराने के निमित्त जैमिनि एवं उसके अनुयायियों ने ऐसे-ऐसे नियमों का आविर्भाव किया है कि अन्य ग्रन्थों के वाक्यों की व्याख्या में भी उनसे बड़ी सहायता मिलने लगी। धीरे-धीरे इन नियमों का इतना प्रचार हुआ कि व्याकरण, न्याय, साहित्य, वेदान्त आदि सभी शास्त्रों में यहाँ तक कि संस्कृत के प्रत्येक विभाग में जब किसी वाक्य के अर्थ में सन्देह होता है तो इन नियमों की शरण लेनी पड़ती है। विशेषकर धर्मशास्त्र अर्थात् हिन्दू-कानून में तो पग-पग पर इन नियमों की आवश्यकता होती है। अन्यान्य शास्त्रों में इसका उपयोग कैसे किया गया है, यह कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

व्याकरण में मीमांसा का उपयोग—(१) महाभाष्यकार पतंजलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन की चर्चा करते हुए 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' कहा है और 'ऊह' का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'। यहाँ 'अग्नये' के स्थान पर सौर्ययाग में 'सूर्याय' का प्रयोग करना चाहिए। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' नियम को कैयटादि (टीकाकार) ने सहकारी बतलाया है। (म० भा० प्रदीप १।१।१, पृ० १०, राजराजेश्वरी प्रेस, काशी मुद्रित संस्करण, वि० सं० १९०६)

(२) नवाह्निक महाभाष्य में ही दूसरा उदाहरण मीमांसा में वर्णित 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' परिसंख्या को नियम शब्द से भाष्यकार ने लाक्षणिक व्यवहार किया है (म० भा० पृ० २५)। भाव यह है कि जैसे नियम का इतरव्यावृत्ति फल है, वैसे ही परिसंख्या में भी है। अतः फलसाम्य से सादृश्यमूलिका लक्षणा महाभाष्यकार ने मानी है। तदनुयायी श्रीनागेशभट्ट ने भी लघुशब्देन्दुशेखर (पृ० ३८० चौ० सं०) में 'नलोपः सुप्स्वर' को नियम-विधि कहते हुए 'पञ्च पञ्चनखा' इस महाभाष्योक्त सिद्धान्त का अवलंबन किया है। अर्थात् निषेधमुखेन नियमविधि

---

१. 'प्रकरणं द्विविधम्—एकमधिकाराख्यम्, अपरमाकाङ्क्षाख्यम्। तत्रान्त्यस्य कथम्भावाकाङ्क्षारूपस्य अङ्गताग्राहकत्वम्, आद्यस्य तात्पर्यमात्रग्राहकत्वमिति सिद्धान्तः'। (ह० लि० मीमांसारत्नप्रकाश)

को स्वीकृत किया है। इस स्थल पर भी मीमांसा की परिसंख्या-विधि को ध्यान में रखकर ही सब चर्चा की गई है।

भूषणसार में कौण्डभट्ट ने धात्वर्थनिर्णय की अन्तिम कारिका की व्याख्या में कहा है कि मीमांसक-सम्मत आख्यातार्थ भावना को वैयाकरणों ने धातुवाच्या माना है। इसपर 'नानृतं वदेत्' यह निषेध प्रकृत्यर्थ होने से गुणीभूत भावना का उपकारक नहीं हो सकता, ऐसा आक्षेप मीमांसकों के द्वारा किये जाने पर भूषणकार ने समाधान दिया कि (श्रुत्या) 'अस्तु वा क्रतुयुक्तपुरुषधर्मः' इत्यादि वाक्यों से श्रुति-प्रमाण के बल पर कर्ता (क्रतुयुक्त पुरुष) का उपकारक होते हुए भी याग में वैगुण्य नहीं होगा। इस प्रसंग में दर्पणादि टीकाकारों ने 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण' इस मीमांसा-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए भूषण ग्रन्थ की व्याख्या की है।

(३) 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम्' इस सूत्र पर पाणिनि ने जाति को प्रातिपदिक का प्रधान अर्थ मानते हुए मीमांसा-सिद्धान्त का पूर्ण आदर किया है। क्योंकि 'ब्राह्मणः पूज्यः, ब्राह्मणाः पूज्याः' इस उदाहरण में ब्राह्मणजाति मात्र की पूजा का विधान बतलाते हुए 'जातिः पदार्थः' इस सिद्धान्त को पूर्णरूप से अपनाया है। 'एकं द्विकं त्रिकं चार्थः चतुष्कं पञ्चकं तथा। नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः'॥ इस कारिका के व्याख्यान के प्रसंग में भूषणकार ने 'एकं नामार्थः' उपक्रम कर जाति को नामार्थ बतलाते हुए मीमांसा-सिद्धान्त का आश्रय लिया है। (भूषण, कारि० २१, दर्पण पृ० १२५-२६-३० चौ० सं० १९२४)

(४) 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' इस पर स्वयं भाष्यकार ने धर्मनियम शब्द के अनेक व्याख्यान किये; उनमें 'धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः' इस व्याख्यान पर 'लिङादिविषयेण नियोगाख्येन धर्मेण प्रयुक्त इत्यर्थः' ऐसा प्रदीपकार ने कहा है। उस पर नागेश ने उद्योत टीका में—'प्रभाकराङ्गीकृत-मतेन इदमि'त्यादि लिखते हुए नियोग की उत्तम व्याख्या की है। लिङादि का वाच्यार्थ 'अपूर्व' रूप कार्य है, वही अपने में पुरुष को प्रेरित करता हुआ 'नियोग' कहलाता है (म० भा० १।१।१, पृ० ३४-३५ प्रदीप-उद्योत)। व्याकरण के ग्रन्थों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि मीमांसा के कितने ही न्यायों का अनुसन्धान अपने विषयों को स्पष्ट करने के निमित्त वैयाकरणों ने किया है।

वेदान्त में मीमांसा का उपयोग—वेदान्त में भी मीमांसा-न्यायों का उपयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। वेदान्त में जहाँ पर नरक-यातनाओं के अस्तित्व में तथा आरूढपतित का बहिष्कार करने में पौरुषेय स्मृतियों को एवं आचारों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है, वहाँ वेदमूलक होने से ही उनका प्रामाण्य माना गया है। इस रीति से उन स्मृतियों के द्वारा वेद का अनुमान किया जाता है। जैसा कि मीमांसा का सिद्धान्त है।

मीमांसा के भेदाध्याय में बतलाये गये कर्मभेदक 'शब्दान्तर' (२।२।१-२४ सू०) आदि प्रमाणों को ही वेदान्त के गुणोपसंहारपाद (ब्र० सू० ३।३) में लिया गया है।

मीमांसा के तृतीयाध्याय में बतलाये गये अंगताबोधक श्रुति-लिंगादि छह प्रमाण (३।३।१४ सू०) और उनके प्राबल्य तथा दौर्बल्य का वेदान्त के समन्वयाध्याय (ब्र० सू० प्र० अ०) में उपयोग किया गया है।

यागादि के द्वारा आराधित ईश्वर फलदाता है या अनुष्ठित कर्म ही फलदाता है—यह विचार वेदान्त में किया गया है (ब्र० सू० ३।२।३८ सू०), परन्तु यह विचार और अन्त में किया गया निर्णय (ब्र० सू० ३।२।४१) दोनों पूर्वमीमांसा के चतुर्थाध्याय में प्रतिपादित प्रयुक्ति विचार के बिना नहीं हो सकते। इसलिए मीमांसा के प्रयोज्य-प्रयोजकभाव का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

पाँचवें अध्याय में किये गये क्रम-निरूपण का वेदान्त के अविरोधाध्यायगत (ब्र० सू० अध्याय २) भूतभौतिकसृष्टिक्रमसम्बन्धित (ब्र० सू० २।२।११ सू०) विचार में उपयोग होता है।

अधिकाराध्याय (मी० सू० ६ अध्याय) में बतलाये हुए अधिकारि-विशेषणों का वेदान्त के 'देवताधिकरण' (ब्र० सू० १।३।८) में उपयोग होता है।

प्रत्यक्ष और आगम (शब्द) के प्राबल्य-दौर्बल्य के विचार में 'अपच्छेदन्याय' (६।५।१७ अधि०) का उपयोग तो प्रसिद्ध ही है। कहाँ तक कहा जाय, शांकर-वेदान्तियों का 'व्यवहारे भाट्टनयः' यह कथन ही मीमांसा की उपयोगिता को स्पष्टतया बतला रहा है।

सांख्य में मीमांसा का उपयोग—सांख्य ने भी मीमांसा के ही पदचिह्नों का अनुसरण किया है। मीमांसा ने जिस तरह अपने यहाँ प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और अनुभय के भेद से याग-विभाजन किया है[1], ठीक इसी तरह सांख्य ने भी अपने यहाँ प्रकृति, विकृति, उभयाकृति और अनुभयाकृति के रूप में पदार्थों का विभाजन किया है[2]। दुःख की पूर्ण रूप से निवृत्ति करने के लिए जहाँ विवेकज्ञान उपाय रूप में बतलाया गया है,[3] वहाँ मीमांसक लोग उपाय रूप में वैदिक उपायों को सामने रखते है[4]। किन्तु सांख्य उन वैदिक उपायों को लौकिक उपायों के समकक्ष ही बतलाता है। वहाँ उनकी समकक्षता में अविशुद्धि आदि हेतु दिये गये

---

१. (क) प्रकृतियाग—दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम।
   (ख) विकृतियाग—सौर्य।
   (ग) प्रकृति-विकृति—अग्नीषोमीय पशुयाग।
   (घ) अनुभय—दर्वीहोम।

२. सां० का० ३।

३. सां० का० १।

४. 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (मै० सं० १।८।६)
   'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (श० प० ब्रा० १।६।४)
   'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' (तै० ब्रा० २।१।५)

हैं[1]। वहाँ पर वाचस्पति मिश्र ने दो वाक्यों में 'सामान्य-विशेषभाव' की चर्चा कर मीमांसा-पद्धति से ही विचार किया है और वैदिक कर्मकलापों को लौकिक उपायों के ही समकक्ष सिद्ध कर दिया है[2]।

योग में मीमांसा का उपयोग—'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २।५०) इस छोटे से वाक्य में ही गंभीर अर्थ भर दिया गया है। कर्म की कुशलता मीमांसाज्ञान पर निर्भर है। योग में इससे अधिक मीमांसा का उपयोग बतलाने की आवश्यकता नहीं।

चार्वाकदर्शन में मीमांसा का उपयोग—एकमात्र 'प्रत्यक्षप्रमाण' को माननेवाला चार्वाक मीमांसकों के 'प्रत्यक्ष सूत्र' को उपस्थित कर खण्डन करता है। नैयायिकों द्वारा आत्माऽस्तित्व के हेतु उपस्थापित किये गये 'अनुमान' को असम्भव दिखला कर चार्वाक 'आत्मा' को मानने से इन्कार करता है। किन्तु इस प्रसंग में अपने समर्थन में मीमांसा का सहारा लेता है, इत्यादि उनके सिद्धान्तों को और युक्तियों को जानने के लिए मीमांसा की आवश्यकता किस प्रकार होती है; यह तत्त्वोपप्लवसिंह के देखने से स्पष्ट हो जाती है।

बौद्धदर्शन में मीमांसा का उपयोग—धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक तथा न्यायबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय और दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में शाबरभाष्य का खण्डन किया गया है। इन ग्रन्थों के देखने से लगता है कि मीमांसकों पर रुष्ट होने से ही मानो ये ग्रन्थ लिखे गये हों। अतः बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययनार्थ मीमांसा ग्रन्थों का अध्ययन करना परम आवश्यक हो जाता है।

लौकिक विषयों में मीमांसा का उपयोग—मीमांसा का घनिष्ट सम्बन्ध केवल शास्त्रीय विषयों से ही नहीं बल्कि लौकिक विषयों से भी है। कारण यह है कि यह 'वाक्यशास्त्र' है। बिना वाक्य के कोई भी विषय—चाहे वह शास्त्रीय हो या लौकिक हो—नहीं बतलाया जा सकता। और किसी भी विषय को वाक्य तभी ठीक-ठीक बतला पाता है, जब वह दोषरहित हो अर्थात् निर्दुष्ट हो। इसलिए कतिपय दोषों का भी परिचय दिया जारहा है।

वाक्यस्थ दोषों का परिचय—१. विरुद्धत्रिकद्वय दोष—'देवदर्शनाय रथेन गच्छेत्' यहाँ मीमांसा की पद्धति के अनुसार 'देवदर्शन भावना' में 'गमन' का साधनरूप से सम्बन्ध होगा, तब 'गमनेन देवदर्शनं भावयेत्' यह प्रतीति होगी। और 'रथकरणक भावना' में उसी का साध्यरूप से सम्बन्ध होगा, तब 'रथेन गमनं भावयेत्' यह प्रतीति होगी। दोनों प्रकार की प्रतीति के अनुसार 'गमन' का साधन और साध्यरूप से भावना में सम्बन्ध करना आवश्यक है। एक ही वाक्य में शब्दतः भिन्न-भिन्न रूप से दो प्रकार के सम्बन्ध दिखलाने पर 'विरुद्धत्रिकद्वयसंज्ञक दोष' होता है, जिसे

---

१. सां० का० २।

२. सां० त० कौ० द्वितीय कारिका।

'विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति' कहते हैं। उपादेयत्व, विधेयत्व और गुणत्व —यह एक 'त्रिक' गमन में रहता है, जो क्रमशः देवदर्शन में रहनेवाले उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व और मुख्यत्व से निरूपित होता है। पश्चात् उसी 'गमन' में पूर्वत्रिक के विरुद्ध उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व, मुख्यत्व यह 'दूसरा त्रिक' जो क्रमशः रथ में स्थित उपादेयत्व, विधेयत्व और गुणत्व से निरूपित होता है।

इस दोष से बचने लिए यदि एक वाक्यार्थ में 'गमन' का 'साधन रूप' एक ही सम्बन्ध से भावना के साथ सम्बन्ध करते हैं और दूसरे वाक्यार्थ में साध्यरूप से, तो दो वाक्यार्थ हो जाते हैं, तब वाक्य-भेद नाम का दोष होता है।

इससे बचने के लिए एक ही वाक्यार्थ से देवदर्शन का अनुवाद कर 'रथकरणक-गमन' का विधान करें तो 'विशिष्टविधिरूप गौरव' नाम का दोष होता है; और साथ ही साथ रथ में गमन से निरूपित 'विधेयत्व' की प्रतीति शब्द से नहीं हो सकेगी। और 'शाब्दी प्रतीति' की दृष्टि से 'आर्थी प्रतीति' का होना जघन्य समझा गया है, क्योंकि इसमें अर्थ की प्रतीति स्फुट नहीं हो पाती।

वाक्य-भेद को दोष इसलिए माना जाता है, क्योंकि उसके होने पर वाक्यार्थ का ज्ञान अनायास नहीं हो पाता।

ग्राम्यत्वादि की दोष में गणना इसलिए की गई है कि उसका विषय उपहासास्पद रहता है।

निरर्थकता —इसलिए दोष है कि वहाँ अर्थ का कोई उपयोग नहीं हो पाता। इसी प्रकार अन्यान्य दोषों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। दोषों का ज्ञान होना उनके त्याग में उपयुक्त होता है। इसी प्रकार दोषों के परिहारार्थ न्यायों का अवलम्बन भी आवश्यक है। दोषों का परिहार होने पर ही न्याय अपने स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं।

दोष-निर्हरण की आवश्यकता—जिस प्रकार जीवित शरीर में 'जीवात्मा' और 'प्राण' दो मुख्य तत्त्व होते हैं, उसी प्रकार न्यायशरीर में भी 'युक्ति' और 'दोषनिर्हरण' ये दो मुख्य तत्त्व हैं। जिस प्रकार 'जीवात्मा' का अवलम्बन करके ही प्राणसंचार और 'प्राणसंचार' के होने पर 'जीवात्मा' कार्यकारी होता है, उसी प्रकार यहाँ भी युक्ति का अवलम्बन कर दोषनिर्हरण और दोषनिर्हरण के होने पर 'युक्ति' कृतकृत्य हो पाती है। सार यह है कि यावच्छक्य दोषहानि का प्रयत्न करना मीमांसा-पद्धति के लिए प्राणसंचार के समान है।

मीमांसा का सम्बन्ध केवल वेद से ही नहीं—मीमांसा के रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण जिन विद्वानों का यह कहना है कि 'मीमांसा' एक धर्मविचारक शास्त्र होने से और 'धर्म' वेदप्रतिपादित होने से यह पुरोहितों की विद्या है और इसका उपयोग तो केवल वेद में ही हो सकता है, वे विद्वान् स्मृतियों को उठाकर देखें; तो उन्हें अवश्य दिखलाई देगा कि उनमें भी मनु-याज्ञवल्क्यादि महर्षियों ने लोकव्यवहार के लिए

धर्म का प्रतिपादन किया है,[1] धर्म के विद्वान् जिसे स्मार्तधर्म कहते हैं। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में इस बात को स्पष्टतया बतलाया है।[2]

वेद से सम्बन्धित होने पर भी लौकिक से भी सम्बद्ध होना युक्तिसंगत है—दूसरी बात यह कि यदि 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से यह भी मान लिया जाय कि वेदवाक्यों को उद्देश्य करके ही जैमिनि ने इस मीमांसाशास्त्र का निर्माण किया, तो क्या 'घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं किं न हि पश्यति' न्याय से स्मार्तादि अन्य वाक्यों में क्या उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ? किसी अन्य के उद्देश्य से निर्मित वस्तु का अन्योपकारकत्व व्यवहार में प्रायः दिखलाई देता है। इसी बात को 'अनुदात्तङित०' सूत्र के भाष्य पर रोचक दृष्टान्त के द्वारा भाष्यकार ने बतलाया है।

क्या लौकिक प्रयोगों को उदाहरण के रूप में देकर उनकी सिद्धि के लिए बतलाये गये पाणिनि-सूत्र तथा कात्यायन के वार्तिक आदि का उपयोग अन्यत्र तदनुरूप प्रयोगों में नहीं किया जाता ?

अपने लिए बनाई हुई सुस्वादु खीर दूसरे के पास पहुँचने से अपनी मधुरता का त्याग नहीं करती या विषमय औषध मित्र के पास पहुँचने से अपनी विषता का त्याग कर अमृत नहीं बन जाता; इसी प्रकार कर्मकाण्ड सम्बन्धी वैदिक वाक्यों को लेकर प्रदर्शित किये गये गुण-दोष, अन्य वाक्यों में भी अपने गुण या दोष का त्याग नहीं करते।

मीमांसा के द्वारा किया गया गुण-दोष विवेचन वाक्यत्वमूलक है—इसलिए मीमांसाशास्त्र के द्वारा वेदवाक्यों में जो गुण-दोष का विवेचन किया गया है, वह केवल वाक्यत्वमूलक ही है वैदिकत्वमूलक नहीं; यह समझ लेना चाहिए। वह 'वाक्यत्व' श्रुतिवाक्यों की तरह स्मृति आदि के वाक्यों में भी समान है। तब क्या कारण है कि मीमांसाशास्त्र वैदिक वाक्यों के तुल्य लौकिक वाक्यों के अर्थों का निर्धारण न कर सके ?

मीमांसा में लोकसिद्ध अर्थों का प्रतिपादन—व्याकरण में जिस प्रकार अकारादि वर्ण-विशेषों के लिए गुण, वृद्धि आदि अपूर्व शब्दों का संकेत किया है और उनका उपयोग उसी शास्त्र में होता है, अन्यत्र नहीं। यह परिस्थिति मीमांसा में नहीं दिखलाई पड़ती। इसमें किन्हीं अपूर्व अर्थों की ओर संकेतित शब्दों का (न्यायों का) प्रयोग नहीं किया गया है, जिससे उनका उपयोग वहीं हो सके, अन्यत्र नहीं; यह कहा जाय। बल्कि जितनी भी बातें इस शास्त्र में बतलाई गई हैं, वे सब लोकसिद्ध (लौकिक) व्यावहारिक ही हैं, इसलिए किसी भी वाक्य-विशेष में या वाक्यान्तरों में मीमांसान्यायों की प्रवृत्ति अबाधित रूप से होती है। अतएव धर्मशास्त्रार्थनिर्णय मीमांसान्यायों के द्वारा समर्पित होने पर जैसे अप्रकम्प्य होते हैं, वैसे न्यायान्तरों से समर्पित होने पर भी नहीं हो पाते; यह विद्वानों से छिपा नहीं है।

---

१. मनुस्मृति १।१०७, ११७।
२. या० स्मृ० १।१ की मिताक्षरा।

इस विचार-विमर्श से प्राचीन दर्शनों के साथ मीमांसा का सम्बन्ध, स्पष्टतया ज्ञात हो ही जाता है तथा आधुनिक प्रसिद्धि-प्राप्त भाषा-विज्ञान, बालमनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है।

मीमांसा में भाषा का इस तरह पृथक्करण कर दिखलाया गया है कि वाक्यगत शब्दों में या पृथक्-पृथक् विधानों में एक-दूसरे के साथ होने वाले सम्बन्ध का ज्ञान अनायास हो सके।

इसी तरह आजकल की प्रचलित नित्य नवीन आविष्कृत होनेवाली शिक्षा-पद्धतियाँ भी मीमांसा की आंशिक पद्धतियों का ही आधुनिक युग की दृष्टि से एक परिष्कृत रूप है; नवीन कुछ नहीं।[1]

मीमांसा के द्वारा नियन्त्रित 'यज्ञ-परम्परा' आज के उदीयमान समाजवाद की तत्कालीन पवित्रता तथा परोपकार-प्रवणता की ओर संकेत कर रही है। विविध यज्ञादि को निमित्त बनाकर नीतिपूर्वक संगृहीत[2] धन का निःसंकोच भाव से तथा परहित में उदारता के साथ विनियोग करने की शिक्षा शिष्टता के साथ दे रही है।[3] इसी तरह भूमि के सम्बन्ध में मीमांसा का दिया हुआ उदार निर्णय भी तत्कालीन परिपुष्ट समाजवाद की ओर संकेत कर रहा है।[4]

(२) मीमांसा-पद्धति का आरम्भ और उसका विकास

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृति आदि ग्रन्थों में इस पद्धति का आरम्भ देखने को मिलता है। जैसे —'होतव्यमग्निहोत्रं न होतव्यमिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः'। 'यजुषा जुहुयात् अयथापूर्वमाहुतीर्जुहुयात्, नाग्निः पराभवति'। 'अभिवार्या' इति मीमांसन्ते (मै० सं०)। 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति प्राश्यां न प्राश्या-मिति', यत् प्राश्नीयात् जन्यमन्नमद्यात् यन्न प्राश्नीयात् अहविःस्यात्, पितृभ्य आवृश्च्येत अवघ्रेयमेव तन्नैव प्राशितं नैवाऽप्राशितमिति, 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' (तै० उप० प्र० २।८)। 'देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्' (के० उ० खं० २।१ मं०)। इसी प्रकार वैश्वानरविद्या के प्रसंग में 'मीमांसन्ते' इति (छां० उ०) अरुन्धती के सहचार से महर्षि के द्वारा भी इसका प्रयोग किया गया है —'अस्तमिते आदित्ये उदकं गृह्णीयात् इति ब्रह्मवादिनो मीमांसन्ते' इति। इस रीति से महर्षियों के कथा-प्रसङ्ग के द्वारा ज्ञात होता है कि यह मीमांसा-पद्धति उस समय ऋषियों में अवश्य प्रचलित रही होगी।

पश्चात् काल के कराल प्रभाव से कहिये या दैव के दुर्विपाक से; जब यह विचार-धारा शिथिल तथा मलिन होने लगी और वेदवाक्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में

---

१. 'अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, अध्ययनविधिवाद' (मीमांसादर्शन)।

२. 'लिप्साधिकरण' (मीमांसादर्शन ४।१।२)।

३. 'विश्वजिदधिकरण' (मीमांसादर्शन ६।७।१)।

४. मीमांसादर्शन ६।७।४।

कठिनाई होने लगी, तब जैमिनि ने कर्त्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने के लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से प्रारम्भ कर 'विद्यते वान्यकालत्वाद्यया याज्या सम्प्रैष:' तक सोलह अध्यायों में मीमांसा-पद्धति की विचारधारा को सूत्रों के रूप में ग्रथित किया। आज उपलब्ध मीमांसाशास्त्र की पद्धति का यहीं से आरम्भ माना जाता है, जिसके १२ अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के नाम से और अन्तिम ४ अध्याय 'संकर्षकाण्ड' या 'देवताकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्वादशलक्षणी-मीमांसादर्शन के सूत्रों की संख्या २७४५ है।

मीमांसादर्शन का उद्देश्य—धर्म (कर्त्तव्य) की व्याख्या करना ही मीमांसा का मुख्य लक्ष्य होने से इसमें उसी का विस्तृत विचार किया गया है। विचार की शैली में शृंखलाबद्ध क्रम अपनाया है। इस कारण विचारों का गठन बड़ा ही सुसंगत प्रतीत होता है।

मीमांसा के उद्देश्य पर शंका-समाधान—इस विचार-पद्धति का स्वरूप-परिचय होने के पूर्व प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जैमिनि ने मीमांसा के द्वारा धर्म (कर्तव्य) का ही विस्तृत विचार क्यों किया? समाधान यही होगा कि संसार में जन्म लेने का मुख्य फल आर्यदृष्टि से धर्माचरण (कर्तव्य-पालन) ही माना गया है।

मीमांसा के स्थूल परिचय के लिए अपेक्षित भूमिका—ऐसी परिस्थिति में फल के (प्रयोजन) ज्ञात हुए बिना धर्म (कर्तव्य) का अनुष्ठान होना असम्भव है, इसलिए फल (कर्तव्य) का निरूपण करना भी आवश्यक हुआ, किन्तु साधन (अंग) हीन धर्म से फल की उत्पत्ति होना असम्भव है, इसलिए साधन का विचार कर लेना भी आवश्यक हुआ, तदर्थ 'धर्म' के स्वरूप का भी विचार करना आवश्यक हुआ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विचार यदि प्रमाणरहित हो तो उससे किसी कार्य का होना असम्भव होगा, इसलिए **प्रमाण का परीक्षण** भी आवश्यक हुआ।

अत: धर्म के अनुष्ठान में हेतुभूत प्रमाण, स्वरूप, साधन और फल का संदेहरहित निर्णय कर लेना आवश्यक प्रतीत हुआ।

यह एक साधारण नियम है कि 'अंगी' (प्रधान) का अनुष्ठान करते समय उसके अंग का अनुष्ठान प्रधानोपकारक होता है, किन्तु कहीं-कहीं अंगी के अनुष्ठान करते समय तदर्थ अंगों के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अंगप्रयोजक (अंगानुष्ठापक) शक्ति उस अंगी में न होने से उस समय अंगानुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए अमुक अंगी 'अंग' का प्रयोजक (अनुष्ठापक) है और अमुक नहीं है—इसे भी अच्छी प्रकार ज्ञात करना होगा।

इस प्रकार प्रमाणों की सहायता से धर्म के स्वरूप तथा साधन का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर किसी फल-विशेष की इच्छा से धर्म का अनुष्ठान करने के लिए जब प्रवृत्त होते हैं, तब पहले क्या किया जाय, तदनन्तर क्या करना होगा? इस 'पौर्वापर्यरूप क्रम' के निश्चय की भी आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म के **प्रमाण, स्वरूप और फल—ये तीनों;** **इसी तरह साधन, तत्प्रयोजक तथा अप्रयोजक**

और प्रधानों का क्रम—ये तीनों धर्मानुष्ठान में आवश्यक होने से इनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

साधनों के सम्बन्ध में एक और भी विचार करना आवश्यक होता है कि फल के लिए किये जाने वाले वेदबोधित कर्मों (धर्मों) में से कुछ के समीप उनके समस्त अंगों का भी प्रतिपादन किया होता है और कुछ कर्मों के समीप नहीं। तब किसी फल-विशेष की कामना से उन कर्मों का अनुष्ठान करते समय किन अंगों का अनुष्ठान किया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर 'अन्यत्र कथित अंगों' का यहाँ पर भी प्रयोग करना पड़ता है, जिसको 'अतिदेश' कहते हैं।

सामान्यतया यह निर्णय हो जाने पर भी किस 'कर्म' में, किस 'कर्म' से अंगों को लिया जाय, यह विशेष जिज्ञासा अवशेष रहती है; इसके समाधानार्थ 'विशेष अतिदेश' की आवश्यकता होती है।

'कर्मान्तर' से स्वीकृत किये गये कतिपय अंगो का अनुष्ठान वैसे ही करना होता है, जैसे पूर्व 'प्रकृति' में किया जा चुका है और कुछ 'अंगों' का अनुष्ठान, जहाँ विकृति में वे अंग लाये गये हैं, वहाँ की (पदार्थों का स्वरूप भिन्न होने से) परिस्थिति को देखते हुए 'अन्य पद्धति' से करना पड़ता है। इस अन्यथाकरण को 'ऊह' कहते हैं। बिना 'ऊह ज्ञान' के कहाँ पर किस अंग का कैसे अन्यथाकरण करना है, समझ में नहीं आ सकता और बिना उसके 'यथाविधि अनुष्ठान' हो नहीं सकता।

जहाँ पर जो अंग न कहे गये हों, वहाँ 'उन अंगों' को दूसरे कर्मों से लेने की अपेक्षा होती है, तथापि अन्यत्र कथित सभी अंग उपयोग में नहीं लाये जाते। उतने ही अंग लाये जाते हैं, जिनसे अपेक्षित उपकार का वहाँ पर लाभ हो सकता हो। बचे अंगों को न लिया जाता है और न उनका अनुष्ठान ही किया जाता है। इसे 'बाध' कहते हैं।

'किस अंग का बाध किया जाय और किस का न किया जाय' इस विचार का भी अनुष्ठान में उपयोग होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान में लाये जाने वाले अंगो के सम्बन्ध में यह सब प्रमाण माने गये हैं। इसलिए जहाँ से ये अंग लिये जाते हैं और जहाँ लाये जाते हैं आदि विशेष बातों के अवधारणार्थ सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, ऊह और बाध—इन चारों को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता होती है।

कहीं-कहीं अभीप्सित फल के लिए 'एक ही कर्म' और कहीं 'अनेक कर्म' बतलाये गये हैं। एक ही फल को पैदा करने वाले अनेक कर्मों में प्रायः समानजातीय अंगों का विधान किया जाता है। अतः जब कोई व्यक्ति किसी फल की इच्छा से तत्साधन-भूत कर्मों को एक ही समय में करने का प्रयत्न करे, तब सन्देह होता है कि जितने 'प्रधान कर्मों' का अनुष्ठान होगा; उतनी बार उन समानजातीय 'अंगों' का भी अनुष्ठान होगा अथवा एक बार के अनुष्ठान से ही सभी 'प्रधान कर्मों' का उपकार हुआ समझा जायेगा ? इस सन्देह का निराकरण करने के लिए 'तन्त्र' बतलाया

गया है। अनेक प्रधान कर्मों के उपकारार्थ 'सजातीय अंगों' का सकृत् (एक बार) अनुष्ठान करना ही 'तन्त्र' शब्द से कहा जाता है। कहाँपर अंगों का 'सकृत् अनुष्ठान' करना और कहाँ पर 'आवृत्ति' करना है, यह समझना बड़ा कठिन है, इस कठिनाई को दूर करने के लिए 'तन्त्र' को जानना बहुत आवश्यक है।

जब कभी किसी फल की इच्छा से तत्साधनरूप प्रधान कर्म और तदुपकारक अंग के अनुष्ठान करते समय किसी निमित्तवश यदि 'कर्मान्तर' का अनुष्ठान करना पड़े और अपने उपकारार्थ उस प्रधान कर्म के अंग की वह अपेक्षा करे तो ऐसी स्थिति में प्रधानार्थ अनुष्ठित किये गये अंगों से ही इस कर्म का उपकार हुआ समझना चाहिए या इसके निमित्त उन्हीं अंगों का पृथक् रूप से अनुष्ठान करना होगा ? इस सन्देह को दूर करने के लिए 'प्रसंग' बतलाया गया है। अन्य के निमित्त अनुष्ठित किये गये पदार्थ को किसी दूसरे के प्रति भी उपकारक बना देना ही 'प्रसंग' शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार मीमांसा में १२ विषय बतलाये गये हैं।

मीमांसा के बारह अध्यायों का नामतः परिचय—बिना इनके समझे धर्म का अनुष्ठान ठीक-ठीक हो ही नहीं सकता। इस १२ अध्यायों की नींव पर ही धर्म के प्रासाद की रचना की गई है। अतः धर्मानुष्ठान के उपयोग में आने वाले न्यायों का निरूपण करने के लिए प्रथमाध्याय में धर्मबोधक प्रमाण, दूसरे अध्याय में परस्पर भेद दिखलाते हुए उसका (धर्म का) स्वरूप, तीसरे में उनका परस्पर अंगांगिभाव, चौथे में प्रयोज्यप्रयोजक भाव, पाँचवे में पौर्वापर्यरूप क्रम, छठे में फलभोक्तृत्वरूप अधिकार, सातवे में सामान्यातिदेश, आठवे में विशेषातिदेश, नवें में ऊह, दसवें में बाध, ग्यारहवें में तंत्र और बारहवें में प्रसंग कहा गया है।

इस रीति से एक-एक विषय के लिए एक-एक अध्याय की रचना कर द्वादशाध्याय रूप मीमांसा को प्रसारित करते हुए 'पूर्वषट्क' तथा 'उत्तरषट्क' के रूप में उसे विभाजित किया गया है। जैसे द्वादश अध्यायों की एकशास्त्रता में 'धर्मविचारात्मक' एक धर्म नियामक है, उसी तरह प्रकृत विभाजन में भी एक-एक 'षट्क' का कोई 'साधारण धर्म' अवश्य होना चाहिए। जैसे एक अर्थ बतलाने के लिए प्रवृत्त हुए अनेक पदों का एक वाक्य होता है, वैसे ही 'अनेक जब एकार्थपरक होते हैं तब एकत्व होता है'—इस नियम के अनुसार यहाँ भी 'पूर्वषट्क' का 'उपदेशविचारात्मकत्व' और 'उत्तरषट्क' का 'अतिदेशविचारात्मकत्व' रूप 'एक धर्म' का होना स्थिर किया गया है। पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—'उपदेशविचारे समाप्ते अधुना तदधीतसिद्धिरतिदेशविचारः प्रस्तोष्यते' इति। इस पर सोमनाथ लिखते हैं—'पूर्वषट्के उपदेशविचारं समाप्य इदानीम् उत्तरषट्के अतिदेशविचारो हेतु-हेतुमद्भावसङ्गत्या प्रस्तोष्यत' इत्यर्थः। 'इत्थं कुर्यात्' यह कथन उपदेशपूर्वक होने से 'तद्वत् कुर्यात्' इस कथनात्मक अतिदेश का तथा उन दोनों के विचारों का भी 'हेतु-हेतुमद्भाव' है। दो षट्कों का यह अर्थकथन 'प्राधिकाभिप्रायपरक' समझना चाहिए। इसलिए पूर्वषट्क के द्वारा उपदेश-अतिदेशसाधारण 'प्रमाणविचार' के करने में कोई

अनुपपत्ति नहीं है तथा उपदेशातिदेशसाधारण 'तंत्र' और 'प्रसंग' का विचार करना उत्तरषट्क में भी अनुपपन्न नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दो षट्कों के द्वारा मीमांसाशास्त्र का विभाजन करने में ठीक-ठीक (सम्यक्) नियामक कोई नहीं है। प्रथम 'प्रमाणाध्याय' को ही केवल 'उपदेशातिदेशसाधारणत्व' नहीं है, बल्कि परस्पर भेदपुरःसर धर्मस्वरूपप्रतिपादक द्वितीयाध्याय को भी है। अधिकार-सिद्धि के लिए फलबोधक षष्ठाध्याय भी वैसा ही है। इसलिए पूर्वषट्क में तृतीय, चतुर्थ और पंचम तीनों के ही 'अंग' बतलाये गये हैं, अतः उसे तद्विचारात्मकत्व है। एवं च 'पूर्वषट्क' उपदेशविचारात्मक है, इस कथन की उपपत्ति किसी तरह लगाई जा सकती है।

वस्तुतः 'उपदेश-विचार, अतिदेश-विचार और उभयसाधारण-विचार'—यह विभाग करना उचित प्रतीत होता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि यहाँ पर किसी विभाजक धर्म-विशेष के अनुरोध से विभाजन नहीं किया गया है। जैसे किसी वस्तु के दो अर्धविभाग करने पर 'पूर्वभाग' और 'उत्तरभाग' शब्दों से व्यवहार स्वभावतः ही किया जाता है, उसी तरह प्रकृत में भी 'अतिदेश' का उपक्रम उत्तर-भाग में करने से 'भावार्थपाद' (पू० मी० २।१), 'रथन्तरपाद' (पू० मी० २।३) की तरह इस भाग का 'अतिदेशविचार' शब्द से व्यवहार और 'पूर्वभाग' का 'उपदेश-विचार' या 'अतिदेशप्रतियोगी' शब्द से व्यवहार किया जाता है। अध्यायों की अभिन्नता में 'एकविषयपरत्व' और भिन्नता में 'भिन्न-विषयपरत्व' नियामक होता है।

अध्यायगत पाद-परिचय—इन अध्यायों में भी अनेक पाद हैं। एक-एक अध्याय में चार-चार पाद हैं, किन्तु तृतीय, षष्ठ और दशम अध्याय में आठ-आठ पाद हैं। पादों की अभिन्नता में समानविषयकत्व और भिन्नता में अन्यथात्व कारण होता है। सामान्यतः अध्यायघटक सभी पादों में तद्विषयकत्व होने से उनमें समानविषयकत्व सिद्ध हो जाता है और वे अभिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि विषयपूर्ति के लिए तत्तद् अध्याय के किसी विशेष भेद को लेकर पादों का प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न समझा जाता है। एक-एक पाद में अनेक अधिकरण होते हैं। अधिकरण की स्पष्ट रूप से कल्पना कराने का श्रेय १२ शतक के पार्थसारथि मिश्र को है। इनके पूर्व 'अधिकरण' का स्वरूप निर्माण कर किसी ने व्याख्या नहीं की थी। यह अधिकरण-कल्पना जैमिनि की सूत्रपद्धति का ही एक विकसित रूप है।

प्रत्येक अधिकरण के विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, निर्णय और संगति यह छह अवयव होते हैं।[1]

---

१. 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
निर्णयः सङ्गतिश्चेति शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्' ॥
तथा केचित्—
'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्' ॥

कुछ लोग विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, संगति—इन पाँच अवयवों को बतलाते हैं। सूत्रकार ने सभी अवयवों को नहीं बतलाया है। केवल प्रस्तावना मात्र कर दी है।

विचारोपयोगी अवयवों का सूत्रकार के द्वारा अनियमित उपयोग—सूत्रकार ने सूत्रों के द्वारा कई जगह विषय, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त बतलाये हैं। यहाँ पर प्रश्न यह हो सकता है कि सन्देह के बिना ही पूर्वपक्ष और सिद्धान्त को सूत्रकार ने कैसे बतलाया?

इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि पूर्वपक्ष और सिद्धान्त की युक्तियों के बतलाने में तत्तत्कोटिक संशय को बिना कहे भी वह बोधगम्य होता है। इसलिए संक्षेप पर ध्यान रखनेवाले सूत्रकार को उसके बतलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। प्रयोजन का भी निर्देश सूत्रकार ने कहीं-कहीं पर ही किया है। कितनी ही जगह केवल सिद्धान्तसूत्र ही दिखलाई देते हैं। ऐसी जगहों पर संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष आदि अवयवों का स्वतः अनुमान कर लिया जाता है। मीमांसक लोग प्रत्येक अधिकरण आदि की संगति की ओर विशेष सावधानी रखते हैं। ये संगतियाँ अनेक प्रकार की हैं—जैसे उपोद्घात-संगति, अपवाद-संगति, प्रसंग-संगति, अनुप्रसंग-संगति, पूर्वापरभाव-संगति, शास्त्र-संगति, अध्याय-संगति, पाद-संगति, आक्षेप-संगति, दृष्टान्त-संगति, प्रत्युदाहरण-संगति, षट्क-संगति,[1] पेटिका-संगति आदि।

द्वादश अध्यायों की सयुक्तिक शृंखला—'प्रमेय' की सिद्धि प्रमाण के अधीन हुआ करती है[2]—इस नियम के अनुसार प्रतिपाद्य-प्रतिपादन 'प्रमाण-निरूपण' के अधीन होने से उसके निरूपण के लिए प्रथम अध्याय की रचना की है। धर्मशास्त्रकारों के सिद्धान्त[3] से महर्षि जैमिनि भी पूर्ण सहमत प्रतीत हो रहे हैं। इसीलिए जैमिनि ने सम्पूर्ण प्रथमाध्याय के द्वारा 'धर्म' में उन्हीं का प्रामाण्य स्थापित किया है, फिर भी समूचे को एक-सा प्रामाण्य नहीं बतलाया है।

सूत्रकार-सम्मत वेद-विभाग—मन्त्र और ब्राह्मण के भेद से वेद के दो प्रकार हैं। उनमें विधि और अर्थवाद के भेद से ब्राह्मण के भी दो प्रकार हैं। इस विभाग को ध्यान में रखकर ही प्रथम विधि, अर्थवाद और मंत्रों को क्रमशः प्रमाण बतलाया गया है।

---

१. जैसे अध्याय के एकदेश को 'पाद' कहते हैं, उसी तरह 'पाद' के 'एकदेश' को अर्थात् एक ही विषय को लेकर प्रवृत्त हुए तीन, चार, पाँच या छह अधिकरणों के समूह को **'पेटिका'** कहते हैं। यथा—'तत्सिद्धिपेटिका' (पू० मी० १।४), 'भक्ष्य-पेटिका' (पू० मी० ३।२), 'अभ्युदितेष्टिपेटिका' (पू० मी० ६।५), 'अस्थियज्ञ-पेटिका' (पू० मी० १०।२)।

२. जै० न्या० मा० १।१।२, पृ० १४, आ० श्र० पूना सं०, १८९२।

३. मनु० २।६।

यहाँ पर यह सन्देह पैदा हो सकता है कि विधि, अर्थवाद और मन्त्रों के भेद से वेद का तीन प्रकार से विभाग करना था, तब वेद के दो ही विभाग क्यों किये गये ? जैमिनि के 'सूत्र' ही स्वतः इस प्रश्न के उत्तर में हैं[१]। मन्त्रों के तुल्य ही विध्यर्थ-वादोभयवृत्ति ब्राह्मणत्व का उपादान (ग्रहण) करने से सूत्रकार को पूर्वोक्त विभाग ही सम्मत प्रतीत होता है।

सूत्र-रचना के विविध रूप—विधि-प्रामाण्य के निरूपणपरक प्रथम पाद में आठ अधिकरण हैं। सूत्रकार जैमिनि प्रथम सूत्र[२] के द्वारा प्रथम अधिकरण में आगे किये जानेवाले विचार की प्रतिज्ञा करते हैं। तत्तद् ग्रन्थों में प्रयुक्त किये गये 'अथातः' पदों के देखने से उनकी आरम्भार्थकता ही सर्वत्र दिखलाई देती है। अतः यह कह सकते हैं कि ग्रन्थ के आरम्भ में 'अथ' और 'अतः' इन दो पदों के प्रयोग करने की परिपाटी प्राचीन काल में थी। किन्तु व्याख्याताओं[३] ने कुछ सोचकर 'अथ' की व्याख्या 'वेदाध्ययन के अनन्तर' और 'अतः' की व्याख्या 'अध्ययन कर चुकने के कारण' की है।

अभिप्राय यह है कि कहीं विचारप्रतिज्ञापरक ही सूत्र बनाये गये हैं तो कहीं लक्षण-परक सूत्रों की ही रचना की है, कहीं पद-विशेष की व्याख्यारूप सूत्रों की रचना है तो कहीं विभागपरक सूत्रों को दिखलाया गया है। इस प्रकार विविध रूपों में सूत्रों की रचना की गई दृष्टिगोचर होती है।

मीमांसा का सूत्र-क्रम एवं प्रथम अध्याय के पाद तथा अधिकरण की रचना का क्रम—द्वादशाध्यायी मीमांसा के उपोद्घात रूप प्रथम सूत्र के प्रथम अधिकरण में 'धर्म' ही विचारणीय विषय है। पश्चात् उसके लक्षण और स्वरूप के जानने की इच्छा जागृत होने पर द्वितीय सूत्र सामने आता है[४]। इस पर द्वितीय अधिकरण की रचना कर 'धर्म' की परिभाषा इस प्रकार बतलाई गई है कि जिसमें 'विधि' प्रमाण हो और जो 'श्रेयस्कर' हो वही धर्म है।

यहाँ पर यदि इस प्रकार अन्वय करें कि जो धर्म हो वह विधिप्रमाणक हो, तो चोदनालक्षणत्व अर्थात् विधिप्रमाणकत्व 'धर्म' का लक्षण होगा। इस रीति से जो विधिप्रमाणक हो वही धर्म है—यह प्रतीत होता है। और यदि जो चोदनालक्षण है—वह धर्म है, तो धर्म का स्वरूप शब्द से ही बतला दिया जाता है। अर्थात् जो धर्म है, वह विधिप्रमाणक है। इस प्रकार शब्द और अर्थ के द्वारा धर्म का लक्षण और स्वरूप बतलाया गया है।

---

१. मी० सू० २।१।३२, २।१।३३।
२. मी० सू० १।१।१।
३ 'सम्भवन्नर्थो न परित्याज्यः'।
४. 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। (मी० सू० १।१।२)

इसके पश्चात् चोदना प्रामाण्य-विचार-प्रतिज्ञापरक[1]—एक सूत्र पर तृतीय अधिकरण की रचना की गई है।

धर्म में चोदना (प्रेरणा, विधि) प्रमाण है—यह कहने पर प्रश्न हो सकता है कि उसमें प्रत्यक्षादिकों को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता ? एक मात्र चोदना (विधिशब्द) को ही प्रमाण क्यों माना गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 'चोदनालक्षण' पदों से 'असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय के अनुसार 'चोदनैव लक्षणं यस्य' और 'चोदना लक्षणमेव यस्य' दोनों अर्थों को ज्ञात कराना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है। इसलिए चोदना (विधिशब्द) ही धर्म में प्रमाण है, अन्य नहीं—इस प्रतिज्ञात अर्थ को सिद्ध करने के लिए चतुर्थ अधिकरण की रचना की गई है, जिसमें इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को **प्रत्यक्ष** का लक्षण बतलाया गया है[2]। तब कालान्तर में होनेवाले फल के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होना असम्भव है। अतः तत्साधनभूत 'धर्म' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इस कारण 'प्रत्यक्ष' को धर्म में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस बात को साक्षात् सूत्र से बतलाकर प्रत्यक्षोपजीवी अनुमानादिकों का प्रामाण्य तो कथमपि नहीं हो सकता—यह समझाना ही सूत्रकार जैमिनि का अभिप्राय है।

इसके पश्चात् सूत्रकार के द्वारा अभिलषित सिद्धि की योजना के द्वारा द्वितीय सूत्र के 'चोदनालक्षणमेव' इस अभिप्रेत अंश को सिद्ध करना है। प्रामाण्य में बाधक या अप्रामाण्य के सम्पादक कारणों का निराकरण होने पर प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध हो जाता है।

व्यवहार में प्रायः देखने में आता है कि जो व्यक्ति भ्रान्ति, प्रमाद, अशक्ति या विप्रलिप्सा से शब्द-प्रयोग करता है उसका कथन अप्रमाण समझा जाता है, अन्य का नहीं।

अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा उपर्युक्त चार अवस्थाएँ शब्द की अप्रमाणता सिद्ध करने में कारण होती हैं। ये चारों अवस्थाएँ 'पुरुषदोष' कहलाती हैं। इस संसार में उत्पन्न हुए या होनेवाले मनुष्यों में कोई भी सर्वथा अभ्रान्त या अप्रमत्त सदैव नहीं रह सकता, इसलिए ये अवस्थाएँ 'पुरुषधर्म' कहलाती हैं। अतः **शब्दों के**

---

१. निमित्तसूत्रे तु प्रथमद्वितीयसूत्रमात्रालोचनया 'वेदो धर्ममूलम्' इत्यादिवदुपदेशशास्त्रताशङ्का माभूदिति परीक्षाशास्त्रमेवेदमिति ज्ञापयितुं परीक्षाप्रतिज्ञानम्। यद्यपि चोपरितनव्यापारादेव परीक्षाशास्त्रत्वं गम्यते, तथापि वक्ष्यमाणमेव श्रोतृबुद्धिसमाधानाय कीर्तितमि'ति। (पार्थसारथि, शास्त्रदीपिका पृ० १८, नि० सा० प्रे० मुंबई, १९१५)

२. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वं'—प्रत्यक्ष का लक्षण है। 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्'। (जै० सू० १।१।४)

अप्रामाण्य में भ्रान्ति आदि के द्वारा 'पुरुषसम्बन्ध' को ही निश्चित रूप से कारण माना जा सकता है । चोदनाओं (वेदवाक्यों) का **प्रामाण्य** सिद्ध करना हो तो उनसे 'पुरुष-सम्बन्ध को पृथक् रखना होगा । इसी बात को बतलाने के लिए अग्रिम अधिकरणों की रचना हुई है ।

शब्दों के साथ 'पुरुषसम्बन्ध' तीन प्रकार से सम्भव हो सकता है । जैसे—(१) कतिपय वर्णों को पाणिनि के द्वारा संकेत किये जाने के कारण वृद्धि,[१] गुण आदि शब्दों से कहा गया है, उस कारण 'पुरुषसम्बन्ध' की संभावना; (२) पदों के द्वारा पदार्थप्रतिपादन मात्र होने पर उनके परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ में वाक्य के संकेत द्वारा 'पुरुषसम्बन्ध' की संभावना तथा (३) कालिदास आदि महाकवियों की शब्द-सन्दर्भ-रचना द्वारा महाकाव्य आदि का निर्माण किया जाता है । उस कारण भी पुरुषसंबन्ध की संभावना की जा सकती है ।

इनमें से चोदनाओं (विधि) के साथ प्रथम प्रकार का 'पुरुष-सम्बन्ध' नहीं हो सकता है, यह बतलाने के लिए पंचम अधिकरण की प्रवृत्ति हुई है । इस अधिकरण में 'शब्द' और 'अर्थ' के 'प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव' सम्बन्ध की स्वतःसिद्धता एवं अनादिकालीनता को बतलाते हुए महर्षि जैमिनि ने इस अंश में पुरुष-सम्बन्ध की आवश्यकता का निरसन कर छठे अधिकरण में शब्द को नित्य सिद्ध किया है ।

चोदनाओं के साथ पूर्वोक्त द्वितीय प्रकार से प्रतीत होनेवाले 'पुरुषसम्बन्ध' का निवारण करने के लिए तथा वाक्य से वाक्यार्थ-ज्ञान होने के लिए पृथक् रूप से 'संकेत' की अपेक्षा नहीं हुआ करती, क्योंकि 'पदों' से पदार्थों का ज्ञान होने पर आकांक्षा आदि की सहायता से उनका 'परस्परसंसर्ग-विशेषरूप वाक्यार्थ' ज्ञात हो जाता है, इस बात को सप्तम अधिकरण में बतलाया गया है ।

वेद की पौरुषेयता—इस पाद का अन्तिम अधिकरण **अष्टम अधिकरण** है । इसमें तीसरे प्रकार के 'पुरुष-सम्बन्ध' का निषेध किया गया है । इस अधिकरण का सारांश इस प्रकार है—'माधम्–माधवीयम्' की तरह 'काठकम्' 'कालापकम्' आदि समस्याएँ (यौगिक संज्ञाएँ) पुरुष-सम्बन्ध को मानकर ही हो सकती हैं । 'पुरुष' और 'शब्दसन्दर्भ' दोनों में कर्तृत्व-सम्बन्ध के बिना अन्य किसी सम्बन्ध के न बन सकने से वेदों का 'पौरुषेयत्व' प्रतीत होता है । **दूसरा पूर्वपक्ष** यह है कि अनित्य[२] एवं आधुनिक पुरुषों, देशों तथा नदियों के वर्णन वेद में उपलब्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णित व्यक्तियों के पूर्व वेद की सत्ता नहीं थी ।

वेद की पौरुषेयता का निराकरण—इनमें से प्रथम तथा द्वितीय 'हेतु का' सूत्रकार

---

१. 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१), 'अदेङ् गुणः' (पा० सू० १।१।२) ।

२. 'वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' । (जै० सू० १।१।२७) 'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० सू० १।१।२८)

ने जहाँ निरसन किया है,[1] वहाँ का शाबरभाष्य[2] भी देखने योग्य है। इस प्रकार वेद की पौरुषेयता में हेतुरूप से सन्देह किये गये समाख्यान और अनित्यदर्शन की अन्यथासिद्धि को जैमिनि-प्रभृति वेदार्थ-चिन्तकों ने प्रतिपादित किया है।

अब जो तीसरा हेतु प्रदर्शित किया गया था कि बिना कर्ता के कोई रचना (शब्द-सन्दर्भ) हो नहीं सकती, इसलिए सामान्यतः कर्ता की सम्भावना कर उसी के अनुसार समाख्या आदि की उपपत्ति सम्भव हो सकने से वेद भी शब्दसंदर्भ रूप होने के कारण किसी-न-किसी कर्त्ता के द्वारा अवश्य ही रचे गये होंगे, इस रीति से वेदों की पौरुषेयता का निश्चय होता है।

जैमिनि ने इसका जो उत्तर दिया है,[3] उसकी व्याख्या करते हुए विद्वान् लोग लिखते हैं—वाक्यत्व (वाक्य) को हेतु बनाकर वेदों के पौरुषेयत्व का अनुमान[4] 'अपौरुषेय पक्ष' का बाधक न हो सकने से खण्डित हो जाता है। अतः वेदवाक्यों को अपौरुषेय मानने में कोई हानि नहीं है।

बिना कर्त्ता के रचना कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार

---

१. 'आख्याः प्रवचनात्' (जै० सू० १।१।३०)। 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१)।

२. 'यदुक्तं कर्तृलक्षणा समाख्या काठकाद्येति तदुच्यते...अकर्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणं काठकादिभिरनुष्ठितं स्यात्। तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति। स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति। स बहुशाखाध्यायिनां सन्निधौ एकशाखाध्यायी अन्यां शाखामनधीयानः। तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणमिति'। (शाबरभाष्य १।१।३०, पृ० १०२, आनन्दाश्रम, पूना सं० १९२९)

द्वितीयहेतुनिरासक भाष्य—"यच्च प्रावाहणिरिति 'अनित्यदर्शनाच्चे'ति सूत्रे इदमुक्तम्—जनन-मरणवन्तश्च वेदार्थाः श्रूयन्ते। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' 'कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयतेत्येवमादयः। उद्दालकस्यापत्यं गम्यते औद्दालकिः। यद्येवं प्रागौद्दालकिजन्मनो नायं ग्रन्थो भूतपूर्वः, एवमपि अनित्येति। तन्न, प्रवाहणस्य पुरुषस्याऽसिद्धत्वात् न प्रवाहणस्य अपत्यं प्रावाहणिः। प्रशब्दः प्रकर्षेण सिद्धः। वहतिश्च प्रापणे। न त्वस्य समुदायः क्वचित् सिद्धः। इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्तरि। तस्मात् यः प्रवाहयति स प्रावाहणिः। बबर इति शब्दानुकृतिः। तेन यो नित्योऽर्थस्तमेवैतौ शब्दौ वदिष्यतः। अत उक्तं 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रमि'ति"। (शाब० भा० १।१।३१, पृ० १०२-१०३, आ० श्र० पूना सं० १९२९)

३. 'उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्'। (जै० सू० १।१।२९)

४. 'वेदवाक्यं पौरुषेयं वाक्यत्वात् कालिदासादिवाक्यवत्' इति अनुमानप्रयोगः। (जै० न्या० मा० १।१।८)

किया जा सकता है—अध्ययनरूप परतंत्रता[1] को स्वीकार कर आज की तरह रचना सदैव बन सकती है। अतः अपौरुषेय मानने में कोई बाधक नहीं है, बल्कि पौरुषेय पक्ष में बाधक है। क्योंकि सामान्यतया कर्त्ता का अनुमान करने पर भी यहाँ हम लोगों में से किसी का कर्त्ता बन सकना तो सम्भव ही नहीं है।

जीर्ण कूप एवं जीर्ण बगीचे के कर्त्ता की जैसे विस्मृति होती है, उसी प्रकार वेद के कर्त्ता का विस्मरण होना भी सम्भव है। क्योंकि अन्य प्रमाण से अवगत न हो सकने वाले कालान्तरभावि फल का साधन (याग), जो बहुधनव्ययसाध्य तथा कायक्लेशादिप्रवृत्तिसाध्य है, उसका अनुष्ठान बुद्धिमानों के द्वारा किया जाना वक्तृ-प्रत्यय (विश्वास) के बिना असम्भव है। जीर्ण कूपादिकों के कर्त्ता का विस्मरण तो देश के तथा मनुष्यों के नष्ट हो जाने से या प्रयोजन के न रहने पर हो जाता है। किन्तु अवश्य स्मरणीय कर्त्ता का विस्मरण होने से यह निश्चय होता है कि वेद का कर्त्ता कोई नहीं है।

वैशेषिकादि दार्शनिकों ने वेदकर्त्ता का जो अनुमान किया है, उससे किसी की भी अनुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। अध्येताओं की परम्परा से कर्तृ-विशेष का स्मरण होता है—ऐसा वे भी नहीं कह सकते। बल्कि 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' की सहायता से प्रतिपादित 'कर्त्ता' का स्मरण तदनुयायी तार्किक क्रिया करते हैं। किसी कर्तृ-विशेष का निर्णय वे भी नहीं कर पाते हैं। कुछ लोग 'प्रजापति' को, तो कतिपय विद्वान् 'पशुपति' को और कितने ही बुद्धिमान् 'हिरण्यगर्भ' को ही वेद का कर्त्ता समझ बैठे हैं। किन्तु जिसकी 'स्मृति' परम्परा से होती आ रही हो, उस कर्त्ता को 'बुद्ध' या 'मनु' की तरह कैसे कोई भूल सकेगा? अतः कर्ता के विषय में किया गया अनुमान **दृश्यादर्शन** के कारण बाधित होता है।

तात्पर्य यह है कि वेद का कर्ता कोई नहीं है। सर्वथा **परतंत्रपुरुष-परंपरा** से ही वेदों का अध्ययन होता आया है। यह सोचकर ही सूत्रकार ने बतलाया कि वेद का अध्ययन करनेवाले सभी व्यक्तियों के वेदोच्चारण का प्रवाह अपने पूर्ववर्तियों के उच्चरित शब्दों का अनुसरण किया करता है।[2] अतः लौकिक वाक्यों की तरह वैदिक वाक्यों में पौरुषेयत्व का अनुमान करना उचित नहीं है, क्योंकि विपक्ष में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

इसी रीति से विधि (चोदना) की प्रमाणता को सिद्ध करने के लिए सम्पूर्ण वेद की अपौरुषेयता सिद्ध की गई है। अतः वेद के 'मंत्र' और 'अर्थवाद' भागों की प्रमाणता को पृथक् बतलाने की आवश्यकता नहीं है। तथापि 'विधिभाग' के समान इनमें अपूर्व अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति का अभाव होने से इनके प्रामाण्य पर आक्षेप होना सम्भव है, उसके समाधानार्थ द्वितीय पाद का आरम्भ किया गया है।

१–२. 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा'॥
(मी० न्या० प्र० पृ० ७, पूना सं० १९३७)

मन्त्र और अर्थवाद भाग की प्रमाणता—इसका यह तात्पर्य नहीं कि यहाँ मन्त्र और अर्थवाद का पृथक्-पृथक् रूप से प्रामाण्य प्रदर्शित करना है, बल्कि विधि के अतिरिक्त वेदवाक्यों के प्रामाण्य को बतलाना ही इस पाद का एकमात्र लक्ष्य है।

इसमें चार अधिकरण हैं। पहले तीन अर्थवाद से सम्बन्धित हैं। पहले अधिकरण में बतलाया गया है कि अर्थवादों में विधि की तरह स्वतन्त्र रूप से फल-विशेष के साधनरूप धर्म का प्रमापकत्व (ज्ञापक) होना यद्यपि सम्भव नहीं है, तथापि विधि के साथ उसकी एकवाक्यता होने से विधेय की प्रशस्ति करते हुए प्रवृत्ति कराने की शक्ति उसमें रहती है, इसलिए धर्मप्रमापकत्व उसमें असम्भव नहीं है। अतः उस पर अप्रामाण्य का आक्षेप करना अनुचित है।

द्वितीय अधिकरण में विधिवाक्य के साथ कहे गये कतिपय वाक्यों में स्वतंत्रतया फल-विधि सम्भव होने पर भी स्तावक (प्रशंसक) रूप से उनका प्रामाण्य स्वीकार न करने के आक्षेप का निरसन किया गया है।

इसी प्रकार कहीं-कहीं हेतुविधि की शंका दूर करने के लिए तीसरे अधिकरण की रचना की गई है। इसके पश्चात् अन्तिम मंत्राधिकरण है। इसमें कर्मानुष्ठान के समय अनुष्ठातव्य पदार्थों के स्मरणार्थ उच्चारण करना ही मन्त्रों का उपयोग बतलाया गया है। यहाँ ऋक्संहिता के कतिपय शब्दों की दुर्बोधता के कारण मन्त्रों के अप्रामाण्य का पूर्वपक्ष किया गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि आज की तरह **सूत्रकार** के समय भी **ऋक्संहिता** का आविर्भाव **बहुत प्राचीन** माना जाता था। इस अधिकरण में भी **सूत्रकार** ने वेदों में अनित्य संयोग की आशंका कर[2] उसका परिहार किया है।[3] **भाष्यकार** ने सूत्र की शेषपूर्ति कर[4] मौनावलम्बन कर लिया, किन्तु **कुमारिल** के द्वारा इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

स्मृति और आचार की प्रमाणता—वैदिक लोग धर्म में तीन प्रमाण बतलाते है।[5] पहले प्रथम दो पादों के द्वारा वेद के तीन प्रकारों का प्रामाण्य प्रदर्शित कर स्मृति और आचार के प्रामाण्य को बतलाने के लिए तृतीय पाद का आरम्भ किया गया है। इसमें दस अधिकरण हैं।

पहले अधिकरण में मन्वादि स्मृतियों का प्रामाण्य 'मूल श्रुतियों' के अनुमान के द्वारा बतलाया है। दूसरे अधिकरण में प्रत्यक्ष श्रुति के साथ विरोध होने पर और किसी दृष्ट हेतु का सम्भव हो सकने पर 'स्मृति' का अप्रामाण्य दिखलाया है, अर्थात् प्रामाण्य का निषेध किया है।

---

१. 'अविज्ञेयात्' (जै० सू० १।२।३८)।
२. 'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० सू० १।२।३९)।
३. 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' (जै० सू० १।२।५०)।
४. 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१)।
५. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च'॥ (म० स्मृ० २।६)

यहाँ पर कुमारिल का कथन है कि 'मन्वादि स्मृतियों के तुल्य शाक्यादि स्मृतियों को प्रमाण नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वे वेदविरुद्ध हैं।' यह दिखलाने के लिए इस अधिकरण की रचना की गई है।

क्वचित् श्रुति की अपेक्षया स्मृति भी प्रबल हो जाती है—श्रुति तथा स्मृति बोधित अर्थों में विरोध दीखने पर उनकी समबलता में ही 'श्रुति' के द्वारा स्मृति का बाध होता है। यदि 'स्मार्त पदार्थ' अपने पदार्थत्व के कारण प्रबल हो और 'श्रौत पदार्थ' किसी पदार्थधर्म के कारण दुर्बल हो, तब 'श्रुति' से स्मृति का बाध नहीं होता, उसे बतलाने के लिए तीसरे अधिकरण की रचना की गई है।

वार्तिककार का भिन्न अभिप्राय—परन्तु वार्तिककार अपने समकालीन समाज को समझाने के लिए कहते हैं कि यहाँ के दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र का अभिप्राय यह है कि वैदिकों के अभिमत 'अहिंसा' आदि धर्मों को शाक्यादिकों के निबन्धों से यदि अवगत कराया जाय तो उन्हें 'धर्म' नहीं कहा जा सकेगा। दूसरे सूत्र के द्वारा 'शिष्टाचार' को प्रमाण बतलाया गया है तथा तीसरे अधिकरण के द्वारा शब्द-प्रयोगरूप 'आचार' का विचार किया है। यदि एक ही शब्द 'आर्यों' के द्वारा किसी एक अर्थ में तथा 'अनार्यों' द्वारा अन्य किसी अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, तब उस शब्द से किस अर्थ को समझा जाय? उक्त प्रश्नों का निर्णय इस अधिकरण में किया गया है कि 'आर्याभिमत अर्थ' को ही समझना चाहिए।

यहाँ पर वार्तिककार ने अन्य दो विचार और भी किये हैं—(१) **'स्मृति'** और **'आचार'** में विरोध होने पर 'स्मृति' की प्रबलता होती है तथा (२) लोक तथा वेद में वैदिक शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न दिखलाई देने पर भी 'वैदिक अर्थ' के ग्रहण करने का सिद्धान्त किया गया है।

विशेष परिस्थिति में अनार्य-प्रसिद्ध अर्थ का भी स्वीकार करना उचित समझा जाता है—'आर्य-परंपरा' में किसी शब्द का 'अर्थ' अप्रसिद्ध रहने पर 'अनार्य-परंपरा' के प्रसिद्ध अर्थ का स्वीकार यदि कर लेते हैं, तो दोनों में समानता कैसे हो सकती है? 'अनार्य' शब्द सामान्य है, इसमें भिन्न-भिन्न जातियाँ तथा भाषाएँ है। अतः अविरुद्ध प्रसिद्ध अर्थ का स्वीकार कर लेने का सिद्धान्त षष्ठ अधिकरण[1] में किया है।

स्मृति और **आचार** की प्रमाणता 'श्रुति-कल्पना' के द्वारा ही बतलाई गई है। स्मृतियों को भी 'श्रुति' की तरह अपौरुषेय और स्वतंत्र प्रमाण क्यों नहीं समझा जाता? इसका उत्तर सप्तम अधिकरण में दिया है कि 'कर्ता की स्मृति' अविच्छिन्न होते रहने से उनकी पौरुषेयता में सन्देह ही नहीं रह जाता।

कर्ता एवं देश के द्वारा 'स्मृति' और 'आचारों' की जहाँ-तहाँ सुव्यवस्था होने पर भी उनसे 'श्रुति' का अनुमान अवश्यमेव कर लेना चाहिए—यह सातवें, आठवें अधिकरण में बतलाया गया है[2]।

---

१. 'पिकनेमाधिकरण'। (मी० दर्श० १।३।६)

२. कल्पसूत्राधिकरण (१।३।७), होलाकाधिकरण (१।३।८)।

नवें अधिकरण[1] में व्याकरण-स्मृति की प्रामाणिकता पर आक्षेप और उसका समाधान दिया गया है। नवम अधिकरण तो 'दशम अधिकरण'[2] का उपोद्घात रूप है, दसवें अधिकरण में यह बतलाया है कि लौकिक एवं वैदिक पदार्थ भिन्न नहीं है तथा वाचक शब्द के प्रसंग से वाक्यार्थ का निर्धारण किया गया है।

सार यह है कि इन तीन पादों के द्वारा धर्म के तीन प्रमाणों का विचार किया गया है।

चतुर्थ पाद का प्रयोजन—वेद में विधिवाक्यघटक तीन प्रकार के पद होते हैं। उद्देश्य (फल, साध्य), साधन या साधनोपकारक और इसके अतिरिक्त नामधेय, जो विधिवाक्यघटित दिखलाई देते हैं। उनका प्रामाण्य और उन्हें नामधेयता किस प्रकार प्राप्त होती है, यह बतलाने के लिए चतुर्थ पाद का आरम्भ होता है। इसमें २० अधिकरण हैं।

नामधेय के निश्चायक चार निमित्त—पहले अधिकरण में नामधेय अनुष्ठेय कर्म का सम्बोधक (संज्ञा) होने से प्रमाण माना गया है। तदनन्तर चार अधिकरणों में नामधेय के क्रमशः 'चार निमित्त' बतलाये गये हैं—(१) विधित्सित गुण तथा कर्म में यौगिक व्युत्पत्ति का सम्भव। (२) वाक्यभेद का सम्भव। (३) विधित्सित गुण का प्रतिपादक शास्त्रान्तर का सम्भव। (४) विधित्सित गुण को उपमान के रूप में बतलाना। इन चार अधिकरणों के द्वारा कहे गये विषयों पर पुनः आक्षेप कर उनका समाधान **छठें अधिकरण**[3] में किया गया है।

उक्त नियमों के रहने पर ही नामधेय का निश्चय हुआ करता है। इस प्रकार अन्वयमुख से तथा उक्त निमित्तों के न रहने पर नामधेयता की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार व्यतिरेकमुख से नामधेय का दृढ़ परिचय कराने के लिए **सप्तम अधिकरण**[4] की रचना की गई है।

कर्म की नामधेयता का निर्णय करते हुए प्रसंगतः प्राप्त कतिपय द्रव्यों की नामधेयता का विचार भी **अष्टमादि तीन**[5] **अधिकरणों** में किया गया है।

आठवें अधिकरण में बर्हि, आज्य आदि शब्द कुश तथा घृत का बोध निश्चित रूप से कराते हैं, अतः उन्हें जातिवाचक माना गया है।

नवें में 'प्रोक्षणी' शब्द को यौगिक व्युत्पत्ति के बल पर जलवाचक सिद्ध किया है, जातिवाचक नहीं।

---

१. व्याकरणाधिकरण (१।३।९)।
२. लोकवेदाधिकरण (१।३।१०)।
३. 'वाजपेयाधिकरण' (मी० द० १।४।६)।
४. 'आग्नेयाधिकरण' (मी० द० १।४।७)।
५. 'बर्हिराज्याधिकरण, प्रोक्षण्यधिकरण, निर्मन्थ्याधिकरण'। (मी० द० १।४।८-१०)।

दसवें में 'निर्मन्थ्य' शब्द को प्रोक्षणी शब्द के तुल्य स्वीकार किया गया है किन्तु जहाँ निर्मन्थ्य शब्द सुनाई दे, वहाँ 'सामान्य अग्नि' न लिया जाय बल्कि मंथन के द्वारा प्रकट किया गया अग्नि ही लिया जाय—यह उसका फल बतलाया गया है।

इसी को दृष्टान्त मानकर 'वैश्वदेव' शब्द को कर्म की संज्ञा (नामधेय) के रूप में माना है। वह विश्वेदेव नामक देवतारूप 'गुण' का वाचक नहीं, यह एकादश[1] में स्थिर किया है।

बारहवें[2] में 'कर्मनामधेयता' या 'गुणविधित्व' का असम्भव होने पर उसे अर्थवाद मान लेना चाहिए—यह बतलाया गया है।

तेरहवें अधिकरण से आगे छह अधिकरणों[3] तक अर्थवादों की विधेयस्तावकता बताई गयी है और वह गौणीवृत्ति पर आधारित होने से तन्निमित्त छह गुणों[4] का विचार किया है।

इन अर्थवादों का 'विधेय-स्तवन' के अतिरिक्त 'संदिग्धनिर्णायकत्व' तथा 'विधिरूप अन्य कार्य' भी होता[5] है।

यह अन्तिम दो अधिकरण में बतलाकर पाद समाप्त होता है।

प्रथम पाद में चोदना और तीन पादों में अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति और आचार को तथा अर्थ-निर्णय में सन्देह होने पर 'वाक्यशेष तथा सामर्थ्य' को प्रमाण बतलाकर सम्पूर्ण प्रथमाध्याय के द्वारा धर्म के प्रमाणों का निरूपण किया गया है। उसी से तत्प्रमेयों (ज्योतिष्टोम, अष्टका इत्यादि) के धर्म रूप होने का निश्चय हो जाने से 'धर्म' के स्वरूप का निरूपण भी हो जाता है।

द्वितीय अध्याय के पादों की रचना का क्रम—वेद-प्रतिपादित प्रमेय 'धर्म' हैं, यह अवगत होने पर भी सम्पूर्ण रूप से उसका स्वरूप-ज्ञान नहीं हो पाता। किन्तु भेदप्रदर्शन के द्वारा धर्मस्वरूप का ज्ञान भलीभाँति होता है, इसलिए **द्वितीय अध्याय** का आरम्भ किया गया है, जिसे **'भेदाध्याय'** भी कहते हैं।

---

१. 'वैश्वदेवाधिकरण' (मी० द० १।४।११)।

२. 'वैश्वानराधिकरण' (मी० द० १।४।१२)।

३. 'तत्सिद्ध्यधिकरण' (मी० द० १।४।१३), 'जात्यधिकरण' (मी० द० १।४।१४), सारूप्याधिकरण' (मी० द० १।४।१५), 'प्रशंसाधिकरण' (मी० द० १।४।१६), 'भूमाधिकरण' (मी० द० १।४।१७), 'लिङ्गसमवायाधिकरण' (मी० द० १।४।१८)।

४. 'तत्सिद्धि-जाति-सारूप्य-प्रशंसा-लिङ्गभूमभिः ।
षड्भिः सर्वत्र शब्दानां गौणीवृत्तिः प्रकल्पिता' ॥
(शा० दी० १।४।१८, पृ० ९०, नि० सा० प्रे०)

५. वाक्यशेषाधिकरण (मी० द० १।४।१९)।

जितने **भेद, अभेद, शेषशेषिभाव आदि** हैं, सभी का निरूपण 'प्रमाण' के बल पर ही किया जाता है, इसलिए **प्रमाणाध्याय** के पश्चात् इसका आरम्भ किया गया है।

कहीं **शब्दान्तर** के द्वारा, तो कहीं **अभ्यास** के द्वारा कर्मों में परस्पर भेद होता है। कहीं-कहीं अभ्यास के होने पर भी कर्मों में परस्पर भिन्नता न होकर वह उसकी पुनरुक्ति मात्र (अनुवादक) हो जाता है, तो कहीं उसका अपवाद भी देखने में आता है। कहीं **संख्या** के द्वारा, तो कहीं **संज्ञा** से, तो कहीं **गुण** के द्वारा **भेद** हुआ दिखलाई देता है और कहीं नहीं भी होता। कहीं **प्रयोगमात्र** ही भेदक होता है, तो कहीं **प्रकरणान्तर** भी भेदक होता है[1] और कहीं नहीं भी होता[2]। इन सबका विवेचन प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद में किया गया है।

इन समस्त 'भेदक प्रमाणों' के अपवाद का विचार चतुर्थ पाद में किया गया है।

इस प्रकार 'कर्मभेद' (कर्मों की भिन्नता) के सिद्ध होने पर तज्जन्य 'अदृष्ट-भेद' (भिन्न-भिन्न अदृष्ट) भी सिद्ध होता है। फलजनक इस अदृष्ट की उत्पत्ति केवल क्रिया से होती है या अन्य से भी ? यह विचार उपोद्घात रूप से **प्रथम पाद** में किया है। उसी के साथ प्रसंगतः **प्रधान, अप्रधान कर्म** तथा **मन्त्र, ब्राह्मण** और **ऋक्, यजुष्** तथा **साम** के लक्षणों का और **वाक्य के लक्षण** का भी विचार किया गया है।

मन्त्र और ब्राह्मण की परिभाषाओं के समझने में कोलब्रुक की भूल—इस विषय पर डॉ० कोलब्रुक[3] लिखते हैं कि "मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग वेद के हैं, 'मन्त्र-भाग' का परिशिष्ट 'ब्राह्मण' है। अतः जो 'मन्त्र' न हो वह 'ब्राह्मण' है, इस प्रकार 'मन्त्र' की लघुता प्रदर्शित करने के लिए ही **जैमिनि** ने कहा—**'शेषे ब्राह्मणशब्दः'**। समान धर्मवाले विविध वाक्यों का परिगणन करते हुए प्राचीन वृत्तिकार ने सूत्रकार के सूत्र की हीनलक्षणता तथा न्यूनता को दूर करने का प्रयास किया है। किन्तु इनकी सभी उक्तियाँ अव्याप्ति दोष से दूषित हैं—यह नवीन व्याख्याकारों ने प्रदर्शित किया है। अन्त में **निकृष्ट लक्षण** यह बतलाया कि जिन्हें **अभियुक्त** (विद्वान्) **'मन्त्र'** कहें वे **मन्त्र** और जिन्हें **'ब्राह्मण'** कहें वे **ब्राह्मण** हैं"।

डॉ० कोलब्रुक की इस विचारसरणि पर अवसर प्राप्त थोड़ा-सा विचार कर लें—

पहली बात तो यह है कि **जैमिनिसूत्र** 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' के 'शेष' शब्द का

---

१. कर्मभेदक प्रमाण छह होते हैं—(१) शब्दान्तर, (२) अभ्यास, (३) संख्या, (४) संज्ञा, (५) गुण, (६) प्रकरणान्तर। (मीमांसा-परिभाषा, अनुच्छेद ११३, पृ० १९१, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी)

२. पूर्वमीमांसा २।३।१३।

3. Colebrooke's Miscellaneous Essays p. 307.

अर्थ डॉ० सा ठीक नहीं समझ पाये। और 'ब्राह्मणभाग' न मन्त्रभाग का परिशिष्ट ही है, जैसा कि यह पाश्चात्य विद्वानों ने समझा है।

यहाँ पर '**शेष**' शब्द का '**भिन्न**' अर्थ है, अर्थात् 'शेष' शब्द भिन्नवाचक है। तब अर्थ इस प्रकार होता है—दो भागों में से 'एक' का लक्षण बता चुकने पर 'अवशिष्ट' (बचा हुआ) जो **अन्य भाग है, उसको** 'शेष' अर्थात् '**तद्भिन्न**' कहकर परिचित कराया है। अनायास बोध कराने का इससे अधिक सरल मार्ग नहीं हो सकता—यह सूत्रकार का अभिप्राय है। और न किसी भारतीय विद्वान् को इस लक्षण में न्यूनता ही दिखलाई पड़ी। इस सम्बन्ध में शाबरभाष्य[1] को देख लेना बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

मन्त्र और ब्राह्मण की परिभाषाओं का वास्तविक अर्थ—ऐसा प्रतीत होता है कि वेदराशि अनंत होने से उसकी इयत्ता का निर्धारण करना सूत्रकार को भी अवश्य जटिल प्रतीत हुआ होगा। '**तच्चोदकेषु ब्राह्मणशब्दः—शेषे मन्त्रशब्दः**' ऐसा विपरीत लक्षण भी बनाया जा सकता है। किन्तु किसी एक प्रकार का ही आश्रय किया जाता है, अतः **सूत्रकार** ने वैसा लक्षण किया।

हिरण्यकेशीयों ने अपने श्रौतसूत्र के आरम्भ में '**कर्मविधानं ब्राह्मणानि**' '**तच्छेषोऽर्थवादः**' '**अतोऽन्ये मन्त्राः**' इति, इस प्रकार लक्षण किये हैं। अतः सूत्रकार के लक्षण में किसी प्रकार की न्यूनता आदि दोष नहीं है और न किसी से किसी की हीनता दिखलाने में ही उसका अभिप्राय है, इसलिए इस सम्बन्ध में डॉ० कोलब्रुक के विचार उचित प्रतीत नहीं हो रहे हैं।

तृतीय अध्याय के पाद तथा अधिकरणों की रचना का क्रम—इस रीति से कर्मों में परस्पर भिन्नता सिद्ध होने पर उनमें 'शेष-शेषिभाव' का विचार करने के लिए **तृतीय अध्याय** का आरम्भ किया गया है। 'भेद में ही' अंगांगिभाव की सम्भावना हो सकती है, 'अभेद में' नहीं। इसलिए 'भेदाध्याय' इसमें 'हेतु' होने से **द्वितीय** और **तृतीय** अध्यायों में '**हेतुहेतुमद्भाव**' **संगति** समझनी होगी।

इस अध्याय में प्रायः इस प्रकार विचार किया गया है—**कौन शेष है** ? इस प्रश्न के द्वारा उसके **स्वरूप** का विचार, किस कारण वह शेष बना ? इस विचार के द्वारा 'शेष' शब्द के **प्रवृत्ति-निमित्त** (शक्यतावच्छेदक) का विचार, उनके 'विनि-योग' में तथा 'शेष का शेषी के साथ अन्वय-बोध' कराने में **श्रुति**[2], **लिंग** आदि **छह प्रमाण** माने गये हैं। उनमें परस्पर विरोध होने पर बलाबल का विचार तथा विरोध कहाँ है और कहाँ नहीं है—इत्यादि विचार किया गया है।

इस अध्याय के **प्रथम पाद** में 'शेष के स्वरूप' को ही **शेष शब्द की प्रवृत्ति** में **निमित्त** बतलाया है तथा प्रमाणों में प्रथम प्रमाण '**श्रुति**' का विचार किया है।

---

१. शाबरभाष्य (२।१।३३) पृ० ४३६, आनन्दाश्रम सं० पूना।

२. 'एतस्य च विधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यारूपाणि'। (मी० न्या० प्र० पृ० ७२, पूना सं० १९३७)

द्वितीय पाद में 'लिंग प्रमाण' और **तृतीय पाद** में अन्य 'चार प्रमाणों' का विचार किया गया है। इन प्रमाणों में परस्पर विरोध उपस्थित होने पर 'बलाबल का निरूपण' कर 'विरोधसदसद्भाव' के विचार का भी आरम्भ कर दिया गया है और यही विचार अध्याय-समाप्ति तक चला है। उनमें भी **चतुर्थ, पंचम** और **षष्ठ पाद** के **छठे अधिकरण तक** पूर्ववर्ती प्रमाणों के साथ विरोध-अविरोध को लेकर **प्रकरण-प्रमाण** का विचार किया गया है। इसी प्रकार आगे के चार अधिकरणों में पूर्व प्रमाणों के साथ विरोध-अविरोध पर विचार करते हुए **स्थान प्रमाण** का विचार हुआ है। इसके अनन्तर **सप्तम पाद** के **सप्तम अधिकरण** तक प्रसंगतः **प्रकरण** और **वाक्य** प्रमाणों में **विरोधाविरोध** की चिन्ता की है। पश्चात् **आठवें पाद** से अध्याय समाप्ति तक पूर्व प्रमाणों के साथ **विरोध-अविरोध** के चिन्तन सहित **समाख्या** प्रमाण का विचार किया गया है।

इस अध्याय में अनेक पादों तक कतिपय विचारों के चलते रहने पर भी श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरणादि के द्वारा विनियोग, प्रतिपत्ति-विचार, अनारभ्यवाद, अनेकत्र उपकारक पदार्थ तथा यजमान के धर्म—ये सभी क्रमशः आठों पादों के विषय हैं।

चतुर्थ अध्याय के पादों की रचना का क्रम—इस रीति से अंगांगिभाव के ज्ञात होने पर कौन अंगी किस अंग का प्रयोजक (अनुष्ठापक) होता है ? उसे विचार-पूर्वक निर्धारित करने के लिए चतुर्थ अध्याय का आरम्भ किया है।

फल के साक्षात् उत्पादक याग आदि में 'फल' प्रयोजक और 'याग' साधन है। अंग के लिए प्रधान का अनुष्ठान कहीं भी नहीं होता। यदि अपने से भिन्न के लिए उत्पन्न हुए अंग का ही पुनः स्वार्थ-विनियोग हो तो स्वेतरप्रयुक्तांगोपजीवन होने से उस अंग का वह प्रयोजक नहीं माना जाता। चतुर्थ अध्याय का यही सम्पूर्ण सार है।

प्रयोजकत्व तथा अप्रयोजकत्व का निर्धारण करने के लिए ही अंगांगिभाव का विचार किया गया था, इसी को पार्थसारथि मिश्र[1] ने अपनी शास्त्रदीपिका में आक्षेप-समाधानपूर्वक बतलाया है। प्रधान का प्रयोजकत्व, अप्रधान का प्रयोज्यत्व, फल का प्रयोजकत्व और इनका अपवाद– ये चारों क्रमशः चारों पादों के विषय हैं।

पंचम अध्याय के पादों की रचना का क्रम—इस रीति से प्रयोज्यों का निर्णय होने पर कौन पहले प्रयुक्त किया जाता है और कौन पश्चात् ? इस क्रम का विवेचन पंचमाध्याय में किया है। इस अध्याय में क्रमबोधक छः प्रमाण – श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति बतलाये हैं। इनमें क्रमबोधक शब्द को 'श्रुति', प्रयोजन को 'अर्थ', (विधायक वाक्यों के) अंगभूत मन्त्रों के क्रम को 'पाठक्रम', पूर्वपदार्थ की उपस्थिति को 'स्थान' और अंगियों के क्रम को 'मुख्यक्रम' कहते हैं।

अनेक अंगियों के होने पर जिस क्रम से 'प्रथम-पदार्थ' का अनुष्ठान किया जाय,

---

१. 'प्रसिद्धे शेषशेषित्वे प्रयुक्तिरधुनोच्यते।
शेषिणैव च शेषस्य प्रयुक्तिरिति हेतुता' ॥ (शा० दी० ४।१।१)

वही **क्रम** 'उत्तरपदार्थ' के अनुष्ठान में **नियामक** होता है, इसे **प्रवृत्तिक्रम** कहते हैं। **प्रथम पाद** में कहीं-कहीं विरोध-विचार के साथ इन्हीं **छह प्रमाणों** का निरूपण किया है।

समान अंगसमुदायवाले 'अनेक अंगियों' (प्रधानों) की उपस्थिति होने पर 'एक प्रधान' के लिए समस्त अंगों का अनुष्ठान करने के पश्चात् 'दूसरे प्रधान' के लिए 'उन्हीं अंगों' का पुनः अनुष्ठान करना—इसे **काण्डानुसमय** कहते हैं।

और **अनेक प्रधानों** के लिए 'किसी एक अंग' का अनुष्ठान कर पश्चात् 'द्वितीय अंग' का सब के लिए अनुष्ठान करना अर्थात् इसी तरह 'उत्तरोत्तर अंगों का' अनुष्ठान करना—इसे **पदार्थानुसमय** कहते हैं। इन दोनों में किसका कहाँ अनुष्ठान करना, यह द्वितीय पाद का विषय है।

इन दो पादों के द्वारा 'अनेक पदार्थों के क्रम' का विचार किया गया है। 'एक ही पदार्थ' का अभ्यास आवश्यक होने पर उसका **पौर्वापर्यचिन्तन तृतीय पाद** का विषय है तथा 'क्रमबोधक प्रमाणों' के एकत्र प्राप्त होने पर उनके **बलाबल का विचार चतुर्थ पाद** का विषय है।

षष्ठाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—छठे अध्याय में 'कर्मानुष्ठान के अधिकारी' का विचार किया गया है। क्योंकि जब तक 'अनुष्ठेय कर्म' का ज्ञान न हो, तब तक उसमें अपेक्षित 'सामर्थ्य का' ज्ञान होना असम्भव है; सामर्थ्य के अनुसार ही **अधिकार** का निरूपण करना उचित होता है, इसलिए **पंचमाध्याय ही** केवल इस अध्याय के प्रति हेतु न होकर **अनुष्ठेय कर्म के प्रतिपादक पाँचों अध्याय** इस **अधिकार-विचार** में हेतु हैं[1]।

इस अध्याय में **आठ पाद** हैं। इनमें **अधिकारी**, उसका **विशेषण**, कहीं समस्त पदार्थों के अनुष्ठान में **समर्थ का अधिकार**, कहीं **अशक्त** का भी अधिकार,[2] **द्रव्य के विनाश या काल के अतिक्रमण** होने पर 'प्रायश्चित्ताधिकार', **विकृति-विशेष में अधिकार, दक्षिणा-विवेचन, अनाहिताग्नि का भी अधिकार** आदि विषयों का निरूपण क्रमशः किया गया है।

इस अध्याय में त्रैवर्णिक[3] से भिन्न 'रथकार' नामक किसी जाति-विशेष का वैदिक कर्म में अधिकार 'हेतु-निर्देश' के साथ माना गया है,[4] जिसमें आपस्तम्ब की सम्मति है। जैमिनि जब भी 'न्याय (हेतु) प्रदर्शन' के साथ अपने अभिमत सिद्धान्त को

---

१. पूर्वषट्क जैसे उत्तरषट्क के प्रति हेतु होता है। किसी एक कार्य से संबन्धित अनेक न्यायों के रहते हुए भी जैसे एक अध्याय कहा जाता है, वैसे ही अनुष्ठेय-प्रतिपादन रूप एक कार्य से सम्बन्धित होने के कारण पाँचों अध्यायों का एक समुदाय समझा गया है।

२. शक्ति को कहीं पर अधिकारी का विशेषण माना है, कहीं पर नहीं माना।

३. 'त्रयाणामधिकारः स्यात्'। (शाब० भा० ६।१।२६, पृ० १३७६, पूना सं०)

४. 'स्थपतिर्निषादः स्यात्, शब्दसामर्थ्यात्'। (जै० सू० ६।१।५१)

स्थिर करते हैं, तब यथासंभव तब **'लिङ्गदर्शनात्'** कहकर **स्वाभिमत अर्थ को** 'श्रुतिसंमत' बतलाते हैं ।

त्रैवर्णिकों में भी पंगु, अंध, बधिर, मूक आदि को अवयवविकलता के कारण सांग क्रतु के अनुष्ठान में असामर्थ्य होने से अनधिकारी बतलाया है ।

स्त्रियों में पुरुषों के समान वेदाध्ययन की विद्या न होने से उनके **अनधिकार** का **पूर्वपक्ष** प्रस्तुत कर **सूत्रकार** ने सप्रमाण[1] **अधिकार सिद्ध किया है ।**

इस प्रकार प्रथम पाद के एक अधिकरण में सिद्धान्त देकर दूसरे अधिकरण में [2]**दम्पती** को 'पृथक् अधिकार' न देकर **सहाधिकार** ही दिया है और इसकी पुष्टि की है ।

पूर्व के **अध्यायषट्क** द्वारा 'औपदेशिक अंगों' के विविध प्रकारों को सप्रमाण प्रदर्शित कर 'आतिदेशिक अंगों' के प्रकारों को बतलाने लिए **उत्तरषट्क का आरंभ** किया गया है ।

'अंगरहित कर्मों' में 'आवश्यक अन्यथाकरण' करते हुए 'सांगकर्मों के अंगों को' लेने का विचार उत्तरषट्क के द्वारा किया गया है ।

सप्तमाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—सातवें अध्याय में **अतिदेशप्रमाणों** का (प्रत्यक्षवचन, नामधेय, कल्पितवचन) क्रमशः प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद के द्वारा विवेचन किया है और **द्वितीय पाद** में **अतिदिश्यमान साम पदार्थ** का निर्धारण **प्रत्यक्ष वचन** के द्वारा किया गया है ।

अष्टमाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—यहाँ गहे गये **कल्पित वचनातिदेश** के विशेष विचारार्थ आठवें अध्याय का आरंभ किया गया है ।

स्पष्ट रूप से प्रतीत होनेवाली समानता के बल पर यह निश्चय कर लेना कि 'अमुक कर्म में' **अमुक कर्म से** ही अंगों को लेना है, दूसरे से नहीं—यह **प्रथम पाद** का विषय है ।

'याग' के **तीन प्रकार हैं—इष्टि, पशु और सोम** । धान्य-विशेष से किये जानेवाले याग को **इष्टि,** प्राणि-विशेष से किये जाने वाले याग को **पशु** और सोमलता से अनुष्ठीयमान याग को **सोम** कहते हैं ।

'अंग-विशेष रहित इष्टियों' में 'दर्शपूर्णमास नामक इष्टि' से 'आवश्यक अंगों' को ले लिया जाता है । 'पशुयागों' में **अग्नीषोमीय** (दैक्ष) संज्ञक पशुयाग से 'अंगों' को लिया जाता है । 'सोमयागों' में **ज्योतिष्टोमयाग** से 'अंग' लिये जाते हैं । इस प्रकार अपने-अपने प्रकृतियागों से 'अंगों के अतिदेश' हुआ करते हैं ।

सोमयाग के भी 'अनेक प्रकार' हैं—**एक दिन, अनेक दिन, संवत्सर, अनेक संवत्सर**

---

१. 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा० सू० ४।१।३३), 'धर्मे चार्थेव कामे च नातिचरितव्या' (शाब० भा० ६।१।१४, पृ० १३६०, पूना संस्करण), 'सहत्वं च पुण्यफलेषु' इति ।

२. 'दम्पत्योः सहैवाधिकारो न पृथक्' । (शास्त्रदी० ६।१।४)

के द्वारा वह किया जाता है। इनमें एक दिन साध्य को **एकाह,** दो दिन से लेकर सौ दिन तक चलनेवाले को **सत्र** और संवत्सर तक चलनेवाले **अयन** कहे जाते हैं।

इनमें से **एकाह** और **द्वादशाह** में 'ज्योतिष्टोम के धर्मों' का **अतिदेश, द्वादशाह** में 'अहीन और सत्रों' के धर्मों का और **गवामयन में** 'संवत्सर सत्रों के धर्मों' का **अतिदेश** होता है।

एकाह को छोड़ 'अन्य यागों' में **अनेक यजमान** होते हैं और **अहीन** में 'यजमानों की संख्या' **नियत नहीं,** किन्तु ऐच्छिक रहती है। **सत्र** में यजमानों की न्यून संख्या **सत्रह** और अधिक से अधिक **बीस** होती है।

अस्पष्ट सादृश्य का विचार करते हुए 'प्रकृति-विकृतिभाव' का निर्धारण द्वितीय पाद में किया गया है।

अन्यत्र अंगों की अपेक्षा होने पर जहाँ से वे लिये जाते हैं, उसे 'प्रकृति' कहते हैं और जहाँ लिये जाते हैं, उसे 'विकृति' कहते हैं।

अनेक प्रकार से समानता दिखलाई पड़ने पर किस प्रकार की समानता का स्वीकार किया जाय तदर्थ उसकी प्रबलता का विचार करते हुए प्रकृति-नियम का विचार तृतीय पाद में किया गया है।

होम में अतिदेश के अपवाद का विचार चतुर्थ पाद में किया गया है।

नवमाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—अतिदेश के अवगत होने पर विकृतियों में अतिदेश के द्वारा प्राप्त हुए मंत्र, साम, संस्काररूप पदार्थों का द्वारान्तर सम्बन्ध से अन्यथाभावात्मक 'ऊह' का विचार नवमाध्याय में किया है।

प्रकृति-प्रत्यय के ऊह-भेद से 'मन्त्रों' में अनेक प्रकार से ऊह होते हैं। प्रकृति और संस्कार से सम्बन्धित 'ऊह' का विचार प्रथम पाद में, साम से सम्बन्धित 'ऊह' का विचार द्वितीय पाद में, वचन से सम्बन्धित 'ऊह' का विचार तृतीय पाद में और जिन मंत्रों में अवान्तर कार्यों का सन्देह है उनके 'ऊह' का विचार चतुर्थ पाद में किया गया है।

दशमाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—बाध का विषय 'अतिदिष्ट पदार्थ' होता है। इसलिए 'ऊह' की तरह 'बाध' का आरम्भ भी अतिदेश के पश्चात् ही किया गया है।[1] ऊह और बाध में यद्यपि परस्पर 'हेतुहेतुमद्भाव' नहीं है, क्योंकि जहाँ पर 'द्रव्यान्तर' या 'देवतान्तर' में 'प्राकृत' प्रयोजन हो वहाँ **'ऊह'** होता है और जहाँ 'प्राकृत' प्रयोजन न हो वहाँ **'बाध'** होता है। तथापि 'ऊह', पदार्थगत रूपान्तर-स्वरूप होने से 'पदार्थ' के प्रत्यासन्न है, इसलिए पदार्थ को प्राप्त करानेवाले अतिदेश के पश्चात् उसका (ऊह का) विचार किया गया है। 'बाध' तो निवृत्तिरूप है, अतः उसका विचार पश्चात् किया गया है।

---

१. 'ऊहे सिद्धेऽतिदिष्टानां बाधाभ्युच्चयचिन्तया।
इयत्ता दशमेऽङ्गानां विकृतिष्वभिधीयते'॥
(शा० दी० १०।१।१, पृ० ६४५, नि० सा० प्रे० सं० १९१५)

यह 'बाध' तीन प्रकार का है। 'अपेक्षित पदार्थों' के अर्पणार्थ 'अतिदेश' प्रवृत्त होता है। प्रकृति में जिस अंग ने जैसा 'प्रयोजन' सम्पन्न किया है, वैसा ही अपना प्रयोजन सम्पादन करने के लिए उस अंग की 'विकृति' के द्वारा अपेक्षा करने पर 'अतिदेश' उसे वहाँ प्राप्त कराता है। यदि विकृति में वैसा 'प्रयोजन' न हो तो विकृति उस प्रयोजन को सम्पन्न कराने वाले अंग की अपेक्षा नहीं रखती और अनपेक्षित अंग को 'अतिदेश' कभी प्राप्त नहीं करा सकता।

तात्पर्य यह है कि अर्थ (प्रयोजन) लोप होने के कारण 'बाध' होता है। प्रकृतिगत प्रयोजन के सम्पादक किसी अंग का यदि विकृति में विधान हो तो उसी से उक्त प्रयोजन के निष्पन्न हो जाने से विकृति 'प्राकृत अंग' की अपेक्षा नहीं रखती, इस कारण 'प्राकृत अंग' को विकृति में प्राप्त कराने के लिए अतिदेश भी उदासीन रहता है। यह बाध 'प्रत्याम्नान' (उपदेश) के कारण हुआ।

विकृति में कहीं 'प्राकृत पदार्थों' का प्रत्यक्ष प्रतिषेध किया दिखलाई देता है। इस प्रकार के प्रतिषिद्ध पदार्थ भी अतिदेश के द्वारा प्राप्त नहीं कराये जाते। अतः यह बाध 'प्रतिषेध' के कारण हुआ।

साढ़े सात पाद तक अर्थलोप के कारण होने वाले बाध का विचार किया गया है। **प्रथम पाद** में अर्थलोपकृत बाध का साक्षात् विचार है। **द्वितीय पाद** में अनेक उदाहरणों द्वारा इसी का विस्तार किया गया है। **तृतीय पाद** में बाध के 'अपवाद' बतलाये गये हैं। **चतुर्थ पाद** में वैकृत अंगों के साथ 'प्राकृतों' का **समुच्चय** बतलाया है। **पंचम पाद** में ज्योतिष्टोम याग से सम्बन्धित ग्रह-विषयक **पदार्थैकदेश** का बाध बतलाया है। **षष्ठ पाद** में साम का बाध है। **सप्तम पाद** में ज्योतिष्टोमांगभूत **पशुयागानुबंधी बाध** का विचार है। **सातवें के अन्त में** प्रत्याम्नान के कारण बाध दिखलाया गया है। **अष्टम में** प्रतिषेध के कारण बाध का विचार किया गया है।

इस प्रकार सप्तमाध्याय में प्रारंभ किया **'अतिदेश-विचार'** दशमाध्याय में जाकर समाप्त होता है।

विकृति में अमुक अंग प्राप्त न होने से कतिपय अंगों का बाध-विचार द्वारा अंगपरिमाण (इतने अंग कर्तव्य हैं) का भी निरूपण हो जाता है। पश्चात् उसी प्रसंग में 'समान अंगों' की अपेक्षा रखनेवाले 'अनेक प्रधानों' का एक साथ अनुष्ठान किये जाने पर 'प्रत्येक प्रधान' के लिए 'प्रत्येक अंग' की आवृत्ति होगी या नहीं? इस रीति से अनुष्ठान या प्रयोगपरिमाण का भी निरूपण हो जाता है।

एकादशाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—**'तन्त्र-निरूपण'** के लिए ग्यारहवाँ और **'प्रसंग-निरूपण'** के लिए बारहवाँ अध्याय रचा गया है।

तंत्र और **प्रसंग** के अन्तर को भाष्यकार ने स्पष्ट किया है। जिसका 'सकृत् अनुष्ठान' अनेकोपकारक हो, उसे **तन्त्र** कहते हैं; जैसे अनेक ब्राह्मणों के बीच जलाया हुआ दीपक। जो आवृत्त होकर उपकार करे, उसे **आवाप** कहते हैं; जैसे 'उन्हीं ब्राह्मणों' का **अनुलेपन करना**। यह तो हुआ तन्त्र का विचार।

द्वादशाध्यायगत पादों की रचना का क्रम—दूसरे के लिए 'अनुष्ठित' का अन्य से भी सम्बन्धित होना **प्रसंग** कहा जाता है। जैसे प्रासाद में जलाया प्रदीप 'राजमार्ग' को भी प्रकाशित करता है।

अनेक प्रधानों की युगपत् अनुष्ठानप्रसक्ति होने पर ही उनके 'अंगानुष्ठान के विषय में' **तन्त्र** तथा **प्रसंग** विचारणीय होते हैं।

अतः अनेक प्रधानों की 'एकप्रयोगान्तःपातिता' औपोद्घातिक है। कहीं अंगों का तंत्रेण अनुष्ठान होता है, तो कहीं उनकी आवृत्ति करनी पड़ती है। अनेक उदाहरणों द्वारा **तन्त्र** तथा **आवृत्ति के विस्तार** पर ही एकादशाध्याय में विचार किया है।

किस प्रधान के उद्देश्य से अनुष्ठित अंग का कहाँ प्रसंग है? प्रसज्यमान अंगानुष्ठान के उद्देश्यभूत **तंत्री का निर्णय, प्रसंग के अपवादरूप में समुच्चय** और **विकल्प**—ये चार विषय द्वादशाध्याय में निरूपित है।

मीमांसा का विकास—प्रस्तुत मीमांसाशास्त्र अर्थात् विचारशास्त्र की जो सुन्दर-सी लता (बेल) जैमिनि ने लगाई, वह दिन-प्रतिदिन पुष्पित और पल्लवित होती गई। यहाँ तक कि एक बार ऐसी बसन्त की बहार आई, जो १९वीं सदी के आरम्भकाल तक रही। इस रमणीय काल की कल्पना का कुछ अस्पष्ट-सा चित्र, बुद्धिपटल पर अंकित कराने के लिए तत्कालीन अग्रगण्य कतिपय विद्वानों के नामों का निर्देश मात्र किया जा रहा है—

जैमिनि के सूत्र

उपवर्ष— वृत्तिकार (१०० ई० पू० २०० ई०)
शबरस्वामी— भाष्यकार (२०० ई०)

शबर के भाष्य पर

कुमारिलभट्ट— वार्तिक (६२०-७०० ई०)
प्रभाकर की टीका (६५०-७२०)
शालिकनाथ— टीका (६९०-७०७ ई०)
महोदधि— (७००-७७० ई०)
उम्बेक— व्याख्या (६७०-७५० ई०)
वाचस्पतिमिश्र— शाब्दबोध का ग्रन्थ (८००-९०० ई०)
पार्थसारथिमिश्र—सूत्रों पर व्याख्या (१०५०-११२० ई०)
भवदेव— तन्त्रवार्तिक के टीकाकार (११०० ई०)
श्रीकर— (११०० ई०)
भवनाथभट्ट— नयविवेक (१०५०-११५० ई०)
चिदानन्द— नीतितत्त्वाविर्भाव (१२००-१३०० ई०)
माधवाचार्य— न्या० मा० वि० (१२९७-१३८६ ई०)
परमेश्वर— मीमांसासूत्रार्थसंग्रह (१३००-१५५० ई०)

अप्पय्यदीक्षित—	विधिरसायन (१५२०-१५९३ ई०)
शंकरभट्ट—	मीमांसाबालप्रकाश (१५५०-१६२० ई०)
खण्डदेवमिश्र—	मीमांसाकौस्तुभ (१५७५-१६६५ ई०)
कमलाकरभट्ट—	शा० दी० टीका आलोक (१५९०-१६६० ई०)
गागाभट्ट—	भाट्टचिन्तामणि (१६३०-१७०० ई०)
रामानुजाचार्य—	तन्त्ररहस्य (१७५० ई०)
वाञ्छेश्वरयज्वा—	(१७६०-१८३० ई०)

खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि प्रभाकर जैसे कुशाग्रबुद्धि महामीमांसक का सम्प्रदाय क्यों और कैसे नष्ट-भ्रष्ट हो गया समझ में नहीं आता, तथापि रामानुजाचार्य १७५० ई० की ग्रन्थ-रचना से १८वीं शताब्दी तक तो वह सम्प्रदाय अवश्य ही था, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तक जब परम्परा चलती रही, तब इसके अन्तर्वर्ती काल में प्रभाकर-सम्प्रदायानुयायी विद्वान् तथा उनके ग्रन्थ भी अवश्य ही रहे होंगे। परन्तु उनके नाम व ग्रन्थ काल के गाल में किस प्रकार समा गये यह एक रहस्यमय आश्चर्य है। उक्त दोनों अर्थात् भाट्ट तथा प्राभाकर सम्प्रदाय में उस समय बड़ा संघर्ष चलता रहा। दोनों सम्प्रदायों ने एक-दूसरे के खण्डनार्थ ग्रन्थ-रचना कर अपनी-अपनी बुद्धि की अद्भुत शक्ति का परिचय दिया है, जो देखते ही बनता है—

भाट्ट-सम्प्रदाय का खण्डन तथा उम्बेक का खण्डन प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथ ने किया; तब शालिकनाथ का खण्डन भाट्ट-सम्प्रदाय के वाचस्पति व पार्थसारथि ने किया। वाचस्पति का खण्डन प्रभाकरानुयायी भवनाथ ने किया; तब भवनाथ का खण्डन भाट्ट-सम्प्रदाय के भवदेव ने किया। भवदेव का खण्डन प्राभाकर-सम्प्रदाय के नन्दीश्वर ने किया और नन्दीश्वर का खण्डन भाट्ट-सम्प्रदाय के चिदानन्द और नारायण पण्डित ने किया और इन दोनों का खण्डन प्राभाकर-सम्प्रदाय के रामानुजाचार्य ने किया। यह खण्डन का प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालों का रहा। इसके अतिरिक्त एक ही सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों ने भी एक-दूसरे का खण्डन कमर कसकर किया है; जैसे—

पार्थसारथि की शास्त्रदीपिका का खण्डन भाट्टदीपिकाकार खण्डदेव ने तथा भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट ने किया है। इन दोनों का खण्डन शास्त्रदीपिका के व्याख्याकार सोमनाथ ने किया है। विधिरसायनकार अप्पयदीक्षित का खण्डन खण्डदेव व सोमनाथ ने किया। सोमनाथ का खण्डन खण्डदेव के शिष्य शंभुभट्ट ने प्रभावलि में किया। मीमांसान्यायप्रकाश और अर्थसंग्रह दोनों का खण्डन न्यायसुधाकार ने किया है तथा शास्त्रदीपिका का समर्थन किया है। इसी तरह शास्त्रदीपिकाकार ने जो आक्षेप किये हैं उनका उद्धार वाञ्छेश्वरयज्वा ने अपनी व्याख्या भाट्टचिन्तामणि में किया है। खण्डदेव के शिष्य शंभुभट्ट ने शास्त्रदीपिका, न्यायसुधा, शंकरमिश्र, शंकरभट्ट, विधिरसायन, न्यायप्रकाश—सभी का खण्डन कर दिया है। उल्लिखित प्रसंग के चित्रांकन से उस युग में मीमांसा के विकास का उत्कर्ष अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका था, यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

सेश्वर-मीमांसा

मीमांसा के द्विविध-प्रवाह के अतिरिक्त एक विलक्षण प्रवाह और भी देखने में आता है। जब कि वेदबाह्य नास्तिक वेदप्रामाण्य का अपलाप करने लगे। एक ओर नैयायिक वेद-प्रामाण्य का अंगीकार करते हुए भी बड़े आग्रह के साथ वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध करने में सन्नद्ध हुए और वेदकर्तृत्व ईश्वर पर थोपने लगे, तब उस विकटतम परिस्थिति को देखकर प्राणपण से वेद के अप्रकम्प्य-प्रामाण्य-साधन में तत्परता के साथ जुटे हुए मीमांसकों ने सोचा कि यदि इनके कथनानुसार वेद का पौरुषेयत्व स्वीकार कर लेते हैं तो आगे चलकर 'भिक्षुपादप्रसर' न्याय से वह वेदकर्ता पुरुष 'ईश्वर' है या 'अन्य' कोई? इत्यादि अनेक सन्देह पैदा करके अन्य लोग धर्म के परमप्रमाणभूत वेद पर ही आघात किये बिना नहीं रहेंगे, तब मूल में आघात होने से धर्म सुरक्षित कैसे रह सकेगा? इसलिए मीमांसकों ने कहना आरम्भ किया कि किसी भी पुरुष का सर्वज्ञ होना असम्भव है, क्योंकि उसकी सर्वज्ञता में कोई प्रमाण ही नहीं है। जब कोई भी पुरुष सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता तब वह वेद का कर्ता कैसे माना जाय? अतः वेदों को पौरुषेय कहना अप्रामाणिक है। इस विषय पर बड़े जोर-शोर के साथ जब अनेक खण्डन-मण्डन होने लगे, तब कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में इच्छापुरःसर या अनिच्छापुरःसर मीमांसकों को अनीश्वरवाद चलाना पड़ा। जिस कारण अन्ततोगत्वा मीमांसकों के माथे 'अनीश्वरवादी' 'नास्तिक' आदि उपाधियाँ भी आरोपित की जाने लगीं।

इस निरीश्वरवाद के उपोद्बलकरूप में 'शब्दमयी देवता' इस विषयान्तर का स्वीकार भी करना पड़ा।

वेदवाक्यों का निपुणता के साथ पर्यालोचन करने पर स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यागोपयुक्त देवतास्वरूप में 'शब्द' का भी अन्वय होता है। यही कारण है कि जहाँ जिस मन्त्र का विनियोग किया जाता है, वहाँ तत्समानार्थ शब्दान्तर का उच्चारण करने पर अपेक्षित (निर्दिष्ट) फल की सिद्धि नहीं होती। शब्दप्रधान वेद में मन्त्र का शब्दस्वरूप प्रयोग में जैसे अवश्य अपेक्षित होता है, ठीक वैसे ही विधिघटक देवतावाचक पद का स्वरूप कर्मानुष्ठानकाल में भी अवश्य अपेक्षित होता है। उदाहरणार्थ—'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इस वाक्य के द्वारा विहित हुए याग में 'सूर्याय इदं न मम' इस प्रकार ही त्याग करना चाहिए, 'मित्राय इदं न मम' आदि पर्यायवाची शब्दों से नहीं।

यहाँ कुछ लोग यह आक्षेप कर सकते हैं—जब विधिवाक्य सुना जाता है तब लोकव्युत्पत्ति के अनुसार उस वाक्य में अन्य पदों की भाँति सूर्यादि पदों से भी अशब्दात्मक किसी अर्थ की प्रतीति होती है और उस पद से जुड़े हुए तद्धित आदि प्रत्यय के द्वारा उसी अर्थ में देवतात्व की प्रतीति होने लगती है, इस कारण विधि-वाक्य के शब्दों में देवतास्वरूप की घटकता कैसे सम्भव हो सकती है?

इस पर मीमांसकों का यह उत्तर है—अर्थ में जो देवतात्व ज्ञात होता है

उसका स्वरूप क्या है ? यदि वह प्रसिद्ध इन्द्रादिलोकान्तरवृत्ति, चेतनगत मनुष्यत्व आदि से पृथक् कोई धर्म-विशेष है तो कर्म-विशेषों में विहित 'अहोरात्र-संवत्सर' आदि में देवतात्व का सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिए देवतात्व की परिभाषा यही करनी होगी कि 'कर्मकाल में शब्द के द्वारा जिसका निर्देश किया जाय'।

शब्दोच्चारण के अतिरिक्त और कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिसके द्वारा यागांगभूत देवता का सम्पादन किया जा सके, अतः पुरुषप्रवर्तक विधि का तात्पर्य इसी में निर्णीत किया जाता है कि कर्मांगभूत देवता का सम्पादन करने के लिए पुरुष को शब्दोच्चारण ही करना चाहिए। इस स्थिति में 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' से यद्यपि सूर्यपदार्थवृत्ति देवतात्वनिरूपक याग की प्रथम प्रतीति होती है, तथापि कोई भी पुरुष, तद्वाचक शब्दोच्चारण किये बिना तादृश पदार्थवृत्ति देवतात्व का सम्पादन नहीं कर सकता, इस कारण प्रकृत कर्म का अनुष्ठान करने के लिए शब्दोच्चारण करने पर स्वयं सिद्ध होने वाले पदार्थवृत्ति देवतात्व की पुरुष को अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि विधि का तात्पर्य उसमें रहता है। अतः सूर्यशब्दमुच्चार्य यागं कुर्यात्' अर्थात् सूर्य शब्द का उच्चारण कर याग करे—यही उस वाक्य का अर्थ निश्चित किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रादि शब्दार्थभूत देवताओं में मीमांसकों को आदर नहीं है। इतना ही नहीं, पुराणादिकों में कहे गये देवताओं के विग्रह (शरीर) को भी वे अप्रामाणिक बतलाते हैं। मीमांसकों का कहना है कि यदि यागादिरूप आराधना से हवियों को स्वयं स्वीकार कर प्रसन्न हुए देवता अभीप्सित फल को देते जाँय तो चेतन की प्रसन्नता का कोई एक उपाय नियत न होने से कतिपय अंगों के न करने पर भी 'दीनता' 'शरणागति' आदि उपायों से हठात् प्रसन्न कराये गये देवता फल दे ही देगी, तब लोग ठीक-ठीक (मात्राभर भी जिसमें अन्यथाभाव न हो) कर्मानुष्ठान में श्रद्धा क्यों कर रखेंगे ? यदि फल की इच्छा है तो यथाविधि तदुपायभूत सांगकर्म का अनुष्ठान करना चाहिए—इस प्रकार की श्रद्धा को वृद्धिगत करने के लिए ही मीमांसकों की यह प्रवृत्ति रही होगी। वेद और वेदार्थ के प्रामाण्य की रक्षा करने में ही मीमांसकों का तात्पर्य रहा। अतएव तदनुकूल भूमिका के रचने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई। मीमांसकों ने यह सिद्धान्त उद्घोषित कर दिया—'विहित-निषिद्धकर्मों से उत्पन्न अदृष्ट और उससे मिलने वाले फल के अतिरिक्त कोई अलौकिक वस्तु नहीं है'। परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के पश्चात् इस सिद्धान्त से भारतीयों का जी मिचलाने लगा, क्योंकि अनादि काल से भारत के दो ही परमतत्त्व रहे हैं—एक तो 'वेद' और दूसरा 'ईश्वर'। सब कुछ व्यय करके भी इन दो तत्त्वों की निराबाध रक्षा करने में भारतीयों का सपरिश्रम प्रयत्न रहा है। अतः कतिपय विद्वानों ने सोचा कि यद्यपि मीमांसकों ने कर्म की प्रधानता सिद्ध करने के हेतु इस सिद्धान्ताभास को घोषित किया है, तथापि इसका साधारण जनसमाज पर कुपरिणाम होगा। इसलिए परिहास में भी इस सिद्धान्ताभास को जनता

के समक्ष रखना उचित न होगा, क्योंकि उत्तरोत्तर जनसमाज अल्पमति होने के कारण तात्पर्यग्राही नहीं होगा।

यह सब मन में सोच-विचार कर इस सिद्धान्त के प्रतिकूल विशिष्टाद्वैतियों ने बोलना आरम्भ किया-- ये विशिष्टाद्वैती सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-कवितार्किककेसरी वेंकटनाथ हैं। इनसे प्राचीन आचार्यों ने अनेक विवाद-स्थलों पर मीमांसकों के मतों का खण्डन मात्र कर मौनावलम्ब कर लिया है, परन्तु वेंकटनाथ ने अपने मत के अनुसार 'मीमांसासूत्रों' की व्याख्या की है। उसी प्रकार 'गौतमसूत्र' पर भी व्याख्या की है, जिसका नाम 'न्यायपरिशुद्धि' है। मीमांसार्थ-समीकरण के लिए दो ग्रन्थ रचे हैं— एक 'मीमांसापादुका', जिसमें ८६० स्त्रग्धरा वृत्त हैं। इसमें तर्कपाद के आठों अधिकरणों की व्याख्या की गई है। अर्थात् इसमें प्रमाण-प्रमेय सम्बन्धी विचार किया गया है। दूसरा ग्रन्थ जैमिनिसूत्रों के अक्षरार्थ का वर्णन करनेवाला है, जिसे 'सेश्वर-मीमांसा' कहते हैं। इसमें मीमांसा-सम्प्रदाय की अपेक्षया कुछ विलक्षण मत प्रतिपादन किये गये हैं। 'सेश्वर-मीमांसा' नाम से ही विदित हो जाता है कि इसमें ईश्वर का अंगीकार किया गया है।

नैयायिकों ने वेद को ईश्वरकर्तृक बतलाया है। किन्तु यह कहने पर वेद में कार्यत्व रूप हेतु से अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है। अर्थात् वेद अनित्य सिद्ध होते हैं। उनकी अनित्यता को हटाने के लिए वेद के स्वरूपसिद्ध्यर्थ या उसके प्रामाण्य के लिए ईश्वर नामक किसी पुरुष-विशेष की अपेक्षा नहीं, यह बतलाकर उस आनुमानिक ईश्वर के असद्भाव का भी प्रतिपादन किया है।

किन्तु सेश्वर मीमांसकों ने कहा है कि वास्तव में ईश्वर नाम का कोई पुरुष-विशेष है, जो कि सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ है। वह नित्य है, उसी प्रकार वेद नाम की शब्दराशि भी नित्य है। इस वेदराशि के ईश्वरकर्तृक होने में कोई प्रमाण नहीं है। इस तरह इन्होंने नैयायिकों का खण्डन किया है। वैदिक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लेने से बहुत-सी व्यावहारिक उलझनें सुलझ जाती हैं।

वेद में लिङादिविधिप्रत्ययों के द्वारा अभिधीयमान अर्थ किस प्रकार होता है? इस विषय पर अनेक विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग लिङ् का अर्थ — इष्टसाधन मानते हैं। कुछ लोग बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-कृतिसाध्यत्व-सहित 'इष्ट-साधन' को मानते हैं। कुछ लोग 'नियोग' नामक अपूर्व ही लिङ् का अर्थ बतलाते हैं। कुछ लोग लिङ् का अर्थ 'शब्दभावना' बतलाते हैं। ये सभी विद्वान् अपने-अपने मत के साधन में बड़े प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं। इतने विभिन्न मतों के होते हुए भी 'ईश्वर' का अंगीकार कर लेने पर 'ईश्वराज्ञा' ही वैदिक विधि है, यह कहा जा सकता है।

सेश्वर मीमांसा कहती है—'चोदना' कहने से विधिनिषेधात्मक श्रौतविध्युद्देश ही समझा जाता है और वह ईश्वराज्ञारूप होने से प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप पुरुष-व्यापार का प्रयोजक होता है। इसी कारण उसे 'चोदना' कहते हैं।

भगवान् स्वयं कहते हैं—'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे'। यह सेश्वरमीमांसा एकमात्र ईश्वर का ही नहीं बल्कि तत्तद् यागोद्देश्यभूत इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के अस्तित्व का भी स्वीकार करती है। देवता के आराधन को 'याग' कहते हैं। देवता का आराधन करने पर वह प्रसन्न होती है और पुरुष को उसका अभीष्ट फल वह स्वयं संपादन करा देती है। अतः शाब्दिक देवतायुक्त कर्म से 'अपूर्व' होता है और उससे 'फल' होता है, यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'शब्दमयी देवता' मानने पर देवताविशेष, उनके गुण और उनके प्रसाद का वर्णन करने वाले मंत्र और अर्थवाद भागों की उपपत्ति नहीं लग सकेगी।

यह बात शारीरक-देवताधिकरण में भाष्यकार ने स्पष्ट की है। इस रीति से यह सेश्वरमीमांसा ईश्वर, देवता आदि का स्वीकार करती है। किन्तु नवमाध्याय के देवताधिकरण में जैमिनि ने बतलाया है कि 'देवता' कर्म के 'गुण' बनकर रहते हैं। उनका प्रसाद प्राप्त करने लिए वे कर्म के द्वारा आराधनीय नहीं हैं, बल्कि द्रव्य और देवता के द्वारा संपादन किया हुआ एक मात्र 'कर्म' ही अदृष्ट के सहारे फल देता है। इस विरोध का परिहार करते हुए सेश्वरमीमांसक कहते हैं—एकमात्र कर्म से फल का प्रतिपादन जो जैमिनि ने किया है, वह कर्म में श्रद्धा बढ़ाने के लिए किया है। जिन्होंने वेदान्त का श्रवण नहीं किया, ऐसे लोगों की कर्म में अश्रद्धा न हो इसलिए देवताधिकरण में प्रौढिवाद से वह बात कही गई थी।

इस प्रकार वेंकटनाथ ने सेश्वरमीमांसा में बादरि-मत के साथ अविरोध सम्पादन कर अनेक अधिकरणों में मीमांसासूत्रों की प्रकारान्तर से व्याख्या की है और शबर तथा कुमारिल की व्याख्याओं को आँख से ओझल करवाने का प्रयत्न किया है।

मनु, पंतजलि आदि के अनुसार ये भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इन तीन प्रमाणों को मानते हैं। किन्तु प्रमेयों के अभ्युपगम में बहुत भिन्नता है।

वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार विशेषरूप से किया। इनके रचे हुए अनेक ग्रन्थ हैं—कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों के नाम वाचकों की जानकारी के लिए दे रहें हैं—

१. चुलुक, २. रहस्यत्रयटीका, ३. न्यायसिद्धाञ्जन, ४. पाञ्चरात्ररक्षा, ५. तत्त्वमुक्ताकलाप, ६. न्यासतिलक, ७. न्यासरत्नावलि, ८. न्यायपरिशुद्धि, ९. वादित्रयखण्डन, १०. अधिकरणसारावलि।

विद्वानों के कथनानुसार आपका समय ई० स० १२६७-१३६८ प्रतीत हो रहा है।

वेदापौरुषेयता का निष्कर्ष

वेद की अपौरुषेयता का वर्णन शास्त्रीय पद्धति से किया गया, परन्तु उसकी रूक्षता और क्लिष्टता के कारण वह जन-साधारण के बुद्धिगम्य नहीं हो पाता। अतः उसी के निष्कर्ष को वेदमन्दिरप्रवेशिकाकार ने सरस बना दिया है, उसे बतलाना अनुचित न होगा और अनायास बुद्धिगम्य भी हो सकेगा। अभिप्राय यह है—

१. अपौरुषेयतावाद मीमांसकों का है—वेद-मन्दिर में प्रवेश पाने के लिए पाँच द्वार हैं—(१) शब्दद्वार, (२) अर्थद्वार, (३) संबन्धद्वार, (४) वाक्यद्वार तथा (५) वाक्यार्थद्वार।

'पौरुषेयता' (पुरुषकृतता) ने क्रमशः अन्तःप्रवेश की चेष्टा की, किन्तु बुरी तरह विफल रही। सबसे पहले प्रथम शब्द नामक द्वार की ओर वह गई। सभी शब्दों की उत्पत्ति पुरुष से हुई है; अतः शब्द-समूह रूप वेद में प्रवेश करने का मेरा (पौरुषेयता का) जन्मसिद्ध अधिकार है—यह कहती हुई बढ़ी। परन्तु वह द्वार बन्द था और बाहर यह लिखा था—'नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्'। (जै० सू० १।१।१८) सभी शब्द नित्य हैं, क्योंकि उनका उच्चारण इसलिए किया जाता है कि श्रोता के कान तक पहुँच कर वक्ता का तात्पर्य बतला सकें। यदि शब्द अस्थिर होंगे तो मध्य में नष्ट हो जायेंगे; संसार का व्यवहार ही लुप्त हो जायेगा। अतः मानना होगा कि शब्दतत्त्व नित्य है। पुरुष की उत्पत्ति से पहले ही वर्तमान था। फिर पुरुष शब्द का उत्पादन कैसे कर सकता है? पौरुषेयता को कोई अधिकार नहीं कि अन्दर प्रवेश कर सके।

उधर से निराश होकर पौरुषेयता, द्वितीय 'अर्थद्वार' की ओर दौड़ी; भनभना रही थी—'शब्द यदि नित्य हैं तो रहें, शब्दों के अर्थ—घट, पट आदि तो नित्य नहीं हो सकते। वे तो निःसंदेह पुरुष के रचे हैं। 'अर्थ' पौरुषेय है, अतः इस द्वार पर मुझे कौन रोक सकता है? परन्तु वहाँ भी पौरुषेयता के भाग्य ने उसे धोखा दिया। जैसे ही वह पहुँची द्वार बन्द हो गया। बन्द होते हुए दरवाजों से ये शब्द निकल रहे थे—'सास्नादिविशिष्टाकृतिरिति ब्रूमः' (शाबरभाष्य १।१।५)। शब्द का अर्थ है—जाति। जैसे 'गौ' शब्द का गोत्व। जाति नित्य है; जाति रूप अर्थ को अनित्य कहना दण्डनीय है। पौरुषेयता को अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए; वह अन्दर नहीं आ सकती।

अब रहा तीसरा द्वार—'सम्बन्ध'। मुड़कर उधर पौरुषेयता बढ़ी। आवेश के साथ बड़बड़ा रही थी—'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करना पुरुष का काम है। बिना सम्बन्ध किये कोई भी शब्द किसी अर्थ को नहीं कह सकता। 'सम्बन्ध' पौरुषेय है, इस द्वार से अन्दर जाने में सफलता अवश्य मिलेगी। उस द्वार पर पौरुषेयता पहुँची और देखती क्या है? महर्षि जैमिनि के नाम का ताला लगा पड़ा है। पास जाकर देखा तो उस ताले पर खुदा हुआ था—'औत्सर्गिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (जै० सू० १।१।५)। 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है; उसे अनित्य—पौरुषेय—कहना निरी मूर्खता है। पौरुषयता यहाँ से तुरन्त लौट जाय।' पौरुषेयता की आँखों में खून छलक पड़ा, सिंहिनी बनकर चौथे वाक्यद्वार पर झपटी और गरजती जाती है—'वैदिक वाक्यों की रचना पुरुष की है। वाक्यसमूह वेद को अब पौरुषेयता के पंजे से कौन छुड़ा सकता है? याद रखो यदि किसी ने यह द्वार बंद करने की भूल की, तो खैर नहीं।' पौरुषेयता ने देखा कि वह द्वार तो खुला है; परन्तु एक भयंकर सिंह उसकी रक्षा कर रहा है। सिंहिनी पर दृष्टि पड़ते ही वह

गरज कर आकाश गुँजाने लगा—'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।१।२५)। सावधान पौरुषेयते ! आगे मत कदम बढ़ा, तू भूलती है। वाक्य यदि पौरुषेय हुआ तो क्या ? हमारा वाक्यार्थरूप वैदिक धर्म वाक्यों के निर्बल कन्धों पर कब टिक सकता है ? वह तो नित्य पदार्थों की सुदृढ़ भुजाओं पर अवलंबित है। तू लौट जा।

लज्जित होकर पौरुषेयता लौट पड़ी; पंचम द्वार भी बन्द देखा; फिर तो बिजली बन कर मन्दिर के शिखर पर जाकर कड़कने लगी। पौरुषेयता को बड़ी लज्जा आई। क्रोध पहले ही था; समस्त वैदिक शाखाओं पर हमारे ऋषियों ने अपनी कृति की मुहर लगा रखी है—काठक, कौथुम आदि। स्पष्ट है—कठादि नामधारी महापुरुषों ने उन-उन शाखाओं का निर्माण किया। उन्हें बीते अभी बहुत दिन नहीं हुए; दो-चार हजार वर्षों के अन्दर-अन्दर की बात है। पूर्ण मन्दिर पर स्वत्व मेरा है।

परन्तु उस मन्दिर के शिखर पर स्थापित सप्तधातुमय वैज्ञानिक कलश ने पौरुषेयता–बिजली को पकड़ लिया और उसे अपनी तार के द्वारा पृथिवी की जठराग्नि में होम कर दिया; मन्दिर पर आँच न आने पाई। कलश में से इन शब्दों की झनकार आ रहा थी—'आख्या प्रवचनात्' (जै० सू० १।१।१०)। कठादि महर्षियों ने वेद का प्रवचन किया; प्रणयन नहीं। वेदों में आये सभी नाम नित्य पदार्थों के हैं; दो-चार हजार वर्षों के पूर्व पैदा होने वाले किसी व्यक्ति का नाम वेदों में नहीं। अब सबल शब्दों में कहा जा सकता है कि पौरुषेयता की छाया भी हमारे वेदमन्दिर का स्पर्श नहीं कर सकती। वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं। सदैव से अध्ययन-अध्यापन के भगीरथ-पथ पर हमारी श्रुति त्रिपथगा बहती आई है। जिसकी कलकल ध्वनि में सुनाई देता है—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः'॥ (महा० १२।३३)

सृष्टि के आरम्भ में उस अनादि और अनन्त वेदवाणी का परमेश्वर ने जनश्रोत्रों में संचार किया; जिससे समस्त प्रवृत्तियाँ हुई। भगवान् मनु भी साक्षी देते हैं—'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' (मनु० १।२१)। अर्थात् आरम्भ में विद्यमान वेद शब्दों की सहायता से भूत-भौतिक प्रपंच की रचना ब्रह्मा ने की। अतः **वेदवाक् नित्य अपौरुषेय** है।

(३) जैमिनि से पूर्व मीमांसा की अवस्था एवं तत्कालीन आचार्य

जैमिनि-सूत्रों का परिशीलन करने पर प्रतीत होता है कि प्रातःस्मरणीय हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों की विचारधारा को ही मीमांसा कहा जाता रहा है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं। उस समय की विचारधारा का स्पष्ट रूप आज हमारे समक्ष न होने से हम 'इदमित्थं' करके नहीं बतला सकते कि वे विचार क्या थे,

उनकी रूपरेखा क्या थी, उनका कौन-सा संकलन था, तथापि वह एक अद्भुत विचारशैली थी, इतना कह सकते हैं।

जैमिनि ने अपने सूत्रों में पूर्ववर्ती ऋषियों का निर्देश किया है। उनके विचारों को जैमिनि ने कहीं पूर्वपक्ष में लिया है तो कहीं सिद्धान्त में भी लिया है। उदाहरणार्थ हम बादरि को लेते हैं, जैमिनि ने अपने सूत्रों में पूर्वपक्षी के रूप में तीन स्थलों[1] पर बादरि का उल्लेख किया है।

ब्रह्मसूत्र[2] में भी जहाँ प्रसंग आया है वहाँ जैमिनि और बादरि का मतभेद ही रहा है। भाष्यकार शंकर ने जैमिनि को पूर्वपक्ष में और बादरि को सिद्धान्त में रखा है। किन्तु मीमांसा-सूत्रों में ऐसा नहीं है। इसी प्रकार जैमिनि ने अन्य आचार्यों के नामों का भी उल्लेख किया है। जैसे—

आत्रेय—'फलमात्रेयो निर्देशात्' (४।३।१८), 'मुख्यानन्तर्यमात्रेयः' (५।२।१८), 'निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः' (६।१।२६) तीन बार उल्लेख आया है।

आलेखनः—'ऊर्ध्वभागभ्यस्त्वालेखनः' (६।५।१७) एक बार उल्लेख आया है।

आश्मरथ्यः—'अनिरूप्येऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यः' (६।५।१६) एक बार उल्लेख आया है।

ऐतिशायनः—'सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य०' (३।२।४३); 'स्याद्वास्य संयोगवत्फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मैतिशायनः' (३।४।३०); 'लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः' (६।१।६) तीन बार उल्लेख आया है।

कामुकायनः—'तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः' (११।१।५७); 'सकृदिज्यां कामुकायनः परिमाणविरोधात्' (११।१।६२) दो बार उल्लेख आया है।

कार्ष्णाजिनिः—'क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् कार्ष्णाजिनिः' (४।३।१७); 'सकुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात्' (६।७।३५) दो बार उल्लेख आया है।

जैमिनिः—'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' (३।१।४); 'कर्माभेदं तु जैमिनिः' (६।३।४); 'तदावृत्ति तु जैमिनिः' (८।३।७); 'अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः' (९।२।३९); 'जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः' (१२।१।७) पाँच बार उल्लेख आया है।

बादरायणः—'औत्पत्तिकस्तु⋯⋯तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (१।१।५); 'अन्ते तु बादरायणः०' (५।२।१९); 'जातिं तु बादरायणः' (६।१।८); 'विधिस्तु बादरायणः' (१०।८।४४); 'विधिवत् प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः' (११।१।६४) पाँच बार उल्लेख आया है।

---

१. 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' (मी० सू० ३।१।३), 'निमित्तार्थेन बादरिः' (मी० सू० ६।१।२७), 'कालाभ्यासेऽपि०' (मी० सू० ८।३।६), 'वर्णेतुर्बादरिः' (मी० सू० ९।२।३३)।

२. 'कार्यं बादरिः अस्य गत्युपपत्तेः परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्'। (ब्र० सू० ४।३।७)

बादरिः—'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' (३।१।३); 'निमित्तार्थेन बादरिः' (६।१।२७), 'कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात्' (८।३।६); 'वर्णे तु बादरिः' (९।२।३३)—यह चार बार उल्लेख आया है।

लावुकायनः—'विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः' (६।७।३७) एक बार उल्लेख आया है।

इसी प्रकार 'एके, एकेषाम्' इस अन्यार्थक एक शब्द से दस-ग्यारह बार अज्ञात आचार्यों का भी उल्लेख जैमिनि ने किया है। इन आचार्यों में से आश्मरथ्य तथा आलेखन का आश्वलायन ने अपने श्रौतसूत्र में क्रमशः ६।१०।२०, ६।१०।२९ पर उल्लेख किया है। कात्यायन ने कार्ष्णाजिनि (१।४४) और बादरि (४।९६) का उल्लेख किया है।

जैमिनि के सूत्रों में निर्दिष्ट महर्षियों के अतिरिक्त अन्य मीमांसक भी सुनाई पड़ते हैं। जैसे काशकृत्स्न-प्रणीत मीमांसा। इस नाम के सिवाय कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। रामानुज-सिद्धान्त के अनुयायियों ने इसका समर्थन भी किया,[1] किन्तु ग्रन्थ के सम्बन्ध में किसी ने कुछ भी नहीं कहा; केवल एक सूत्र में कह दिया है कि 'अन्ते हरिः कीर्तनात्' इति। किन्तु ऐसी आनुपूर्वी कहीं नहीं मिलती और न किसी ने बतलाई ही है। उल्लिखित आचार्य-गण एक ही समय के हैं अथवा भिन्न-भिन्न समय के तथा ये सब एक स्थान पर ही थे या भिन्न-भिन्न स्थानों पर थे, यह कहना कठिन है। इसी तरह इन सभी आचार्यों के या कुछ ही परिमित आचार्यों के अपने-अपने मीमांसा-सूत्र थे, जिनमें से उनके मतों का संग्रह जैमिनि ने अपने सूत्र में किया; या ऋषियों के सम्मेलनों में जिस किसी के मतों को सुनकर या किसी के साथ व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श कर उसके मतों का संग्रह किया अथवा अपनी गुरु-परम्परा से जो प्राप्त हुआ उसी को सूत्ररूप से संगृहीत किया, इत्यादि किसी प्रकार की कल्पना के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है, तथापि जैसे यास्काचार्य के द्वारा उल्लिखित प्राचीन निरुक्ताचार्यों के नामों को देखकर निरुक्तभाष्यकार दुर्गाचार्य ने तेरह निरुक्तों के होने की कल्पना की, वैसे ही हम भी प्राचीन मीमांसाचार्यों के नामों को देखकर कल्पना कर सकते हैं।

(४) मीमांसा की विचार-शैली और भाषा की दृष्टि से उसकी प्राचीनता

मीमांसादर्शन में प्रतिपाद्य विषयों के विचार करने की शैली अन्य दर्शनों की अपेक्षा कुछ निराली ही है, उस पर व्यावहारिकता एवं वैज्ञानिकता की पूरी-पूरी छाप है। मीमांसक-गण इस व्यावहारिक तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि अवयव-पञ्चक से परिपूर्ण विचार ही किसी अर्थ के निश्चय करने में समर्थ हो पाता है।

---

१. शतदूषणी।

लोक-व्यवहार में भी यही शैली प्रचलित है—किसी विषय (बात) पर जब कोई निर्णय कराना चाहता है, तब उसे प्रथमतः अपना विषय (जिस पर निर्णय कराना है) उपस्थित करना होता है अर्थात् इस विषय को लेकर मुझे विचार करना है—यह विचार का **प्रथम** अवयव है। उसके पश्चात् कोटिद्वयात्मक अथवा बहुकोटिक संशय; अर्थात् यह होना उचित है या नहीं? उपस्थित करना—यह विचार का **द्वितीय** अवयव है। तदनन्तर वादी को सभी सम्भाव्य अनेक युक्तियों से सिद्धान्त के विपरीत पक्ष का समर्थन करना होता है, इसे पूर्वपक्ष कहते हैं—यह विचार का **तृतीय** अवयव है। अन्त में प्रतिवादी अपने वादी के द्वारा उपस्थित की गई युक्तियों को काटने वाली प्रबल युक्तियों से अपने पक्ष को परिपुष्ट करते हुए उपस्थित करता है, जिसे सिद्धान्त का रूप प्राप्त होता है—यह विचार का **चतुर्थ** अवयव है, तब उसी के अनुसार निर्णय किया जाता है। विचार के चारों अवयवों में यही प्रधान अवयव है। क्योंकि निर्णय की इच्छा होने पर ही पूर्ववर्ती चार अवयवों की प्रवृत्ति होती है। इस निर्णय (प्रयोजन) को **पञ्चम** अवयव कहते हैं[1]।

इन पाँच अवयवों अर्थात्—(१) विषय, (२) संशय, (३) पूर्वपक्ष, (४) सिद्धान्त एवं (५) निर्णय (प्रयोजन) के द्वारा किसी विषय (वस्तु) के विवेचन को ही विचार कहते हैं। मीमांसक-गण इस अवयव-पञ्चक को ही 'अधिकरण' कहते हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि अधिकरण के छह अवयव होते हैं। उनके मत से पूर्व और उत्तर अधिकरण की संगतिरूप[2] छठे अवयव को समझ लेना चाहिए। पश्चात् बतलाये जाने वाले विषय का पूर्वोक्त विषय के साथ यदि सम्बन्ध (संगति) न बतलाया जाय तो लोग उसे असम्बद्धभाषी कहेंगे। इस आक्षेप से अपने को बचाने के हेतु निरूपणीय विषयों को एक श्रृंखला की तरह परस्पर सम्बद्ध रखना होता है कि कहीं वे विश्रृंखल न हो जाँय। इसीलिए मीमांसादर्शन में संगति की ओर बड़ा ध्यान रखा गया है। चूँकि नैयायिकादि अन्य शास्त्रकारों ने भी अपने-अपने शास्त्रों में संगति की ओर थोड़ा-बहुत ध्यान दिया है, परन्तु मीमांसकों जैसा नहीं। इस मीमांसादर्शन में एक सहस्र अधिकरणों के होने की बात बतलाई जाती है, परन्तु यह प्रायोवाद है; सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ९०७ अधिकरण माधव के मत से हैं। अन्य विद्वान् कुछ न्यूनाधिक भी बतलाते हैं। कुछ भी हो, सभी अधिकरण पूर्व-पूर्व के अधिकरणों से सम्बद्ध पाये जाते हैं। अन्यान्य शास्त्रों में प्रासंगिकी संगति ही अधिक रूप से उपलब्ध होती है। किन्तु मीमांसाशास्त्र में इसके अतिरिक्त पाँच प्रकार की संगति और भी प्रचुरतया दृष्टिगोचर होती है और प्रासंगिकी संगति तो स्वल्प मात्रा में। हाँ, भाष्यकार-वार्तिककार जैसे प्रौढ व्याख्याताओं ने अपने ग्रन्थों में

१. 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्'॥ (सर्वदर्शनकौमुदी)
२. 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
निर्णयः सङ्गतिश्चैव शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्'॥ (सर्वदर्शनकौमुदी)

संगति का उल्लेख नहीं किया है, तथापि तदनन्तरकालिक व्याख्याता मीमांसक-गणों ने व्याख्या करते समय प्रायः सर्वत्र ही संगति को बतलाया है।

किसी विषय पर इस प्रकार विचार के द्वारा निर्णय करने की मीमांसा की शैली अर्वाचीन न होकर वेदकालीन है—यह ऐतरेय-तैत्तिरीय-शतपथादि ब्राह्मण-ग्रन्थों के देखने से स्पष्ट हो जाता है। संहिताभाग में विधि-विषयक विचार का अवसर ही न होने से इस शैली की गवेषणा वहाँ नहीं की जा सकती।

तैत्तिरीयसंहितान्तर्गत अग्निहोत्रब्राह्मण में अग्न्युपस्थान[1] पर इसी शैली से विचार किया गया है—प्रतिदिन प्रातः-सायं अग्निहोत्रानुष्ठान कर चुकने पर किया जाने वाला (अनुष्ठीयमान) अग्न्युपस्थान—विचार का विषय है, उसे करें या न करें—यह हुआ संशय; उस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'न उपस्थेयः' यह कहा होने से अग्नि का उपस्थान नहीं करना चाहिए—यह पूर्वपक्ष है। यहाँ पूर्वपक्षी की युक्ति इस प्रकार है—जैसे कोई धनार्थी किसी धनी के समीप जाकर उसे नारियल आदि कुछ फल भेंट कर उससे धन की याचना करता है, जिससे उस धनी को बड़ा दुःख होता है। वह मन में सोचता है कि यह याचक प्रतिदिन ही आकर उपद्रव देने लगा है। जब यह साधारण लोकस्थिति है, तब देवता तो बहुत ही बड़े हैं, उनसे कौन भला माँगने की हिम्मत कर सकता है? उपस्थान भी धन-पुत्र-पशु आदि की याचना करना ही तो है। इसलिए इस याचनारूप उपस्थान को नहीं करना चाहिए। इस रीति से पूर्वपक्ष के उपस्थित किये जाने पर सिद्धान्त (उत्तरपक्ष) किया गया है कि यहाँ जो उपस्थान की बात प्रस्तुत है वह आहिताग्नि यजमान की आशीःप्राप्ति की प्रार्थनारूप है। सभी मनुष्य अपने लिए बड़ों से आशीर्वाद की इच्छा किया करते हैं। इस इच्छा से कोई भी कुपित होता देखा नहीं गया, बल्कि सन्तुष्ट ही होता देखा गया है। अतः उपस्थान करना आवश्यक है—यह सिद्धान्त है, अर्थात् उत्तरपक्ष है।

इस रीति से यहाँ पर अग्निहोत्रोपस्थान—विषय है उस पर संशय, तब पूर्वपक्ष कर अन्त में सिद्धान्त, निष्कर्ष में निर्णय देकर पाँच अवयवों को बतलाया गया है। इसी तरह अन्यस्थल[2] में भी इसी प्रकार विचार किया गया है। यहाँ 'मीमांसन्ते'

---

१. 'उपस्थेयोऽग्नी ३नोपस्थेया ३इत्याहुः मनुष्यायेन्वै योहरहराह्मत्याथैनं याचति समन्वै, तमुपार्च्छति अथ को देवानहरहर्याचिष्यतीति तस्मान्नोपस्थेयः। अथो खल्वाहुराशिषे वै कं यजमानो यजत इति एषा खलु वा आहिताग्नेराशीर्यदग्निमुपतिष्ठते तस्मादुपस्थेयः इति'। (तै० सं० १।५।९।६)

२. 'उत्सृज्यां ३नोत्सृज्यां ३इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः, तद्वाहुरुत्सृज्यमेवेति अमावास्यायां च पौर्णमास्यां चोत्सृज्यमित्याहुः, एते हि यज्ञं वहत इति, तेत्वाव नोत्सृज्ये इत्याहुः, ये अवान्तरं यज्ञं भेजाते इति या प्रथमा वयष्टका तस्यामुत्सृज्यमित्याहुः'। (तै० सं० ७।५।७)

'उत्सर्गिणामयनम्' नामक याग का एक मास अनुष्ठान कर दूसरे मास के प्रथम

के द्वारा मीमांसा शब्द का भी प्रयोग किया गया है। ऐसे ही अन्य[1] कितने ही स्थल उपलब्ध हो सकते हैं। सायण भी 'वेदेऽपि तत्र विचारपूर्वकं सन्देहापनयनमुपलभामहे' कह कर वेद में मीमांसापूर्वक निर्णय किये जाने का साक्ष्य देते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में भी 'तिष्ठद्यूपा३, अनुप्रहरे३त् इत्याहुः' इत्यादि विचार किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। हाँ, कहीं-कहीं सभी अवयवों के न रहने पर भी विचार के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता; अर्थात् यह सभी विचार मीमांसा रूप ही हैं।

मीमांसा शब्द से परिचित होनेवाली इस विचार-शैली का वेद में ही प्रथमतः दर्शन होता है, उसके पश्चात् लौकिक वाक्यों में भी वह शैली उतर आई अर्थात् लौकिक वाक्यों के रूप में रचे गये वेदार्थ-विचार रूप शास्त्र में उसने अपना स्थान प्राप्त किया। तब शास्त्रों में भी इस विचार-शैली का इसी (मीमांसा) नाम से व्यवहार होने लगा। शास्त्रकारों ने इस नाम का बड़ा आदर किया, यहाँ तक कि अनेकों ने अपने ग्रन्थों में मीमांसा शब्द का प्रयोग भी कर डाला। जैसे—'अथातो भक्तिमीमांसा' 'अथातः श्राद्धमीमांसा' इत्यादि। इससे यह प्रतीत होता है कि विचार अर्थ में मीमांसा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वेद में हुआ। पश्चात् शास्त्रकारों ने भी अपने ग्रन्थों के गौरव-वर्धनार्थ उसी का अनुकरण किया। आजकल प्रायः शिक्षित समाज सर्वसाधारण विचार करने के लिए भी मीमांसा शब्द का प्रयोग करते पाया जाता है। उसका कारण यही हो सकता है कि प्रथमतः 'पूज्य विचार' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग देखकर उसके प्रति श्रद्धातिशय रहने के कारण सार्वत्रिक विचार के लिए भी उसका प्रयोग कर लिया गया हो। इससे स्पष्ट है कि मीमांसा की विचारशैली कितनी प्राचीन है तथा वैज्ञानिक होने से कितनी लोकप्रिय है।

केवल (निरुपपद) मीमांसा शब्द का प्रयोग कर्मकाण्डरूप वेद के पूर्वभाग के विचार के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। मीमांसा इतना मात्र कहते ही पूर्वमीमांसा का ही स्मरण होता है। उत्तरमीमांसा, भक्तिमीमांसा, श्राद्धमीमांसा या काव्यमीमांसा का स्मरण नहीं होता। मीमांसा के साथ तत्तद्विशेषणों के जोड़ने पर ही उनका स्मरण हो पाता है। शास्त्रकारों ने भी निरुपपद[2]

दिन अनुष्ठेय ज्योति नामक योग का उत्सर्ग करे या न करे; यह संदेह उपस्थित कर बिना पूर्वपक्ष के ही उत्सर्ग करने का ही सिद्धान्त बतला दिया है।

१. 'सहस्रं सहस्रतम्यन्वेती३सहस्रतमीं सहस्रा३म्' इति ब्रह्मवादिनो वदन्ति न्यङ्ङग्निश्चेतव्या३ उत्ताना३ इति।

२. 'प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायती कृता'। ('कुमारिलभट्ट—श्लोकवा० चौ० सं० १८९८, १०, पृ० ४)

'मीमांसाम्बुनिधिं प्रमथ्य'। (खण्डदेव—मी० कौ०)

'मीमांसासागरस्तेन क्रीडापुष्करिणी भवेत्'। (माधवाचार्य—जै० न्या० सन् १८९२, आनं० पूणे, ९, पृ० ४)

'मीमांसा दीदांसारीत्या मत्या परिष्कुर्वे'। (वासुदेवदीक्षित—मी० कुतूह०)

मीमांसा शब्द का ही प्रयोग किया है। उत्तरमीमांसा[1] के लिए तो विशेषण के साथ ही मीमांसा शब्द का प्रयोग किया गया है। इस व्यवहार से यह लक्षित होता है कि मीमांसा का अपना विशिष्ट महत्त्व रहा होगा।

मीमांसा की प्राचीनता

दोनों मीमांसाओं को देखने पर यह समझने में कठिनाई न होगी कि उत्तर-मीमांसा की प्रवृत्ति आत्मतत्त्व—मोक्ष आदि के निरूपणार्थ हुई है और पूर्वमीमांसा की प्रवृत्ति कर्मकाण्डगत धर्मस्वरूप, उसके साधन आदि के निरूपणार्थ हुई है। वेद में भी प्रथमतः (पूर्व), कर्मकाण्ड और बाद में ज्ञानकाण्ड है। अतः प्रथमतः कर्मानुष्ठान के द्वारा ज्ञान के परिपक्व होने पर ही ज्ञानकाण्ड में अधिकार प्राप्त हो सकता है। कर्मानुष्ठान के लिए कर्मकलाप के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। एतदर्थ अबाधित एवं निर्णीत अर्थज्ञान के लिए पूर्वमीमांसा की आवश्यकता होने से पूर्वमीमांसा की प्राथमिकता अनायास ही सिद्ध हो जाती है। कर्मानुष्ठान से कषायों के परिपक्व हो जाने पर ज्ञानोदय[2] के लिए उपनिषद्रूप ज्ञानकाण्ड का विचार कर्तव्यतया उपस्थित होता है। तब निष्कृष्ट अर्थज्ञान के लिए उत्तरमीमांसा की आवश्यकता होती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तरमीमांसा पूर्वमीमांसा के अनन्तर की है और पूर्वमीमांसा पूर्व की है।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी मीमांसा की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'मीमांसते' 'बोभुत्सते' इत्यादि शब्दों के अर्थवैशद्य के लिए पाणिनि ने एक पृथक् सूत्र ही बनाया है। बौधायन (४।१।१०) एवं वासिष्ठ (२२।२) धर्मसूत्रों में भी 'मीमांसन्ते' शब्द-प्रयोग सूत्रित किया है। कुछ धर्मसूत्रों में मीमांसा के केवल नियम और तत्त्वों को बतलाया है। जैसे समान बलवाले ग्रन्थों में विरोध आने पर वैकल्पिक पक्ष का आश्रय करना श्रेयस्कर होता है, ऐसा गौतमधर्मसूत्र में और आपस्तंबधर्मसूत्र में (१।१।४।८) विधायक प्रत्यक्ष वेदवचन के होने पर उसको अनुमित श्रुति की अपेक्षया बलवान् माना जाता है; अर्थात् श्रेयस्कर होता है।

उक्त निर्णायक वचन जैमिनि के सूत्र (१।३।३) का अनुसरण कर रहा है। आपस्तंबधर्मसूत्र में एक जगह 'केवल सुख-प्राप्ति के लिए उसके साधन के अनुष्ठान में मनुष्य प्रवृत्त होता है, उसके लिए शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती' इस अभि-प्राय का वाक्य मिलता है। जैमिनि ने भी उसी बात को बतलाया है। आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र में मीमांसा के तत्त्वों को न्याय शब्द से सम्बोधित किया है। आपस्तम्ब के सूत्रों में (२।६।१३।११) में और पूर्वमीमांसा के सूत्र (६।१।१७) में बहुत ही साम्य दीखता है। पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में मीमांसकों का उल्लेख किया है (किलहार्न पु० १, पृ० २३९)। पतञ्जलि ने काशकृत्स्न-प्रणीत मीमांसाशास्त्र का

१. 'तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायाम्'। (शंकराचार्य)
२. 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते'।

अध्ययन करने वाली ब्राह्मणी का उदाहरण दिया है (किलहार्न पु० २, पृ० १०६-२४९-३३५)। ब्रह्मसूत्र (१।४।२२) में काशकृत्स्न को उत्तरमीमांसाशास्त्र का अध्यापक होने से गुरु बतलाया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने परिसंख्या का विवेचन करते हुए सर्वत्र प्रसिद्ध एक वचन उद्धृत किया है—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' जिसकी व्याख्या करने से यह अनुमान किया जा सकता है कि ईसा से कुछ शतक पूर्व ही मीमांसाशास्त्र के नियम पूर्णतया पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। दूसरी बात यह है कि पतञ्जलि से कतिपय वर्ष पूर्व मीमांसाशास्त्र पर निबन्ध भी रचे जा चुके होंगे—यह अनुमान भी किया जा सकता है, जिसकी पुष्टि श्रौतसूत्रों के देखने से होती है। श्रौतसूत्रों में भी कुछ सूत्र ईसा से कितने ही शतक पूर्व निर्मित हो चुके थे। जैमिनि के ग्रन्थ में शास्त्र की स्पष्टता के लिए जो नियम सूत्रित किये गये हैं, उनका ज्ञान वाचकों को पहले से ही है, यह श्रौतसूत्रों के द्वारा सूचित होता है।

द्वितीय परिच्छेद

(१) मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि का काल-निर्णय

जैमिनि के इतिवृत्त का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव भी है, तथापि यथाशक्ति पर्यालोचन से जहाँ तक सम्भव हो प्रयास करना अनुचित न होगा। इस दृष्टिकोण से विवेचन करने का यथासाध्य प्रयत्न किया जा रहा है।

जैमिनि के काल के विषय में कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं —

हूणजातीय सर जॉन एज़ (Sir John Edge) का मत है कि मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर के अनन्तर अर्थात् ईसा पश्चात् १३वें शतक[1] में जैमिनि ने इस भूमण्डल को अलंकृत किया था।

आधुनिक कतिपय ऐतिहासिकों ने विक्रम-पूर्व तृतीय शताब्दी जैमिनि का काल माना है। उस पर प्रो० जैकोबी[2] ने अपना मत प्रकट किया है कि विक्रम-पूर्व तीसरी शताब्दी तक जैमिनि का काल नहीं खींचा जा सकता, क्योंकि जैमिनि और बादरायण समकालीन प्रतीत होते हैं।

कर्ममीमांसा के लेखक डॉ० कीथ[3] का भी मत इसी प्रकार है। किन्तु मैक्स-

---

१. तदिदमनूद्य स्वयं निराचकार किशोरीलाल सरकार M. A. B. L. कृत 'Mimansa Rules as applied to Hindu Law' इति निबन्धने (पृ० २५)—

Any how the theory which Sir John Edge accepted in his Judgement in the case of Baniprasad, Hardai Bibi that Jaimini lived in 13th cent. of the C. E. and that he was consequently subsequent in date to the Mitakshara is certainly incorrect. (Mimansa Rules as applied to Hindu Law : K. L. Sarkar p. 25)

2. Prof. Jacobi in his contribution to Indian Studies in honour of Charles Rockwell Lanman (1929) pp. 145-165, places the Mimansa Sutras of Jaimini between 300–200 B. C. on the assumption and belief that Jaimini is post Paniniyan, a contemporary of Katyayan and prior to Patanjali (T. B. B.) तत्त्वबिन्दु-भूमिका।

3. Prof. Keith in his paper on 'Some Problems of Indian Philosophy' (I. H. Q. 1932) does not, however, accept the reasons of Prof. Jacobi but has assigned the philosophical sutras including the Mimansa sutras to a date between the chief Upnishads and the

मूलर[1] का कहना है कि दर्शनकारों का काल-निर्णय करना आकाशपुष्प को तोड़ने के समान है।

मिस्टर दासगुप्ता[2] इनका काल २०० बी० सी० मानते हैं, तो सर राधाकृष्णन्[3] ४०० बी० सी० इनका काल बतलाते हैं।

जैमिनि ने स्मृति, आचार, कल्पसूत्र तथा व्याकरण का प्रसंग अपने ग्रंथ में दिया है[4]। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है अपने प्रमाण भी उपस्थित किये हैं।[5] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जैमिनि ही पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं, जिसका विवेचन आगे करेंगे। जैमिनि के मीमांसासूत्र तथा बादरायण के वेदान्तसूत्र के सम्बन्ध बड़ी ही सरलता से खोज की जा सकती है। दोनों सूत्रों के लेखक अपनी-अपनी कृति में एक-दूसरे को अधिकारी के रूप में उद्धृत करते हैं[6]। परन्तु बाद-

---

third and fourth century A. D. (Sanskrit Literature p. 472). In his Karmamimansa also he says that it is, then, a plausible conclusion that the Mimansa Sutra does not date after 200 A. D. (p. 5).

1. All this is very discouraging to students accustomed to chronological accuracy, but it has always seemed to me for better to acknowledge our poverty and the utter absence of historical dates in the litarary history of India than to build up systems after systems which collapse on the first breath of criticism or scepticism. (Six Systems of Indian Philosophy p. 121).

2. Jaimini's Mimansa Sutras were probably written about 200 B. C. (Das Gupta, A History of Indian Philosophy' Vol. I p. 370)

3. 'The fourth century B. C. is the earliest period we can assign for Jaimini's work'. (Sir S. Radhakrishnan's Indian Philosophy Vol. II p. 376 and footnote)

४. 'धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्'। (स्मृतिप्रामाण्याधिकरण, जै० सू० १।३।१)

'अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात्'। (होलाकाधिकरण, जै० सू० १।३।१५)

'प्रयोगशास्त्रमिति चेत्'। (कल्पसूत्राधिकरण, जै० सू० १।३।११)

'प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात्'। (व्याकरणाधिकरण=साधुपदप्रयुक्त्यधिकरण जै० सू० १।३।२४)

५ 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। (धर्मलक्षणाधिकरण=धर्मप्रमाणाधिकरण, जै० सू० १।१।२)

६. (क) जैमिनिसूत्रों में **'बादरायण'** का उल्लेख—

(i) 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं **बादरायण**स्याऽनपेक्षत्वात्' (जै० सू० १।१।५)।

रायण जैमिनि के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भिन्न हैं, क्या इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जैमिनि, जिसको बादरायण ने उद्धृत किया है, वेदान्त-सूत्रकार हैं? सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि[1] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैमिनि ने स्वयं ही अपने वेदान्तसूत्रों की रचना की है, जिनमें से प्रथम दो सूत्र तो लगभग वे ही हैं, जो बादरायण के हैं[2]। प्राचीन-चरित्रकोशकार श्रीचित्राव

(ii) 'अन्ते तु **बादरायण**स्तेषां प्रधानशब्दत्वात्' (जै० सू० ५।२।१९)।
(iii) 'जातिन्तु **बादरायणो**ऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याऽविशिष्टत्वात्' (जै० सू० ६।१।८)।
(iv) 'विधिन्तु **बादरायणः**' (जै० सू० १०।८।४४)।
(v) 'विधिवत् प्रकरणाऽविभागे प्रयोगं बादरायणः' (जै० सू० ११।१।६४)।
(ख) ब्रह्मसूत्रों में **जैमिनि** का उल्लेख—
(i) 'साक्षादप्यविरोधं **जैमिनिः**' (ब्र० सू० १।२।२८); 'सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति' (ब्र० सू० १।२।३१)।
(ii) 'मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं **जैमिनिः**' (ब्र० सू० १।३।३१); 'धर्मं जैमिनिरत एव' (ब्र० सू० ३।२।४०)।
(iii) 'शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति **जैमिनिः**' (ब्र० सू० ३।४।२); 'परामर्शं **जैमिनि**रचोदना चापवदति हि' (ब्र० सू० ३।४।१८)।
(iv) 'तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः' (ब्र० सू० ३।४।४०)।
(v) 'परं **जैमिनि**र्मुख्यत्वात्' (ब्र० सू० ४।३।१२)।
(vi) 'ब्राह्मेण **जैमिनि**रुपन्यासादिभ्यः' (ब्र० सू० ४।४।५)।
(vii) 'भावं **जैमिनि**र्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११)।

१. 'यतो न जैमिनेरयमभिप्रायः, आम्नायः सर्वत्र क्रियार्थः इति। यदि हि अयमभिप्रायोऽभविष्यत् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', 'जन्माद्यस्य यतः' इत्येवमादि ब्रह्म-वस्तुस्वरूपमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपरं गम्भीरन्यायसन्दृब्धं सर्ववेदान्तमीमांसनं श्रीमच्छारीरकं नाऽसूत्रयिष्यत्, असूत्रयच्च'। (नैष्कर्म्यसिद्धि पृ० ५२, प्रथमाध्याय १।९०)।

2. Prof. K. A. Nilakantha Shastri in his paper on 'Jaimini and Badarayana' duplicates Jaimini to differentiate the mimansist from the Vedantin, (Vide Indian Antiquary Vol. L. 211 ff). But in some cases of acharyas, the mimamsist himself can be a vedantin. The Jaimini referred to in the Shabarbhashya on VI 3.1. may, however, be a different person other than the Purva Mimansa Sutrakara. Hence no room for assuming a third Jaimini as a darshanakara. (Keith's Sanskrit Literature, p. 475)

शास्त्री का कथन है कि ब्रह्मसूत्रों को जैमिनि ने रचा हो और उन पर कृष्णद्वैपायन के द्वारा कुछ संस्कार किया गया हो। किन्तु शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रों को बादरायण कृत ही मानते हैं। यह अन्तिम सूत्र के अवतरण से ज्ञात होता है—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र० सू० ४।४।२२)। कर्मकाण्ड की शास्त्रीय व्याख्या के सिद्धान्तों के विषय में तो जैमिनि तथा बादरायण दोनों ही एकमत हैं और टीकाकारों के अनुसार बादरायण ने कई स्थलों पर जैमिनि के सूत्रों को 'तदुक्तम्' के रूप में उद्धृत किया है, जब कि 'धर्मं जैमिनिरत एव' (ब्र० सू० ३।२।४०) तथा 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) की भाँति अनेक सूत्रों में उसने अपूर्व के सिद्धान्त तथा वेदों की नित्यता—जैमिनि के द्वारा 'चोदना पुनरारम्भः' (जै० सू० २।१।५) तथा 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० सू० १।१।२९) सूत्र में जैसी प्रतिपादित की गई थी, उसी को प्रतिपादित किया है[1]। छान्दोग्योपनिषद्-वाक्यों को लेकर ही अधिकतर सूत्र-रचना की गई है। द्रामिडाचार्य ने श्रीभाष्य-श्रुतप्रकाशिका में जैमिनि को प्रणाम किया है। कृष्णद्वैपायन के नाम का उल्लेख तक नहीं किया है; उनके इस व्यवहार से वेदान्तसूत्र की रचना भी जैमिनि ने ही की होगी—इस कल्पना को पुष्टि मिलती है।

जैमिनि के व्यक्तिगत परिचय का प्रयास—यह कौत्स कुल के हैं। युधिष्ठिर के यज्ञ में ऋत्विज थे (महाभा० १०।७४।८)। पश्चात् मय-सभा में युधिष्ठिर के प्रवेश करने पर महान् समारोह मनाया गया था, उस समय भी इनके वहाँ होने का उल्लेख मिलता है (म० भा० सभापर्व ४।१७)। भीष्म के शरशय्या पर स्थित रहने पर अन्य मुनिगणों के साथ ये भी वहाँ उपस्थित थे (म० भा० शान्तिपर्व ४७)। जनमेजय के सर्पसत्र में इन्होंने औद्गात्र किया था—'उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान् कौत्सार्यजैमिनिः' (म० भा० आदिपर्व अ० ४८ तथा अनुशासनपर्व अ० ५३)। पञ्चतन्त्र का ज्ञान रखनेवाले लोगों का कहना है कि जैमिनि की मृत्यु हाथी के द्वारा कुचले जाने से हुई है[2]।

सामवेद में कृष्णद्वैपायन के ये शिष्य थे (म० भा० आदिपर्व अ० ६३)। ऐसी धारणा है कि जैमिनि के भारत में पाण्डवों का गौरव जैसा रहना चाहिए वैसा वर्णित न हो सकने के कारण अश्वमेध के अतिरिक्त भाग को व्यास की आज्ञा से जैमिनि ने स्वयं नष्ट कर दिया। जैमिनि-अश्वमेध, महापुराण-उपपुराण के अतिरिक्त एक पुराण है, उसमें भागवत का उल्लेख मिलता है—'भारतं हरिवंशं च पुत्रदं धनदं भवेत्। श्रीमद्भागवतं पुण्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्'॥ (जै० अश्व० ५८।९)

---

१. 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' (ब्र० सू० ३।३।९); 'लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि' (ब्र० सू० ३।३।४४); 'श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः' (ब्र० सू० ३।३।४९); 'इतरे त्वर्थसामान्यात्' (ब्र० सू० ३।३।१३); 'गौण्यसम्भवात्' (ब्र० सू० २।३।३)।

२. 'उन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्'। (पञ्चतन्त्र)

जैमिनि-अश्वमेध का काल ई० पू० १०० तो गृहीत करना ही पड़ता है (पुराण-निरीक्षण पृ० ८२)।

चरणव्यूह के भाष्य में महीदास का कथन है कि सामवेद की राणायनीय शाखा का जैमिनीय के नाम से नवाँ भेद इसने किया। यह संहिता कर्नाटक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण—सामवेद के इन ब्राह्मणों को इन्होंने प्रकाशित किया, जो आजकल उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त जैमिनि-श्रौतसूत्र, जैमिनिनिघण्टु, जैमिनिपुराण, ज्येष्ठमाहात्म्य, जैमिनिभागवत, जैमिनि-भारत, जैमिनिसूत्र, जैमिनिसूत्रकारिका, जैमिनिस्तोत्र, जैमिनिस्मृति इत्यादि ग्रन्थ इनके नाम पर प्रसिद्ध हैं।

भाष्यकार ने 'अत उपपन्नं जैमिनिवचनम् आकृतिः शब्दार्थं इति' (शा० भा० १।१।५, पृ० ५२) पाठ से जैमिनि को ही मीमांसासूत्रकार माना है। महावैयाकरण उपवर्ष 'पाणिनि' के गुरु हैं (कथासरित्सागर)। 'पाणिनि' का काल 'राजवाडे' के मत से ई० पू० अष्टम शतक है। किन्तु चित्रावशास्त्री 'पाणिनि' का काल ई० पू० १२००–९०० बतलाते हैं और काले के मत से ई० पू० ७०० है।

सुमन्तु, वैशम्पायन, पुलस्त्य व पुलह—इन चार वज्रनिवारकों के तुल्य यह जैमिनि भी एक पाँचवाँ वज्रनिवारक था, ऐसा पुराणवचन है (शब्दकल्पद्रुम)। १. जैमिनि, २. तलवकार, ३. सात्यमुग्र, ४. राणायनि, ५. दुर्वासस्, ६. भागुरि, ७. गारुण्डि, ८. गौर्गुल्वि, ९. भगवान् औपमन्यवकारडि, १०. सावर्णि, ११. गार्ग्य, १२. वार्षगण्य और १३. दैवन्त्य—इन आचार्यों को जैमिनि ने उपाकर्मांग तर्पण में बतलाया है (जै० गृ० सू० १।१४)। यह सामवेद का श्रुतर्षि है। ब्रह्माण्डपुराण के वाचकों की परम्परा में इसका नाम है। व्यास की सामशिष्य-परम्परा में इसका नाम श्रुत है, किन्तु वायु और ब्रह्माण्ड के मत से इसे लांगलि का शिष्य बतलाया गया है।

विद्यावंश बतलाते हुए सामविधान ब्राह्मण[1] में जैमिनि को पाराशर्यव्यास का शिष्य बतलाया गया है।

एक दूसरे स्थल पर हमें मीमांसाशास्त्र की दैवी उत्पत्ति[2] तथा उसकी लोकप्रियता

---

१. सोयं प्राजापत्यो विधिः ताम् इमां प्रजापतिः बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिः नारदाय, नारदो विश्वक्सेनाय, विश्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यों जैमिनये, जैमिनिः पौष्पिण्ड्याय पाराशर्यायणाय, पाराशर्यायणो बादरायणाय (Quoted by Prof. R. A. Nilakantha Sastri in his paper on 'Jaimini and Badarayana' p. 173, I. A. Vol. L. 1921)

२. ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसा प्रोवाच सोपीन्द्राय सोऽप्यग्नये स च वसिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णाद्वैपायनाय सोऽपि जैमिनये स च स्वोपदेशात् अनन्तरम् इमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवान् इति' Another version of this guruparampara is known with slight modification. ब्रह्मा महेश्वरो वा प्रजापतये मीमांसा प्रोवाच,

का वर्णन अनेक आचार्यों द्वारा किया गया प्राप्त होता है। जिसमें सबसे अन्तिम जैमिनि दिखलाई पड़ते हैं।

भागवतपुराण के अनुसार पराशर तथा सत्यवती के पुत्र व्यास ने वेदों को चार भागों में विभाजित किया तथा सामवेदसंहिता का अपने अनेक शिष्यों में से जैमिनि को उपदेश दिया था[१]। उसी पुराण के १२।६।७५ में जैमिनि को सुमन्तु का गुरु तथा सामवेद का प्रकाशक बतलाया गया है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र[२] में सुमन्तु, वैशम्पायन तथा अन्य धर्माचार्यों के साथ जैमिनि का नाम बार-बार उपलब्ध होता है।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश-महाकाव्य[३] में ब्रह्मज्ञानी के रूप में जैमिनि को बतलाया है।

ज्यौतिष-सूत्रकार के रूप में भी जैमिनि का नाम प्रसिद्ध है।[४] पातञ्जल-महाभाष्य में 'मीमांसकाः' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है।[५]

मीमांसा के बीसों अध्यायों पर 'उपवर्ष' की वृत्ति थी। भाष्यकार शबरस्वामी ने कितनी ही जगह कहीं 'वृत्तिकार' शब्द से तो कहीं पर 'उपवर्ष' पद से उनका उल्लेख किया है। भगवत्पूज्यपाद आचार्य शंकर ने भी शारीरकभाष्य के स्फोटवाद (ब्र० सू० १।३।२८) में 'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः, तथा 'एक आत्मनः शरीरे भावात्' (ब्र० सू० ३।३।५३) सूत्र के भाष्य में 'भगवता उपवर्षेण प्रथमे

प्रजापतिः इन्द्राय, इन्द्र आदित्याय सोऽप्यग्नये etc. (Yuktisnehaprapurani, p. 4, N. S. Ed.)

१. 'पराशरात् सत्यवत्याम् अंशांशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभागो वेदश्चक्रे चतुर्विधम्॥
तेषां स चतुरः शिष्यान् उपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन् एकैकस्मै ददौ विभुः॥
साम्नां जैमिनये प्राह ततः छन्दोगसंहिताम्॥
(श्रीमद्भागवत २।६।४९, ५५)।

२. प्राचीनावीतिसुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्या इति (आश्व० गृ० सू० ३।४।५) तथा जैमिनिगृह्यसूत्र का तर्पणप्रकरण १।१४ में १३ आचार्यों के साथ जैमिनि का उल्लेख है।

३. महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात् स योगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः॥
(रघु० १८।३३)

४. चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी से मुद्रित—'रामायतन' व्याख्या के साथ मुद्रित है।

५. 'अथेह कस्मान्न भवति याज्ञिकश्चायं वैयाकरणश्च कठश्चायं बह्वृचश्च औक्थिकश्चायं मीमांसकश्च'—(महाभाष्य, अध्या० २, पा० २, सू० २९)

तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः इत्युद्धारः कृतः' कहकर उनका उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि मीमांसा के बीसों अध्यायों पर 'उपवर्ष' की वृत्ति थी।

जैमिनि के सूत्रों पर उपवर्ष ने वृत्ति लिखी थी; यह तथ्य शबरस्वामी के लेख[१] से अवगत होता है। इन सूत्रों की व्याख्या करनेवालों में प्राचीनतम व्याख्याकार उपवर्ष ही हैं। भाष्यकार अत्यन्त आदर के साथ इनका अनेक बार उल्लेख करते हैं।[२] अतः जैमिनि के काल की कल्पना करने में इनके काल का विचार सहायक हो सकेगा ऐसी आशा है।

कथासरित्सागर यदि विश्वासार्ह है, तो उसके आधार पर यह स्पष्टतया कहना होगा कि पाणिनीय-व्याकरण पर वार्तिक की रचना करने वाले कात्यायन[३] (वि० पू० २७००) के समकालीन उपवर्ष हैं। तब यह कह सकते हैं कि पंतजलि[४] के पूर्व उपवर्ष, कात्यायन आदि हैं और उनके पूर्व जैमिनि प्रतीत होते हैं। गम्भीर विचार करने पर जैमिनि की और भी अधिक प्राचीनता सिद्ध हो सकती है। पाणिनि[५] स्वयं क्रमादिगण में मीमांसा का उल्लेख कर अपने आपको जैमिनि से अर्वाचीन बतलाते हैं। मि० वेबर उक्त गणपाठ में प्रक्षेप की सम्भावना कर उसके अपाणिनीय होने का सन्देह प्रकट करते हैं, तथापि महाभाष्य का अध्ययन-अध्यापन करनेवाले विद्वानों को इसकी प्रामाणिकता में अल्प-स्वल्प भी सन्देह नहीं है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'मीमांसक' शब्द अनेक स्थलों पर दिखलाई देता है।[६] प्रातिशाख्य के तीन भाष्यों में से एक के कर्ता 'वररुचि' बतलाये जाते हैं।[७] यह वररुचि यदि वार्तिककार[८] ही हैं तो प्रातिशाख्य की रचना के समय ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुए मीमांसा के प्रवर्तक जैमिनि का काल वररुचि आदिकों से भी पूर्व सिद्ध

---

१. अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकार-ओकर-विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः' (शाब० भा० १।१।५ पृ० ४५, पूना सं०)

२. बह्वृचश्च औक्थिकश्चायं मीमांसकश्च'। (महाभाष्य २ अ०, २ पा०, २९ सू०; २।३।१६, ३।१।६, ७।१।२; शाब० भा०)

३ युधिष्ठिरमीमांसाककृत 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' पृ० २११।

४. वि० पू० १५०० पतंजलि; सं० व्या० शा० का इति० पृ० २११।

५. वि० पू० २८०० पाणिनि; सं० व्या० शा० का इति० पृ० २११।

६. 'मीमांसकानाञ्च मीमांसकानाञ्च' (तै० प्रा० अध्या० ५ सू० ४१)।

७. 'व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम्'।
कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूसुरप्रियम्'॥
(तै० प्राति० त्रिभाष्यरत्नोपक्रम)।

८. महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में वररुचि को 'स्वर्गारोहणकाव्य' का कर्ता माना है। स्वर्गारोहणकाव्य के प्रसंग में उद्धृत श्लोकों से वररुचि ही वार्तिककार कात्यायन हैं। (सं० व्या० शा० का इति० पृ० २११)

हो जाता है। यदि पाणिनि और वररुचि को समान काल में भी माना जाय तब भी इन वैयाकरण-त्रयों की अपेक्षया जैमिनि का काल अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है।

कात्यायनादि श्रौतसूत्रों के तात्पर्य को मीमांसा-पद्धति के द्वारा हृदयंगम करने के लिए कितना बौद्धिक परिश्रम करना पड़ता है, वह किसी विद्वान् से छिपा नहीं है।[1] यदि श्रौतसूत्रकार मीमांसासूत्रों से परिचित न होते तो इस मीमांसा मार्ग को वे अपने सूत्रों में कैसे अपनाते? कात्यायन का परिचय पाने के लिए सर्वानुक्रमणी के व्याख्याकार 'षड्गुरुशिष्य' के वचनों को प्रमाणरूप में दिया जा सकता है। इसी आधार पर मैक्समूलर ने महावार्तिककार वररुचि, कात्यायन और श्रौतसूत्रकार कात्यायन की एकता का निर्णय किया है।[2] इस रीति में मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि का काल व्याकरण के सभी मूलपुरुषों से प्राचीन सिद्ध हो रहा है।

पाणिनि (ई० पू० ६००–३००; पी० वी० काणे) से आश्वलायन के प्राचीन होने में यदि सन्देह न हो तो नडादिगण में आश्वलायन (ई० पू० ८००–४००; पी० वी० काणे) पद की व्युत्पत्ति के लिए 'अश्वल' शब्द पढ़ा गया है। प्राचीनत्व में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि शौनक[3] और आश्वलायन में गुरु-शिष्य सम्बन्ध प्रसिद्ध

---

१. कात्यायन और जैमिनि के सूत्रों की समानता—

कात्यायन	जैमिनि
(क) विशास्तिपशुमन्यः	शमिता च शब्दभेदात्। सू० (३।७।२८)
(ख) उपगादर्शनाच्च	उपगाश्च लिङ्गदर्शनात्। सू० (३।७।३०)
(ग) विक्रयीत्वन्यः शूद्रसंयोगात्	विक्रयीत्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् इत्यादि। सू० (३।७।३१)

२. सशिष्यशौनकाचार्यतयोदशकविन्मुनिः।
वाजिनां सूत्रकृत्साम्नामुपग्रन्थस्य कारकः॥
स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नाञ्च कारकः।
अथर्वाणां निर्ममे यः सम्यग्वै ब्रह्मकारिकाः॥
महावार्तिकनौकारः पाणिनीये महार्णवे।
यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवाँस्तु पतञ्जलिः॥

इसकी व्याख्या मैक्समूलर ने की है (Ancient Sanskrit Literature p. 122), यहाँ 'भ्राजमानां' पाठान्तर को देखकर मैक्समूलर ने कहा है—'Bhrajamana is unintelligible, it may be Parshada'. (पार्षद)। किन्तु महाभाष्यकार ने भाष्य के आरम्भ में बतलाया है कि 'भ्राजानाम श्लोकाः 'अतः भ्राजनाम्नां' यही पाठ हमें उचित प्रतीत होता है।

३. श्रीमद्भागवत और वायुपुराण के अनुसार यह गृत्समद शुनक का पुत्र है, किन्तु विष्णुपुराण के अनुसार यह गृत्समद का ही पुत्र है। इससे चारों वर्णों की सन्तति हुई (वायुपु० २।३०।३-४। ब्रह्मपु० ११।३४। हरिवंश १।२९) यह भार्गव था (महाभार० ५।१२), यह चातुर्वर्ण्य का प्रवर्तक था (विष्णुपु०

है। पाणिनि ने अपने सूत्र[१] में शौनक के नाम का उल्लेख किया है। अतः पाणिनि से शौनक का अत्यन्त प्राचीनत्व स्पष्ट हो जाने से उसके शिष्य आश्वलायन की प्राचीनता में अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। आश्वलायन रचित श्रौतसूत्र के परिशीलन से भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि वे मीमांसा-सूत्रों से भलीभाँति परिचित थे।[२]

प्रवर-प्रकरण में आश्वलायन स्वयं जैमिनि के नाम का उल्लेख करते हैं। इस रीति से विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि पाणिनि से पूर्ववर्ती शौनक और आश्वलायन हैं; और उनसे भी पूर्व मीमांसासूत्रकार जैमिनि हैं। शौनक-विरचित बृहद्देवता में जैमिनिसूत्रों के प्रत्यभिज्ञापक श्लोक पाये जाते हैं।

ऐसा सुना जाता है कि मीमांसासूत्रों पर बोधायनकृत एक वृत्ति थी।[३] यदि यह बोधायन (ई० पूर्व पंचम शतक) याजुषश्रौतसूत्रकार बोधायन से भिन्न न हों तो जैमिनि का पाणिनि से प्राचीनतरत्व निर्विवाद स्थिर हो जाता है। क्योंकि पाणिनि की अपेक्षया बोधायन का प्रचीनतरत्व विमर्शकों द्वारा निश्चित किया जा चुका है।[४]

मीमांसा-सूत्रों में कतिपय अपाणिनीय शब्दरूप भी जैमिनि की प्राचीनता स्थिर करने में सहायक हैं।[५]

व्यासबादरायण के सम्बन्ध के आधार पर भी जैमिनि का समय निर्धारित किया जा सकता है।[६] पं० अभयकुमार गुह जैसे प्रामाणिक विद्वान् व्यास और

४।८।१), यह बह्वृच् प्रवर का है (भाग० १।४।१, ३।१७।३); ऋग्वेद सम्बन्धी सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध यही शौनक हो यह संभव है। दूसरे मण्डल का द्राष्टा गृत्समद शौनक है। यह शुनहोत्र का औरस पुत्र है और शुनक का माना हुआ पुत्र है। यह प्रथम आंगिरस था, पश्चात् भार्गव हुआ (ऋष्यनुक्रमणी २)।
(चरित्रकोष—चित्रावशास्त्री)

१. 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (अष्टा० ४।३।१०६)

२. 'प्रतिनिधिष्वपि' (आ० श्रौ० सू० ११६, पृ० ४५९)। 'प्रतिनिधौ चाविकारात्' (जै० सू० ९।३।२३)

३. 'प्रपञ्चहृदय'।

४. Sanskrit Literature, A. A. Macdonell, p. 259। ई० पूर्व ८००-४००; पी० वी० काणे० धर्मशा० इ० पृ० २३५।

५. 'गव्यस्य च तदादिषु' गोविकार के अर्थ में 'गव्य' शब्द का प्रयोग साधु माना गया है, किन्तु 'गवामयन' में उसका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'द्यावोस्तथेति चेत्' यहाँ 'द्यावापृथिव्योः' प्रयोग करना चाहिए था। 'द्यावोः' प्रयोग व्याकरणानुसारी नहीं है।

६. Jivatman in the Brahma Sutras, 1921; मत्स्यपुराण १४-१६ में कहा गया है कि वेदव्यास का बादरायण भी एक नाम था।

बादरायण को भिन्न नहीं मानते।[1] व्यास और जैमिनि में गुरु-शिष्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।[2] मि० वेबर शंकरदिग्विजय के आधार पर शंकराचार्य से दो-तीन शताब्दी पूर्व व्यास का काल निश्चित करते हैं, अर्थात् ईसा पश्चात् पाँचवी शताब्दी में व्यास और अष्टम शताब्दी में शंकर को मानते हैं। शंकरदिग्विजय के आधार पर यदि मि० वेबर ऐसा मानते हैं, तो प्रमाणान्तर के आधार पर यह भी कहना अनुचित न होगा कि द्वापर-कलियुग की सन्धि[3] में बादरायण और तदनन्तर थोड़े ही समय के पश्चात् शंकर हुए हैं। शंकरदिग्विजय की रचना आचार्य की प्रशंसा के लिए होने से उसमें परस्पर विरुद्ध बातें भी पाई जाती हैं। अतः उसके आधार पर किसी बात का निर्धारण करना आदरणीय न होगा। यह जो कहा जाता है कि पातञ्जल-योगसूत्र के भाष्यकार व्यास पतञ्जलि की अपेक्षया अर्वाचीन हैं, किन्तु प्रसिद्ध व्यास-कर्तृक ग्रन्थों की तथा योगसूत्रभाष्य की शैली देखी जाय तो उनका एककर्तृकत्व प्रतीत नहीं होता। योगसूत्रभाष्य में अनेक जगह 'तदुक्तम्' कहकर बार-बार गीता के श्लोक प्रमाणरूप में दिये गये हैं। कैसे भला कोई अपना ही कथन स्वयं प्रमाण रूप में देगा?

अतः 'तदुक्तम्' कहने से अन्य किसी परम आप्त महापुरुष का यह वचन है, यह अभिव्यञ्जित होता है। इस भाष्य के व्याख्याकार वाचस्पति ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'वेदव्यासेन भाषिते' कहा है, अतः योगभाष्य का बादरायण-कर्तृकत्व वाचस्पतिमिश्र को अभिमत नहीं है। मूल में जहाँ भी 'तदुक्तम्' कहकर प्रमाण का उपन्यास किया जाता है, वहाँ वाचस्पति 'वैयासिकीं गाथामुदाहरति' ऐसा अवतरण देते हैं, अतः भिन्नकर्तृकत्व ही वाचस्पति को अभीष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि भगवत्पाद आचार्य के 'व्यासः कलिद्वापरसन्धौ आसीत्' वचन को जाननेवाले भामतीकार वाचस्पति स्वयं अन्यत्र पतञ्जलि से व्यास को अर्वाचीन कैसे बतलाते?

पतञ्जलि, कात्यायन तथा वररुचि का वचन भी है, जिसमें व्यास के नाम का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। 'सुधातुरकङ् च' (सूत्र ४।१।९७) के समीप ही कात्यायन का वचन है —'व्यास-वरुड-निषाद-चण्डाल-बिम्बानां चेति वक्तव्यम्' (वा०

---

१. 'द्वीपे बदरिकामिश्रे बादरायणमच्युतम्।
पराशरात्सत्यवती पुत्रं लेभे परन्तपम्'॥ (से० मी० पृ० ४४)

२. 'सुमन्तुं जैमिनिं वैल्वं शुकं चैव स्वमात्मजम्।
प्रभुर्वसिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च॥
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकीर्तिताः'॥ (सेश्वर० मी० पृ० ४४)
तथा—जैमिनेर्बादरायणशिष्यत्वञ्च............इति हि स्मर्यते।
(शतदूषणी, तृतीयवादान्ते)

३. 'तथाहि—अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिः विष्णुनियोगात् कलि-द्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः सम्बभूव इति स्मरन्ति'। (ब्र० सू० शां० भा० ३।३।३२)

२६११)। इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि को अपनी दिव्यदृष्टि से भविष्य का पता चल गया था कि आगे चलकर संशयालु स्वभाव के बुद्धिमान् लोग व्यास के विषय में भी सन्देह करेंगे कि यह व्यास कौन है? इसीलिए उन्होंने वार्तिक में पठित अन्य सब को त्यागकर केवल 'व्यास' को ही 'उसके पुत्र' के साथ उदाहरण के रूप में चुना—'वैयासकिः शुकः'।

यह भी कहना अनुचित न होगा कि नडादिगण में बदर-द्वीप शब्दों का पाठ होने से उनसे 'फक्'[1] प्रत्यय लगाकर बादरायण और द्वैपायन शब्द निर्मित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि 'बादरायण कृष्णद्वैपायन' व्यास को जानते थे।

'कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च'[2] इस सूत्र और उसके भाष्य को देखने से यह भलीभाँति प्रतीत होता है कि पुराणों में जिस क्रम से वैदिक शिष्याचार्य-परम्परा बतलाई गई है, उससे पाणिनि-पंतजलि भी भलीभाँति परिचित थे।

पैल एवं वैशम्पायन दोनों व्यास के शिष्य-गणों में बतलाये गये हैं। पाणिनि ने दोनों का उल्लेख शाखा-विशेष प्रवर्तक कठादि आचार्यों के रूप में किया है। इस कारण पाणिनि से इन दोनों के अत्यन्त प्राचीन होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। निष्कर्ष यह है कि 'बादरायण व्यास' तथा उनके शिष्य 'जैमिनि' भी पाणिनि से अत्यन्त प्राचीन हैं। अतः पुराणों से बढ़कर अन्य कोई भी उपकारक साधन न उपलब्ध है और न हो सकता है। इसलिए पुराणों के आधार पर कलि और द्वापर की सन्धि में व्यास का स्थितिकाल निश्चित किया जा सकता है। अतः उनके शिष्य जैमिनि का भी वही काल निश्चित करना उचित होगा। इस रीति से गणित-ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों के अनुसार ईसा पूर्व पाँच हजार वर्ष 'जैमिनि' का काल स्थिर किया जा सकता है।

आधुनिक पाश्चात्य एवं तदनुयायी समीक्षक विद्वानों की ईसापूर्व तीन-चार सौ वर्ष के सूत्रकाल की दृढ़ वासना होने से तथा मीमांसा-सूत्रों की विशद एवं सरल शैली को देखकर वे उनकी अत्यन्त अर्वाचीनता की कल्पना करते हैं। जिन विद्वानों के मत से वेदों का काल पाँच-छह हजार वर्षों तक ही सीमित है, उनकी दृष्टि से विचार करने पर भी मीमांसा-सूत्रों की प्राचीनता अक्षुण्ण ही रहती है।

कुछ लोग यह सन्देह करते हैं कि 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'[3] सूत्र की व्याख्या करते समय 'पुराण' से व्यावृत्ति करने के लिए 'आश्मरथ्येन प्रोक्तः आश्मरथः कल्पः' को प्रत्युदाहरण के रूप में दिखलाया गया है[4]। अतएव सिद्ध होता है कि आश्मरथ्य पुराणकालीन न होकर पाणिनि के समकालीन है। उस आश्मरथ्य का मीमांसासूत्रों में उल्लेख होने से ये मीमांसासूत्र निःसन्देह 'पाणिनि' के बाद के ज्ञात होते हैं।

---

१. पाणिनि सू० ४।१।९९।
२. पा० सू० ४।३।१०४।
३. पा० सू० ४।३।१०५।
४. सिद्धान्तकौमुदी-बालमनोरमा पृ० ७७८, मद्रास संस्करण, ई० १९१०।

किन्तु उपर्युक्त युक्त्याभास से भी मीमांसा-सूत्रों की प्राचीनता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। 'पुराण' शब्द केवल प्राचीन अर्थ का ही बोधक नहीं है, बल्कि प्राचीनतम अर्थ का सूचक है। अतः पाणिनि से प्राचीनतम शाट्यायन[१] आदि की अपेक्षया आश्मरथ्य[२] के अर्वाचीन होते हुए भी 'पाणिनि' की अपेक्षया उसके प्राचीन होने में कोई बाधक नहीं है। कण्वादिगण के पाठ से भी इसकी पुष्टि होती है।

दूसरी बात यह है कि पाणिनि ने आपस्तम्ब का उल्लेख किया है, जिससे पाणिनि के पूर्व उसकी स्थिति सभी विद्वान् मानते हैं। वह आपस्तम्ब अपने श्रौत-सूत्र में आश्मरथ्य का नाम-निर्देश करता है, उसी तरह आश्वलायन भी अपने श्रौतसूत्र में उनका नाम लेते हैं। अतः मीमांसा-सूत्रों का या उसके रचयिता का काल ईसापूर्व पाँच हजार वर्ष स्वीकार कर लेने में अभी कोई बाधक प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

(२) मीमांसासूत्रों के व्याख्याकारों का परिचय

उपवर्ष

(ईसा-पूर्व १०० से २०० ई०)

ये पाटलि-पुत्र के निवासी 'शंकरस्वामी' के पुत्र और 'पाणिनि' के गुरु के भ्राता हैं। इन्होंने पूर्वोत्तर मीमांसा-सूत्रों पर वृत्ति लिखी है। शबर और शंकराचार्य ने इनका बार-बार निर्देश किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'बोधायन' का ही संभवतः यह नामान्तर हो। किन्तु 'श्रीभाष्यकार' दोनों को एक नहीं मानते, क्योंकि 'ऐकात्म्याधिकरण' (ब्र० सू० ३।३।५३) में शंकराचार्य ने उपवर्ष का उल्लेख किया है। श्रीभाष्यकार उसी अधिकरण को प्रत्यगात्मपरक मानते हैं। एक किंवदन्ती है कि बोधायनवृत्ति केवल एक ही बार 'रामानुजाचार्य' को काश्मीर में देखने को मिली थी। उतने ही अवसर में उन्होंने उसे पूरा पढ़ डाला और उसके आधार पर 'श्रीभाष्य' लिखा है।

---

१. 'शाटचायनगृह्यसूत्र' इसके नाम पर उपलब्ध है (९।९)। शाटचायन-ब्राह्मण से अनेक कथाएँ सायणभाष्य में दी गई हैं। आधार के लिए शाटाचयनि के लेखों को लिया गया उपलब्ध होता है। शतपथब्राह्मण (८।१।४।९, १०।४।५।२) में इसके उद्धरण अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं (जै० उ० ब्रा० १।६।२, ३०।१, २।२।८, ४।३, ९।१०, ३।१३।६, २८।५)। सामविधानब्राह्मण की अन्तिम वंशावलि में इसे बादरायण का शिष्य बतलाया है। यह 'शंग' का पैतृक नाम है। आश्वलायनश्रौतसूत्र मे 'शाटचायनक' नाम से इसके मत का निर्देश है (आश्व० श्रौ० सू० १।४।१३)। लाटचायनश्रौतसूत्र में इसके अनुयायियों का अनेक स्थलो पर निर्देश किया गया है (लाटचा० श्रौ० सू० १।२।२४)। शाटचायनब्राह्मण आजकल उपलब्ध नहीं है।

२. अश्मरथ का वंशज, इसका नाम सूत्रग्रंथों में मतभेद-प्रदर्शन के समय आता है (आश्व० श्रौ० सू० ६।१०; ब्रह्मसू० १।२।२९, १।४।२०)।

जैमिनिसूत्रों के प्रथम व्याख्याकार उपवर्ष का उल्लेख हमें शाबरभाष्य में 'भगवान्' उपाधि के साथ प्राप्त होता है।[१] आचार्य शंकर ने भी अपने 'देवताधिकारण' के भाष्य में 'उपवर्ष' को इसी उपाधि से संबोधित किया है[२]। यह उपाधि स्वयं इनके महत्त्व की परिचायक है।

उपवर्ष का व्यक्तित्व—मीमांसासूत्र के आदि-व्याख्याकार उपवर्ष का व्यक्तित्व आज भी विवादास्पद बना हुआ है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री 'कुप्पुस्वामी-शास्त्रीगल' ने 'श्रीभाष्यतत्त्वटीका' के अनुसार 'उपवर्ष' तथा 'बोधायन' को एक ही माना है[3]। किन्तु 'डा० एस० कृष्णस्वामी अयंगार' इस मत के समर्थक नहीं हैं। क्योंकि प्रपञ्चहृदय में पूर्व तथा उत्तरमीमांसा सूत्रों पर २० अध्यायों के व्याख्याकारों के रूप में 'बोधायन तथा उपवर्ष' दोनों का ही प्रसंग उपलब्ध होता है[४]। उन्हीं के एक अन्य प्रमाण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'बोधायन' तथा 'उपवर्ष' भिन्न हैं। 'मणिमेखलाई' ने (जैमिनि तथा व्यास सहित) एक 'कृतकोटि' को आठ प्रमाणों के मानने वाले आचार्य के रूप में उद्धृत किया है और बोधायन के द्वारा रचित 'कृतकोटि' नामक वृत्ति भी प्रसिद्ध है। प्रपञ्चहृदय के आधार पर 'कृतकोटि' संज्ञा का प्रयोग 'लेखक' तथा 'कृति' दोनों के लिए 'माघकाव्य' की भाँति किये जाने की सम्भावना है। अतः डॉ० अयंगार के अनुसार 'कृतकोटि' तथा 'बोधायन' की एकरूपता स्पष्ट हो रही है। इस प्रकार 'उपवर्ष' एवं 'बोधायन' तथा बोधायन एवं 'कृतकोटि' की एकात्मता (Identity) एक समस्या बनी हुई है।

किन्तु 'वी० ए० श्रीरामस्वामी शास्त्रीगल' ने अण्णामलै विश्वविद्यालय ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक ३ की भूमिका में निम्नांकित कारणों के आधार पर 'उपवर्ष' को 'बोधायन' से सर्वथा भिन्न माना है—

(१) उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र की वृत्ति[५] में 'आत्मा' का विभुत्व सिद्ध किया है, जिसका एक भाग शांकरभाष्य[६] के आत्मवाद में प्राप्त है; किन्तु इसके विपरीत बोधायन ने ब्रह्मसूत्र की वृत्ति में 'जीवाणुत्व' के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया है। जैसा कि रामानुज ने 'श्रीभाष्य' के प्रारम्भ में ही कहा है कि 'जीवाणुत्व' के सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिए उन्होंने 'बोधायन' का ही अनुसरण किया है। उक्त तथ्य के

---

१. 'अथ गौरित्यत्र····' इति भगवानुपवर्षः। (१।१।५)

२. 'वर्णा एव तु न शब्दः' इति भगवानुपवर्षः। (१।३।८।२८)

३. 'Bodhayana and Dramidacharya : Two old Vedantins presupposed by Ramanuja' तृतीय ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, मद्रास (१९२४ ई०) में प्रस्तुत प्रबन्ध।

४. 'प्रपञ्चहृदय' (T. S. S. XLV. p. 39)

५. ३।३।५३।

६. ब्र० सू० शां० भा० ३।३।५४।

आधार पर 'उपवर्ष' तथा 'बोधायन' की अभिन्नता और भी विवादास्पद हो जाती है।

(२) मणिमेखलाई[1] के कृतकोटि ने 'आठ प्रमाणों'[2] को स्वीकार किया है। किन्तु प्रसिद्ध व्याख्याओं के अनुसार वृत्तिकार 'बोधायन' ने केवल 'छह' ही प्रमाण माने हैं। 'बोधायन' एक प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध व्याख्याकार होने के कारण कृतिकोटि का मत इस विषय में विशेष महत्त्व नहीं रखता।

उक्त कारणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'उपवर्ष' बोधायन तथा 'कृतकोटि' से भिन्न हैं।

उपवर्ष का काल-निर्धारण (ई० पू० १०० से लेकर २०० ई०)—उपवर्ष का काल भी उनके व्यक्तित्व की भाँति एक समस्या बना हुआ है, तथापि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उनका काल-निर्णय करना कदाचित् सम्भव हो सकता है।

शबरस्वामी (२०० ई०) ने उपवर्ष का उल्लेख किया है, अतः इस समय तक इनके समय का अनुमान लगाना अनुचित न होगा। इसी प्रकार यदि शाबरभाष्य के पञ्चम सूत्र पर[3] 'वृत्तिग्रन्थ' अन्त तक हो तो वैयाकरणों के सामुदायिक शब्द विषयक सिद्धान्त के खण्डनकर्ता के रूप में ही उपवर्ष को मानना होगा। संस्कृत-व्याकरण के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि 'स्फोटसिद्धान्त' के प्रथम संस्थापक 'पतंजलि' ही हैं। (यद्यपि पाणिनि, व्याडि, कात्यायन तथा अन्य आचार्यों ने भी शब्द की नित्यता पर 'पतञ्जलि' से पूर्व आंशिक प्रकाश अवश्य डाला है)। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वृत्तिकार 'उपवर्ष' पतञ्जलि के परवर्ती हुए होंगे। अतः उपवर्ष का काल ई० पू० १०० से लेकर २०० ई० तक निर्णीत किया जा सकता है।

कतिपय विद्वानों के मतानुसार उपवर्ष का काल २०० ई० पूर्व के लगभग पतञ्जलि तथा कात्यायन के बीच[4] होना बतलाया जाता है। क्योंकि 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्र के 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद में उपवर्ष ने 'चतुर्थी समास' माना है और इस चतुर्थी समास की पुष्टि 'कात्यायन' के वार्तिक[5] द्वारा की गई है। किन्तु पतञ्जलि ने इसकी अवहेलना कर यहाँ 'षष्ठी समास' ही माना है। इससे यह निश्चय तो हो ही जाता है कि 'उपवर्ष' का झुकाव 'कात्यायन' की ओर है। ठीक ऐसा ही उदाहरण[6] शाबरभाष्य में भी प्राप्त होता है।

---

१. द्राविडकाव्य।

२. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य।

३. मी० सू० १।१।५।

४. Journal of Oriental Research, Vol. III Part I (1929)

५. 'अश्वघासादीनामुपसङ्ख्यानम्' (वार्ति०)।

६. 'धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा'। (नेदं विग्रहदर्शनपरम्। प्रकृतिविकारभाव-स्थले एव चतुर्थीसमासस्येष्टत्वात् प्रकृते च तदभावात्।) 'सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा'

भवदास
(१००-२०० ई०)

कालक्रमानुसार 'उपवर्ष' के पश्चात् 'भवदास' का ही स्थान है। अब तक कोई स्पष्ट प्रमाण सुलभ नहीं हो सका है, जिससे वृत्तिकार 'भवदास' का काल निश्चित किया जा सके। 'प्रपञ्चहृदय' के आधार पर उनका काल-निर्णय 'उपवर्ष' के पश्चात् तथा 'शबरस्वामी' के पूर्व ही किया जा सकता है।

एक साहित्यिक प्रमाण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 'भवदास' 'शबर-स्वामी' के पूर्व ही हुए होंगे। कुमारिल के श्लोकवार्तिक के अनुसार प्रारम्भिक[1] भाष्य की छह व्याख्याओं में से 'उपालम्भपक्ष' नामक दूसरी व्याख्या 'भवदास' की व्याख्या का निषेध (खण्डन) मात्र ही है। 'स्तुतिपक्ष' के स्पष्टीकरण में स्वयं 'कुमारिल' ने भवदास का उल्लेख किया है[2]।

उत्तर-कुमारिलकालीन (९०० ई० सन् से आधुनिक काल तक कुमारिलोत्तर काल कहलाता है)। 'देवस्वामी' ने संकर्षकांड के अपने भाष्य में 'भवदास' के लिए सम्मान की भावना प्रदर्शित की है। प्रपञ्चहृदय के आधार पर ज्ञात होता है कि उन्होंने 'उपवर्ष' ही की भाँति पूर्वमीमांसा सूत्रों के १६ अध्यायों पर वृत्ति लिखी, जो 'उपवर्ष' की वृत्ति का सारांश मात्र होने पर तथा 'शबर' के द्वारा आलोचित होने पर भी 'देवस्वामी' के लिऐ 'पथ-प्रदर्शिका' थी।

'भवदास' की वृत्ति अप्राप्य होने के कारण प्रमाण और तत्सम्बन्धित उनके विचारों पर स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथापि कुमारिल के वार्तिक के अध्ययन से यह ज्ञात किया जा सकता है कि उन्होंने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र के दो शब्द 'अथ' तथा 'अतः' दोनों को आनन्तर्य (अनन्तर) के अर्थ में 'एक ही शब्द' माना है। इसी प्रकार उन्होंने 'चतुर्थ सूत्र' को भी दो भागों में विभाजित कर प्रथम के द्वारा 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा तथा द्वितीय के द्वारा 'असाधारण धर्म' से सम्बन्धित विषय की अप्रामाणिकता पर बल दिया है। यद्यपि उपर्युक्त कथन को 'शबर' 'कुमारिल' तथा उनके अनुगामियों के द्वारा खण्डित[3] कर दिया गया था।

(प्रदर्शितमिदं भाष्यमेव विग्रहप्रदर्शनपरं भाष्यम्) 'धर्माय' इति तु तादर्थ्यरूप-षष्ठयर्थविशेषग्रहणसूचकम्।

'अथातो धर्मजिज्ञासा' (शाब० भा० पृ० ९; आनं० पुणें, सन् १९२९)

१. जिज्ञासाधिकरण (मी० सू० १।१।१)

२. 'प्रदर्शनार्थमित्येके केचिन्नानार्थवाचिनः।
समुदायादवच्छिद्य भवदासेन कल्पितात्'॥
(श्लो० वा० प्रति० सू० श्लो० ६३, पृ० ३१; अनंतशय० स० ग्रंथावलि)

३. भवदास की व्याख्या के अनुसार 'प्रत्यक्षसूत्र' में दो वाक्यों की कल्पना करनी होगी—'तत् प्रत्यक्षम्' तक एक वाक्य की तथा 'अनिमित्तम्' से लेकर अन्त तक दूसरे वाक्य की कल्पना करनी होगी। एक वाक्य से ही उपपत्ति की सम्भावना

शबरस्वामी

(२०० ई०)

मीमांसा-सूत्रों पर आज उपलब्ध समस्त व्याख्याओं में मूर्धस्थानीय प्रामाणिक भाष्य यदि है तो वह शबरस्वामी का ही है, जिसके द्वारा विद्वद्गण मीमांसा के गूढ़ रहस्यों को भलीभाँति समझ पाते हैं। आपकी भाष्य-शैली बहुत ही सुन्दर, सरल, सरस, प्रवाहपूर्ण, व्यावहारिक प्रयोगपूर्ण (मुहावरेदार), सुसंस्कृत एवं गम्भीर है। विषय तथा अभिव्यक्ति दोनों में ही यह पतञ्जलि के महाभाष्य तथा शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य के समान है। सरल संवादात्मक शैली, जो महाभाष्य में अपने चरमोत्कर्ष पर है, अपने पूर्ण वैभव के साथ यहाँ पुनः लगभग ३०० वर्ष के बाद दिखलाई देती है, जो एक बार फिर ५०० वर्ष बाद केवल शंकर के ब्रह्मसूत्रभाष्य में दिखलाई दी।

काल-निर्णय—आपके काल एवं वैयक्तिक इतिहास के विषय में यह तो निश्चित है कि आप उपवर्ष के अनन्तर और भर्तृमित्र के पूर्व हुए। शबर ने अपने भाष्य में पाणिनि, कात्यायन,[1] पिंगल, यास्क, बोधायन, आपस्तम्ब आदि ग्रन्थकारों का तथा धर्मसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत, पुराण, निरालम्बनवाद, शून्यवाद आदि का उल्लेख किया है, किन्तु 'पतंजलि' का नहीं।

यद्यपि पतञ्जलि का नामतः उल्लेख नहीं है, तथापि पतञ्जलि के महाभाष्यस्थ वचनों का अनुवाद शाबरभाष्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होने से 'शबर' का पतञ्जलि से अर्वाचीन होना सिद्ध होता है।

जीवनी—आपका जन्मस्थान निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। बहुत सम्भावना है कि आप उत्तर प्रदेश के हों। अपने भाष्य[2] में आपने आर्यावर्त निवासियों के साथ ही 'आन्ध्र' शब्द का भी प्रयोग किया है। 'राजन्' शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के अर्थ में किया है, किन्तु वह अपने देश अथवा राज्य की भी रक्षा नहीं करता। आर्यावर्त-निवासियों के प्रति सम्मान[3] व्यक्त होने से इनके उत्तरप्रदेशवासी होने की कल्पना होती है।

रहने पर 'वाक्यभेद' की कल्पना करना उचित नहीं है। 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते' ॥ (श्लो० वा० सू० ४ श्लो० ९)

1. In 1.1.5 Sabara mentions Panini, and in X. 8.1.4 both Panini and Katyayana with the honorific title 'Bhagavan, but he asserts that Panini is a greater authority than Katyayana.'

सद्वादित्वाच्च पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वान्नकात्यायनस्य।

२. शाबरभाष्य २।३।२।

३. आर्यावर्तनिवासिनां शब्दार्थोपायेषु अभियुक्तानाम् अभिव्याहरतां कर्माणि च अनुतिष्ठतामन्त्यजनपदवासिभ्यो म्लेच्छेभ्यः समीचीनतर आचारो भवति।

प्रसिद्ध किंवदन्ती के अनुसार शबरस्वामी की चार भिन्न-भिन्न (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) जातियों की ४ पत्नियाँ थीं, और उनसे ६ पुत्र थे—वराह-मिहिर, भर्तृहरि, विक्रम, हरिश्चन्द्र, शंकु और अमरसिंह[१]।

कर्ण-परम्परा से ज्ञात होता है कि उनका वास्तविक नाम 'आदित्यदेव' था। यह शबर नाम तो उन्होंने जैनों के उपद्रव के भय से अपने को जंगली वेष में छिपाकर रखने से प्राप्त किया था।

दत्तकमीमांसा के अनुसार किसी एक शबर ने सत्याषाढश्रौतसूत्र पर व्याख्या की है। ऐसा भी कहा जाता है कि दीप्तस्वामी के पुत्र शबर स्वामी ने 'लिंगानुशासन' पर 'सर्वार्थलक्षणी' नामक टीका लिखी। किन्तु अभी तक उपर्युक्त लेखक और मीमांसाभाष्य के शबरस्वामी की एकरूपता सन्दिग्ध है। यद्यपि शबर का भाष्य ही मीमांसा-सूत्रों के बारह अध्यायों पर महत्त्वपूर्ण उपलब्ध व्याख्या है, किन्तु इससे पहले भी कतिपय वृत्तियाँ तथा भाष्य हो चुके थे। स्वयं शबरस्वामी ने जहाँ-तहाँ 'अपर आह' एवं 'अन्यैरुक्तम्' के द्वारा अपने से पूर्व अनेक व्याख्याताओं के होने की सूचना स्पष्ट रूप से दी है[२], किन्तु आज वे सब अनुपलब्ध हैं। एकमात्र इसी भाष्यके द्वारा पूर्वजों की विचार-सम्पत्ति का लाभ हमें आज हो रहा है[3]। इसी को कुमारिल ने भी कहा है। अतएव उनका भाष्य दर्शन की इस प्रणाली के प्रारम्भिक स्वरूप के पुनर्निर्माण के लिए एक आवश्यक मूल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा ही हमें इस शास्त्र मेंअन्य वृत्तिकारों के (विशेषतः 'उपवर्ष') के सहयोग का भी ज्ञान प्राप्त होता है। उनका यह कथन—'व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि, कात्यायन की अपेक्षा अधिक अधिकार रखते हैं'—बड़ा ही रोचक है। उन्होंने 'पाणिनि' को सत्यवादी तथा 'कात्यायन' को असत्यवादी कहा है[४]—यह कथन अप्रत्यक्ष रूप से वैयाकरणों की पद्धति (Dictum) की सारहीनता को प्रकट करता है। इसी प्रकार 'धर्माय जिज्ञासा' समास में चतुर्थी समास—एक ऐसा उदाहरण है, जो प्रकृति-विकृतिभाव को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। किन्तु वार्तिककार के अनुसार चतुर्थी समास भी यहाँ पर हो सकता है।

---

१. इनके सम्बन्ध में परम्परागत श्लोक प्रसिद्ध है—'ब्राह्मण्यामभवत् वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणीः राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्। वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥

2. Vide 'V. A. Ramaswami Shastri's Paper on 'The Old Vrittikaras on the P. M. Sutras' I. H. Q., September 1934.

3. It is now accepted on all hands that the Vrittigrantha in Shabara's Bhasya on 1.1.5 goes to the end of that adhikarana and that the atmavada therein is a resume of Upavarsa's vritti on III. 4.53 of the Vedanta Sutras.

4. 10.8.1 Shabar Bhashya.

भर्तृमित्र

(३०० से ६०० ई०)

'शबरस्वामी' तथा 'कुमारिल भट्ट' के अन्तराल काल में सूत्र और भाष्य के अनेक व्याख्याकार हुए हैं, जिनमें से केवल 'भर्तृमित्र' का नाम 'आचार्य' उपाधि से सम्भूषित होने के कारण उल्लेखनीय है।

'पार्थसारथि मिश्र' की 'न्यायरत्नाकर'[१] व्याख्या के अनुसार 'भर्तृमित्र' का उल्लेख 'कुमारिल' के द्वारा 'श्लोकवार्तिक' में किया गया है। पूर्वमीमांसा पर 'नास्तिकवाद' का रंग चढ़ाने का श्रेय आप ही को प्राप्त है। इनके द्वारा अनेक अपसिद्धान्तों का इसमें सन्निवेश किया गया था। कुछ विद्वानों[२] के अनुसार तो यह 'भर्तृमित्र' ही 'प्रभाकर-सम्प्रदाय' के आद्य प्रवर्तक हैं। किन्तु यह न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता[३]।

'यामुनाचार्य-रचित 'सिद्धित्रय'[४] के आधार पर अनेक विद्वानों का मत है कि भर्तृमित्र, 'बादरायण' निर्मित वेदान्तसूत्र के भी व्याख्याकार हैं। इस तथ्य की पुष्टि के लिए अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

'कुमारिल' द्वारा 'श्लोकवार्तिक'[५] में तथा 'जयन्त भट्ट' द्वारा 'न्यायमंजरी'[६] में दो स्थलों पर 'भर्तृमित्र' का उल्लेख मिलता है तथा 'श्रोत्रेन्द्रिय' को 'ध्वनि-संस्कार' मात्र मानने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। 'मुकुलभट्ट' ने अपनी अभिधा-वृत्तिमातृका में उन्हें 'आचार्य' पदवी से अलंकृत किया है तथा अतिप्रचलित निम्न श्लोक को भी उन्हीं की रचना बतलाया है—

'अभिधेयेन सामीप्यात् सारुप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता'[७]॥

भर्तृमित्र का काल शबरस्वामी तथा कुमारिलभट्ट के बीच में अर्थात् ३०० से ६०० ई० तक निश्चित किया जा सकता है। भर्तृमित्र का शबरस्वामी के पश्चात् होना तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि यदि यह शबर से पूर्व हुए होते तो कुमारिल

---

१. श्लोकवार्तिक की व्याख्या। न्यायरत्नाकर, चौखम्भा प्रकाशन, बाराणसी से मुद्रित।

२. म० म० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्रीगल : 'The Prabhaker School of Karma Mimansa.

३. म० म० एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्रीगल : Eng. Introduction of Prabhakar Vijaya.

४. सिद्धित्रय, वाराणसी संस्करण, पृ० ४-५।

५. श्लोकवा० १।१।६, पृ० १३०-१३१।

६. न्यायमंजरी : विजयानगरम् संस्कृत ग्रंथमाला संस्करण, पृ० २१३–२२६।

७. अभिधावृत्तिमातृका, निर्णयसागर संस्करण, पृ० १४।

'भाष्यकार शबर को' 'आस्तिकशिरोमणि' की उपाधि से अवश्य ही सम्मानित करते, जैसा कि उन्होंने आत्मवाद[1] में किया है। अतः शबर से पूर्व इनका स्थितिकाल निश्चित नहीं किया जा सकता।

कुमारिलभट्ट

(६२०–७०० ई०)

'कुमारिल भट्ट' भारतीय दार्शनिकों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मीमांसकों के तो ये शिरोमणि हैं हीं, विद्वानों की आदरणीय सम्मति में 'आचार्य शंकर' की समकोटि का कोई दार्शनिक इस भारत भूमि पर उत्पन्न हुआ है, तो वे 'कुमारिल भट्ट' ही हैं। 'वैदिक धर्म' के पुनरुत्थान के लिए 'आचार्य शंकर' तथा 'भट्टपाद कुमारिल' ने जो व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं, वे सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। बौद्धों तथा जैनियों ने 'वैदिक धर्म' तथा 'दर्शन' के ऊपर इतने जोरों का आक्रमण किया था कि वह एक प्रकार से जर्जरित हो चला था। इन बौद्धों की प्रबल युक्तियों का प्रामाणिक खण्डन कर कुमारिल ने वैदिक धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा कर दी और वह इतना प्रबल हो गया कि सुदीर्घ काल व्यतीत हो जाने पर भी उसकी शक्ति किसी प्रकार क्षीण न हो सकी। 'कुमारिल' के विषय में भारतवर्ष की जनश्रुतियों का पता हमें विभिन्न 'शंकर-दिग्विजयों' से चलता है। तिब्बत में भी इनके विषय में अनेक जनश्रुतियाँ पायी जाती हैं, जिनका उल्लेख तिब्बती ऐतिहासिक श्रीतारानाथ ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चोस-व्युङ्', में भी किया है। कतिपय घटनाओं में भिन्नता होने पर भी दोनों जनश्रुतियों में पर्याप्त समानता है। उन्हीं के आधार पर यह जीवनवृत्त प्रस्तुत किया जारहा है।

कुमारिलभट्ट किस देश के निवासी थे? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर अभी तक नहीं दिया गया है। कुमारिलभट्ट इस नाम से और उनकी 'आश्वलायनकारिका' तथा अन्यान्य प्रयोगों की रचनाओं से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि वे आश्वलायन-शाखीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'यज्ञेश्वर भट्ट' तथा माता का नाम 'चांगुणा' था। इसलिए उनका निवास दक्षिण भारत में ही मानना उचित है। दक्षिण भारत में उस समय वैदिक धर्मी चालुक्यों का साम्राज्य होने के कारण वहाँ बौद्धग्रन्थ एवं बौद्ध विद्वानों का मिलना असम्भव था। बौद्धमत के खण्डन के लिए बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य था। इसलिए सम्भव है कि वे उत्तर भारत के मगध में आकर बसे हों। उस समय उत्तर भारत में हर्ष जैसे राजा के आश्रय से नालन्दा विद्यापीठ तथा अन्यान्य स्थानों में सर्वत्र बौद्धों का प्राबल्य था, अतएव बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए वह एक अत्यन्त उपयुक्त स्थान था। मगध-देश 'विदेह देश' का ही एक अंश है, क्योंकि 'विदेह देश' गंगा की धारा के कारण दो भागों में बँटा हुआ है। जिसके एक भाग में 'मैथिलदेश' और दूसरे भाग में 'मगध-देश' है। इसी का विहार नामकरण बौद्धकाल से ही हुआ। श्रीतारानाथ का कहना

१. आत्मवाद १।१।५।

है कि ये 'धर्मकीर्ति' के 'पितृव्य' थे और 'धर्मकीर्ति' दक्षिण भारत के चूड़ामणि राज्य (चोलदेश) में उत्पन्न हुए थे। 'त्रिमलय' नामक स्थान इनका जन्मस्थान था। 'त्रिमलय' की वर्तमान स्थिति के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु बहुत सम्भव है कि यह 'चूड़ामणि' राज्य का अपर नाम है, जिसमें धर्मकीर्त्ति के जन्मस्थान होने का उल्लेख तिब्बती ग्रन्थों में किया गया है। यदि 'कुमारिल' सचमुच धर्मकीर्ति के पितृव्य हैं, तो उन्हें दक्षिण भारत का निवासी मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु इस विषय में भारतीय परम्परा बिलकुल मौन है। आनन्दगिरि ने अपने 'शंकरदिग्विजय' (पृ० १८०) में लिखा है कि भट्टाचार्य (कुमारिल) ने उत्तर देश (उदग्देश) से आकर दुष्ट मतावलम्बी जैनों तथा बौद्धों को अच्छी तरह परास्त किया —'भट्टाचार्याख्यो द्विजवरः कश्चित् उदग्देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्बिनो बौद्धान् जैनान् असङ्ख्यातान्निर्जित्यनिर्भयो वर्तते।' 'उदग्देश' से अभिप्राय 'कश्मीर' तथा 'पंजाब' से समझा जाता है। प्रान्तों के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, परन्तु इस उल्लेख से 'कुमारिल' उत्तरभारत के ही निवासी प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, मीमांसकश्रेष्ठ शालिकनाथ ने इनका उल्लेख 'वार्तिककार मिश्र' के नाम से किया है। 'मिश्र' की उपाधि उत्तरी ब्राह्मणों के नाम के साथ ही सम्बद्ध दिखलाई पड़ती है। शालिकनाथ कुमारिल के बाद तीसरी या चौथी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। उनका प्रामाण्य इस विषय में विशेष महत्त्व रखता है। अतः प्रतीत होता है कि ये उत्तर-भारत के ही निवासी थे। मिथिला की जनश्रुति है कि कुमारिल मैथिल ब्राह्मण थे; ऐसा हो सकता है, परन्तु हमारे पास इसके लिए प्रमाण नहीं है। कुमारिल धनधान्य से सम्पन्न गृहस्थ थे। तारानाथ ने लिखा है कि उनके पास धान के अनेक खेत थे, ५०० दास और ५०० दासियाँ थीं। राजा ने उन्हें बहुत-सी सम्पत्ति दी थी। इनके जीवन की अन्य बातों का पता नहीं चलता, परन्तु 'धर्मकीर्ति' के साथ इनके शास्त्रार्थ करने तथा पराजित होकर बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने की घटना का वर्णन तारानाथ ने विस्तार के साथ किया है। धर्मकीर्ति 'त्रिमलय' के निवासी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'कोरुनन्द' था। स्वभाव से ये उद्धत थे तथा वैदिक आचार के प्रति नितान्त श्रद्धाहीन थे। बौद्धों के उपदेशों को सुनकर उनके हृदय में बौद्धधर्म के प्रति श्रद्धा जाग उठी। घर छोड़कर मध्यदेश (मगध) में आये तथा नालन्दा के पीठ स्थविर (अध्यक्ष) धर्मपाल के पास रहकर समस्त बौद्ध आगमों का विधिवत् अध्ययन किया। ब्राह्मण-दर्शन का रहस्य जानने की इच्छा से इन्होंने नौकर का वेष धारण किया और 'कुमारिल' के पास दक्षिण में जा पहुँचे। 'धर्मकीर्ति' कुमारिल के घर पर नौकरी करने लगे और पचास नौकरों का काम स्वयं अकेले करने लगे। कुमारिल तथा उनकी स्त्री का हृदय इस नये सेवक की सेवा से प्रसन्न हो गया और उन्होंने उसे 'धर्म' तथा 'दर्शन' के उन रहस्यों को सुनने का अवसर दे दिया, जिन्हें कुमारिल अपने शिष्यों को समझाया करते थे। जब धर्मकीर्ति ने वैदिक धर्म के रहस्यों में पूरी प्रवीणता प्राप्त कर ली, तब 'कणाद गुप्त' नामक एक वैशेषिक आचार्य तथा अन्य

ब्राह्मण दार्शनिकों के साथ शास्त्रार्थ किया और उन्हें परास्त किया। अन्त में 'कुमारिल' ने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ मिलकर 'धर्मकीर्ति' से शास्त्रार्थ किया और उनसे परास्त हो जाने पर पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।[1]

इस घटना की पुष्टि भारतीय ग्रन्थों से किञ्चिन्मात्र भी नहीं होती, परन्तु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कुमारिल ने 'बौद्धदर्शन' का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ दिनों तक 'बौद्धभिक्षु' बनकर किसी 'बौद्धाचार्य' के पास शिक्षा ग्रहण की थी। 'आचार्य शंकर' से अपनी आत्मकथा कहते समय 'कुमारिल' ने स्वयं कहा था कि किसी भी शास्त्र का 'खण्डन' तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके रहस्यों का गाढ़ परिचय प्राप्त नहीं होता। मुझे बौद्धधर्म की धज्जियाँ उड़ाना था, अतः मैंने बौद्धधर्म का खण्डन करने से पूर्व उसके गाढ़ अनुशीलन करने का अभ्यास किया। माधव-कृत 'शंकरदिग्विजय' (सर्ग ७ श्लो० ९३) का कथन इस विषय में नितान्त स्पष्ट है—

'अवादिषं वेदविघातदक्षैस्तन्नाशकं जेतुमबुध्यमानः।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः॥'

कुमारिल ने बौद्धधर्म का अध्ययन किस बौद्धाचार्य के पास किया, यह कहना कठिन है। माधव ने सर्ग ७ श्लोक ९४ में बौद्धाचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उस समय धर्मपाल (६००–६३५ ई०) की कीर्ति चारों ओर फैली थी। वे बौद्धदर्शन के प्रधान पीठ 'नालन्दा विहार' के अध्यक्ष थे। वे थे तो विज्ञानवादी, परन्तु उन्होंने 'योगाचार' और 'शून्यवाद' दोनों मतों के विख्यात सिद्धान्त-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं।[2] यह अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता कि 'कुमारिल भट्ट' ने इन्हीं आचार्य धर्मपाल से बौद्ध-दर्शन का अध्ययन किया।

एक दिन की बात है—'धर्मपाल नालन्दा विहार के विशाल प्रांगण में बैठकर अपने शिष्यों के सामने बौद्धधर्म की व्याख्या अभिनिवेशपूर्वक कर रहे थे। प्रसंगवश उन्होंने 'वेदों' की बड़ी निन्दा की थी। वेद निन्दा का श्रवण कर 'कुमारिल' के हृदय को ठेंस पहुँची और उनकी आँखों से आँसुओं की धारा लगातार बहने लगी, इतनी अधिक कि उनके उत्तरीय वस्त्र का आँचल जल से भींग गया। पास बैठे हुए एक भिक्षु ने इस घटना को देखा, और 'धर्मपाल' का ध्यान उधर आकृष्ट किया। 'धर्मपाल' घटना को देखकर अवाक् रह गये। 'वेदनिन्दा' सुनकर 'बौद्धभिक्षु' के नेत्रों से आँसुओं की धारा का सतत बहना महान् आश्चर्य

---

१. इस जनश्रुति का उल्लेख केवल तारानाथ के अपने 'चोस-व्युङ' नामक ग्रन्थ में ही नहीं; बल्कि इसका पुनरुल्लेख अन्य तिब्बती ग्रन्थों में भी मिलता है। द्रष्टव्य—डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक' पृ० ३०५।

२. 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या' वसुबन्धु के विख्यात 'योगाचार' ग्रन्थ की व्याख्या है तथा 'शतशास्त्रवैपुल्यभाष्य' आर्यदेव के प्रसिद्ध शून्यवादी ग्रन्थ का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य है।

है। आश्चर्य भरे शब्दों में उन्होंने पूछा—"तुम्हारे नेत्रों से जल बहने का कारण क्या है ? क्या मैंने 'वेदों' की जो निन्दा की है, वही तो हेतु नहीं है ?" 'कुमारिल' ने कहा—"मेरे रोने का कारण यही है कि आप वेदों के गूढ़ रहस्य जाने बिना उनका मनमाना खण्डन कर रहे हैं।" इस घटना ने 'कुमारिल' की वेदश्रद्धा को सबके सामने अभिव्यक्त कर दिया। धर्मपाल इस उत्तर से नितान्त रुष्ट हुए और अहिंसावादी 'गुरु' ने अपने शिष्यों से कहा—"इसे ऊपर ले जाओ और शिखर से नीचे ढकेल दो। देखें यह अपनी रक्षा कैसे करता है ?" शिष्यों के लिए यह विपुल मनोरंजन का साधन था। वे उसे उठाकर विहार के ऊँचे शिखर पर ले गये और वहाँ से तुरन्त ढकेल दिया। आस्तिक शिरोमणि कुमारिल ने अपने को नितान्त असहाय पाकर 'वेदों' की शरण ली और गिरते समय ऊँचे स्वर से घोषणा की—'यदि 'वेद प्रमाण हैं' तो मेरे शरीर का बाल भी बाँका नहीं होगा—

'पतन् पतन् सौधतलान्यरोहं, यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति।
जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले मज्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः'॥
(शं० दि० ७।९८)

उपस्थित लोगों ने आश्चर्य से देखा कि कुमारिल बाल-बाल बच गये। वेद भगवान् ने उनकी रक्षा कर दी। केवल वेद की प्रामाणिकता में 'यदि' पद के द्वारा सन्देह प्रकट करने के कारण उनकी एक आँख फूट गयी। इस बार 'कुमारिल' ने वेदप्रामाण्य के विषय में धर्मपाल को ललकारा। तुमुल वाग्युद्ध छिड़ गया। 'बौद्ध-आचार्य' परास्त हो गये; और कहा जाता है कि बौद्धगुरु की अवज्ञा के प्रायश्चित्तार्थ शास्त्रानुसार उन्होंने अपने शरीर को तुषानल (भूसी की आग) में जला डाला। 'वैदिकधर्म' के आगे 'बौद्धधर्म' ने पराजय स्वीकार कर ली। वैदिकदर्शन ने बौद्ध-दर्शन को परास्त कर दिया। कुमारिल की विजयवैजयन्ती सर्वत्र फहराने लगी।[1]

कुमारिल और राजा सुधन्वा[2]—राजा सुधन्वा उस समय के एक न्यायपरायण राजा थे। वे कर्णाटक देश के उज्जयिनी नगर में राज्य कर रहे थे। वे वैदिक मार्ग के नितान्त श्रद्धालु थे। परन्तु जैनियों के प्रभाव में आकर वे 'जैन धर्म' में आस्था करने लगे थे। दिग्विजय करते हुए 'कुमारिल' कर्णाटक देश में आये और राजा 'सुधन्वा' के दरबार में गये। राजा को वेदमार्ग के उत्थान के लिए चिन्तित देखकर उन्होंने बड़े गर्व के साथ कहा—"राजन्! आप धर्म के पुनरुत्थान के विषय में तनिक भी चिन्ता न करें। मेरा नाम 'कुमारिल भट्टाचार्य' है। मैं आपके सामने दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ कि बौद्धों को पराजित कर मैं 'वैदिक धर्म' की पुनः प्रतिष्ठा करूँगा।"

---

१. इस घटना के लिए हमारे पास प्रमाण हैं—'शंकरदिग्विजय'। विशेषतः माधव के 'शंकरदिग्विजय' का सप्तम सर्ग। योग-ग्रन्थों से भी इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। अतः कुमारिल के बौद्धभिक्षु बनकर बौद्धधर्म की शिक्षा ग्रहण करने की बात को प्रामाणिक माना जा सकता है।

२. माधवकृत 'शंकरदिग्विजय' का प्रथम सर्ग।

राजा 'सुधन्वा' तो स्वयं परम आस्तिक था, परन्तु उसके दरबार में नास्तिक जैनियों का प्रभुत्व था। उन्हीं को लक्ष्य कर कुमारिल ने कहा—

'मलिनैश्चैन्न सङ्गस्ते नीचैः काककुलैः पिक।
श्रुतिदूषितनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥'

(शंकरदिग्विजय १।६५)

अर्थात् हे कोकिल! मलिन, काले, नीच, श्रुति (वेद तथा कान) को अपनी बोली से दूषित करनेवाले कौओं का तुम्हारा संसर्ग यदि न होता, तो तुम सचमुच श्लाघनीय होते। जैनियों ने इस बात का बहुत बुरा माना। राजा भी दोनों की परीक्षा लेने के अवसर की खोज में था। राजा ने एक बार एक घड़े में एक विषैले साँप को बन्द कर 'जैनियों' और 'ब्राह्मणों' से इसके विषय में पूछा। दूसरे दिन का वायदा कर जैन विद्वान् अपने घर लौट गये। परन्तु 'कुमारिल' ने उसका उत्तर उसी समय लिख कर रख दिया। रातभर 'जैनियों' ने अपने 'तीर्थंकरों' की आराधना की, प्रातःकाल होते ही उन्होंने राजा से यह कहा कि घड़े के भीतर 'सर्प' है। कुमारिल का पत्र खोला गया। दैवी प्रतिभा के बल पर लिखे गये पत्र में वही उत्तर विद्यमान था। समान उत्तर होने पर राजा ने पूछा कि 'सर्प' के किसी विशिष्ट अंग पर क्या कोई चिह्न है? जैनी विद्वानों ने समय के लिए प्रार्थना की, परन्तु 'कुमारिल' ने तुरन्त उत्तर दिया कि 'सर्प' के सिर पर दो पैर के चिह्न बने हुए हैं, तब पत्र खोला गया। 'कुमारिल' का कथन अक्षरशः सत्य निकला। राजा ने वेदबाह्य 'जैनियों' को निकाल बाहर किया और वैदिक मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा की। तब 'कुमारिल' का सामना करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई।

कुमारिल और शंकर—अपने जीवन के अन्तिम समय में कुमारिल को उस युग के दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति 'आचार्य शंकर' से साक्षात् करने का सुयोग प्राप्त हुआ। आचार्य उस समय अपने भाष्य की रचना करके 'उत्तरकाशी' में अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आये थे। वहीं पर वेदव्यासजी के साथ उनका साक्षात्कार तथा शास्त्रार्थ हुआ। 'शंकर' की अवस्था उस समय सोलह वर्ष की थी और उसी वर्ष को ज्योतिषियों ने आचार्य के शरीरपात का संवत् बतलाया था। इसीलिए आचार्य की बड़ी अभिलाषा थी कि 'वेदव्यासजी' के सामने वे अपना शरीर छोड़ें, परन्तु 'व्यासजी' ने उन्हें ऐसा करने से रोका और उस युग के प्रख्यात पण्डितों का सहयोग प्राप्त कर 'अद्वैतमत' की पूर्णतया प्रतिष्ठा करने का उपदेश दिया। उस उपदेश के अनुसार आचार्य शंकर 'कुमारिल' से मिलने के लिए प्रयाग में आये। उनकी बड़ी इच्छा थी कि 'कुमारिल' उनके भाष्यों पर वार्तिक की रचना करें और विद्वत्समाज में उन्हें प्रचारित करें। प्रयाग में जब 'आचार्य शंकर' पहुँचे, तब उन्हें यह जानकर अत्यन्त खेद हुआ कि 'भट्ट कुमारिल' त्रिवेणी के तट पर तुषानल में अपने शरीर को जला रहे हैं। इतने बड़े मीमांसक को इस प्रकार शरीरपात करते देख 'आचार्य' को विशेष आश्चर्य हुआ। तुरन्त वे मिलने के लिए गये। कुमारिल का निचला अंग, आग

में जल गया था, परन्तु मुख के ऊपर वही एक विलक्षण शान्ति विराजमान थी। उनका चेहरा ब्राह्मतेज से दमक रहा था। वैदिक-धर्म के दो बड़े उद्धारकों का 'त्रिवेणी' के पवित्र तट पर यह अपूर्व सम्मिलन हुआ। कुमारिल ने शंकर की कीर्ति पहले ही सुन रखी थी। 'शांकरभाष्य' के ऊपर वार्तिक रचने की उनकी बड़ी अभिलाषा थी। परन्तु वे अपने 'अंगीकृत व्रत' को न टाल सके। आचार्य ने इसका कारण पूछा। कुमारिल ने उत्तर में कहा—"मैंने दो बड़े भारी पातक किये हैं। पहला पातक है अपने 'बौद्ध गुरु' का तिरस्कार और दूसरा पातक है जगत् के कर्ता 'ईश्वर' का खण्डन। जिनसे मुझे बौद्धागमों के रहस्यों का पता चला, उसी 'गुरु' को मैंने 'वैदिक धर्म' के उत्थान के लिए भरी सभा में पण्डितों के सामने परास्त कर तिरस्कृत किया। लोगों की यह गलत धारणा है कि मीमांसा ईश्वर का तिरस्कार करती है। 'कर्म' की प्रधानता दिखलाना मीमांसा को अभीष्ट है। इसी पवित्र उद्देश्य के लिए जगत् के कर्ता 'ईश्वर' का खण्डन मैंने किया अवश्य है। मेरे पहले 'भर्तृमित्र' नामक मीमांसक ने विचित्र व्याख्या कर मीमांसाशास्त्र को 'चार्वाक-मत' के समान नास्तिक बनाने का उद्योग किया था, परन्तु मैंने ही अपने 'श्लोकवार्तिक' और 'तन्त्रवार्तिक' के द्वारा मीमांसा को 'आस्तिक मार्ग' में ले जाने का प्रयत्न किया[1] (श्लो० वा० १।१०)। अतः 'कर्म' की प्रधानता सिद्ध करने के लिए 'जगत्कर्ता ईश्वर' के खण्डन करने का मैं अपराधी अवश्य हूँ। उन्हीं दोनों अपराधों से मुक्ति पाने के लिए मैं यह प्रायश्चितानुष्ठान कर रहा हूँ।" इस पर 'शंकर' ने उन्हें बहुत कुछ समझाया तथा अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण (छिड़क) कर उन्हें नीरोग करने की बात कही, परन्तु 'कुमारिल' ने अटूट गुरु-भक्ति की लोकशिक्षा के निमित्त इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। आचार्य को अपने शिष्य मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ कर और उसे परास्त कर अपना प्रधान सहायक बनाने की सलाह देकर उन्होंने तुषानल में अपने को भस्म कर डाला।

कुमारिल के ग्रन्थ—भट्ट कुमारिल ने शबरस्वामी के 'मीमांसाभाष्य' पर सुप्रसिद्ध टीका लिखी है, जो 'वार्तिक'[2] के नाम से विख्यात है। यह टीका तीन भागों में विभक्त है—(१) 'श्लोकवार्तिक'—यह ३०९९ अनुष्टुप् छन्दों का एक विशालकाय ग्रन्थ है, जो प्रथम अध्याय के प्रथमपाद (तर्कपाद) भाष्य की व्याख्या है। इसमें बिना श्लोकों के एक भी साक्षी वाक्य नहीं है। इसलिए इसे श्लोकवार्तिक

---

१. इनके नाम का उल्लेख 'श्लोकवार्तिक' की टीका में पार्थसारथि मिश्र ने किया है—'प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायती कृता। तामास्तिकपथेनेतुमयं यत्नः कृतो मया'॥ १०॥ 'मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायती कृता, नित्यनिषिद्धयोरप्यनिष्टं फलं नास्तीत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति'।

२. उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥
(पराशर उपपुराण, अध्या० १८)

कहते है। (२) 'तन्त्रवार्तिक'—यह गद्य में प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के अन्त तक (निवीतान्त) की विस्तृत व्याख्या है। यह प्रसंगानुसार गद्य-पद्य सम्मिलित है। कुछ विद्वानों का कहना है कि तृतीयाध्यायान्त तक 'तन्त्रवार्तिक' व्याख्या है; ये दोनों ग्रन्थ कुमारिल के व्यापक पाण्डित्य तथा असाधारण तर्ककुशलता को प्रकट करने में पर्याप्त हैं। (३) तीसरा ग्रन्थ बहुत छोटा है। इसका नाम है—'टुप्टीका' जो चतुर्थ अध्याय से लेकर द्वादश अध्याय की समाप्ति तक के 'शाबरभाष्य' पर संक्षिप्त गद्यात्मक टिप्पणी है। इसमें पद्य परिमित हैं। तृतीयाध्याय की समाप्ति तक तन्त्रवार्तिक और चतुर्थाध्याय से लेकर टुप्टीका है। अनुष्टुप् (संक्षिप्त) होने से ही इसका नाम 'टुप्टीका' रखा गया है। कृष्णदेव ने 'तन्त्रचूडामणि' में कुमारिल की अन्य दो टीकाओं का उल्लेख किया है। एक का नाम है 'बृहट्टीका' और दूसरी का नाम है 'मध्यम टीका'। 'तन्त्र-वार्तिक' को 'बृहट्टीका' का संक्षेप माना जाता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मानव-कल्पसूत्र' के ऊपर कुमारिल की लिखी हुई एक टीका भी उपलब्ध है, जिसके कुछ अंश को सन् १८६७ में डॉ० गोल्डस्टकर ने लन्दन से प्रकाशित करवाया था। 'शिवमहिम्नस्तोत्र' की रचना एक टीकाकर के अनुसार कुमारिल के द्वारा की गयी थी, परन्तु इसमें कुछ सार नहीं मालूम पड़ता। सोमदेव (९५९ ई०) के 'यशस्तिलकचम्पू' में इस स्तोत्र के कर्ता 'ग्रहिल' माने गये हैं।

कुमारिल का भाषा-ज्ञान—कुमारिल का ज्ञान शास्त्रों के साथ भिन्न-भिन्न भाषाओं के विषय में असाधारण प्रतीत हो रहा है। 'तन्त्रवार्तिक' में भाषाओं के दो भेद किये हैं—आर्यों की भाषा और म्लेच्छों की भाषा। 'आर्यों' का निवास-स्थान 'आर्यावर्त' माना गया है। इस देश की भाषा 'आर्य' थी; और जो लोग 'आर्यावर्त' के बाहर प्रदेशों में रहते थे, वे 'म्लेच्छ' माने गये हैं और उनकी भाषा 'म्लेच्छ' मानी गई है। 'कुमारिल' द्राविडी (तामिल) भाषा से परिचित जान पड़ते हैं। उन्होंने पाँच शब्दों को 'तन्त्रवार्तिक' में उद्धृत किया है, जो 'तामिल भाषा' से सम्बद्ध है। चोर–भात (तामिल चोरू), नडेर–रास्ता (तामिल नडे), पाम्प्–साँप (तामिल पाम्पू), आल–मनुष्य (तामिल आळ), वेर–पेट (तामिल वायिरू)[1]। इसके अनन्तर कुमारिल ने पारसी, बर्बर, यवन, रोमक भाषाओं का नामोल्लेख किया है—'तद् यथा द्राविडादि भाषायामीदृशी स्वच्छन्दकल्पना, तदा पारसी-बर्बर-यवन-रोमकादि भाषासु किं विकल्प्य किं प्रतिपत्स्यन्ते इति न विद्मः।' इन नामों में पारसी का अभिप्राय फारसी से तथा यवन भाषा का ग्रीकभाषा से है। रोमक भाषा—रोम की भाषा के विषय में निश्चय नहीं किया जा सकता। साधारणतया यह रोम की भाषा अर्थात् लैटिन को सूचित करता है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन

---

१. द्रष्टव्य 'तन्त्रवार्तिक' (१।३।१०) 'तद् यथा द्राविडादिभाषायामेव तावद् व्यञ्जनान्तभाषापदेषु स्वरान्तविभक्तिस्त्रीप्रत्ययादिकल्पनाभिः स्वभाषानुरूपान् अर्थान् प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते।'

काल में 'रोम' शब्द का अभिप्राय 'इटली' की राजधानी 'रोम' से न होकर 'तुर्कों' की राजधानी 'कुस्तुनतुनियाँ' से है। बोलचाल की हिन्दी में भी तुर्कों का देश 'रूम' के नाम से ही विख्यात है। बर्बर भाषा कौन-सी है ? सम्भवतः जंगल में रहने वाली असभ्य लोगों की भाषा होगी। कुमारिल का परिचय लाटभाषा (गुजराती) से भी था। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि लाटभाषा को छोड़कर अन्य किसी भाषा में 'द्वार' को 'वार' नहीं कहते—'नहि द्वारशब्दस्य स्थाने लाट-भाषातोन्यत्र 'वार' शब्दो दृश्यते।' ऐसा जान पड़ता है कि कुमारिल वैयाकरणों के द्वारा व्याकृत किसी प्राकृत भाषा का निर्देश नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत लाट देश (गुजरात) के किसी स्थानीय भाषा का उल्लेख उन्हें अभीष्ट-सा प्रतीत हो रहा है। 'प्राकृत' तथा 'पाली' से भी वे भली-भाँति परिचित हैं। इतने व्यापक पाण्डित्य एवं विविध दर्शनों के सिद्धान्तों के गाढ़ अध्ययन का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उनका 'तन्त्रवार्तिक' वैदिक धर्म तथा दर्शन के लिए एक प्रामाणिक विश्वकोष है। वैदिक आचार के तत्त्वों का प्रतिपादन शास्त्र तथा युक्ति के सहारे इतनी सुन्दरता के साथ किया गया है कि उनके अलौकिक वैदुष्य को देखकर चकित होना पड़ता है। परन्तु सबसे विलक्षण तथा विचित्र बात है—'बौद्धदर्शन का गहरा अनुशीलन'। 'आचार्य शंकर' का बौद्धशास्त्र-विषयक ज्ञान कम नहीं था, परन्तु 'कुमारिल' के साथ तुलना करने पर यही प्रतीत होता है कि कुमारिल का बौद्धदर्शन में ज्ञान अधिक परि-णिष्ठित, व्यापक तथा त्रुटिहीन था। यह भी इस बात का सबल प्रमाण है कि 'कुमारिल' ने बौद्धधर्म का ज्ञान साक्षात् बौद्धाचार्यों से प्राप्त किया था, ग्रन्थों के अध्ययन से ही नहीं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि कुमारिल बौद्धभिक्षु बनकर उस दर्शन के प्रचुर ज्ञान सम्पादन करने में समर्थ हुए थे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने मूल बौद्धधर्म की जानकारी के लिए 'पाली' का अभ्यास किया था। अष्टम शताब्दी में 'पाली' पठन-पाठन की भाषा नहीं थी, उसकी परम्परा नष्ट हो चुकी थी। फिर भी उसी युग में कुमारिल ने उसका अध्ययन कर मूल पाली 'त्रिपिटकों' का परिचय प्राप्त किया था। 'तन्त्रवार्तिक' में उन्होंने बौद्धों के एक विख्यात सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि 'संस्कृत धर्म' अर्थात् कोई भी उत्पन्न पदार्थ अपने कारण से उत्पन्न होता है, परन्तु उसका विनाश किसी कारण के बिना ही सम्पन्न होता है—'अनुभवे कारणं इमे संकडा धम्मा सम्भवन्ति सकारणा, अकारणा विणसन्ति अणुष्यति कारणम्'। यह कुमारिल के लिए बड़े गौरव की बात है कि उन्होंने 'अवैदिक धर्म' का मूल पकड़कर उसका पर्याप्त खण्डन किया था। इसीलिए तो उनका काम इतना पुष्ट हुआ कि उनके तथा 'आचार्य शंकर' के खण्डनों के अनन्तर बौद्धधर्म अपना सिर उठाने में समर्थ नहीं हुआ। पूर्वी प्रान्तों के कोने में किसी प्रकार सिसकता हुआ अपने दिन गिनने लगा और अन्त में उसे 'भारत' की पुण्यभूमि छोड़ देने पर ही चैन मिला। 'वैदिक धर्म' के इस पुनरुत्थान तथा पुनः प्रतिष्ठा के लिए 'समस्त आर्य' भट्ट कुमारिल तथा 'आचार्य शंकर' के ऋणी हैं। वह ऋण दुर्बल शब्दों के द्वारा नहीं चुकाया जा सकता। ऐसी दशा में यदि कुमारिल

को स्वामी कार्तिकेय (कुमार) का अवतार मान लें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

कुमारिल का नामान्तर—प्राचीन काल में महान् पण्डितों के प्रति अगाध श्रद्धा हुआ करती थी। अतएव किसी बड़े पण्डित के प्रति अत्यधिक श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए उनका व्यक्तिगत नाम नहीं लिया जाता था, प्रत्युत उसके स्थान पर एक आदरसूचक पद गढ़ लिया जाता था। आज भी संस्कृत विद्याओं के क्षेत्र में वही प्रभा दृष्टिगोचर हो रही है। महान् विद्वान् कुमारिलभट्ट के प्रति विद्वान् तथा जनसाधारण के मन में अगाध श्रद्धा होने के कारण उनके नाम के अन्त में 'पाद' शब्द लगाया जाता था, अर्थात् जनता उन्हें 'कुमारिलभट्ट पाद' नाम से संबोधित करती थी। विद्वत्समाज में भी यही नाम प्रचलित था और आज भी है। इसके अतिरिक्त उन्हें 'तुतातित' के नाम से भी पुकारते थे। काश्मीर के विख्यात कवि 'मंख' ने अपने 'श्रीकण्ठविजय' अथवा 'श्रीकण्ठचरित' के एक श्लोक में इसी नाम का प्रयोग किया है—'दृढोऽपि तर्ककार्कश्ये प्रगल्भः कविकर्मणि। यः श्रीतुतातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रहः। तं श्रीत्रैलोक्यमालोक्य·····' (श्रीकण्ठचरित, सर्ग २५।६५-६६)। इसकी टीका लिखते समय 'जोनराज' ने इस विचित्र नामकरण के रहस्य का परिचय अच्छे ढंग से दिया है। उनका कथन है कि बड़े लोगों के नामों का यथावत् ग्रहण करना उचित नहीं होता, इसीलिए उनके लिए एक सांकेतिक नाम गढ़ लिया जाता है। यदि कोई टीकाकार से पूछे कि तब आपने बड़ों का साक्षात् नाम ग्रहण कर बड़ा अपराध किया है; इस पर इनका कहना है कि क्या किया जाय? बिना असली नाम लिखे इस शब्द की व्याख्या ही नहीं की जा सकती थी। अतः अगत्या बाध्य होकर ही उन्हें ऐसा करना पड़ा। यदि उन्हें स्वतंत्रता होती, तो वे सदा बड़ों के लिए सांकेतिक नाम ही का प्रयोग करते, असली नाम को लेकर अपने को दोष का भाजन न बनाते। व्याख्याकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—'तुतातितः कुमारिलः। स हि तार्किकः कविश्चासीत्। महतां सम्यङ्नामग्रहणमयुक्तमिति 'तुतातितः' शब्दः प्रयुक्तः। विवरणावसरे युक्तः, अन्यथा विवरणत्वाभावप्रसङ्गात्'।

स्मृति का वचन तथा आचार भी इस बात की पुष्टि करता है कि कल्याण चाहने वाले पुरुष को अपना नाम, गुरु का नाम, अत्यन्त कृपण का नाम, ज्येष्ठ सन्तान का नाम और स्त्री के नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए। पत्नी को भी अपने पति का नाम कभी अपने मुख से प्रकट नहीं करना चाहिए[1]।

कुमारिल के नाम-परिवर्तन की बात भी कुछ इसी ढंग की है। वह उनकी विशिष्ट मर्यादा, प्रतिष्ठा तथा पूजा को प्रदर्शित करती है। इस नाम में 'तकार' चार बार आया है और उच्चारण-सौकर्य के लिए उसमें आरम्भ में चार स्वर जोड़ दिये हैं। 'तुतातित' के अनुयायी लोग 'तौतातिताः' या केवल 'तौताः' के नाम

---

१. 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठाऽपत्यकलत्रयोः'॥

से अनेक ग्रन्थों में उन्हें निर्दिष्ट करते हैं। 'शंकरदिग्विजय' में आचार्य शंकर के अद्वैतवाद की मीमांसा सुनकर पराजित होनेवाले दार्शनिक लोगों में 'तौतातित' लोग भी थे—'तथागतकथा गता तदनुयायि नैयायिकं वचो जनि न चोदितो वदति जातु तौतातितः। विदग्धति न दग्धधीर्बिहितचापलं कापिलं विनिर्दयविनिर्दलद् विमति सङ्करे शङ्करे' (सर्ग १०।११९)। इस नामान्तर से इतना तो पता चलता ही है कि 'भट्ट कुमारिल' के प्रति पण्डितों की इतनी अधिक सम्मान बुद्धि थी कि उनके असली नाम का लिखना उनके प्रति घोर अनादर दिखलाना था। वैदिक धर्म के प्रतिष्ठापक के प्रति इतनी पूज्यबुद्धि रखना स्वाभाविक ही है।

प्रभाकर मिश्र
(६५०–७२० ई०)

प्रभाकर (गुरु) उत्तम तार्किक मीमांसक थे। वे प्रयाग के पास प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में रहते थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह कुमारिलभट्ट के शिष्य अथवा सम्प्रदायी नहीं थे। वेदान्ती तो बिलकुल ही नहीं। आपने शाबरभाष्य पर स्वतन्त्ररूप से 'बृहती' और 'लघ्वी' नाम की टीका लिखी है। इस टीका के आधार पर ही उन्हीं के विद्वान् शिष्य शालिकनाथ ने 'प्रकरणपञ्चिका' लिखी; जिस पर 'न्यायसिद्धि' टीका है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि कुमारिलभट्ट बड़े भाग्यशाली थे। उनके अनेक ऐसे शिष्य थे, जिन्होंने युग-निर्माण करनेवाली रचनाओं की सृष्टि की, जिसमें 'गुरु' नाम से विख्यात प्रभाकरमिश्र, मण्डनमिश्र तथा उम्बेकभट्ट अथवा भवभूति हैं।

प्रथम पक्ष के विद्वानों में म० म० डा० गंगानाथ झा हैं। इनके मतानुसार प्रभाकर कुमारिलयुग के पूर्व हुए थे तथा वह कुमारिल की भाँति किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना करनेवाले या सुधारक नहीं थे। म० म० झा ने अपने पक्ष को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रभाकर की शैली सरल, स्वाभाविक और सुन्दर है, जबकि कुमारिल की शैली यत्नपूर्वक सजाई हुई, गौरवपूर्ण एवं शक्तिशाली है।

किन्तु म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वितीय पक्ष के समर्थक हैं। इन्होंने प्रभाकर को कुमारिल का समकालीन एक तरुण विद्वान् सिद्ध किया है। परम्परा भी इसी मत को पुष्ट कर रही है। प्रभाकर की 'गुरु' पदवी को एक अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण प्रसंग के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

एक समय कुमारिल को अपने शिष्यों को समझाने के लिए एक रहस्यपूर्ण पदच्छेद—'तत्र तु नोक्तं अत्रापि नोक्तमितिपुनरुक्तम्' की व्याख्या करनी थी, किन्तु वे नहीं कर सके और अपने घर चले गये, परन्तु कुछ ही समय के बाद 'प्रभाकर' नामक उनके एक शिष्य ने सर्वप्रथम उस समस्या को हल कर दिया और उसका समाधान लिखकर गुरुमाता को दे आया, जबकि कुमारिलभट्ट घर पर उपस्थित नहीं थे। वापिस आने पर गुरु (भट्ट) ने देखा और अत्यधिक प्रसन्न हुए और उसके उपलक्ष्य में उन्होंने 'गुरु' पदवी दी। उसी समय से 'प्रभाकर' गुरु नाम से तथा उसका मत 'गुरुमत' नाम से चल पड़ा।

प्रभाकर की रचनाएँ—प्रभाकर ने शाबरभाष्य पर दो टीकाएँ लिखी हैं—एक 'लघ्वी' जो विवरण नाम से तथा दूसरी 'बृहती' जो निबन्धन नाम से भी प्रचलित है। बहुत समय तक यह भ्रम फैला हुआ था कि लघ्वी 'निबन्धन' तथा बृहती 'विवरण' है, परन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है; कारण 'भवनाथ' का नयविवेक तथा वरदराज की 'नयविवेकदीपिका' से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'निबन्धन' बृहती का ही तथा 'विवरण' लघ्वी का ही नामान्तर है। यद्यपि प्रत्यक्षरूप से इनमें विरोध-सा प्रतीत होता है, तथापि दोनों पुस्तकों पर शालिकनाथ कृत व्याख्या के आधार पर प्रतीत होता है कि सम्भवतः प्रभाकर ने 'लघ्वी' पहले लिखी, जिसमें उसने अपने सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया और उसके बाद कुमारिल ने वार्तिक लिखा, तब वार्तिकार के दृष्टिकोण की यत्र-तत्र आलोचना करते हुए 'बृहती' लिखी होगी।

प्रभाकर तथा कुमारिल की तुलना—'प्रभाकर' कुमारिल की अपेक्षा अधिक प्रतिभा-सम्पन्न प्रतीत होते हैं। यह इस सत्य से सिद्ध हो जाता है कि कुमारिल के तीन शिष्य थे। परन्तु कोई भी इतना अधिक गुरुभक्त नहीं था, जितना 'प्रभाकर' का शिष्य शालिकनाथ, जिसने अपने गुरु की रचनाओं पर बहुत ही सुन्दर टीकाएँ लिखीं। हाँ, श्लोकवार्तिक के एक प्रामाणिक टीकाकार उम्बेक कुमारिल-मत के अनुयायी दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु आरम्भिक पंक्तियाँ तथा दूसरे कथन भी प्रकट करते हैं कि वह अपने 'गुरु' के पक्ष से अलग हो गया था। कुमारिल के एक दूसरे प्रसिद्ध शिष्य 'मण्डनमिश्र' ने भी अपनी 'स्फोटसिद्धि' में कुमारिल द्वारा श्लोकवार्तिक के स्फोट प्रसंग में स्थापित किये हुए 'वर्णनित्यत्व' के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है। किन्तु बाद में किसी भी कारणवश हो; 'प्रभाकर' तथा उनके अनुयायियों की रचनाओं का अध्ययन-अध्यापन नहीं चलने पाया। इसके विपरीत 'कुमारिल' की रचनाओं का मीमांसकों तथा वेदान्तियों दोनों के द्वारा साभिनिवेश अध्ययन-अध्यापन होने लगा तथा कुमारिल का सम्प्रदाय 'भाट्टसम्प्रदाय' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'अद्वैतवेदान्त' के प्रचारक नवीं शताब्दी (सदी) के वाचस्पति मिश्र तथा १६वीं शताब्दी (सदी) के 'अप्पयदीक्षित' ने अन्यान्य शास्त्रों में भी 'मीमांसा' के अध्ययन की उपयोगिता एवं प्रचलन का सूत्रपात किया। पार्थसारथिमिश्र, सोमेश्वरभट्ट, माधवाचार्य तथा खण्डदेवमिश्र ही पूर्वमीमांसा के क्षेत्र में प्रमुख लेखक हैं, जिन्होंने श्रौत तथा स्मार्त नियमों को संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक व्याख्याओं द्वारा सुचारु रूप से स्पष्ट किया है।

'कुमारिल' तथा 'प्रभाकर' द्वारा संस्थापित सिद्धान्तों के कुछ प्रमुख अंतर (भेद) का प्रसंग बड़ा ही रोचक है। पूर्वमीमांसा सूत्रों के शाबरभाष्य के टीकाकारों के रूप में दोनों ने ही वेदप्रामाण्य को पूर्वमीमांसाशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त के रूप में माना है। दोनों ने ही आगम अथवा शब्द को अलौकिक 'धर्म' का प्रमाण माना है।

प्रभाकर के अनुसार लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के 'शब्द' '**क्रिया अथवा कार्य' से सम्बन्धित होने पर ही 'पूर्ण आशय' को स्पष्ट करते हैं। अर्थात् यदि**

व्यावहारिक अनुभव में आया हुआ पदार्थ किसी भी वाक्य में शब्दों द्वारा स्पष्ट किया जाय तो वह वाक्य 'प्रमाण' की कोटि में नहीं आ सकता। केवल वही 'प्रमाण' कहा जा सकता है जो 'अनधिगत अर्थ' (नवीन विचार) को व्यक्त करे। अतः उन प्रभाकरवादियों के लिए जो एक प्रकार से मीमांसकों में आदर्श माने जाते हैं, उनका कहना है कि शब्दरूप में केवल 'वैदिक शब्द' ही प्रमाण हैं। निश्चय ही हमारे 'दैनिक व्यवहार' में प्रयुक्त 'शब्द तथा वाक्य' किसी नवीन अथवा अज्ञात मौलिक विचारों को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। अतः वे प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकते।

किन्तु इसके विपरीत भट्टवादियों अर्थात् 'कुमारिल' तथा उनके अनुयायियों के अनुसार लौकिक एवं वैदिक शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। सभी शब्द समानरूप से विचारों को अभिव्यक्त करते हैं, चाहे वह श्रोता के 'पूर्वश्रुत' हों अथवा नहीं।

उच्चरित एक वाक्य से किस प्रकार बोध उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर भी 'प्रभाकर' तथा 'कुमारिल' द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में दिया जाता है। 'प्रभाकर' के अनुसार 'प्रत्येक वाक्य' भाषा की इकाई है, तथा 'वाक्य' का 'प्रत्येक शब्द' ही उद्देश्य तथा उसके अन्वय (सम्बन्ध) को व्यक्त करता है। इसके विपरीत 'कुमारिल' के अनुसार शब्द विचारों (पदार्थों) की अभिव्यक्ति करते हैं तथा वह पदार्थ ही अन्वय अथवा सम्बन्ध को 'व्यक्त' करने में समर्थ होते हैं, जिसे वाक्यार्थ कहते हैं—'पदैः अभिहितः पदार्थ एव वाक्यार्थं बोधयति'। यह पद्धति 'भाट्ट-सम्प्रदाय' के 'अभिहितान्वयवाद' के नाम से प्रचलित है, जिसे शाबरभाष्य (१।१।७) तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय (खण्ड २) में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

'प्रभाकर' का मत 'अन्विताभिधानवाद' के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार कुमारिल तथा प्रभाकर का यह एक प्रमुख सैद्धान्तिक अन्तर है। वाचस्पतिमिश्र ने अपने तत्त्वबिन्दु में, पार्थसारथिमिश्र ने अपनी न्यायरत्नमाला में तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अपनी लघुचन्द्रिका और सिद्धान्तबिन्दु में इन सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या की है तथा 'कुमारिलभट्ट' के अभिहितान्वयवाद की ओर अनुराग प्रदर्शित किया है।

(२) दूसरा प्रमुख सैद्धान्तिक अन्तर 'अभाव' के स्पष्टीकरण में दृष्टिगत होता है। 'कुमारिलभट्ट' तथा उनके अनुगामियों ने 'नैयायिकों' की भाँति ही 'अभाव' को बिलकुल पृथक् ही माना है, जबकि 'प्रभाकर' ने उसे उसके अधिकरण स्वरूप में स्पष्ट किया है। इसके परिणामस्वरूप 'प्रभाकरवादियों' ने 'छठे प्रमाण' 'अनुपलब्धि' को भी नहीं माना है। इसके विपरीत 'भट्टवादियों' को, जिन्होंने 'अभाव' को पृथक् माना है; उसका (अभाव का) अनुभव करने के लिए 'अनुपलब्धि' को एक पृथक् प्रमाण मानने के लिए विवश होना पड़ा तथा उन्होंने 'अनुपलब्धि' की परिभाषा दी है—'आभावोऽपि प्रमाणाभावः, नास्तीत्यस्यार्थस्य

असन्निकृष्टस्य:'। अत: सामान्यत: प्रभाकरवादी 'पंचप्रमाणवादी' तथा भट्टवादी 'षट्प्रमाणवादी' के नाम से विख्यात हैं।

(३) तीसरा मुख्य सैद्धान्तिक भेद 'प्रभाकर' तथा 'भट्टवादियों' के भ्रमज्ञान वर्णन (शास्त्रार्थ, व्यवहार) के विषय में है। प्रभाकरवादियों द्वारा 'पृथक् बोध' की अस्वीकृति 'अप्रामाणिक' मानी गई है, जो शास्त्रीय शब्दावलि में 'अख्याति' शब्द से कही जाती है तथा जिसका शाब्दिक अर्थ—'अनुभव की अनुपस्थिति' है। प्रभाकरवादियों का कथन है कि 'इदं रजतम्' अर्थात् यह चाँदी है—इस प्रकार का जो ज्ञान हो रहा है, वह ज्ञान दो अनुभवों का मिश्रण है। 'यह' तो प्रत्यक्ष है, जिसे मनुष्य देखता है उसी 'चाँदी' की—जिसे 'द्रष्टा' ने किसी सुवर्णकार अथवा जौहरी के यहाँ देखा है—स्मृतिमात्र है। तब द्रष्टा उस स्थल पर क्यों जाता है, जहाँ उसने 'रजतस्वरूपमात्र' देखा है? उत्तर स्पष्ट है कि उस स्थिति में व्यक्ति उस ओर से अनभिज्ञ रहता है कि वहाँ 'दो बोध' दो तत्त्वों (पदार्थों–विषयों) को सुरक्षित करते हैं, और इन दो अनुभवों (ज्ञान) के 'अन्तर' की अनभिज्ञता ही उसके क्षणिक एवं अचेतन कार्य के लिए उत्तरदायी है। उसे 'अख्याति' शब्द से कहा गया है तथा यह एक पृथक् 'प्रमाणहीन अनुभव' की अस्वीकारोक्ति का प्रतीक है। इसके विपरीत 'भट्टवादियों' ने इसका वर्णन 'विपरीतख्याति' के रूप में किया है। 'विपरीतख्याति' ही नैयायिकों की 'अन्यथाख्याति' है; अन्तर केवल इतना ही है कि भट्टवादी इसका सन्निकर्ष (सम्बन्ध) 'असत्' कहते हैं तथा 'नैयायिक' अलौकिक सन्निकर्ष (ज्ञानलक्षणा) मानते हैं।

(४) प्रभाकर के मत में नैयायिकों की तरह 'आत्मा' को जड़स्वरुप (जड) माना है, जबकि 'भट्ट' ने 'आत्मा' को 'जडाजडस्वरूप' माना है।

(५) भट्ट ने 'अध्ययन' को अध्ययनविधि-प्रयुक्त बतलाया है, किन्तु 'प्रभाकर' उसे अध्यापनविधि-प्रयुक्त बतलाते हैं। इसी तरह अधिकांश स्थलों पर विधिलिङ् एवं विषय-सम्बन्धी अनेक विवादास्पद प्रसङ्ग हैं, जो दोनों सम्प्रदायों के मध्य प्रमुख सैद्धान्तिक अन्तर को स्पष्ट करते हैं। तात्पर्य यह है कि इनके विचार प्राय: 'तर्क' के आधार पर ही अधिष्ठित हैं। अपनी तर्क-पद्धति से प्रतिपक्षियों को यह निरुत्तर कर देते थे। इसलिए भी सम्भव है कि इन्हें सब लोग 'गुरु' कहते हों। दोनों का सैद्धान्तिक अन्तर होते हुए भी मीमांसा के क्षेत्र में 'कुमारिल' तथा 'प्रभाकर' दोनों ही अत्यन्त विख्यात हैं।

गुरु और बृहतीकार—'वाचस्पति मिश्र' ने अपनी 'न्यायकणिका' (पृ० ९६) में 'जरत्प्राभाकरमतमुपन्यस्यति' कहते हुए मण्डनमिश्र रचित 'विधिविवेक' की पंक्ति को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि मण्डनमिश्र से प्राचीन कोई 'जरत्प्राभाकर' हैं। पुन: पृ० १०९ पर 'जरत्प्राभाकरोन्नीतमर्थं गुरोर्वच: सङ्गच्छते इत्याह' कहते हुए 'जरत्प्राभाकर' का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ से स्पष्ट हो रहा है कि जरत्प्राभाकर की अपेक्षा 'गुरु' कोई अन्य ही है, जिसके वाक्यार्थ को 'जरत्प्राभाकर'

ने समझा। अतः 'गुरु' और 'जरत्प्राभाकर' एक नहीं हैं—यह 'वाचस्पति मिश्र' का कहना है। उसी पृ० १०९ पर ही 'नवीनास्तु उन्नयन्ति' कहते हुए 'अनिरूपित-नियोगव्यापारस्य इदं चोद्यं' ऐसा प्रारम्भ कर 'कर्तव्यताविषयो हि नियोगो न कर्तव्यतामाह' पंक्ति लिखी है। नवीन प्राभाकर के नाम पर कही गई कणिका की पंक्ति को हम 'बृहती' ग्रन्थ में चोदना सूत्र पर (पृ० ३८) पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र 'बृहतीकार' को ही नव्यप्राभाकर कहते हैं। विधिविवेक के पृ० २८१ पर 'अलं वा गुरुभिर्विवादेन' कहा गया है। बृहती में भी पृ० १८१ पर 'तदिद-मनुपासितगुरोश्चोद्यं' कहा गया है और पृ० १३५ पर 'किमनया अनुपासितगुरु-कथया विकल्पितया' कहा है। इन उल्लेखों से यह पता चलता है कि बृहतीकार और गुरु एक नहीं हैं। स्वयं को ही इसने गुरु शब्द से कहा है—यह कल्पना से परे की बात है। अतः 'गुरु', 'जरत्प्राभाकर' और नवीन प्राभाकर—ये परस्पर एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। सबको एक समझना भूल है—ऐसा हमें लग रहा है। अन्य प्रमाण भी इस तथ्य के पोषक हैं। यथा—विधिविवेक के पृ० २७९ पर 'एवमन-पेक्षतया प्रामाण्यसिद्धे···भूतादिकमपि गमयति'। यहाँ 'एवं' से लेकर 'अवगमयितुमल-माम्नायः' तक के ग्रन्थ से 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तम्' इत्यादि चोदनासूत्रस्थ भाष्य की व्याख्या की गई है। यहाँ पर कणिकाकार व्याख्या करते हैं—'चोदना हि' इति भाष्यग्रन्थस्य निबन्धनकृतो व्याख्यानं असमञ्जसम् इत्याह—इत्यसमञ्ज-समेतत्। आगे चलकर निबन्धनकार के द्वारा सर्वनाम का प्रयोग कर जो व्याख्यान किया गया है उसे दिखलाते हैं—'यदि कार्यरूप एव वेदार्थः, कथं तर्हि मन्त्रार्थवादाः सोपनिषत्काः भूतार्थाभिधायिनः'। यह आशंका कर 'चोदना हि' इस ग्रन्थ को उठाया गया और अर्थ बतलाकर उसे स्पष्ट किया कि 'यस्मात् भूतादिकमर्थं चोदनैव गमयति' इत्यादि। अब यहाँ का 'बृहतीग्रन्थ' भी देखिये (पृ० २०, २३)—'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः इति कार्येऽर्थे वेदस्य प्रामाण्यं दर्शयति'। 'तल्लक्षणो धर्म इति वदन्' (ये अक्षर 'मूलभाष्य' में नहीं हैं) कार्यरूप एवेति दर्शयति। 'चोदना हि भूत'मिति। यदि कार्ये एव अर्थे वेदस्य प्रामाण्यं, कथं तर्हि भूताद्यर्थावगतिः मन्त्रार्थ-वादेषु? तेषामपि हि कार्यार्थता द्वितीये पादे वक्ष्यति। तदुक्तं (भाष्ये) शक्नो-त्यवगमयितुमि'ति।

उपर्युक्त उल्लेखों को देखते हुए विचारना है कि 'बृहती' का ही नामान्तर 'निबन्धन' है अथवा कोई भिन्न ग्रन्थ है। 'निबन्धन' के नाम से अभी तक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अर्थ की दृष्टि से 'निबन्धन' और 'बृहती' दोनों एक-से लगते हैं, तथापि नामभेद से दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है। 'प्रभाकर' (गुरु) के मत की प्रतिपादक 'निबन्धन टीका' के रहते 'बृहतीकार' ने पुनः अन्य टीका क्यों रची? यह शंका हो सकती है, पर उसका समाधान सीधा-सा है कि जब 'गुरु', 'जरत्प्राभा-कर' और 'नव्यप्रभाकर' भिन्न-भिन्न हैं, तब स्वयं 'प्रभाकर' गुरु की रची प्राचीन टीका के होने पर भी अपने नवीन मत का प्रतिपादन करने के लिए 'नव्यप्रभाकर' ने बृहती नाम की दूसरी टीका बनाई हो, यह कल्पना कर सकते हैं। अतः 'निबन्धन'

नाम की भाष्यव्याख्या, जो साक्षात् 'गुरुप्रणीत' है वह भिन्न है, और 'बृहती' नाम की जो भाष्यव्याख्या है, वह अन्य किसी 'प्रभाकर गुरु' की प्रणीत है। एवञ्च 'गुरु' अन्य हैं, 'जरत्प्रभाकर' उससे भिन्न हैं और 'नव्यप्रभाकर' जो बृहतीकार हैं, वे पूर्वोक्त दोनों से भिन्न हैं।

टीकाकार (प्राभाकर)—विधिविवेककार 'टीकाकार' के मत का उपन्यास करते हैं— यदपि दर्शनं प्रमाणान्तराऽगोचरः शब्दमात्राऽऽलम्बनः नियुक्तोऽस्मीति-प्रत्यात्मवेदनीयः सुखादिवत् अपरामृष्टकालत्रयः लिङादीनामर्थो विधिरिति' (विधि-विवेक पृ० ४८) कणिका पृ० ४८। विधिविवेक में उद्धृत की हुई पंक्ति को 'बृहती के तर्कपाद' में अच्छी तरह खोजने पर भी नहीं पाया गया। तब यह टीकाकार कौन हैं? इसका विचार करना चाहिए। 'टीकाकारः प्रयोजनं दर्शयति—लोके इत्यादि भाष्यस्येत्यादिना' इस बृहती को 'शालिकनाथ' ने उद्धृत किया है। 'तत्र टीकाकारः पृच्छति —किमनेनावधार्यते इति' (ऋजुविमला)। 'तदाह भगवान् वार्तिककारः' (प्राभाकरीयः)। इसके अनन्तर कुछ वार्तिकों को लिखकर 'तदेतत् टीकाकारो भगवान् न मृष्यति' कहा और 'यथा गुरुदर्शनं किञ्चिदुच्यते' लिखा। इससे प्रतीत हो रहा है कि शालिकनाथ के विचार से 'वार्तिककार, टीकाकार और गुरु' एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं (पृ० ९०)। टीका का अर्थ है 'शाबरभाष्य' की व्याख्या। भिन्न-भिन्न मत होने के कारण तत्तत् आचार्यों ने अनेक प्रकार की व्याख्याएँ रची होंगी। उनमें से प्रत्यक्ष 'गुरु' की रची निबन्ध या निबन्धन नाम की एक; दूसरी 'जरत्प्रभाकर' की रची और तीसरी 'नवीन प्रभाकर' की रची दो तरह की 'बृहती' तथा 'लघ्वी' नाम की है। ये तीनों टीकाकार ही हैं। इनमें से शालिकनाथ 'टीकाकार' शब्द से 'बृहती टीकाकार' को कहते हैं। एवञ्च वाचस्पति के उल्लिखित 'टीकाकार' साक्षात् गुरु हों और शालिकनाथ के उल्लिखित टीकाकार 'बृहतीकार' हों, इस कल्पना में किसी प्रकार भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

वार्तिककार (प्रभाकरपक्षीय)—ऋजुविमला के पृ० ९१ पर 'तदाहुर्वार्तिक-कारमिश्राः' 'गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम्। शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत्॥' इति। तदाह वार्तिककारः 'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शक्यते। विपक्षस्य कुतस्तावत् हेतोर्गमकताबलम्॥' इति (ऋजु० पृ० १०८)। ये दोनों श्लोक 'भाट्टवार्तिक' में नहीं मिलते। अतः यह वार्तिककार प्रभाकरीय ही कोई होना चाहिए।

मण्डनमिश्र

(६८०–७५० ई०)

आचार्य 'मण्डनमिश्र' मगध के निकटवर्ती 'मैथिल देश' के रहने वाले मैथिल (गौड़) ब्राह्मण थे। मैथिल देश में 'मोसाढा' नाम का एक गाँव है, जो पहले प्रायः 'माहिष्मती' नाम से प्रसिद्ध था, ऐसी वृद्ध मैथिल-पण्डितों में प्रसिद्धि है। मैथिल

विद्वानों में अधिकतर कर्मकाण्ड का अभिमान तथा संन्यासाश्रम का विरोध भी पाया जाता है।

मिथिला से 'मगध' देश पास होने के कारण 'मण्डनमिश्र' कुमारिलभट्ट के पास अध्ययन के लिए रहे होंगे। 'कुमारिल' से उन्होंने 'पूर्वमीमांसा' का अध्ययन करके उसमें पारगामित्व प्राप्त करके अन्त तक वे उन्हीं के अनुयायी रहे। 'मण्डन मिश्र' अत्यन्त बुद्धिमान् तथा स्वतन्त्रप्रज्ञ थे। उन्होंने थोड़े से मतभेद के साथ 'मीमांसानुक्रमणिका', 'भावनाविवेक', 'विधिविवेक', वैयाकरणों का 'स्फोटवाद' स्वीकार करके 'स्फोटसिद्धि' एवं ख्यातिवाद पर 'विभ्रमविवेक' इत्यादि ग्रन्थों की रचना कीं है। अनुमान है कि ये 'कुमारिल भट्ट' तथा 'प्रभाकर' से छोटे तथा शंकराचार्य से बड़े थे, क्योंकि इसका आभास कुछ उद्धृत वाक्यों तथा खण्डन से मिलता है। उत्तरमीमांसा अर्थात् आत्म-मीमांसा में उनके मत 'कुमारिल' तथा 'प्रभाकर' मत से बिलकुल विरुद्ध हैं। इसी तरह गौडपादाचार्य का अद्वैत-सम्प्रदाय भी उन्हें पसन्द न था। आचार्य शंकर से इस विषय में उनका मतभेद होने के कारण 'मण्डनमिश्र' ने 'आचार्य शंकर' का शिष्यत्व स्वीकार किया हो, यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। यद्यपि कहीं-कहीं 'शांकर-सम्प्रदाय' के तथा इनके मत में समानता का आभास मिलता है, तथापि प्रधान अंश में दोनों बिलकुल विरुद्ध हैं। उदाहरण के लिए जैसे—'मण्डन' जहाँ 'ज्ञान' से मुक्ति मानते हुए भी 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' मानते हैं तो 'आचार्य शंकर' ज्ञानकर्मसमुच्चय के पूर्ण विरोधी हैं। 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य केवल परोक्ष ज्ञान ही देते हैं। अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् अनुभव के लिए प्रसंख्यान (ध्यान) की आवश्यकता है ही, यह 'मण्डनमिश्र' का मत है। और 'महावाक्य' से ही 'अपरोक्ष ज्ञान' अर्थात् अनुभव प्राप्त होता है, यह 'शंकर' का मत है। 'मण्डन मिश्र' जहाँ 'विभ्रमवाद' मानते हैं, वहाँ 'आचार्य शंकर' का 'अनिर्वचनीयवाद' है। इस प्रकार दोनों में बड़े महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं। 'मण्डनमिश्र' ने अपना मत 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ में लिखा है। 'मण्डनमिश्र' का यह अद्वैत-सम्प्रदाय किसका चलाया हुआ और कब से चला है ? इस विषय में उन्होंने अपने ग्रन्थ में न तो कुछ उल्लेख ही किया है, न 'गुरु' का नाम ही लिखा है। सम्भव है कि भट्ट, नैयायिक, सांख्ययोग आदि शास्त्रों से अपनी अनुकूल बातों को लेकर उन्होंने स्वयं ही यह सम्प्रदाय चलाया हो। 'आचार्य शंकर', 'मण्डन' तथा 'ब्रह्मदत्त', 'भर्तृप्रपंच' इत्यादि समुच्चय-वादी विद्वानों के मत का खण्डन करते हुए 'अस्मदीयाश्च केचित्', गुरुसम्प्रदाय-रहिताः', 'पण्डितम्मन्याः' तथा 'उपनिषदर्थमन्यथा कुर्वन्ति' जैसे प्रयोग करते हैं, प्रत्यक्ष नाम नहीं लेते। श्रीसुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञमुनि आदि आचार्य सम्प्रदायी लोग कहीं-कहीं 'मण्डन', 'धर्मकीर्ति' आदि के नामोल्लेखपूर्वक उनके मत का खण्डन करते हैं, क्वचित् अनुकूल मतों के लिए उनकी सम्मति भी लेते हैं। 'इति प्राह ब्रह्म-सिद्धिकारो वेदरहस्यवित्' (वार्तिकसार अ० २, ब्रा० ३, श्लो० ८४) 'ब्रह्मसिद्धि-ग्रन्थ' का सूक्ष्म अध्ययन करने पर एक बात और दृष्टिगोचर होती है कि आचार्य शंकर के भाष्य का परिशीलन भी 'मण्डन' ने बड़ी ही अच्छी तरह किया था, क्योंकि

आचार्य शंकर के भाष्य की कुछ आनुपूर्वी भी कहीं-कहीं प्रायः ज्यों की त्यों 'ब्रह्मसिद्धि' में पायी जाती है। उदाहरणार्थ—'तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्' (सूत्रभाष्य १।१।४) और 'तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावः प्रागिव सांसारिकधर्मभाक्। यस्तु तथा नासावगतब्रह्मात्मभाव इति' (ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड)। शांकरभाष्यान्तर्गत कुछ मतों का खण्डन 'मण्डनमिश्र' द्वारा हुआ देखकर सम्भव है कि सुरेश्वराचार्य को उसका खण्डन करने की आज्ञा आचार्य ने दी हो और इसीलिए उन्होंने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' ग्रन्थ की रचना की हो। 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में लिखा है—'एवमुपसंहृते केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः—यदेतत् वेदान्तवाक्यात् अहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञानं निरस्यति। किं तर्हि, अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो भावनोपचयान्निःशेषमज्ञानमपगच्छतीति' (नै० सि० १।६६) इत्यादि अनेक उदाहरण दिखलाए जा सकते हैं। वाचस्पतिमिश्र (सन् ८४१) बहुत अंशों में मण्डन की प्रक्रिया के ही अनुयायी हैं। उन्होंने 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'तत्त्वसमीक्षा' नामक एक टीका लिखी है और 'शांकरभाष्य' पर 'भामती' नामक प्रसिद्ध टीका भी की है। 'भामती' तथा 'पंचपादिकाविवरणादि' भाष्य-टीकाओं में अनेक स्थलों पर मतभेद बिलकुल स्पष्ट है। कहीं-कहीं इससे भी आगे बढ़कर वे 'भाष्य' का विरोध करते हुए नहीं हिचकते। जैसे—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ भाष्य और विवरणादि ग्रन्थों में 'ब्रह्मविचारः कर्तव्यः' किया है; और वाचस्पति ने 'ब्रह्मजिज्ञासा भवति' किया है। इसलिए इन दो सम्प्रदायों के लिए 'विवरणप्रस्थान' तथा 'भामतीप्रस्थान' ऐसे भिन्न-भिन्न नामों से निर्देश किया जाता है। 'सुरेश्वराचार्य' के शिष्य 'सर्वज्ञमुनि' अपने संक्षेपशारीरक ग्रन्थ में 'परिहृत्य मण्डनवचः तद्धचन्यथा प्रस्थितम्' (अ० २ श्लो० १७४) इस प्रकार से 'मण्डन' के मत का खण्डन करते हैं, जिससे यह प्रस्थान (सम्प्रदाय) भिन्न है, यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार शास्त्रीय खण्डन-मण्डनों का समालोचन करने पर इस आख्यायिका के विषय में मण्डनमिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर 'सुरेश्वराचार्य' नाम से संन्यास देते हुए आचार्य 'शंकर' ने उनकी 'शृंगेरीपीठ' पर स्थापना की। इस कथन में 'शंकरदिग्विजय' को छोड़कर दूसरा कोई ठोस आधार नहीं है और जब तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न हो, तब तक इसे कल्पित कथा का रूप देना स्वतः प्राप्त है।

इस विषय के कुछ अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं—

(१) आनन्दानुभवयतीन्द्र-कृत 'न्यायरत्नदीपावली' में लिखा है—'गृहस्थावस्थायां विरचिते च विश्वरूपग्रन्थे दर्शितवाक्यपरिग्रहो दृश्यते। न चासौ ग्रन्थः संन्यासिना विरचितः, परिव्राजकाचार्यसुरेश्वरविरचितेति ग्रन्थे नाम लिखेत्। लिखितन्तु भट्टविश्वरूपविरचितेति'। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि 'विश्वरूप' को संन्यास देकर 'सुरेश्वर' नाम से शृंगेरीपीठ पर उन्हें बैठाया।

(२) पराशरस्मृति की टीका में सुरेश्वराचार्य-कृत सम्बन्धवार्तिक का कुछ अंश टीकाकार विश्वरूप के नाम से देते हैं—'इदं च वाक्यं नित्यकर्मविषयत्वेन वार्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार'।

(३) श्रृंगेरीमठ की गुरुपरम्परा में 'विश्वं मायामयत्वेन रूपितं यत्प्रबोधतः । विश्वं च यत्स्वरूपं तं वार्तिकाचार्यमाश्रये' ऐसा श्लोक है ।

(४) श्रृंगेरीपीठ के सम्बन्ध में अब तक ऐसा नियम चला आया है कि ब्रह्मचारी शिष्य को ही संन्यास देकर पीठाधिष्ठित किया जाता है ।

(५) शंकर द्वारा स्थापित पीठ तथा अन्य स्थानों पर पंचद्राविडान्तर्गत व्यक्ति की नियुक्ति का संकेत आज तक आसेतु हिमाचल अविच्छिन्न परम्परा से माना जाता है ।

(६) मण्डनमिश्र मैथिल (गौड) तथा गृहस्थाश्रमी थे; इस बात से प्रायः सभी सहमत हैं ।

(७) श्रृंगेरीपीठ परम्परा का महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेद का वाक्य है । मण्डनमिश्र को मैथिल विद्वान् सामवेदी बतलाते हैं ।

(८) सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्यों पर ही वार्तिकों की रचना की है ।

केवल विध्यर्थविचार के लिए प्रवृत्त हुए 'विधिविवेक' में प्रसंग से प्राप्त कतिपय पदार्थों का विचार कर मीमांसाशास्त्रीय पूर्वषट्कप्रतिपादित पदार्थों को किञ्चिन्मात्र स्पर्श करते हुए कुमारिल-सम्मत 'शाब्दीभावना' और प्रभाकर निरूपित 'नियोग' के विधित्व का खण्डन कर 'इष्टसाधनत्व' को ही विधि के रूप में सिद्ध किया गया है ।

उम्बेक

(६७०–७५० ई०)

परम्परा से 'उम्बेक' भट्ट कुमारिल के एक शिष्य के रूप में विख्यात हैं; अतः उनका काल निश्चित ही है ।

'उम्बेक' के जीवन के सम्बन्ध में अनेक विचारधाराएँ प्रचलित हैं । म० म० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्रीगल ने 'उम्बेक' को प्रसिद्ध नाटककार 'भवभूति'[1] ही माना है । इस तथ्य की पुष्टि के लिए उन्होंने कुछ साहित्यिक प्रमाण भी खोज निकाले हैं । प्रथम तथा प्रमुख यह है कि 'चित्सुखाचार्य' की 'तत्त्वप्रदीपिका' के व्याख्याकार[२] ने 'भवभूतिः उम्बेकः·····' भवभूति को उम्बेक ही माना है । मालतीमाधव की प्रारम्भिक हस्तलिपियों में कुछ ऐसे अन्त्योल्लेख हैं, जो कुमारिल के शिष्य उम्बेक को ही नाटककार सिद्ध करते हैं और श्लोकवार्तिक की व्याख्या भी—'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्·····' से प्रारम्भ होती है । यही श्लोक मालतीमाधव की प्रस्तावना

1. Paper on 'The Prabhakara School of' 'Karma Mimansa' and on 'Further Light of the Prabhakar's Problem' submitted to the second and third Oriental Conf erence, 1922 and 1924.

२. 'तत्त्वप्रदीपिका' तथा 'नयनप्रसादिनी' की व्याख्या, पृ० ४२८ ।

में भी 'भवभूति' के प्रसंग के साथ प्राप्त होता है। मद्रास यूनिवर्सिटी से प्रकाशित (स्फोट-निरूपण पर्यन्त उम्बेक की व्याख्या के सहित) श्लोकवार्तिक की भूमिका में श्री सी० कुन्हन राजा ने भूवभूति की अभिन्नता प्रतिपादित की है।

इस एकरूपता (अभिन्नता) के विषय में अनेक आपत्तियाँ हैं। भवभूति ने अपने तीनों नाटकों की प्रस्तावना में 'ज्ञाननिधि' का उल्लेख अपने 'गुरु' के रूप में किया है, 'कुमारिल' का नहीं। 'कुमारिल' और 'ज्ञाननिधि' की एकात्मता में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त 'मालतीमाधव' की प्रस्तावना में 'भवभूति' ने ज्ञान की अनेक शाखाओं; यथा—वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग में अपने विश्वासपूर्ण अधिकार का उल्लेख किया है, किन्तु 'मीमांसा' का उल्लेख कहीं भी नहीं है। यदि 'उम्बेक' और भवभूति एक ही होते तो मीमांसा का अवश्य ही कहीं-न-कहीं प्रसंग आया होता। क्योंकि 'उम्बेक' एक प्रसिद्ध मीमांसक थे।

दूसरी आपत्ति पहली की भाँति गम्भीर नहीं है। यद्यपि नाटककार ने मीमांसा का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके वैदिक ज्ञान के प्रसंग 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'यद् वेदाध्ययनम्…'[1] का आशय ही यह है कि 'पूर्वमीमांसा' के अध्ययन के बिना 'वेदों' का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता—'अथातो धर्मजिज्ञासा' एवं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'। किन्तु पहली आपत्ति अधिक गम्भीर प्रतीत होती है, क्योंकि नाटकीय परम्परा के अनुसार यदि प्रस्तावना में कोई प्रसंग उपस्थित किया जाय तो नाटककार के गुरुओं का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। इस कारण 'कुमारिल' यदि 'भवभूति' के गुरु होते तो उनके नाम का अवश्य उल्लेख होता।

रचना—निबन्धनकार उम्बेक 'कुमारिल भट्ट' के श्लोकवार्तिक तथा 'मण्डन-मिश्र' के भावनाविवेक के व्याख्याकार के रूप में विख्यात हैं। निबन्धन तो उनका अभी तक अनुपलब्ध है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या 'तात्पर्यटीका' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि उक्त व्याख्या कुमारिल के पुत्र 'जयमिश्र' तथा 'उम्बेक' के संयुक्त परिश्रम का परिणाम है।

'उम्बेक मिश्र' एक स्वतंत्र विचारक थे। उन्होंने कहीं भी अन्धानुकरण नहीं किया है। एक सच्चे समालोचक की भाँति अपने 'गुरु' के सिद्धान्तों का भी खण्डन करने में वे नहीं चूके हैं।

शालिकनाथ

(६९०-७६० ई०)

'प्रभाकर-परम्परा' के सर्वश्रेष्ठ लेखक और प्रतिपादक 'शालिकनाथ' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परम्परा से आप प्रभाकर के शिष्यरूप में विख्यात हैं।

---

१. यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदं साङ्ख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं न तु ततः कश्चिद् गुणो नाटके॥

इसके अनेक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। स्वयं लेखक ने भी अनेक स्थलों पर 'प्रभाकरगुरोः' का प्रयोग किया है। प्रभाकर के अन्य अनुयायियों ने भी उन्हें इसी रूप में आदृत किया है। 'गुरु' तो उनका एक विशेषण-सा बन गया था। अतः 'प्रभाकर गुरोः' यह कथन गुरु-शिष्य सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। फिर भी प्रभाकर और कुमारिल की भाँति 'शालिकनाथ' और 'प्रभाकर' का सम्बन्ध स्थिर-सा हो गया है। शालिकनाथ ने एक सच्चे शिष्य की भाँति 'प्रभाकर' द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की रक्षा मात्र ही नहीं की, अपितु विपक्षियों के आघातों से भी सुरक्षित रखा।

देश काल—कुसुमांजलिकार 'उदयनाचार्य'[1] ने अपने ग्रंथ में 'गौडमीमांसक' को उद्धृत किया है तथा वरदराज मिश्र ने 'बोधिनी' व्याख्या करते हुए 'गौडमीमांसक' तथा 'शालिकनाथ' की अभिन्नता स्थापित की है। यदि यह सत्य है तो 'शालिकनाथ' को गौडदेशवासी कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए।

काल की दृष्टि से 'श्रीरामस्वामी शास्त्री'[2] ने सिद्ध किया है कि 'वाचस्पति मिश्र' ने ऋजुविमलापंचिका[3] से अनेक उद्धरण लिये हैं। वाचस्पति मित्र का काल ९ वीं सदी है और स्वयं शालिकनाथ ने मण्डनमिश्र के विधिविवेक से अनेक उद्धरण लिये हैं[4]। इससे यह प्रमाणित होता है कि 'शालिकनाथ' वाचस्पति मिश्र से पूर्व एवं 'मण्डन मिश्र' के अनन्तर हुए हैं। यह काल ९वीं शताब्दी से पहले का ही निश्चित किया जा सकता है। म० म० श्री गोपीनाथ कविराज ने 'शालिकनाथ' को उदयनाचार्य का समकालीन प्रमाणित किया है,[5] जो उपर्युक्त विवेचन के कारण संगत प्रतीत नहीं हो रहा है।

प्रभाकर के कट्टर शिष्य के रूप में 'शालिकनाथ' ने अपनी दो अमूल्य व्याख्याओं 'लघ्वी' पर 'दीपशिखा' और 'बृहती' पर 'ऋजुविमला' को लिखकर अपने गुरु के मत का प्रचार किया है। व्याख्याओं के अतिरिक्त प्रकरणपंचिका नामक प्रसिद्ध 'प्रकरण-ग्रन्थ' की भी रचना की है।

'प्रकरणपंचिका' प्रभाकर-सम्प्रदाय को समझने के लिए एकमात्र ग्रन्थ है। ग्रन्थ का आरम्भ 'अध्ययनविधि' पर विचार-विमर्श से होता है, जो मीमांसाशास्त्र का परिचयात्मक विषय है और लगभग सभी मीमांसा के प्रारम्भिक तथा उत्तरकालीन रचनाओं में विचार-विमर्श का विषय बना हुआ है। जब कि भट्टवादियों ने उक्त

१. कुसुमांजलि, पृ० ४६६।
२. तत्त्वबिन्दु का परिचय, पृ० ४८ (बिब्लियो० संस्करण)।
३. 'अत्रैव·····ज्ञापयति' न्यायकणिका पृ० १०९, बनारस प्रकाशन।
४. प्रकरणपंचिका पृ० १७८, वाराणसी संस्करण, 'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात्'। (विधिविवेक)।
५. सरस्वतीभवन सीरीज, वाल्यूम ६, पृ० १६६–१६८।

आदेश[1] (विधि) को—वेदों का अध्ययन 'अर्थ-ज्ञान' के लिए है—इस रूप में लिया है। प्रभाकरवादी 'स्वाध्याय-विधि' का अधिकरण के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं मानते[2]। शालिकनाथ के ग्रन्थ ने ही 'स्वाध्यायविधि' के वास्तविक अर्थ पर पूर्ण प्रकाश डाला है[3]। प्रथम विषय 'शास्त्रमुख' नाम से विख्यात है। 'शास्त्रमुख' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, विद्यार्थियों को शास्त्र से परिचित करा देता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय जातिनिर्णय है, तीसरा नयवीथि, चौथा पञ्चप्रमाण (प्रमाण पारायण), पाँचवा वेदप्रामाण्य,[4] छठा आत्मविचार,[5] सातवाँ वाक्यार्थावगम[6] विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य विषयों पर भी विचार किया गया है।

शालिकनाथ का 'मीमांसाभाष्य-परिशिष्ट' तो शाबरभाष्य का पूरक ही प्रतीत होता है।

महोदधि तथा महाव्रत

(७००–७७० ई०)

कालक्रमानुसार शालिकनाथ के पश्चात् 'महोदधि' तथा 'महाव्रत' का ही स्थान है। इन्होंने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक की 'चन्द्रिका' व्याख्या[7] लिखी है, जो 'महोदधि' को शालिकनाथ का समकालीन तथा 'गुरु-मत' का प्रतिनिधि बतलाती है।

'महाव्रत' भी महोदधि के समकालीन है, किन्तु ये कुमारिल-सम्प्रदाय के पूर्ण समर्थक हैं। 'महाव्रत' ने महोदधि के विचारों का खण्डन किया है। ग्यारहवीं सदी के 'भवनाथ भट्ट' ने 'नयविवेक'[8] में इन दोनों लेखकों का उल्लेख किया है। अतः इनका काल ७००–७७० ई० तक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

वाचस्पतिमिश्र

(८००-९०० ई०)

वाचस्पति का काल अनेक विद्वानों द्वारा उनकी रचनाओं के प्रसंगों से निश्चित किया गया है। अपने 'न्यायसूचीनिबन्ध' में रचना के पूर्ण होने की तिथि विक्रम

---

१. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श० ब्रा० ११।५।७।२)।

२. 'आचार्यकरणवाक्यः'।

३. 'स्वाध्यायविधिवाक्यार्थं विचारे प्रयतामहे।
प्रभाकरगुरोर्दृष्टया मीमांसारम्भसिद्धये॥
(शास्त्रमुखप्रकरण, प्र० पं०, पृ० १)।

४. निर्मलांजनप्रकरण, प्र० पं०।

५. तत्त्वालोकप्रकरण, प्र० पं०।

६. वाक्यार्थमातृका, प्र० पं०।

७. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक २, श्लोक ३ की व्याख्या।

८. नयविवेक १।१।७।

सं० ८९८ दी है, जो ८४१–४२ ई० के समकक्ष है[१]। वाचस्पति की 'न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका' पर 'परिशुद्धि' टीका के रचयिता प्रसिद्ध उदयनाचार्य से पूर्व ही 'वाचस्पति' का काल है। 'लक्षणावलि' के आधार पर उदायनाचार्य का काल दसवीं सदी में निर्धारित किया गया है; जो ९८४ ई० होता है[२]। अतः 'वाचस्पतिमिश्र' का काल ८०० से ९०० ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है, क्योंकि वे 'श्रीशंकराचार्य' के बाद के हैं।

विद्वानों का मत है कि 'वाचस्पतिमिश्र' बिहार[३] अथवा बंगाल[४] के थे। कारण कि उन्होंने बारबार अपनी रचनाओं में 'सरसों के तेल' का प्रसङ्ग दिया है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि प्राचीन मिथिला के समीप एक भाभा नगरी है, जहाँ उसी नाम का तालाव है। अपने आश्रयदाता का नाम इन्होंने राजा नृग लिखा है[५]।

उनके व्यक्तित्व तथा परिवार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इतना ही सुना जाता है कि वे स्वयं शंकर के अवतार हैं और अपनी 'भामती' के द्वारा इन्होंने 'अद्वैतवाद' का प्रचार किया है। वे सदा अध्ययन में रत रहते थे तथा इन्होंने 'भामती' के समान ही उच्चस्तर की कितनी ही रचनाएँ अन्यान्य शास्त्रों में भी की हैं। इन्होंने भारतीय प्राचीन प्रथा के अनुकूल अपने विवाह के अवसर पर उपस्थित अनेक महापण्डितों के अद्भुत् तर्कपूर्ण वाद-विवादों को सुना और तभी से इन्होंने अपना जीवन अधिकाधिक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करने में लगा दिया। गृहस्थ होते हुए भी अध्ययन के प्रति उनका उत्साह इतना अधिक था कि वे ब्रह्मचारियों का-सा जीवन व्यतीत करते थे, तथापि गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों की अवहेलना नहीं हो पाती थी।

अपने गुरुओं के विषय में उन्होंने 'त्रिविक्रम' का अपने न्यायशिक्षक के रूप में उल्लेख किया है[६]। वाचस्पति की साहित्यिक प्रतिभा विलक्षण है। भारत में अबतक

१. (क) म० म० डा० गंगानाथ झा भी वाचस्पति मिश्र का जन्म-स्थान मिथिला ही मानते हैं। (सां० त० कौ० की सं० भूमिका)

(ख) देखिये—भारतीयदर्शन का इतिहास—प्र० भा०, पृ० १०७, दासगुप्ता तथा 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज्म' पृ० २९, प्रो० कीथ।

२. देखिये—इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज्म, पृ० ३१, प्रो० कीथ।

३. मीमांसाकुसुमांजलि, पृ० ३५, म० म० डॉ० उमेश मिश्र।

४. इण्ट्रोडेक्शन ऑफ पूर्वमीमांसाशास्त्र पृ० ५२, व० अ० रामस्वामी शास्त्री।

५. देखिये—भामती अ० २, पा० १, सू० ३३—न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्रविनिर्मितानि महाप्रासादप्रमदवनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्। तथा ४ थे अध्याय के ४ थे पाद के अन्तिम पद्य में भी। पृ० ४८१ नि० सा० प्रे० मुं०।

६. तात्पर्यटीका (बना० सं०, पृ० १३३)—

त्रिविक्रमगुरुन्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥

जितनी प्रतिभाएँ हुई हैं, उनमें 'वाचस्पति' का स्थान बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इनका नाम 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' की सम्माननीय पदवी से अलंकृत किया जाता है, जो केवल साहित्यिक प्रतिभाओं को ही सुलभ होती है। इनकी साहित्यिक रचनाएँ इनके उस सम्मान और प्रतिष्ठा की परिचायक हैं, जो इनकी पदवी से सम्बन्धित हैं।

आपका नाम उन अद्वितीय विद्वानों में आता है, जिन्होंने छहों आस्तिक दर्शनों पर अधिकारपूर्वक लेखन किया है।

'न्याय तथा वैशेषिक' का अलग-अलग वर्गीकरण इनकी प्रतिभा को रुचिकर नहीं लगा, इसीलिए इन्होंने 'वैशेषिक प्रणाली' पर कोई भी कृति नहीं लिखी। इन्होंने उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' पर 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' नाम की बड़ी ही अधिकारपूर्ण टीका लिखी है, जो अन्धकार के गर्त में विलीन हो गई होती, परन्तु केवल वाचस्पति की टीका के कारण ही जीवित रही। वाचस्पतिमिश्र की बहुमूल्य सेवा न्यायशास्त्र में मौलिक न्यायसिद्धान्तों की प्रस्थापना है, जो 'न्यायसूत्र' में निहित है तथा न्यायभाष्यकार और न्यायवार्तिककार के द्वारा जिनकी व्याख्या की गई है, और बौद्ध-आचार्य 'दिङ्नाग' तथा 'धर्मकीर्ति' से उग्ररूप में आलोचित हैं। न्याय-जगत् में ये 'तात्पर्यटीकाकार' के रूप में विख्यात हैं। इनकी दूसरी रचना न्याय-दर्शन में 'न्यायसूचीनिबन्धन' है, जो तात्पर्य टीका की परिशिष्ट है।

दर्शन में 'सांख्य' तथा 'योग' की प्रणालियों को उनका सहयोग दो टीकाओं में संगृहीत है—(१) ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' तथा (२) व्यास के योगसूत्र-भाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी'। सांख्यकारिका पर 'गौडपाद' भाष्य के अनन्तर इनकी रचना 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' ही मान्य है, किन्तु यह तो सांख्यतत्त्वों की स्पष्ट एवं विशद व्याख्या के कारण अपने पूर्वजों की स्पर्धा का विषय बन जाती है।

दर्शन की मीमांसा-प्रणाली में इनकी रचनाएँ—१. मण्डनमिश्र के 'विधिविवेक'[1] पर न्यायकणिका नाम की टीका तथा २. 'तत्त्वबिन्दु'[2]। 'न्यायकणिका' एक उत्तम

किन्तु डॉ० म० म० उमेशमिश्र ने अपनी 'Critical Bibliography of Mimansa' में वाचस्पति के गुरु का नाम त्रिलोचन कहा है किन्तु प्रमाण नहीं दिया।

1. The 'Nyayakanika' (with the Vidhiviveka) was published in the 'Pandit' at Banaras. म० म० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण अपने History of Indian Logic पृ० ३१४ पर 'न्यायकणिका' को न्यायशास्त्र का ग्रंथ बतलाते हैं, जो वास्तव में मीमांसाशास्त्र का ग्रंथ है।

2. The 'Tattvabindu' was first published in the 'Pandit', another edition of the same (together with the 'Tattvavibhavana') now **appears in the Annamalai University Sanskrit Series No 3.**

टीका होने के अतिरिक्त सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, ख्याति तथा क्षणभंगवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करनेवाली एक अधिकारपूर्ण रचना है।

'तत्त्वबिन्दु' एक स्वतन्त्र रचना है, जिसके द्वारा लेखक ने 'तीन प्रमुख' तो 'दो गौण' दृष्टिकोणों की—जो शाब्दबोध जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न से सम्बन्धित होने के कारण दर्शन के विद्वानों में प्रचलित हैं—अत्यन्त शक्तिशाली भाषा में अभिव्यक्ति की है। प्रथम तो उसने 'वैयाकरणों के स्फोट' का विचार किया है, जो शाब्दबोध के कारण तथा शब्दप्रत्यय के अन्तर को स्पष्ट करता है। श्लोकवार्तिक के स्फोटवाद के भाग में 'कुमारिल' द्वारा किये गये खण्डन को दृष्टिगत कर इन्होंने भी स्फोट का खण्डन किया है। इसी तरह शब्द के पूर्व अनुभवों से उत्पन्न 'अन्तिम वर्ण' अथवा वर्णावलि संस्कारों सहित शाब्दबोध का कारण है—इस विचार का भी इन्होंने खण्डन किया है। इसी तरह टीकाकार और उसके प्रमुख शिष्य 'शालिकनाथ' द्वारा प्रतिपादित 'अन्विताभिधानवाद' का, सभी दृष्टिकोणों से विवेचन करने के पश्चात् खण्डन किया है। अन्त में 'अभिहितान्वयवाद' की व्यंजना की गई है, जिसके अनुसार शब्द (पद) 'पदार्थों' को बतलाते हैं और वाक्यार्थ को अर्पित करते हैं, जिसके ज्ञान को 'वाक्यार्थज्ञान' या शब्दबोध कहते हैं। अभिप्राय यह है कि शब्द या शब्दों का ज्ञान, शाब्दबोध का पूर्ण कारण नहीं, किन्तु पदों द्वारा प्रतिपादित पदार्थ ही शाब्दबोध के कारण हैं।

दर्शन की वेदान्त-प्रणाली में इनका कार्य—'ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा'[1] जो 'मण्डनमिश्र' की 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'टीका' है।

'भामती'[2] जो शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर सर्वसम्मत एवं आदरणीय टीका है। 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' न्यायकणिका के समान ही 'ब्रह्मसिद्धि' की सर्वसम्मत सुन्दर टीका मानी जाती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि वाचस्पतिमिश्र ने अपने वेदान्तसम्बन्धी विचारों की प्रेरणा मण्डनमिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' से प्राप्त की थी, जो 'भामती' में संगृहीत है। बाद में उन्हीं विचारों को 'भामतीप्रस्थान' के रूप में समझा जाने लगा। जिस प्रकार पद्मपादाचार्य (शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों में से एक तथा 'शंकराचार्य' के ब्रह्मसूत्रभाष्य की प्रसिद्ध टीका 'पञ्चपादिका' के रचयिता), 'प्रकाशात्मयति' (विवरण के लेखक) और उनके विचार बाद में विवरणकार या विवरणप्रस्थान के रूप में जाने गये।

'भामती चतुःसुत्री' के सम्पादक अपनी भूमिका के अन्त में वाचस्पति मिश्र को मण्डनमिश्र का ऋणी लिखते हैं—

'वाचस्पति' जैसा विचारशील विद्यार्थी उनमें मौलिकता का अभाव कैसे पायेगा?

---

१. 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' अभी तक दुर्लभ ग्रन्थ संग्रहालयों में भी उपलब्ध नहीं हो पायी।

२. भामती के स्वतंत्र तथा भाष्यसहित अनेक संस्करण मुंबई, काशी, कलकत्ता, श्रीरंगम् आदि स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं।

अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के हेतु इन्होंने बहुत कुछ 'मण्डनमिश्र' से ग्रहण किया है। जहाँ कहीं हम इन्हे मण्डनमिश्र से भिन्न देखते हैं, वहीं उन्हें शंकर का अनुयायी भी। यद्यपि 'आचार्य शंकर' के विचारों का बुद्धिमानी से सदैव उपयोग नहीं किया गया है, तथापि विद्वत्ता के क्षेत्र और शैली तथा वस्तु के प्रस्तुतीकरण में वाचस्पति के प्रतिद्वन्द्वी अथवा विजेताओं का प्रायः आभास नहीं होता। 'मण्डनमिश्र' के सिद्धान्त वाचस्पति द्वारा 'आचार्य शंकर' के उपदेशों से समन्वित न किये गये होते तो वे अज्ञात तथा सारहीन ही बने रहते।

देवस्वामी

(१००० ई०)

प्रपञ्चहृदय[1] में 'शाबरभाष्य' के व्याख्याकार के रूप में देवस्वामी का प्रसङ्ग मिलता है। देवस्वामी द्वारा लिखित पूर्वमीमांसाशास्त्र के १६वें अध्याय का भाष्य 'उपवर्षवृत्ति' का सारमात्र ही है। इन्होंने स्वयं भी 'संकर्षकाण्ड' (१४।२।१) के भाष्य में कहा है कि यह भवदास के भाष्य[2] की पुनरावृत्ति मात्र है। द्वादशलक्षणी पर इनका लिखित भाष्य आज तक प्रकाश में नहीं आया है। इनका संकर्षकाण्ड भाष्य ही संकर्षकाण्ड के अनुपलब्ध सूत्रों के पुनर्निर्माण का आधार बनाया जा सकता है।

'कल्पसूत्र' के इतिहास में एक अन्य देवस्वामी का परिचय प्राप्त होता है, जिन्होंने आश्वलायन तथा अन्य गृह्यसूत्रों पर टीकाएँ लिखी हैं। अन्य व्याख्याकारों की परवर्ती रचनाएँ भी उन्हीं की टीकाओं पर आधारित हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 'देवस्वामी' ने स्मृति का भी क्रमबद्ध संग्रह किया है, जिसमें धर्म से सम्बन्धित आचार-व्यवहार, अशौच, प्रायश्चित्त आदि विषयों पर विचार-विमर्श किया गया है। इसकी पुष्टि 'स्मृतिचन्द्रिकाकार' तथा उत्तरकालीन अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत प्रसङ्गों से हो जाती है। म० म० श्री पी० वी० काणे[3] के अनुसार तो दोनों देवस्वामियों को एक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है। किन्तु इस आधार पर कि मीमांसाशास्त्र का 'धर्मशास्त्र' ही परिशिष्ट है, यदि इस एकरूपता को स्वीकार कर लिया जाय तो उनका समय १०वीं शताब्दी के अन्त में अथवा ११वीं सदी के पूर्वार्ध में निश्चित किया जा सकता है। किसी भी दशा में १०५० ई० के बाद उनका काल निर्धारण नहीं हो सकता।

सुचरित मिश्र

(१०००–११०० ई०)

कुमारिल के श्लोकवार्तिक के प्रसिद्ध टीकाकार 'सुचरित मिश्र' अपने काल की

---

१. प्रपञ्चहृदय, पृ० ३९।

२. अस्मिन् पादे अपूर्वात्…भवदासमेव भाष्यमिति' (सं० कां० भा० त० वि० भू० से उद्धृत)

३. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० २८१।

एक सुविख्यात विभूति हैं। पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' के प्रसिद्ध टीकाकार 'सोमनाथ दीक्षित' भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि 'सुचरित मिश्र' श्लोक-वार्तिक के एक अन्य टीकाकार 'पार्थसारथि मिश्र' से पूर्वकालीन हैं।[1] उनकी कृति 'काशिका' का प्रसङ्ग व्यंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) द्वारा किया गया है[2], जो स्वयं १३वीं सदी के अन्तिम भाग में अथवा १४वीं सदी के उत्तरार्ध में थे। 'नीतितत्त्वा-विर्भाव' के प्रसिद्ध लेखक 'चिदानन्द' ने भी 'सुचरित मिश्र' की काशिका का प्रसङ्ग दिया है[3] और ये चिदानन्द भी १३वीं सदी में ही पाये जाते हैं। अतः सुचरित मिश्र का काल १००० से ११०० ई० में ही निश्चित किया जा सकता है।

इनकी श्लोकवार्तिक की टीका अत्यधिक स्पष्ट एवं प्रामाणिक है। कुछ स्थलों पर तो 'पार्थसारथि मिश्र' के 'न्यायरत्नाकर' की अपेक्षा यह अधिक व्यापक एवं तर्कपूर्ण है।

इनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में अभी तक कोई सामग्री प्राप्त नहीं है; केवल नाम के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये उत्तरदेशीय होंगे। सभी मिश्र उत्तरदेशीय विशेषतः मिथिलावासी होते हैं।

पार्थसारथि मिश्र

(१०५०–११२० ई०)

पार्थसारथि मिश्र भी इसी काल के हैं। इनके पिता का नाम 'यज्ञात्मन्' था,[4] जो उनके गुरु भी थे। इस लेखक का प्रत्यक्ष प्रसङ्ग १४वीं सदी के माधवाचार्य के 'विवरणप्रमेयसंग्रह'[5] तथा 'न्यायमालाविस्तर'[6] में प्राप्त होता है। द्वितीय परमेश्वर के अनुसार १३वीं सदी के 'चिदानन्द' ने अपने नीतितत्त्वाविर्भाव में पार्थसारथि मिश्र तथा उनकी कृतियों का प्रसंग उपस्थित किया है।

पार्थसारथि मिश्र ने व्याख्या के रूप में अनेक उच्चस्तरीय ग्रन्थों का निर्माण किया है। कुमारिल की 'टुप्टीका' पर उनकी लिखी हुई टीका 'श्लोकवार्तिक' पर 'न्याय-रत्नाकर', जैमिनि के 'पूर्वमीमांसासूत्रों' पर लिखी हुई स्वतन्त्र टीका 'शास्त्रदीपिका' तथा मीमांसाशास्त्र के प्रमुख विषयों की विवेचनात्मक स्वतन्त्र रचना के रूप में 'न्यायरत्नमाला'—ये सभी लेखक की बहुमुखी प्रतिभा का स्पष्ट परिचय देने में

---

१. मयूखमालिका सहित शास्त्रदीपिका, नि० सा० सं० पृ० ५३।

२. 'ततश्च काशिका''''सेश्वरमीमांसा' ('काँजीवरम् संस्करण पृ० ६४–६५)।

३. 'नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या' 'योगरूढिवाद' अडियार, हस्तलिखित पृ० ४३१।

४. 'भुवनत्रयविख्यातश्रीमद्यज्ञात्मनन्दनः''''' (न्यायरत्नमाला पृ० ३१९)।

५. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० १०७, १२४; विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस नं० ७।

६. न्यायमालाविस्तर के परिचयात्मक उल्लेख में देखिये—'यद्यपि शास्त्रदीपिकादौ क्वचित् क्वचित् संग्रहश्लोकोऽस्ति'।

समर्थ हैं। यही नहीं; उनके ये ग्रन्थ उनको 'भारतीय दर्शन' के क्षेत्र में वाचस्पतिमिश्र तथा उदयनाचार्य जैसे लेखकों की गणना में रख देते हैं।

'न्यायरत्नाकर' की भाँति उनकी 'तन्त्ररत्न' नामक कृति 'टुप्टीका' की विशद टीका मात्र ही नहीं; अपितु 'मीमांसाशास्त्र' की एक व्यापक व्याख्या है, जिसमें अधिकरण और प्रमाणप्रस्थान से सम्बन्धित अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

दूसरी प्रमुख रचना 'शास्त्रदीपिका' है, जो कुमारिल के वार्तिक पर आधारित अधिकरणप्रस्थान में निबन्धन है। यह भाट्ट-सम्प्रदाय में प्रथम है। उस कारण यहाँ विभिन्न अधिकरणों में रचनात्मक सूत्रार्थों की व्याख्या ही नहीं की गई है, अपितु अधिकरण के ६ प्रमुख तत्त्वों; यथा—विषय (वादविवाद की वस्तु), विशय (संदेह), पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, प्रयोजन एवं संगति—की पूर्ण व्याख्या की गई है। विषय के प्रतिपादन में तो इनकी रचना ने अपूर्व महत्त्व का स्थान प्राप्त किया है[1]। माधवाचार्य तथा 'खण्डदेवमिश्र' जैसे लेखकों ने इसे आदर्श रचना के रूप में माना है। इस रचना का तर्कपाद 'कुमारिल' के श्लोकवार्तिक का लघु संग्रह है तथा कुमारिल के अस्पष्ट सिद्धान्तों को समझाने में एक महत्त्वपूर्ण निदेशक है। विषय के प्रस्तुतीकरण की इनकी शैली विशेषतः विपक्षियों के मुखमुद्रण करने में बड़ी ही व्यंग्यपूर्ण है। इनकी सम्पूर्ण रचना विषय-प्रतिपादन की सरलता तथा ओजस्विता से परिपूर्ण है। सामान्यतः अधिकरण के सैद्धान्तिक विचारों को संक्षिप्त करने के लिए एक या दो पद्यों का प्रयोग करते हैं, जिनकी सरल गद्य में पुनः व्याख्या कर देते हैं। मीमांसा के प्रकीर्ण विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाली 'अधिकरणप्रस्थान' में शास्त्रदीपिका कुमारिल के वार्तिक तथा शाबरभाष्य के अनन्तर एक प्रामाणिक रचना है। इसमें 'प्रभाकरवाद' का भी खण्डन किया गया है।

इसके अतिरिक्त न्यायरत्नमाला इनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जो भाट्ट-सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करती है। यह शालिकनाथ की प्रकरण-

---

१. महाभारत में धर्मतत्त्वज्ञ उसी को कहा गया है, जो न्यायविद् हो। इस उक्ति से अधिकरणशैली की श्लाघनीयता स्पष्ट हो जाती है—

'वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः। इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित्॥
न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः। ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः॥
(महाभारत, सभापर्व, अ० ५, श्लो० २-३)

नीलकण्ठीया भारतभावदीपव्याख्या—

न्यायः पञ्चाङ्गमधिकरणं यथा—'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः। सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः॥' इदमेव पञ्चकं मोक्षधर्मेषूक्तम्—'सूक्ष्मं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः। पञ्चैतान्यनुजानीहि वाक्यमित्युच्यते बुधैः॥' सूक्ष्मं गहनार्थत्वाद्विषयः, सांख्यम् एवमेव वेति विचारः, क्रमोऽतिक्रमः सिद्धान्तस्य पूर्वपक्ष इत्यर्थः, निर्णयः सिद्धान्तः, प्रयोजनं फलम्, वाक्यं वाक्यार्थनिर्णयोपायः—एवं पूर्वोत्तरः मीमांसाधिकरणानि न्यायाः सहित।

पञ्चिका के आदर्श पर लिखी गई है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रकरण-पञ्चिका में शालिकनाथ द्वारा पुष्ट किये गये प्रभाकर के दृष्टिकोणों का यह भलीभाँति खण्डन करती है और साथ ही कुमारिल के मत का मण्डन भी करती है। अपनी रचना के प्रयुक्तितिलक भाग में उन्होंने प्रकरणपञ्चिका के 'शास्त्रमुख' प्रकरण की आलोचना तथा स्वाध्याय-विधि की पुनः स्थापना की है। वाक्यार्थ-निर्णय वाला भाग शालिकनाथ की प्रकरणपञ्चिका (प्रभाकर) के अन्विताभिधानवाद का खण्डन तथा अंशतः कुमारिल के वाक्यार्थाधिकरणवार्तिक तथा वाचस्पतिमिश्र के तत्त्वबिन्दु में स्थापित अभिहितान्वयवाद का समर्थन है। विधि-निर्णय भाग में प्रभाकर-दृष्टिकोण के खण्डन के उपरान्त विधिप्रत्यय की व्याख्या की है। भाट्ट-सिद्धान्तों की पुष्टि में स्वतः प्रामाण्यवाद, व्याप्तिवाद तथा नित्यकाम्य-विवेक आदि अन्य महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं। अंगांगिनिर्णय नामक अन्तिम भाग में दो क्रियाओं, द्रव्यों आदि के बीच के अंगांगिभाव का विशेषरूप से वर्णन किया है, जो श्रुति और अन्य पाँच प्रमाणों से भी प्रमाणित है; तथा पूर्वमीमांसाशास्त्र के बाद के अध्यायों का संक्षिप्त सार है। सम्पूर्ण रचना सरल, ओज एवं व्यंग्यपूर्ण है। कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक पर लिखी टीका न्यायरत्नमाला अन्तिम रचना है। इसमें वार्तिक की विषय-सामग्री का अस्खलित प्रवाह है तथा अनेक आचार्य भवदास, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, भिक्षु तथा भर्तृमित्र— जिनके विचार वार्तिककार द्वारा खण्डित किये गये हैं—का उल्लेख मिलता है। यह रचना अत्यन्त संक्षिप्त होती हुई भी श्लोकवार्तिक के अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध स्थलों के स्पष्टीकरण में पूर्णतया सहायक है।

श्रीकर तथा प्रकाश

(११०० ई०)

श्रीकर तथा प्रकाश 'भवनाथभट्ट' के नयविवेक[1] के प्रसंग से ही ज्ञेय हैं। दोनों ही प्रभाकर के अनुयायी हैं। भवनाथ ने श्रीकर का नाम एक प्रसंग में लिया है, किन्तु प्रकाश के लिए 'अन्ये', 'केचित्' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, जो वरदराज के अनुसार प्रकाश[2] के लिए ही है। यद्यपि यह प्रभाकर के सिद्धान्तों का अनुयायी है तथापि भवनाथ ने उसके विचारों की कटु आलोचना भी की है।

धर्मशास्त्र के इतिहास में एक श्रीकर[3] का स्मृतिनिबन्धकार के रूप में परिचय आया है, जो याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार, मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर

---

१. नयविवेक, अडियार हस्तलिखित, प्रथम भाग पृ० २६४ तथा द्वितीय भाग पृ० ४०८, ५०८, ५२९-३०, ५४४।

२. नयविवेक, अडियार हस्तलिखित, प्रथम भाग पृ० २४०-४१, २४८, २९०, ३४८-४९ तथा नयविवेक-दीपिका, अडियार हस्तलिखित, द्वितीय भाग पृ० ४२-४३, ६२-६३, १५२, ३६१-६२।

३. म० म० पी० वी० काणे का 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पृ० २६६-६८।

तथा स्मृतिचन्द्रिका के लेखक देवणभट्ट से प्राचीन हैं। म० म० पी० वी० काणे के द्वारा उनका काल ८००-१०५० ई० निश्चित किया गया है। स्मृतिकार श्रीकर तथा मीमांसक श्रीकर एक ही हैं या नहीं ? यह अभी तक सन्दिग्ध है।

उक्त श्रीकर 'भवनाथ भट्ट' को ज्ञात है, अतः उनका काल ११०० ई० के बाद नहीं है। भवनाथ द्वारा पूर्व अनुमानित 'प्रकाश' का काल १०००–११०० ई० के बीच में निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु म० म० पी० वी० काणे 'प्रकाश'[1] नामक स्मृति-रचयिता को जिसका स्मृतिनिबन्धकारों द्वारा वर्णन किया गया है, उसी युग में निश्चित करते हैं, किन्तु लेखक का नाम नहीं देते हैं, क्योंकि लेखक तथा रचना एक ही नाम से जाने जा सकते हैं। मीमांसक प्रकाश तथा 'प्रकाश' नाम की रचना का लेखक एक ही हो, यह असम्भव नहीं है।

भवनाथ भट्ट

(१०५०-११५० ई०)

विवेचित काल में नयविवेक के लेखक भवनाथभट्ट 'प्रभाकरमत' के उत्कट पोषक हैं। शालिकनाथ के पश्चात् इनका ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है कि मेरी रचना नयविवेक[2] शालिकनाथ की पंचिका और दो टीकाएँ ऋजुविमला तथा दीपशिखा, एवं प्रकरणपंचिका के आधार पर पूर्वमीमांसाशास्त्र के १२ अध्यायों की प्रचलित टीका है। परिचयात्मक पद्यों[3] में उन्होंने स्वयं कहा है कि न तो उनका उद्देश्य साहित्यिक है, न विपक्षियों की आलोचना करना है, अपितु अपने विषय की पूर्ण तथा स्पष्ट व्याख्या करना है।

प्रभाकरमत में पूर्वमीमांसा-सूत्रों की प्रामाणिक टीका 'नयविवेक' ही मानी गई है। अतः उसका वही स्थान है, जो कुमारिलमत में पार्थसारथिमिश्र की शास्त्रदीपिका का है। इसमें अधिकरणों द्वारा महत्त्वपूर्ण प्रमाण तथा प्रमेय से सम्बन्धित सिद्धान्तों की पूर्णतया पुष्टि की गई है और सामान्यतः भट्टपाद के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। उसमें शाबरभाष्य, कुमारिल, प्रभाकर और उनकी रचनाओं;[4] उम्बेक, शालिकनाथ तथा उनकी रचनाओं; महोदधि, महाव्रत, वाचस्पतिमिश्र,[5] श्रीकर तथा प्रकाश का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। उनका काल अधिक से अधिक १२वीं सदी के अन्त में निर्धारित किया जा सकता है। सम्भवतः ये चिदानंद पण्डित से भी पूर्व के हों, क्योंकि अपने टीकाकार परमेश्वर

१. म० म० पी० वी० काणे का 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पृ० ३०६-३०८।

२. नयविवेक, अडियार हस्तलिखित, प्रथम भाग पृ० १, श्लोक ३ तथा ३।१,१ द्वितीय भाग पृ० ४५५।

३. प्रथम भाग १, १ श्लोक २ और ४।

४. देखिये—अभिक्रमणाधिकरण तृतीय १।

५. देखिये—वाक्याधिकरण १।१।७ अडियार हस्तलिखित पृ० २७०।२७२।

द्वितीय के द्वारा उनके विषय में यह बतलाया गया है कि उनके द्वारा भवनाथ का नयविवेक पूर्व अनुमित है। निश्चित रूप से ये वेदान्तदेशिक से पूर्व के हैं, जिन्होंने अपनी सेश्वरमीमांसा में भवनाथ को उद्धृत किया है तथा उनके विचारों का खण्डन भी किया है।

भवदेव भट्ट
(११०० ई०)

११००–१२५० ई० में कुमारिल की तन्त्रवार्तिक के तीन प्रसिद्ध टीकाकार—भवदेव भट्ट, परितोषमिश्र तथा सोमेश्वर पल्लवित हुए। इनमें सबसे प्राचीन भवदेव भट्ट हैं। म० म० पी० वी० काणे ने उनका काल ११०० ई० बतलाया है। उनकी रचना 'तौतातितमततिलक'[1] कुमारिल की तन्त्रवार्तिक पर टीका है। इस रचना के पुष्पिका (अन्त्योल्लेख) में[2] वे 'बालवलभीभुजंग' एक दूसरा नाम भी दे देते हैं। म० म० श्री पी० वी० काणे[3] के अनुसार हेमाद्रि की साहित्यिक रचना (१४वीं सदी) चतुर्वर्गचिन्तामणि में भवदेव भट्ट का प्रथम प्रसंग मिलता है। उन्होंने उड़ीसा के 'पुरी' जिले में भुवनेश्वर के अनन्तवासुदेव के मन्दिर में प्राप्त शिलालेख का प्रसंग देते हुए कहा है कि भवदेव भट्ट तथा बालवलभीभुजंग[4] एक ही हैं। उसी शिलालेख से यह विदित होता है कि भवदेव, सामवेद की कौथुमीशाखा के और सावर्ण गोत्र के हैं। उनके पूर्वज 'राढा' के सिद्धाल ग्राम के निवासी थे।

प्रस्तुत भवदेव के एक पूर्ववर्ती भवदेव ने गौड राजा से हस्तिनी भट्ट के अग्रहार का उपहार प्राप्त किया था। प्रस्तुत लेखक की वंशावली निम्न प्रकार से है—

भवदेव : (सावर्णगोत्र)
रथांग, अत्यंग } पुत्र
बुध : स्पुरित (अन्य नाम)
अधिदेव : रक्षामंत्री (वंगराज के)
गोवर्धन—मा० संगोका : पुत्री (वन्ध्यघाटीया ब्राह्मण की कन्या)
भवदेव : लेखक

1. From this title we have to understand that Kumarila, and not Prabhakara, is known as 'Tutata' and his school as 'Tautatitamata-tilaka, vide Vidyaranaya's Shankaradigvijaya, Canto x, verse 119.

२. इति श्रीबालवलभीभुजङ्गापरनाम्नो भट्ट-श्रीभवदेवस्य कृतौ तौतातितमत-तिलके द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

३. पी० वी० काणे कृत धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ३०४।

४. 'यस्य खलु बालवलभीभुजङ्ग इति नाम नादृतं केन।
मीमांसयापि सपुलकमाकर्णितवर्णितोद्गीतम्'॥
(एपिग्राफिका इण्डिका, वाल्युम ६, पृ० २०३-५, श्लोक २४)

राजा हरिवर्मदेव—जिसने एक दीर्घ काल तक ऐश्वर्यपूर्वक शासन किया था—के यहाँ भवदेव सलाहकार (मंत्री) थे। ज्योतिष, मीमांसा तथा स्मृति के लेखक होने के अतिरिक्त राढाग्राम में जलाशय तथा नारायण, अनन्त और नृसिंहमन्दिर के निर्माता के रूप में भी वर्णित हैं।

बालवलभीभुजंग की पदवी को पी० वी० काणे द्वारा इस तथ्य के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया गया है कि उन्होंने छत अथवा मंदिर की गोखों के निर्माण में कुछ नवीन प्रवर्तन किया, अतः इस कारण वे 'वलभीप्रिय' नाम से सम्बोधित किये गये।

डॉ० कीलहार्न के अनुसार यह शिलालेख १२वीं सदी का है, अतः म० म० श्री पी० वी० काणे[१] आन्तरिक प्रमाणों के द्वारा भवदेव का काल ११०० ई० की पुष्टि करते हैं। उन्होंने वीरमित्रोदय के एक उद्धरण के अनुसार कहा है कि प्रदीप भवदेव के पहले था। प्रदीप की रचना ११५० ई० के पूर्व हुई, फलतः भवदेव ११वीं सदी के अन्त में अथवा १२वीं के आदि में फले-फूले होंगे।

भवदेव की दूसरी रचनाएँ व्यवहारतिलक, व्यवहारतंत्र, कर्मानुष्ठानपद्धति तथा प्रायश्चित्तनिरूपण हैं।

परितोष मिश्र

(१२०० ई०)

सम्भवतः बंगालवासी परितोषमिश्र ने तंत्रवार्तिक पर अजिता[२] नामक टीका लिखी। वार्तिक समझने में यह न्यायसुधा की अपेक्षा अधिक सहायक है। इनकी रचना का तथा अनन्तनारायण द्वारा उस पर लिखित विजया नामक टीका का सर्वप्रथम प्रसंग परमेश्वर तृतीय के सूत्रार्थसंग्रह[३] में प्राप्त होता है। 'अजिता' 'तंत्र टीका निबन्धन' के नाम से भी कही जाती है।

भट्ट सोमेश्वर

(१२०० ई०)

भट्ट सोमेश्वर 'न्यायसुधा' अथवा राणक के लेखक हैं, जो तन्त्रवार्तिक पर एक-मात्र मुद्रित टीका है। नीतितत्त्वाविर्भाव के टीकाकार परमेश्वर द्वितीय के अनुसार उनका तथा उनकी रचनाओं का प्रारंभिक प्रसंग चिदानन्द[४] की रचना में प्राप्त

---

१. देखिये—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ३०५।

२. This is preserved in the Madras Govt. Oriental Mss. Library and in the Adyar Theosophical Mss. Library.

३. 'जैमिनि-शबर-कुमारिल-सुचरित-परितोष-पार्थसारथयः।
उम्बेक-विजयकारी मण्डन-वाचस्पतिश्च विजयन्ताम्'॥

४. नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या, अडियार हस्तलिखित, पृ० २३७।

होता है। परवर्ती लेखक सोमनाथ दीक्षित तथा खण्डदेव मिश्र ने अपनी रचनाओं में उनका प्रसंग यथेष्ट सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत किया है।

एक स्थल पर उन्होंने माधवाचार्य को अपना पिता कहा है। अतः इस आधार कुछ विद्वान्[1] उन्हें १४वीं सदी के 'विद्यारण्य माधव' का पुत्र मानते हैं। परन्तु यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि वह भिन्न व्यक्ति है। केवल यही तथ्य कि उसकी शैली अत्यन्त रूक्ष है, जो परवर्ती लेखकों में पाई जाती है। किन्तु चिदानन्द द्वारा प्रस्तुत प्रसंग उसी काल की ओर संकेत करता है, जो हमने निर्धारित किया है।

उनकी प्रमुख रचना न्यायसुधा[2] है। एक विशद टीका होने के अतिरिक्त यह मीमांसाशास्त्र की आलोचनात्मक निबन्ध-रचना है, जो बाद के लेखक खण्डदेव मिश्र, सोमनाथदीक्षित तथा शम्भुभट्ट जैसे लेखकों द्वारा यत्र-तत्र उद्धृत किया गया है तथा यदा-कदा उसकी कटु आलोचना भी की गई है। उनकी दूसरी रचना 'तन्त्रसार' है, जिसका प्रसंग उन्होंने अपनी न्यायसुधा[3] में उपस्थित किया है तथा खण्डदेव एवं 'वासुदेवदीक्षित' ने भी अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है,[4] किन्तु यह रचना अभी तक अप्राप्य है।

मुरारि मिश्र

(११५०-१२२० ई०)

मुरारिमिश्र का काल १२वीं सदी का अन्त तथा तेरहवीं सदी के प्रारम्भ के मध्य है। इनके विषय में ऐसा अनुमान किया जाता है कि उन्होंने मीमांसाशास्त्र के एक नवीन सम्प्रदाय 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' का प्रचलन किया था। सम्भवतः मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पाद के अधिकरणों के आधार पर ही 'त्रिपादनीतिनयनम्'[5] की रचना हुई है। यह ठीक से ज्ञात नहीं है कि उन्होंने सम्पूर्ण द्वादशलक्षणी की टीका की है अथवा नहीं। सम्भवतः उन्होंने ऐसा किया हो, तथा उनकी ११।१।१२[6] अधिकरण पर की हुई टीका इस तथ्य

1. Vide D. T. Tatacharya's Mimamsabhyudaya, p. 50 and appendix II, p. 22

२ न्यायसुधा, वाराणसी से मुद्रित हो चुकी है।

३. देखिये—न्यायसुधा पृ० १२८५।

४. देखिये—भाट्टदीपिका ४।३।९ तथा अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्ति १।२।४, पृ० ४६, वाणीविलास संस्करण।

५. ई० स० १९२८ के ज० ओ० रि० मद्रास, द्वितीय भाग, पृ० २७०-७८ पर अर्थवादाधिकरण (१।२।१) और मन्त्राधिकरण (१।२।४) मुद्रित हुए थे और उसका पूरक भाग ५वें भाग के पृ० १।५ पर मुद्रित हुआ था।

६. 'एनाल्स ऑफ भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' १०वाँ भाग (१९३०), पृ० २३८-४५ पर देखिये।

की पुष्टि करती है तथा यह भी सम्भव हो सकता है कि उन्होंने जिन अधिकरणों को आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण समझा, केवल उन्हीं अधिकरणों की टीका की होगी।

भवनाथ भट्ट के 'नयविवेक' तथा 'नीतिनयन' के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है[1] कि मुरारिमिश्र ने अपने 'नीतिनयन' में भवनाथ के नयविवेक में समन्वित विचारों का खण्डन किया है। टीकाकारों के अनुसार तत्त्वचिन्तामणि के लेखक गंगेशोपाध्याय ने मुरारिमिश्र को गुरु तथा भट्ट (प्रभाकर तथा कुमारिल) की श्रेणी में माना है, जो कि मीमांसाशास्त्र के तीनों सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

विद्वानों द्वारा गंगेशोपाध्याय का काल १३वीं सदी[2] का पूर्वार्द्ध निश्चित किया गया है, फलतः मुरारिमिश्र 'भवनाथभट्ट' के बाद में तथा गंगेशोपाध्याय के पहले अर्थात् १२वीं सदी के अन्त में पल्लवित हुए होंगे।

मुरारिमिश्र ही मीमांसाशास्त्र के तृतीय सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। 'त्रिपाद-नीतिनयन' के अन्वेषण के पश्चात् ही विद्वान् उनके रूप को समझने में समर्थ हो सके हैं। उसके पूर्व विद्वानों का विचार था कि उक्त ग्रन्थ-रचना का श्रेय 'अनर्घराघवकार' को ही है, जो नाटकीय प्रणाली में कालिदास तथा भवभूति से बिलकुल भिन्न हैं।

'मुरारिमिश्र' तथा मुरारि-नाटककार में कोई भी समानता स्थापित नहीं की जा सकती; कारण नाटककार मुरारि ९वीं सदी[3] के प्रारम्भिक काल में हुए थे।

नन्दीश्वर

(१२२०–१३०० ई०)

भवनाथ के पश्चात् नन्दीश्वर का स्थान आता है, जिन्होंने प्रभाकर-सम्प्रदाय में 'प्रभाकरविजय' नामक एक बहुत सुन्दर प्रकरण ग्रन्थ[4] की रचना की है। वह परिचयात्मक पद्यों में कहते हैं[5] कि प्रभाकर के आवश्यक सिद्धान्तों की दो

---

१. ज० ओर० री० मद्रास द्वि० भाग और पंचम भाग (१९२८ तथा १९३१) पर देखिये।

२. म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री की 'ए प्राइमर आफ इण्डियन लॉजिक' देखिये पृ० ६८ और मुरारिमिश्र के 'एकादशाधिकरण' पर म० म० उमेश मिश्र के नोट्स ए० बी० आर० आई० दशम भाग, पृ० २३६ पर देखने योग्य है।

३. डा० ए० बी० कीथ का संस्कृत ड्रामा, पृ० २२५ पर देखिये।

४. 'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः'॥ इत्यभियुक्तोक्तिः।

५. 'नाथद्वयानसारेऽस्मिन् शास्त्रे मम परिश्रमः।
शुक्तिश्रमायते सिन्धौ हरिणोद्धृतकौस्तुभे'॥

(प्रभा० वि० प्रयु० नि० प्र०, पृ० १, सं० सा० परिषद् सीरीज ११, १९२६, कलकत्ता)

नाथों (शालिकनाथ तथा भवनाथ) द्वारा पूर्णरूपेण व्याख्या की गई हैं, किन्तु उनके प्रयास में अधिकतर मौलिकता का अभाव है। उनका काल अधिक से अधिक १२०० ई० तक हो सकता है। वेदान्तदेशिक के समकालीन तथा रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार 'सुदर्शनाचार्य' ने उनकी आलोचना की है—ऐसा कहा जाता है। फलतः नन्दीश्वर का काल १२००-१३०० ई० के मध्य में है। उन्होंने 'पार्थसारथि मिश्र' की न्यायरत्नमाला का प्रसंग भी दिया है तथा आलोचना भी की है। उनकी 'प्रभाकरविजय' रचना २१ अथवा अधिक ऐसे विषयों के सम्बन्ध में हैं, जो पूर्णतः साहित्यिक है।

चिदानन्द पण्डित

(१२००–१३०० ई०)

बिना किसी सन्देह के यह कहा जा सकता है कि 'चिदानन्द' पार्थसारथि मिश्र, एवं भट्टसोमेश्वर तथा भवनाथ भट्ट के बाद के हैं; अतः उनका काल १३वीं सदी ही सम्भव है। वे केरल के थे। उनकी एकमात्र रचना 'नीतितत्त्वाविर्भाव'[1] है, जो अनेक लेखकों से आलोचित है, उनमें ऋषिपुत्र परमेश्वर द्वितीय ही हैं। परमेश्वर द्वितीय ने दो अतिप्रमुख लेखक मण्डनमिश्र तथा वाचस्पति मिश्र के मान्य ग्रन्थों की आलोचना की है, उन्होंने चिदानन्द की आलोचना भी की है। इस ग्रन्थ से चिदानन्द तथा उसकी कृति 'नीतितत्त्वाविर्भाव' की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। उनकी रचना पूर्णतः आचार्य कुमारिल की श्लोकवार्तिक पर आधारित है। इस दिशा में उनकी रचना विलक्षण कही जा सकती है, क्योंकि उसमें वेदों के ४४ विषय[2] वाद-विवाद के लिए सन्निहित हैं। यद्यपि यह सब श्लोकवार्तिक में भी सम्मिलित है, तब भी अस्पष्ट एवं दुर्गम स्थलों पर प्रकाश डालने में यही ग्रन्थ समर्थ है।

गंगाधर मिश्र

(१२३०–१३०० ई०)

महामहोपाध्याय गंगाधरमिश्र ने १३वीं सदी के मध्य को अलंकृत किया है। तंत्रवार्तिक पर लिखी हुई उनकी टीका के प्रथम पद्य[3] से जैसा कि स्पष्ट हो जाता है कि वह शाल्मली ग्राम के निवासी थे तथा उसी ग्राम के भट्ट सोमेश्वर के पुत्र थे। उनकी टीका का नाम 'न्यायपारायण' है; वैसे यह 'तन्त्रवार्तिकविवरण' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

---

1. This work is preserved in the Madras Government Oriental and Adyar Mss. Libraries.

२. त० वि० भूमिका पृ० ७६, अण्णमलै वि० वि० सं० ग्रं०, ग्रन्थांक ३।

३. 'साल्मलीग्रामसम्भूतभट्टसोमेश्वरात्मजः ।
गङ्गाधरोऽतिगम्भीरं व्यावृणोत् तन्त्रवार्तिकम्' ॥ (न्या० पारा०)

वेदान्तदेशिक
(१२६९–१३६९ ई०)

वेदान्तदेशिक उपनाम वेंकटनाथ जो रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के अग्रदूत थे, १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच में पल्लवित हुए[1]। विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के ग्रन्थ तथा भक्तिसम्बन्धी काव्य एवं अन्य साहित्यिक विषयों पर रचना के कारण उन्हें 'कवितार्किकसिंह' नामक उपाधि से सुशोभित किया गया था। उन्होंने 'तर्कपाद' पर पद्य में 'मीमांसापादुका' तथा पूर्वमीमांसाशास्त्र के शेष भाग पर गद्य में 'सेश्वरमीमांसा' नामक दो ग्रन्थ रचे[2]। वे उग्र आलोचक थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक अधिकरणों में यत्र-तत्र 'भट्ट' और 'प्रभाकर' दोनों के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है। फलतः स्वाभाविक रूप से अनेक स्थलों पर की गई सूत्रव्याख्याएँ मीमांसा के साम्प्रदायिक विद्यार्थियों को मान्य नहीं हैं। क्योंकि वे मीमांसाशास्त्र के दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों से दूर जा पड़ी हैं। उनका उद्देश्य मीमांसाशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या करना नहीं था, अपितु मीमांसा की पूर्वोत्तर प्रणालियों के सिद्धान्तों का सम्भाव्य समीकरण करना मात्र था। जहाँ तक अनेक वृतिकार; यथा—उपवर्ष, बोधायन, शबरस्वामिन्, कुमारिल, प्रभाकर, द्राभिडाचार्य, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य तथा भवनाथभट्ट जैसे विद्वान्; तथा काशिका, दीप और तत्त्वरत्नाकर जैसी उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के सन्दर्भों से समृद्ध इनकी रचनाएँ बहुमूल्य हैं।

काँजीवरम् के निकट टुप्पिल नामक ग्राम में १२६९ ई० में ये उत्पन्न हुए। देशिक कट्टर वैष्णव तथा ७४ सिंहासनाधिपति के वंशज अनन्तसूरी सोमयाजिन् के पुत्र थे। उनकी माँ 'तोतराम्बा' आत्रेय रामानुज की भगिनी थी। आत्रेय रामानुज 'रामानुज अप्पुलार' के नाम से भी विख्यात थे, जो कि वरदाचार्य के उभय सिंहासनाधिपति के रूप में उत्तराधिकारी थे। किंवदन्ती प्रचलित है कि दीर्घकाल तक देशिक के माता-पिता सन्तानहीन थे, किन्तु एक बार जब वे तीर्थयात्रा करते हुए तिरुपति में थे, उन्हें स्वप्न में भगवान् वेंकटेश्वर के दर्शन हुए तथा उनसे ही मंदिर का एक 'घण्टा' प्राप्त किया। तोतराम्बा द्वारा उसे निगल जाने से एक प्रसिद्ध पुत्र का जन्म हुआ। यह घटना उनके जीवन में दैविक शक्ति का आभास कराती है। जैसा कि प्रो० वी० रंगाचारी, एम० ए० ने परिलक्षित[3] किया है कि वह (वेदान्त-

१. वेदान्तदेशिक के वैयक्तिक इतिहास, काल और ग्रन्थ आदि के ज्ञानार्थ ए० वी० गोपालाचार्य की लिखी यादवाभ्युदय की भूमिका में 'दी लाइफ ऑफ वेदान्त-देशिक' तथा 'वेदान्तदेशिक एज ए पोएट' (वाणीविलास संस्करण, प्र० और तृ० भाग) और वी० रंगाचारी के 'दी लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ वेदान्तदेशिक' प्रबन्ध को पढ़ना चाहिए। (जे० बी० बी० आर० ए० एस० भा० स० ई० १९१७)

२. मीमांसापादुका और सेश्वरमीमांसा का कुछ भाग ई० स० १९०२ में काँजी-वरम् से मुद्रित हो चुका है।

३. जे० वी० बी० आर० ए० एस०, भाग २४, पृ० २७८-९।

देशिक) आजन्म एक महान् तपस्वी, प्रार्थनाशील तथा अद्भुत, विलक्षण एवं अपूर्व प्रतिभा के व्यक्ति थे। वे 'मुस्लिम-विरोधी सिद्धान्तों में हिन्दू, शैवों के विरोध में वैष्णव तथा पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन में घोर तामिलवादी न होकर संस्कृतयुक्त तामिलवादी थे। इन्होंने १२० से भी अधिक रचनाएँ की हैं। उनमें से अधिकांश जो सुलभ हैं, उससे यह सिद्ध होता है कि किस प्रकार उनके उपदेश नैपुण्यपूर्ण हैं, किस प्रकार उनकी बुद्धि तीक्ष्ण है तथा उनके जीवन के सिद्धान्त एवं उनका आचरण किस प्रकार उच्च था। वे अपने आचरण में अत्यन्त नम्र, विनीत, प्रकाण्ड पण्डित एवं साधुस्वभाव के थे।

विजयनगर के तत्कालीन राजा के दरबार से विद्यारण्य के द्वारा प्रेषित निमन्त्रण पत्रों की अस्वीकृति से देशिक की धन तथा राजकीय प्रभुता के प्रति घोर उपेक्षा परिलक्षित होती है। उन्होंने माध्वसम्प्रदायी महान् विद्वान् अक्षोभ्यमुनि के साथ वाद-विवाद के निमन्त्रण को भी अस्वीकार कर दिया था, किन्तु विद्यारण्य की 'विनंति' के कारण बड़ी ही रहस्यपूर्ण भाषा में लिखित रूप में अपना निर्णय भेज दिया था। एक उग्र वैष्णव-प्रचारक होने के नाते उन्होंने अद्वैत विचार—जहाँ आत्मा और परमात्मा को अभिन्न माना जाता है— के विषय में कुछ भी कहना पापपूर्ण माना है। उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में परमात्मा तथा मनुष्य सम्बन्धी अपने विचारों की अभिव्यक्ति करते हुए कहा है कि उन दोनों का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है और इसी कारण उन्होंने अपना धार्मिक उत्साह, श्रद्धा और प्रार्थनाएँ ईश्वर को ही एक मनुष्योचित रूप में समर्पित की हैं, अपने पाठकों को लक्ष्य करके नहीं।

माधवाचार्य

(१२९७–१३८६ ई०)

वेदान्तदेशिक के उपरान्त तत्कालीन माधवाचार्य का स्थान प्रमुख है। विद्वानों द्वारा उनका काल १२९७–१३८६ ई० तक निर्धारित किया गया है और यह इस किंवदन्ती की पुष्टि में है कि वह ९० वर्ष तक जीवित रहे। पराशरमाधवीय के समान उनकी स्वयं की रचनाओं से तथा कांजीवरम् के 'अरुळाळ पेरुमाल' मंदिर[1] के शिलालेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि माधव 'बौधायनसूत्र' के भारद्वाजगोत्र के ब्राह्मण थे तथा यजुर्वेदी थे। 'मायण' इनके पिता, 'श्रीमती' उनकी माता, सायण और भोगनाथ उनके दो भाई थे[2]। यह भी कहा जाता है कि उनकी एक बहिन 'सिंगले' थी, जिसका पुत्र लक्ष्मण या लक्ष्मीधर विजयनगर के राजा 'देवराज प्रथम'

---

१. एपिग्राफिका इण्डिका, तृ० भाग, पृ० ११८।

२. 'श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ॥
बोधायनं यस्य सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः'॥ (पराशरमाधवीय)

का मन्त्री था[1]। ऐसा कहा जाता है कि माधवाचार्य के विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ तीन गुरु थे। जिनमें से 'विद्यातीर्थ' माधव (सायण) के द्वारा महेश्वर के अवतार समझे जाते थे। शिलालेखादि के प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यातीर्थ उपनाम विद्याशंकर को भौतिक तथा आध्यात्मिक दर्शक के रूप में अत्यधिक सम्मान दिया गया है। वे केवल माधव के ही सामयिक एवं आध्यात्मिक प्रदर्शक नहीं थे, अपितु विजयनगर के प्रसिद्ध राजा 'बुक्क प्रथम' के भी पथप्रदर्शक थे, जिनकी माधव ने अपनी 'न्यायमालाविस्तर' तथा अन्य रचनाओं में प्रशस्ति की है[2]।

माधव विद्यारण्य की एकरूपता—अभी तक यह विवादास्पद[3] विषय है कि माधवाचार्य तथा विद्यारण्य एक ही हैं। परम्परा से यह विदित होता है कि चतुर्थ आश्रम में माधवाचार्य ही विद्यारण्य हैं। महामहोपाध्याय आर० नारसिंहाचार्य ने माधवाचार्य तथा उनके दो भाइयों के सम्बन्ध में अपने एक पत्र में ऐसी पारम्परिक विचार की शिलालैखिक तथा साहित्यिक विचारों द्वारा पुष्टि की है। अपनी न्याय-मालाविस्तर[4] के परिचयात्मक पदों से माधवाचार्य का 'बुक्कण या बुक्क प्रथम' का मन्त्री होना भी ज्ञात होता है।

माधवाचार्य माधवमन्त्री की भिन्नता—एक अन्य माधव भी हैं, जो माधवमन्त्री के नाम से विख्यात हैं, जो कि आंगिरस गोत्र के हैं। वह कौण्डभट्ट के माचाम्बिका से उत्पन्न पुत्र हैं और काशीविलास, क्रियाशक्ति नामक शैवगुरु के शिष्य हैं जो हरिहर द्वितीय तथा बुक्क प्रथम के अधीन वनवासे के राज्यपाल थे[5]। माधवमन्त्री के भिन्न गोत्र तथा परिवार के कारण विद्यारण्य माधव उनसे भिन्न हैं[6]। माधवमन्त्री एक महान् योद्धा भुवनैकवीर थे तथा उनको 'उपनिषन्मार्गप्रतिष्ठागुरु' की उपाधि दी गई थी। वह 'सूतसंहिता' पर लिखित टीका के समान अन्य अनेक रचनाओं के लेखक के रूप में जाने जाते हैं।

---

1. See the Annual Report of Arch. Survey of India for 1907–8, p. 245.

2. See M. M. R. Narasimhachariar's papers on 'Madhavacharya anb his two brothers'. (Indian Antiquary, Vol. XIV, 1916); also Gopinath Rao's Introduction to the Madhuravijaya of Ganga Devi.

३. द्रष्टव्य –'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', षष्ठभाग (१९३०), सप्तम भाग (१९३१) और नवम भाग (१९३४) तथा 'दी जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री' द्वादश भाग का द्वितीय पार्ट।

४. दे०—न्यायमालाविस्तर के परिचयात्मक पद्य २–५।

५. द्रष्टव्य—त० बि० भू० पृ० ८१।

6. See M. M. R. Narasimhachariar's paper on 'Madhavacharya and his two Brothers, Indian Antiquary, Vol. XLV.

माधवाचार्य की रचनाएँ—माधवाचार्य को संस्कृत वाङ्मय में अनेक पुस्तकें लिखने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने पूर्वमीमांसा सूत्र की द्वादशलक्षणी पर न्यायमाला-विस्तर[1] नाम की टीका लिखी है। उक्त रचना की शैली अत्यन्त सरल तथा धारा-वाहिक है, फलतः मीमांसा का अध्ययन प्रारम्भ करनेवाले विद्यार्थी के लिए वह एक उत्तम पाठ्यपुस्तक का कार्य करती है। नियमानुसार वह पहिले एक विशेष वाक्य में समस्या प्रस्तुत करते हैं, तब प्रमुख पूर्वपक्ष और अन्त में प्रत्येक अधिकरण का सिद्धान्त एक या दो पद्यों में दे देते हैं और अधिकतर अधिकरणों में वह पद्यों के साथ गद्य में सरल व्याख्या भी दे देते हैं। अपने एक परिचयात्मक पद्य में वे कहते हैं कि पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका में सब अधिकरणों के पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पद्यों में नहीं दिये गये हैं। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने न्यायमाला-विस्तर में उस एकरूपता को बनाये रखने का यत्न किया है। अपनी इस रचना में उन्होंने सभी प्रमुख अधिकरणों में 'गुरु प्रभाकर' की व्याख्याएँ भी दी हैं। इस कारण इस रचना का स्थान अद्वितीय है।

उनकी अन्य रचनाओं में पराशरस्मृति पर लिखित 'पाराशरमाधव' एक मान्य टीका है, जो निबन्धन रचना की भाँति मानी जाती है। इस रचना के परिचय भाग में लेखक ने पाराशरस्मृति पर टीका लिखने के प्रयत्न को न्यायसंगत ठहराया है, क्योंकि कलियुग में वह स्मृति ही उत्तम तथा विश्वसनीय प्रमाण है—'कलौ पाराशर-स्मृतिः'।

वे कृषि व वाणिज्य के ग्रहण को कलियुग में ब्राह्मणों के लिए स्वीकार करते हैं। आपद्धर्म के रूप में यद्यपि दूसरी स्मृतियों में इन व्यवसायों का तिरस्कार किया गया है। इसी तरह उन्होंने इस रचना में सपिण्ड की इस प्रकार से व्याख्या की है कि उसमें 'असपिण्ड' अर्थात् मामा की पुत्री के साथ विवाह करने का भी स्थान है। पाराशरमाधव के पूरक के रूप में उनकी दूसरी रचना 'व्यवहारमाधव' है।

अद्वैतदर्शन पर उनकी निम्न रचनाएँ हैं। उत्तरमीमांसा शास्त्र के चार अध्यायों पर गद्यव्याख्यासहित 'वैयासिकन्यायमाला' नामक पद्यमय टीका, अद्वैतदर्शन के सभी प्रमुख विषयों की पद्यमय पञ्चदशी—ये दोनों ही उन्होंने अपने गुरु भारतीतीर्थ के साथ लिखी है।

'विवरणप्रमेयसंग्रह' जो नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, 'पंचपादिकाविवरण' का लघु संग्रह है तथा अद्वैतसिद्धान्तों को शक्तिशाली विधि से अभिव्यक्त करनेवाला 'अनुभूतिप्रकाश' है। उनका उत्तरमीमांसाशास्त्र का 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक एक अन्य महान् ग्रन्थ भी है।

---

1. This was edited by Theodor Goldstucker and Edward B. Cowelt, London (Trubner & Co.), 1878. It was published also in the आनन्दाश्रम प्रेस, पुणे (१९१६)।

उनका कालनिर्णय पर 'कालमाधव' नामक धर्मशास्त्र का ग्रन्थ है। उनका 'शंकरदिग्विजय' नामक काव्य यद्यपि ऐतिहासिक नहीं है, किन्तु अतिप्रिय साहित्यिक रचना है, जो अति स्निग्ध शैली में लिखी गई है। उसमें श्रीशंकर के जीवन का वर्णन है। अनेक स्थलों पर विभिन्न विषयों में मण्डनमिश्र तथा शंकराचार्य का वाद-विवाद वर्णित है, जिसमें शंकराचार्य की ही विजय दिखलाई गई है। मण्डन मिश्र के भवन का भी वर्णन है। यह वर्णन अतिशयोक्ति से चित्रित है। माधवाचार्य को सर्वदर्शनसंग्रह का लेखक होने का गौरव प्राप्त है। किन्तु म० म० आर० नरसिंहाचार्य ने अपने 'माधव तथा उनके भाई' शीर्षक निबन्ध में अन्तर्बाह्य प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के लेखक माधव, जिन्होंने अपने को सायणमाधव कहा है, वे 'विद्यारण्यमाधव' के भाई और सायणाचार्य के पुत्र हैं।

भट्ट विष्णु
(१४०० ई)

'नयतत्त्वसंग्रह' के प्रसिद्ध लेखक विष्णुभट्ट ने १४वीं सदी के अन्त में भारत भूमि को अलंकृत किया। सर्वप्रथम इसका प्रसंग परमेश्वर द्वितीय की 'नीतितत्त्वाविर्भाव' व्याख्या में पाया जाता है। अतः 'भट्ट विष्णु' परमेश्वर-द्वितीय के पूर्वकालीन हैं। उसी ग्रन्थ के परिचयात्मक पद्य[1] में लेखक ने नयविवेक-रचयिता 'भवनाथ' का उल्लेख किया है, अतः 'विष्णुभट्ट' भवनाथ के उत्तरकालीन हैं और अपने नयतत्त्वसंग्रह में चिदानन्दपण्डित के ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भट्टविष्णु 'चिदानन्द' के परवर्ती होंगे[2]।

उनकी रचना नयतत्त्वसंग्रह[3] में प्राभाकर मत के अनुसार तर्कपाद के महत्त्वपूर्ण विचारों का संग्रह है और वह बहुत कुछ चिदानन्द के समान है। यह तर्कपाद के सूत्रों की टीका होने के साथ ही प्रत्यक्षप्रमाण, प्रत्ययनिरालम्बनत्व, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, ईश्वर, शब्दनित्यत्व, वाक्यार्थज्ञान के प्रति कारण, प्रपञ्चमिथ्यात्व आदि का भी वर्णन है। यह तर्कपाद के अन्तिम अधिकरण वेदप्रामाण्याधिकरण[4] के साथ ही समाप्त होता है।

---

१. 'भवनाथविविक्तस्य नयतत्त्वस्य सङ्ग्रहः।
यथामति यथाभ्यासं वर्ण्यते भट्टविष्णुना' ॥ (नयतत्त्वसंग्रहः)

२. नीतितत्त्वाविर्भाव व्याख्या में 'अन्यथाख्यातिवाद'। अडियार पुस्तकालय में हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ० ३६१-६२।

3. This work is preserved in the Madras Government Oriental and Adyar Mss. Libraries.

४. मी० दर्श० १।१।८।

अनन्तनारायण

(१४०० ई०)

इसी काल में सम्भवतः परितोषमिश्र की 'अजिता' पर 'विजया' व्याख्या[१] के रचयिता 'अनन्तनारायण' या नारायण भी रहे होंगे। वे 'अजिताचार्य' के नाम से भलीभाँति विख्यात थे। भूमिका के अन्तिम पद्यों[२] से प्रतीत होता है कि ये टीका मात्र ही न होकर विद्वानों के लिए निबन्धन कार्य भी था। उनके पिता का नाम सूर्यविष्णु मिश्र है। उनका पूरा नाम भी पिता के नाम के अनुसार 'अनन्तनारायण मिश्र या अनन्तनारायणार्य था।

उनका सर्वप्रथम वर्णन परमेश्वर तृतीय के 'सूत्रार्थसंग्रह' में मिलता है, जहाँ 'विजयाकार' की प्रशंसा 'मीमांसाशास्त्र के महान् लेखक के रूप में की गई है[3]।

रविदेव

(१४०० ई०)

रविदेव अथवा रवि 'नयविवेक' के टीकाकार हैं। उनकी तिथि अथवा व्यक्तित्व के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। परमेश्वर द्वितीय द्वारा रचित अपनी 'तत्त्वविभावना' में उनकी टीका विवेकतत्त्व[४] (जो तर्कपाद को वर्णित करती है) से कई उदाहरण लिये गये[५] हैं। इसलिए उनको भी हम १४–१५वीं शताब्दी में ही मान सकते हैं। उनकी टीका 'भवदेव' की शैली की जटिलताओं को समझाने में अत्यन्त सहायक है।

केरल के तीन परमेश्वर

(१३००–१५५० ई०)

सम्भवतः १३००–१५५० ई० के मध्य विख्यात श्री अप्पय्य दीक्षित से पूर्व तथा कोचीन में पायूर भट्टतिरि वंश में 'वासुदेव' हुए। जो भट्टतिरि वंश के 'पायूर' कुल में एक महान् पुरुष थे। जिनका 'गौरी' से विवाह हुआ था और उससे

१. यह ग्रन्थ मद्रास के हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

२. 'अथ बुद्धिमतां कृतेऽजितां परितोषार्यकृतिं जिगीषताम्।
विजयाख्यमिदं विधास्यते निपुणग्राह्यगुणं निबन्धनम्॥'

३. 'जैमिनिशबरकुमारिलसुचरितपरितोषपार्थसारथयः।
उम्बेकविजयकारौ मण्डनवाचस्पतिश्च विजयन्ताम्॥'

4. This commentary together with the Nayaviveka for the Tarkapada is now in course of publication by the Madras Uni.

5. See Tattvavibhavana (below) pp. 134–136.

परमेश्वर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। परमेश्वर ने 'वाचस्पतिमिश्र' की 'न्यायकणिका' पर दो टीकाएँ रचीं—जुषध्वंकरणी और 'स्वदितंकरणी'[1]।

उनके दो चाचा थे—भवदास और शंकरपूज्यपाद; जिनमें से 'प्रथम' उनके गुरु भी थे। उनके पाँच पुत्र थे—ऋषि द्वितीय, भवदास, वासुदेव, सुब्रह्मण्य और शंकर। 'ऋषि द्वितीय' का गोपालिका से उत्पन्न पुत्र 'परमेश्वर द्वितीय' था। परमेश्वर द्वितीय नीतितत्त्वाविर्भाव, तत्त्वबिन्दु, विभ्रमविवेक और स्फोटसिद्धि के प्रसिद्ध टीकाकार थे। वह अपनी 'नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या' में कहते हैं[2] कि 'भवदास' उनके गुरु थे। सुब्रह्मण्य चाचा ने नीतितत्त्वाविर्भाव के 'कार्यवाद'[3] पर टीका लिखने में और वासुदेव ने 'स्वतः प्रामाण्यवाद' पर स्पष्टतया प्रवचन कर उस पर टीका लिखने में उसे सहायता दी थी,[4] जिससे यह स्पष्ट होता है कि परमेश्वर द्वितीय के तीनों चाचा अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् थे। यह भी सम्भव है कि वे पूर्व-मीमांसाशास्त्र सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों के रचयिता भी हों। यह भी निष्कर्ष निकल सकता है कि भवदास और वासुदेव दोनों 'भाट्ट-सम्प्रदाय' में तथा 'सुब्रह्मण्य' प्राभाकर-सम्प्रदाय में अधिक दक्ष रहे हों। यह संदिग्ध है कि क्या यह वासुदेव 'परमेश्वर प्रथम' का पुत्र है, क्योंकि उसने अपने को पुष्पिका में 'महर्षि तथा गोपालिका' का पुत्र बतलाया है। 'कुमारिल-युक्तिमाला' के रचयिता वासुदेव, 'परमेश्वर द्वितीय' का संभवतः भाई हो, जिसकी माँ 'गोपालिका' और पिता 'ऋषि' थे। जैसा कि अभी ज्ञात हो चुका है कि परमेश्वर द्वितीय 'परमेश्वर प्रथम' के पौत्र, ऋषि तथा गोपालिका के पुत्र तथा मण्डन मिश्र की स्फोटसिद्धि एवं विभ्रमविवेक और वाचस्पतिमिश्र के तत्त्वबिन्दु तथा चिदानन्द के नीतितत्त्वाविर्भाव के प्रसिद्ध टीकाकार हैं।

---

१. 'इति श्रीमद्-ऋषिगौरिनन्दनश्रीभवदासपितृव्यश्रीमच्छङ्करपूज्यपादशिष्य-परमेश्वरकृतौ स्वदितंकरण्यां तृतीयः श्लोकः'। (Madras Government Oriental Mss. R. No. 3595, p. 68. See also the Sanskrit Introduction to the Sphotasiddhi (Madras)

'जुषध्वंकरणीव्याख्या रचितास्माभिरादितः।
स्वदितंकरणीव्याख्या सम्प्रतीयं वितन्यते'॥ देखिये पृ० १।

२. 'इति गोपालिकासूनुः ऋषेः पितुरनुग्रहात्।
अन्तेवासी पितृव्यस्य भवदेवस्य धीमतः'॥
(नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या—प्रमावाद के अन्त में)

३. 'इति व्याख्यापयामास कार्यवादमिमं सुधीः।
सुब्रह्मण्यो यथार्थाख्यो भ्रातुरेव च सूनुना'॥ (देखिये कार्यवाद के अन्त में)

४. एवं स्वतःप्रमावादं व्याख्यद् गोपालिकासुतः।
वासुदेवपितृव्योक्तरीत्या केवलयेव तु'॥ (देखिये—प्रमावाद के अन्त में)

उनकी टीकाएँ न केवल ग्रन्थों की पूरक हैं, वरन् मण्डनमिश्र तथा वाचस्पति की जटिल भाषा को भी सुबोध करनेवाली हैं। एक विश्वसनीय एवं उत्तम काव्य-टीकाकार की भाँति कई स्थानों पर वह शब्दों का विग्रह कर अर्थ को सरल बना देते हैं। 'तत्त्वबिन्दु' की टीका 'तत्त्वविभावना' के प्रत्येक खण्ड के अन्त में पद्य के द्वारा पुनरावृत्ति भी कर देते हैं, जो पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है।

चार टीकाओं में से विभ्रमविवेक की टीका सर्वप्रथम है, क्योंकि उसका संकेत अन्य तीनों टीकाओं[1] में प्राप्त होता है। द्वितीय 'तत्त्वबिन्दु' की टीका तत्त्वविभावना,[2] जिसका उल्लेख नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या तथा स्फोटसिद्धिव्याख्या[3] में प्राप्त होता है। तृतीय नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या[4] और अन्तिम स्फोटसिद्धिव्याख्या है, विद्यारण्य मन्दिर की देवी गोपालिका के नाम पर भी इसे जाना जाता है। तत्त्वविभावना में न्यायसमुच्चय[5] का भी संकेत मिलता है, परन्तु वह अब तक अप्राप्य है।

परमेश्वर द्वितीय के पुत्र 'ऋषि तृतीय' का पुत्र 'परमेश्वर तृतीय' था, जो मीमांसासूत्रार्थसंग्रह[6] तथा सुचरितमिश्र की 'काशिका' की 'टीका' का प्रसिद्ध रचयिता था। शाबरभाष्य की परम्परा पर आधारित सूत्रार्थसंग्रहव्याख्या का 'तर्कपाद' कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक के अनुसार 'भाष्य' की विशद व्याख्या है। अतः स्पष्ट है कि यह 'भाष्य' की निर्देशिका है। यह पूर्वमीमांसा शास्त्र के प्रमुख आचार्यों—जैमिनि, शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट, मण्डनमिश्र, वाचस्पतिमिश्र, सुचरितमिश्र, परितोषमिश्र आदि की प्रशंसा से प्रारम्भ होती है[7]। वह अपने गुरु सम्भवतः अपने[8] चाचा वासुदेव के प्रति श्रद्धाञ्जलि भी अर्पित करते हैं। वह परमेश्वर द्वितीय के चार ग्रन्थों का उल्लेख कर 'स्वयं को' मीमांसा में भाट्टमत का अनुयायी बतलाता हुआ आस्तिक षड्दर्शनों में निपुण बतलाता है।

---

१. 'विस्तरेण चायं पक्षो विभ्रमविवेकव्याख्यावसरे नयतत्त्वसङ्ग्रहोक्तप्रकारेण दूषित इत्यस्माभिरुपरम्यते'। (नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या, अडियार हस्तलिखित, पृ० ३६७) 'अस्माभिश्च विभ्रमविवेकव्याख्यायां तदुक्तसंक्षेपो दर्शित इति न प्रक्रम्यते'। (तत्त्वविभावना, पृ० ४३)

२. 'यथा च यद्वद् वाक्येऽपि लक्षणासम्भवः, तथोक्तं तत्त्वविभावनायामस्माभिः'। (नीतितत्त्वाविर्भावव्याख्या, अडियार हस्तलिखित, पृ० ५५)

३. द्रष्टव्य—स्फोटसिद्धिव्याख्या (गोपालिका), मद्रास संस्करण पृ० २६६।

४. इस ग्रन्थ का कुछ भाग मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

५. द्रष्टव्य---तत्त्वविभावना, मद्रास संस्करण, पृ० ७६।

६. इस ग्रन्थ का कुछ भाग मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

७. 'जैमिनि-शबर-कुमारिल-सुचरित-परितोष-पार्थसारथयः।
उम्बेकविजयकारी मण्डन-वाचस्पतिश्च विजयन्ताम्॥
(मी० सूत्रार्थ सं०; अन्त्योल्लेख)

८. '····प्रणमामि वासुदेवार्यान्'। (सूत्रार्थसंग्रह)

इन परमेश्वरों का समय १३००-१५५० ई० तक है, क्योंकि भट्टविष्णु का उनके ग्रन्थ में उल्लेख है, जब कि 'अप्पय्य दीक्षित' के किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। अतः 'भट्टविष्णु' और 'अप्पय्य दीक्षित' दोनों के मध्यकाल में इनकी स्थिति मानी जा सकती है। उद्दण्ड[1] कवि ने 'कोकिलासन्देश' में एक ऋषि तथा उनके परिवार के विषय में तथा पोरकलम् गाँव का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने अपने 'मल्लिकामारुत' ग्रन्थ में कहा है कि ऋषि के पुत्र परमेश्वर ने मीमांसाचक्रवर्ती की उपाधि पाई है। तन्त्रसमुच्चय—जो ६०२ से १४२६ ई० में पूर्ण हुआ था—के रचयिता 'नारायण' के समकालीन 'उद्दण्ड' का उल्लेख उसमें मिलता है। कोचीन के 'रामवर्मा' के दरबार के 'बालकवि'—जिन्होंने 'रत्नकेतूदय' और 'रामवर्मविलास'[2] नामक नाटक लिखे हैं—वे भी उद्दण्ड के समकालीन हैं। अतः परमेश्वरों का काल १३००-१५५० ई० के मध्य में निश्चित किया जा सकता है।

वरदराज
(१५००-१५७० ई०)

अप्पय्य दीक्षित से पूर्व हम भवनाथभट्टकृत नयविवेक ग्रन्थ के व्याख्याकार वरदराज को मान सकते हैं। उसका सर्वप्रथम उल्लेख १७वीं शताब्दी के सोमनाथ दीक्षित द्वारा शास्त्रदीपिका की टीका में मिलता है[3]। उनकी टीका प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से प्रारम्भ होती है। वह भूमिका[4] तथा पुष्पिका में अपने गुरु सुदर्शन एवं माता-पिता के प्रति श्रद्धा प्रकट कर जैमिनि, प्रभाकर, भवनाथ आदि निबन्धकारों का उल्लेख करता है। तब वह अपनी वंशपरम्परा तथा जन्म-स्थान के विषय में कहता है। शुकापगा[5] के तीर पर विदाम्बी के परिवार में आत्रेय-

---

१. पं० एस० के० रामनाथ शास्त्री सम्पादित स्फोटसिद्धि की संस्कृतपरिचायिका में देखिये पृ० १७-२०।

२. द्रष्टव्य—के० आर० पिशोरिटी का निबन्ध 'द ग्लिम्प्स ऑफ कोचीन हिस्ट्री'—अं० ओ० रि० मद्रास, भाग ४, पृ० १४२-१५१ (१९३०)।

३. द्रष्टव्य—मयूखमालिका, पृ० ९६, १८३।

४. 'यत्पादपङ्कजद्वन्द्वनिरन्तरनिषेवणात् ।
विद्यानिधिः शिष्यगणो नमामस्तं सुदर्शनम् ॥
नमामि पितरौ वृद्धावपि कल्याणचेतसः ।
यत्प्रसादेन भूकोऽपि भवेद्वाचस्पतेः समः ॥
नमामि जैमिनिमुनिं भाष्यकारप्रभाकरौ ।
नाथं भवं निबन्धॄंश्च चन्द्रादीन् समुपास्महे ॥

५. 'पुरा शुकापगातीरे विदाम्बीकुलभूषणम् ।
यज्ञद्रोणात् समभवत् प्रणतार्तिहराभिधः ॥
तस्मात् समभवत् प्राज्ञो देवराजो बहुश्रुतः ।
तत्र श्रीरङ्गनाथाख्यो विपश्चित्सत्तमोऽजनि ॥

गोत्र में 'प्रणतार्तिहर' उत्पन्न हुए। उनके पुत्र देवराज, रंगनाथाध्वरिन् और कनिष्ठ पुत्र वरदराज थे।

वरदराज की दीपिका[1] 'नयविवेक' की अत्यन्त स्पष्ट टीका है, जिससे प्रभाकर-सम्प्रदाय के दो प्रसिद्ध ग्रन्थकार प्रकाश तथा श्रीकर के विचार अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। यह वरदराज 'तार्किकरक्षा' के रचयिता तथा उदयन की कुसुमाञ्जलि के व्याख्याकार वरदराज नहीं हैं। यद्यपि द्वितीय वरदराज ने अपने वंश तथा जन्मस्थान का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि स्वयं तार्किकरक्षा में 'मीमांसापारदृश्वा' की उपाधि से स्वयं को महामीमांसक कहा है। क्योंकि वरदराज का उल्लेख सर्वदर्शनसंग्रह[2] तथा परमेश्वर द्वितीय की गोपालिका[3] में है, जिसकी टीका 'मल्लिनाथ' (महाकाव्यों के प्रसिद्ध व्याख्याकार) ने की है। इसलिए उन्हें नयविवेकदीपिका के रचयिता भवनाथ भट्ट से काफी पहले ११०० के समीप[4] रखना होगा।

अप्पय्य दीक्षित
(१५२०–१५९३ ई०)

यह द्राविड जाति के ब्राह्मण थे। काञ्ची की आग्नेय दिशा की ओर अग्रहार में रहते थे। यह सामवेदी और भारद्वाज गोत्र के थे। इनके पिता का नाम रंगराज और पितामह का आचार्य दीक्षित अर्थात् वक्षस्थलाचार्य था। इन्होंने उदाहरण में दिये हुए अपने एक श्लोक में स्वयं के आश्रयदाता विजयनगर के कृष्णदेव राय, नरस बनाम नरसिंह, चिन्नबोम्म और वेंकट का उल्लेख किया है। सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित इन्हीं के शिष्य थे। यह निर्मत्सर बुद्धि के होने से शैव एवं वैष्णव दोनों को ही मान्य थे। इनकी तीन पत्नियाँ और ११ पुत्र थे।

इन्हें अप्पय्यदीक्षित या अप्पय्य दीक्षित के नाम से भी पुकारते हैं। इन्होंने १०० से अधिक ग्रन्थों को रचा, जिनमें तीन ग्रन्थ साहित्यशास्त्र के हैं, जो वृत्तिवार्तिक, कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से वृत्तिवार्तिक तो काव्यमाला में मुद्रित हुआ है और शेष दो ग्रन्थ स्वतन्त्ररूप से प्रसिद्ध हैं। वृत्तिवार्तिक में दो परिच्छेद हैं। उनमें रूढि, योगरूढि और योग के भेद से तीन प्रकार की अभिधा तथा चार प्रकार की लक्षणा का निर्देश करते हुए दो प्रकार की शब्द-शक्तियों का सविस्तर विवेचन किया गया है। कुवलयानन्द अलंकार का ग्रन्थ है, जो विद्यार्थियों के अत्यन्त उपयोग का है। जयदेव के चन्द्रालोक में १०० अलंकार

तत्सूनुना वरदराजबुधाग्रिमेण। व्याख्यायते नयविवेक इति प्रबन्धः' ॥

१. It is preserved in the Madras Mss. Libraries.

२. द्रष्टव्य —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १५२, अभ्यंकरशास्त्री का संपादन पूना, १९२४।

३. देखिये—स्फोटसिद्धि-गोपालिकासहित, मद्रास संस्करण, पृ० ४५।

४. Vide M. M. S. Kuppuswami Sastrigal's 'A Primer of Indian Logic Introduction, p. XLV.

बतलाये गये हैं, किन्तु इन्होंने उनमें और २४ अलंकार बढ़ा दिये हैं। कुवलयानन्द में अलंकार के लक्षणों और उदाहरणों को प्रायशः चन्द्रालोक से ही लिया गया है; अवशिष्ट इनकी स्वयं की रचना है, जिसमें अन्य कवियों के भी उदाहरणों को देकर उनका बहुत ही सुबोध विवेचन किया है। वेंकटपति राजा की आज्ञा से इस ग्रन्थ को इन्होंने लिखा। इस ग्रन्थ की अपेक्षा चित्रमीमांसा ग्रन्थ अधिक शास्त्रीय है। इसमें अतिशयोक्ति का विवेचन करते हुए दीक्षित ने इस ग्रन्थ को समाप्त किया तथा अरुण और अर्धचन्द्र की उपमा दी है।

इनकी 'चित्रमीमांसा' का खण्डन 'पण्डितराज जगन्नाथ' ने किया है, परन्तु वह भी उपलब्ध चित्रमीमांसा के कुछ भाग का ही अंश आज उपलब्ध हो रहा है। दीक्षित को आश्रय देनेवाला वेंकटपति विजयनगर का पहला राजा था। उसका सन् १६०१-२ में दिया हुआ दानपत्र उपलब्ध है (एपिग्राफिका इण्डिका) (एपि० इण्डि० ४-२६९), जिसके आधार पर दीक्षित के काल का निर्धारण होता है। पण्डितराज जगन्नाथ का ग्रन्थ-रचनाकाल सन् १६२०-१६५० है। महालिंगशास्त्री ने इसका काल सन् १५२०-१५९२ निश्चित किया है (जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, वाल्युम ३, पृ० १४८)। इसी त्रैमासिक में इसकी रक्षणरत्नावलि का कुछ स्वल्प भाग मुद्रित किया गया है। उसमें नाटक की नांदी आदि संज्ञाओं का विवेचन है। उस पर वेंकटपति की आज्ञा से इन्होंने एक टीका भी लिखी है। 'शिवार्कमणिदीपिका' ग्रन्थ के अन्त में चिन्नवीर के पुत्र चिन्नवोम्म का दीक्षित के आश्रयदाता के रूप में उल्लेख किया गया है। वह बेल्लोर का राजा था, जिसके शिलालेखों का काल शक १४७१ व १४८८ (सन् १५६६) है। (इण्डि० एण्टी० वाल्युम १३, पृ० १४५; एपि० इंडि० वाल्युम ३, पृ० २३८)।

इनके लिखे कितने ही ग्रन्थ हैं, जैसे—शिवार्चनचन्द्रिका, शिवतत्त्वविवेक, शिवार्कमणिदीपिका, शिवकर्णामृत, वीरशैवग्रन्थ, आत्मार्पणग्रन्थ, सिद्धान्तलेशसंग्रह, रामायणतात्पर्यसंग्रह और नामसंग्रहमाला तथा कल्पतरुपरिमल, मुक्तामाला, राजनीतिशास्त्र, रसमंजरी, सकलकथासार आदि कितने ही ग्रन्थ इन्होंने ही लिखे, ऐसा कहते हैं। इनके आत्मार्पण ग्रन्थ पर भारतवर्ष के सभी लोग आश्चर्यचकित हैं। इसके लिखने के लिए (धोत्र्याच्या बिया) इन्होंने 'अर्क बीजों' को खाना आरम्भ किया था। यह बड़े ही नैष्ठिक थे। इन्होंने कावेरी नदी के तट पर अनेक यज्ञ किये थे।

'वसुमतीचित्रसेनविलास' नामक नाटक भी इन्होंने लिखा है। यह हर किसी के पास शिव की स्तुति किया करते थे। एक समय असावधानी से ये विष्णु मंदिर में जा पहुँचे और वहाँ इन्होंने 'शिवनमन' के श्लोक पढ़े, तब तत्काल ही विष्णुमूर्ति वहाँ से अदृश्य होकर उसकी जगह शिवमूर्ति प्रकट हो गई। जब लोगों ने उन्हें यह उद्भुत घटना सुनाई, तब भगवान् की भक्तवत्सलता का अनुभव कर हृदय भर आया और विष्णुनमन की सरस कविताओं को रचकर भगवान् की स्तुति करने में तन्मय हो गये।

इनके ग्रन्थों में विधिरसायन, उपक्रमपराक्रम, वादनक्षत्रमाला, मयूखावलि और चित्रपट आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी देन मीमांसा से अधिक शैव तथा अद्वैतदर्शन में है। अपनी कल्पतरुपरिमल, न्यायरक्षामणि, शिवार्कमणिदीपका और शिवाद्वैतनिर्णय आदि में उन्होंने भट्टपाद के मीमांसा-नियमों की अपूर्व व्याख्या की है। अपनी रचनाओं में उन्होंने मीमांसाशास्त्र के कुछ तथ्यों की खोज 'कुमारिल' के अतिरिक्त प्रथम बार की है। उदाहरणार्थ—उत्तरमीमांसा के विध्यधिकरण में वे विवेचन करते हैं कि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' यह वैदिक विधि 'प्रकरणान्तर' नामक कर्मभेदक प्रमाण के द्वारा किस प्रकार भिन्न कहा जा सकता है? जिससे अग्निहोत्र तथा अनुपादेय गुण की धारणा की गई है। अप्पय्यदीक्षित 'प्रकरणान्तर' को केवल 'प्रयोगभेदक' मानते हैं, 'कर्मभेदक' नहीं। यह अन्य मीमांसकों के लिए एक कड़वा घूंट है। अतः एक मीमांसक के रूप में अपनी अद्वैत तथा अन्य रचनाओं में अधिक सफल हैं।

जिस नगर में ये रहते थे, वह उस समय के पल्लवकालीन महान् विद्याकेन्द्र काँजीवरम् के निकट अदेयपालम् नाम से प्रसिद्ध और प्राचीन सभ्यता से पूर्ण समझा जाता था[1]। उनके पितामह आचार्य दीक्षित विजयनगर के प्रसिद्ध राजा कृष्णदेवराय से सम्मानित थे। आचार्य दीक्षित ने अनेक वैदिक यज्ञ किये थे। जब राजा ने अपने परिवार के साथ आराध्य 'वरदराज' की पूजा की तो दीक्षित ने एक श्लोक रचा। लक्ष्मी के समान काञ्चनवर्ण की नारी को देखकर वरदराज भगवान् अपने हृदय में लक्ष्मी का वास खोजने लगे। भगवान् ने लक्ष्मी का सादृश्य रानीजी में देखा और उन्हें यह शंका हुई कि 'रानी' कहीं अपना स्थान छोड़कर तो नहीं चली गई। उनकी काव्यात्मक मौलिकता तथा बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हो राजा ने उन्हें 'वक्षस्थलाचार्य' की उपाधि दी। नीलकण्ठदीक्षित ने भी नलचरित्र नामक नाटक का आचार्य दीक्षित के रूप में उल्लेख किया है। जिसका कृष्णदेवराय द्वारा अत्यधिक सम्मान किया गया था। उनकी दो पत्नियाँ थीं। प्रथम कट्टर शैवकुल की और द्वितीय प्रसिद्ध वैकुण्ठाचार्य वंश के वैष्णव परिवार की। उनके समय में लगभग ३ शताब्दी पूर्व दक्षिण भारत में कट्टर स्मार्त तथा वैष्णवों के बीच विवाह अप्रचलित नहीं थे। उनकी द्वितीय पत्नी से उत्पन्न टोटराम्बा के चार पुत्रों में से प्रथम पुत्र रंगराजाध्वरिन् के पुत्र अप्पय्यदीक्षित थे। अपने पिता की भाँति ही रंगराजाध्वरिन् ने अनेक वैदिक यज्ञ किये। अद्वैतवेदान्त पर 'अद्वैतविद्यामुकुर' 'विवरणदर्पण' जैसे अनेक ग्रन्थ भी लिखे। उनके प्रथम पुत्र आपय थे और द्वितीय पुत्र थे आक्कन दीक्षित, जो नीलकण्ठ के पितामह थे। आपय दीक्षित का प्रारम्भिक नाम अप्पादीक्षित था तथा सम्मानसूचक 'अय्या' बाद में उनकी स्पर्धिक गरिमा के कारण जुड़ गया।

उनकी तिथि विवादग्रस्त है। श्री ए० वी० गोपालचारियर ने शिवानन्द

१. देखिये—श्री ए० वी० गोपालाचारी का 'लाइफ आफ अप्पय्य दीक्षित' यादवाभ्युदय का परिचय, भाग २ (वाणीविलास संस्करण, श्रीरङ्गम्)।

यतीन्द्र की दीक्षित-वंशावली तथा नीलकण्ठ के ग्रन्थों के आधार पर उन्हें १५५२–१६२६ ई० में निश्चित किया है[1]। अधिकतर विद्वानों द्वारा स्वीकार होने पर भी श्री महालिंगशास्त्री ने उन्हें साहित्यिक तथा शिलालेख आदि साधनों के आधार पर १५२०-१५९३ ई० बतलाया है[2]। पितामह आचार्य दीक्षित के समय ही आपय भी विजयनगर के सम्राट् के सम्पर्क में आये। वेदान्तदेशिक के यादवाभ्युदय पर टीका करते समय उसने रामराय, तिम्माराज तथा चिन्नातिम्मा—इन तीन राजाओं का उल्लेख किया है[3]। रामराय के पुत्र तिम्माराय के अनेक पुत्र थे, जिनमें चिन्नतिम्म बड़े शूरवीर तथा मान्य थे। चोल, केरल तथा पाण्डच राज्यों एवं कोरोमण्डल तट पर हुए उनके साहसिक कार्यों का बड़ा ही सजीव चित्रण यादवाभ्युदय में मिलता है। दक्षिण के उस राज्य-संचालक चिन्नतिम्म द्वारा अप्पय दीक्षित को टीका लिखने के लिए प्रेरित किया गया। इसलिए हम उसे 'दीक्षित' का प्रथम आश्रयदाता कह सकते हैं। उस टीका को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि २५ या ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने उक्त टीका लिखी होगी।

सन् १५८२ के अद्वयपालम् के शिलालेख द्वारा उनका भूतकाल से सम्बन्ध दिखलाया गया है। अतः १५८२ ई० के पूर्व ही उनके जीवन का अन्त हो चुका था। शैव-सम्प्रदाय के पुनरुत्थान काल में अप्पय्य दीक्षित के साहित्यिक कार्यों में चिन्माबोमा से प्रोत्साहन मिला था, जैसा कि स्वयं उन्होंने शिवार्कमणिदीपिका—जो कि वेदान्तसूत्रों पर श्रीकण्ठाचार्य के भाष्य की विशद व्याख्या है—में उल्लेख किया है[4]। इस रचना के पूर्ण होने पर शैवसम्प्रदायानुयायी राजा ने उन पर 'कनकाभिषेक' किया। नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने 'नलचरित्र'[5] की भूमिका में यह स्पष्ट बतलाया है कि इस घटना का वर्णन 'समरपुंगव दीक्षित' द्वारा उनकी 'यात्राप्रबन्ध' पुस्तक में भी किया गया है।

सम्भवतः १५८२ ई० में कनकाभिषेक के पश्चात् कट्टर शैव होने के नाते अप्पय ने कालकण्ठेश्वर का मन्दिर अपने प्राप्त सुवर्ण से बनवा दिया हो।

उनका तृतीय संरक्षक १५८५ ई० में सिंहासनारूढ 'वेंकटदेवराज' या वेंकट प्रथम था। 'वेंकटपति' के संरक्षण में अप्पय ने 'कुवलयानन्द'[6] और 'विधिरसायन'[7] लिखे, जिसमें उसने सम्राट् को असीम सहानुभूति तथा दान का केन्द्र कहा है।

---

१. देखिये—यादवाभ्युदय का परिचय, भाग द्वितीय, पृ० २-४।

2. Vide J. O. R. Madras, Vol. II, p.p. 225–237.

3. The commentary on the Yadavabhyudaya, verses 2, 3 & 5; Vani Vilas edition, Srirangam.

4. Sivarkamanidipika, verses 123 and 13.

5. Nalacarita Prologue, Balamanorama edition, p. 4.

6. Kuvalayanada, Last verse.

7. Vidhirasayana.

सम्राट् का गुरु 'ताताचार्य' वैष्णव था, जिनके प्रभाव से वह कट्टर वैष्णव हो गया था। किन्तु फिर भी 'अप्पय' उनके दरबार का एक प्रभावशाली आश्रित था। उसने 'ताताचार्य' को वादविवाद में परास्त किया था। नरसिंह, जो वीरनरसिंह अथवा कोलप्पा अथवा शल्यनायक के नाम से भी जाने जाते हैं, उसकी और 'कृष्णदेवराय' द्वारा चोलप्रान्त के राज्यपाल बनाये गये वीर नरसिंह के साथ एकरूपता स्थापित की गई है। वह स्वयं एक शक्तिशाली शासक एवं उत्तम प्रबन्धक था। अतः उन्होंने कृष्णदेवराय के उत्तराधिकारी 'अच्युतराय' के विरुद्ध विद्रोह किया, किन्तु वह परास्त हुआ और १५३५ ई० में कारागार में डाल दिया गया। यह ठीक से ज्ञात नहीं है कि उसने बाद में उसी पद का उपभोग किया अथवा नहीं जो उसने कृष्णदेवराय के शासनकाल में किया था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह १५४५ ई० तक जीवित रहा और उसी काल में वह इस आश्चर्यजनक वार्ता को सुनकर कि पशु प्रत्यक्षरूप से स्वर्ग को जा रहे हैं, अप्पयदीक्षित द्वारा किये गये यज्ञ के अंतिम अवभृथ के दिन चिदम्बरम् गये थे।

विजयनगर के अच्युतरायदेव के समय में मदुरा में पाण्डचराजा चन्द्रशेखर थे। जब तंजौर के चोलवंशीय वीरशेखर ने चन्द्रशेखर पर आक्रमण किया, तब उन्हें अच्युतराय से सहायता प्राप्त हुई थी। अच्युतराय के प्रतिनिधि नगमनायक ने युद्ध में चोलराजा को परास्त किया। फलतः पाण्डचराजा ने पुनः अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त की। १५४५ ई० के लगभग पाण्डचराज बिना किसी उत्तराधिकारी को छोड़े हुए ही मर गये। अन्तिम काल में उन्होंने नगमनायक के पुत्र विश्वनाथ को स्वेच्छा से अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया था, किन्तु १५५२ ई० तक विश्वनाथ ही मदुरा के शासक थे, क्योंकि विट्ठल तथा 'चिन्नतिम्मा' दक्षिण के शक्तिशाली प्रबन्धक थे। नरसिंह तथा चन्द्रशेखर भी प्रारम्भिक दिनों में उनके दो अन्य संरक्षक थे, जिन्होंने अप्पय द्वारा यज्ञ के पशुओं को स्वर्ग जाते देखा।

शिवानन्द यतीन्द्र द्वारा लिखित अप्पय की जीवनकथा से पता चलता है कि उनकी बढ़ती हुई कीर्ति को सुनकर चन्द्रशेखर ने अपने पण्डितों से उनकी प्रशंसा की तथा शास्त्रार्थ के लिए कहा। रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित नामक पण्डित ने उस चुनौती को स्वीकार कर लिया और जब वह किसी भी प्रकार उनको न झुका सके तो उन्होंने अपनी पुत्री 'मंगलनायकी' का विवाह 'अप्पय' से ही कर दिया।

सेवप्पा (१५८० ई०) के दो लेखों से ज्ञात होता है कि 'अप्पय दीक्षित' ताताचार्य तथा विजयेन्द्रतीर्थ के समकालीन थे तथा उनके साथ तंजौर के राजा सेवप्पा के दरबार में वेदान्त की तीन शाखाएँ—द्वैत, विशिष्टाद्वैत और शिवाद्वैत पर शास्त्रार्थ करने आते थे।

इस उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अप्पय दीक्षित १५२०–१५९२ ई० के मध्य अर्थात् १६वीं शताब्दी में पल्लवित हुए। अतः ७२ वर्ष तक जीवित रहे। इस प्रकार यह पूर्ण स्पष्ट है कि 'अप्पय' १६वीं शताब्दी में अपने जीवन के युवावस्था में उत्तर भारत सम्भवतः वाराणसी में तथा अन्तिम दिनों में 'भगवान्

नटराज' की पूजा करने के लिए चिदम्बरम् में गये। उन्होंने भगवान् नटराज के प्रति अन्तिम प्रार्थना की, जिसे कहते हुए उनके चरणकमलों में पड़कर उन्होंने अन्तिम साँस ली।

शंकराचार्य के समान ही उन्हें भी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में १०८ ग्रन्थों का लेखक कहा जाता है। मीमांसा क्षेत्र में उनके पाँच ग्रन्थ प्राप्त हैं। तीन विधियों की प्रकृति, परिभाषा का विधिरसायन में वर्णन है। उनकी व्याख्या बुद्धिवादी होने के कारण बाद के विद्वानों को स्वीकृत नहीं है। यद्यपि खण्डदेव मिश्र ने उन्हें मीमांसकमूर्धन्य का नाम देकर सम्मान प्रदर्शित किया है। उनके 'उपक्रम-पराक्रम' में विभिन्न उपसर्गों के वर्णन में उपक्रमन्याय का विशद रूप से वर्णन किया है। उनकी वादनक्षत्रमाला में मीमांसा के कुछ अधिकरणों का स्वतन्त्र वर्णन है। नव्य-न्याय की परिभाषानुसार किये जानेवाले वाक्यार्थ में मीमांसा के विद्यार्थी के लिए बहुत ही उपयुक्त है।

उनकी मयूखावलि शास्त्रदीपिका की अविकल टीका है। उनका चित्रपट मण्डनमिश्र की मीमांसानुक्रमणी के समान ही पूर्वमीमांसाशास्त्र के १२ अध्यायों की वह पद्यात्मक टीका है। यह टीकाकार के द्वारा लघुवार्तिक के नाम से भी जानी जाती है। लघुवार्तिक पर उन्हीं की जो दूसरी टीका है, वह 'लघुन्यायसुधा' कहलाती है।

विजयीन्द्र भिक्षु
(१५३९–१५९७ ई०)

अपने चतुर्थ आश्रम में विजयीन्द्र भिक्षु या विजयीन्द्रतीर्थ के नाम से परिचित विठ्ठलाचार्य अप्पय दीक्षित के समकालीन थे। उन्होंने तंजौर के राजा सेवप्पा[1] की राजसभा का उस समय भ्रमण भी किया था, जब अप्पय दीक्षित तथा ताताचार्य में शास्त्रार्थ चल रहा था, उस समय सेवप्पा की आज्ञा पर १५७४ ई० में विजयनगर के राजा रंगराय द्वितीय ने 'अविलमङ्गलम्' का ग्राम तथा तंजौर जिले के 'अच्युतप्पा-समुद्र' का भी दान विजयीन्द्रभिक्षु को किया था[2]। उन्होंने लगभग १०४ ग्रन्थों की (दर्शन की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित) रचना की थी। उनकी परतत्त्वप्रकाशिका में अप्पय दीक्षित के शिवतत्त्वविवेक का खण्डन है। उनके माध्वमतकण्टकोद्धार में भी द्वैतदर्शन के खण्डन का खण्डन किया है। 'सोमप्रधानजय' नामक काव्य से उनका उत्तम कवित्व भी प्रकट होता है। उनके मीमांसासम्बन्धी अब तक तीन ग्रन्थ प्राप्त है—[3](१) मीमांसान्यायकौमुदी, (२) न्यायाध्वदीपिका, जो मीमांसासूत्रों पर अविकल टीका है। जिनमें से द्वितीय ग्रन्थ 'शास्त्रदीपिका' की अपेक्षा अधिक सरल है। (३) 'उपसंहारजय' में उपसंहार का प्राबल्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, जो अप्पय के 'उपक्रम-पराक्रम' का खण्डन है। अपनी 'न्यायाध्वदीपिका' में उसने

१. देखिये—मैसूर अर्कालाजिकल विभाग (१९१७) की रिपोर्ट।
२. द्रष्टव्य—एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १२, पृ० ३५७।
३. तीनों ग्रन्थ मद्रास की हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

पूर्णबोध (आनन्दतीर्थ) जयगोविन्द व्यासदेशिक सुरेन्द्रतीर्थ, जो विज्ञानेन्द्र के गुरु हैं, को श्रद्धा अर्पित की है। व्यासार्य अथवा व्यासदेशिक उनके आध्यात्मिक गुरु थे[१]। 'सर्वतंत्रस्वतंत्र-चतुष्षष्टिकलावल्लभ आदि विविध सम्माननीय उपाधियों के साथ उनका परिचय प्राप्त होता है।

वेंकटेश्वर दीक्षित

(१६०० ई०)

अप्पय दीक्षित के पश्चात् वेंकटेश्वर दीक्षित हुए। वे गोविन्द दीक्षित[२] के पुत्र थे,[3] जो बोधायनगोत्र के कर्नाटक ब्राह्मण तथा अप्पय के समकालीन थे। वे तंजौर के तीन नायकों सेवाप्पा, अच्युतप्पा, रघुनाथ के मन्त्री थे। उनके भाई यज्ञनारायण दीक्षित ने साहित्यरत्नाकर में इन राजाओं का भी उल्लेख किया है। उनकी माता का नाम नागमाम्बा था।

वेंकटेश्वर दीक्षित राजचूडामणि और नीलकण्ठ दीक्षित के गुरु थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में उनकी बहुत प्रशंसा की है। राजचूडामणि हमारे ग्रन्थकार के विषय में अपने तन्त्रशिखामणि में बतलाते[४] हैं कि उनकी विद्वत्ता सर्वतोमुखी थी। तथा अग्निचयन-वाजपेय आदि यज्ञ किये थे। उन्होंने साहित्यसाम्राज्य, सुलभमीमांसा, कर्मान्तवार्तिक तथा वार्तिकाभरण (टुप्टीका की व्याख्या) आदि अनेक उत्तम ग्रन्थ लिखे। वार्तिकाभरण कुमारिल की टुप्टीका पर एक टीका है। पार्थसारथि मिश्र के तन्त्ररत्न की भाँति ही कुमारिल की टुप्टीका पर यह एक सुस्पष्ट व्याख्या है। उनकी अन्य रचनाओं में से अपनी रचित सुलभमीमांसा में यज्ञ की वेदी के नापजोख तथा अन्य गणित सम्बन्धी विचार मिलते हैं। उनका कर्मान्तवार्तिक कर्मान्तसूत्रों[५] (बोधायनकल्पसूत्र का एक भाग) की व्याख्या है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने पिता गोविन्द दीक्षित का अत्यधिक सम्मान के साथ उल्लेख किया है[६]। इस ग्रन्थ के अन्त्योल्लेख[७] से ऐसा ज्ञात होता है कि उनके पिता दर्शन में अद्वैतवाद के गुरु अद्वैत

---

१. द्रष्टव्य—एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १२, पृ० ३४४ तथा 'Heras' 'The Aravidu Dynasty of Vijayanagar' p. 521–2.

2. For Govinda Diksita see 'Heras', 'The Aravidu Dynasty of Vijayanagar pp. 288 & 522.

३. 'अस्ति गोविन्द····स्वतन्त्रधीः' ॥ (तन्त्रशिखामणि)

४. 'येनेष्टं····काव्यमनुत्तमम् ॥ व्यतानि····भरणापिधः' ॥ (तं० शि० म०)

५. 'कल्पाद्यनुक्तार्थं····वितन्यते' ॥

६. 'रमापतिं···सिद्धवे' ॥ (क० वा० प्र० पद्य, टी० एम० एस० एस० एम० संग्रहालय स० कटलाग, चतुर्थ भाग, पृ० १६६९)

७. 'इति श्रीमदद्वैतविद्याचार्य···कर्मसूत्रवार्तिक····सामान्यसूत्रवार्तिकं समाप्तम्।' (टी० एम० एस० एस० एम० लाय० स० कैटलाग चतुर्थ भाग, पृ० १६७२)

विद्याचार्य थे तथा उन्होंने अग्निचिति, सर्वतोमुख, आप्तोर्याम तथा वाजपेय आदि अनेक वैदिक यज्ञ किये थे।

सम्भवतः उन्होंने संगीतशास्त्र में ताल पर 'चतुर्दण्डप्रकाशिका' की भी रचना की है। वेंकटमतिम् नाम आज भी दक्षिण भारत के संगीतक्षेत्र में विख्यात हैं तथा भारतीय संगीत-प्रणाली के वे एक प्रामाणिक विद्वान् समझे जाते हैं।

नारायण भट्ट
(१५६० ई०)

अप्पय्य दीक्षित और वेंकटेश्वर दीक्षित के बाद में तथा मीमांसान्यायप्रकाश के प्रसिद्ध लेखक आपदेव से पहले १६वीं शती में केरल के नारायण भट्ट प्रसिद्ध हुए[1]। उनका पूरा नाम मैप्पातुर नाराणय भट्टतिरि था तथा वे केरल के उपाकणवाग्राम के नम्बूदरी ब्राह्मण थे। उनके पिता मातृदत्त स्वयं मीमांसा के बड़े विद्वान् थे। उनकी माता पेयोर के भट्टतिरि परिवार की थी, जिसका **तीनों प्रसिद्ध परमेश्वर** तथा वासुदेव से भी संबंध होने से मातृकुल तथा पितृकुल दोनों ओर से उन्हें आनुवंशिक रूप में विद्वत्तापूर्ण मीमांसा-सम्प्रदाय सुलभ हुआ था; और उन्होंने एक अत्युत्तम प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है, जो मानमेयोदय के नाम से प्रसिद्ध है तथा तंत्रवार्तिक पर एक प्रामाणिक 'निबन्धन' नाम की व्याख्या लिखी है।

प्रारम्भ में वे संयमहीन थे, परन्तु बाद में अच्युत पिशोरिटी की कृपा से साहित्य के विद्वान् हो गये। बाद में कोढ़ हो जाने पर उन्होंने १००० पदों में नारायणीय नामक भक्तिरसपूर्ण काव्य की रचना की। वे कृष्ण-भक्त थे।

परन्तु प्रक्रियासर्वस्व के द्वारा ज्ञात होता है कि उनके मातृदत्त, माधवार्य एवं पिशोरिटी—ये तीन गुरु थे, जिनसे उन्होंने क्रमशः मीमांसा, तर्कशास्त्र और व्याकरण का अध्ययन किया। पौराणिक विषयों पर चम्पू शैली से कई प्रबन्ध लिखने के अतिरिक्त उन्होंने मानमेयोदय और तन्त्रवार्तिक-निबन्धन की रचना की। मानमेयोदय में 'मान' और 'मेय' की व्याख्या का प्रयास किया गया है, परन्तु न जाने किन कारणों से 'कुमारिल भट्ट' द्वारा बतलाये गये छह मानों (प्रत्यक्ष-अनुमान आदि) के विवरण के पश्चात् पुस्तक अधूरी छोड़ दी गई है। कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक में वर्णित छह प्रमाणों की ही वह एक विशद व्याख्या है। भूमिका में कुमारिल के प्रति उसने स्वतंत्र दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है[2]। वे चिदानन्द[3] और न्याय-

---

१. दे०—'मेप्पतुर नारायण भट्टतिरि' पर प्रो० पिशारोटी का प्रबन्ध (आई० एच० क्वा०, नवम भाग, १९३३)।

२. 'तदुक्तं बृहट्टीकायाम्—तस्माद्यो''''गृह्यते' ॥ (मानमेयोदय, आडियार सं०, पृ० १२६) सीरीज से प्रकाशित हुआ है।

३. वही, पृ० ९१।

निर्णयकार[1] का भी उल्लेख करते है। मानमेयोदय[2] स्पष्ट और धारावाहिक रूप से पद्य में लिखा गया है। न्याय के पारिभाषिक शब्दों पर साथ ही साथ गद्य में उसकी व्याख्या भी है तथा अनेक स्थलों पर गुरुमत की स्पष्ट व्याख्या करके उसका खण्डन भी किया है। यद्यपि शास्त्रदीपिका के तर्कपाद तथा चिदानन्द के नीतितत्त्वाविर्भाव में उसी विषय का नारायण भट्ट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विवरण दिया है, किन्तु इस ग्रन्थ की व्याख्या इतनी सुबोध एवं सरल रूप में हुई है, जो नारायण भट्ट के सभी शास्त्रीय ग्रन्थों के महत्त्व का प्रतिपादन करती है।

तन्त्रवार्तिक पर उनकी निबन्धन[3] टीका पढ़ने योग्य है। अजिता तथा न्यायसुधा की तरह वह अनावश्यक वाद-विवादों की तह में नहीं जाते है।

उनके अन्य कार्यों में प्रक्रियासर्वस्व[4] उल्लेखनीय है, जो कि 'पाणिनि की अष्टाध्यायी की टीका, जो रामचन्द्र तथा अन्य पूर्ववर्तियों के उदाहरणों के आधार पर है। जनश्रुति के अनुसार नारायण भट्ट ने अपने समकालीन भट्टोजिदीक्षित को प्रक्रियासर्वस्य दिखलाया था, जिन्होंने उक्त पुस्तक का अवलोकन करने के पश्चात् अपना यह मत प्रकट किया कि धातुओं पर यह टीका अत्यन्त नगण्य है और इसी कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने ३००० धातुओं से पूर्ण धातुकाव्य लिखा।

उनकी तिथि के सम्बन्ध में उनके ही कार्यों में कुछ संकेत मिलते हैं, जैसा कि कालवाक्य 'आयुरारोग्यसांख्यम्' से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी मृत्यु १५८७ में ३० वर्ष के लगभग हो गई थी। उनके प्रक्रियासर्वस्व के दो संकेत 'यत्नः फलप्रसूः स्यात्' तथा 'कृतरागरसोदय' १६१७ ई० की फरवरी-मार्च के बराबर है। उनके ज्योतिष सम्बन्धी एक निबन्ध से यह ज्ञात होता है कि वह १०६ वर्ष तक जीवित रहे।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह निर्धारित किया जा सकता है कि उन्होंने अपनी शिक्षा १५८७ ई० से पूर्व ही प्राप्त कर ली थी, तभी उन्होंने अपनी नारायणीय नामक एक महान् समर्पण गीतिकाव्य पूर्ण किया था। फलतः वह १५८७ से १६५६ ई० के बीच में एक विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे, जब उन्होंने अपनी अन्तिम श्वास ली[5]। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे १६वीं सदी के

---

१. वही, पृ० १४६।

२. प्रथमतः ई० १९१२ में त्रिवेन्द्रम् सं० सी० से निकला था, पश्चात् अंग्रेजी भाषान्तर के सहित ई० १९३३ में थियासाफिकल पब्लिशिंग हाउस, ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित हुआ है।

३. मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

४. इसका प्रथम भाग त्रिवेन्द्रम् सं० सीरीज से प्रकाशित है।

५. प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादन के अनुसार नारायणभट्ट का अभ्युदय-काल १५६० ई० और १६६६ ई० बतलाया जा रहा है, जब कि प्रो० पिशोरोटी दस वर्ष पूर्व उसे खींच रहे हैं अर्थात् ए० डी० १५५०-१६५६।

उत्तरार्ध में तथा १७वीं सदी के पूर्वार्ध में अप्पय्य दीक्षित के कनिष्ठ समकालीन के रूप में पल्लवित हुए।

लौगाक्षि भास्कर

(१६०० ई०)

आपदेव से ठीक पहिले अर्थसंग्रह[1] के रचयिता लौगाक्षि भास्कर रहे होंगे। विद्वानों के मध्य यह वाद-विवाद[2] का विषय है कि न्यायप्रकाश के लेखक पहले हुए या अर्थसंग्रह के ?

निष्पक्ष अध्ययन से कहा जा सकता है कि यद्यपि न्यायप्रकाश पहले लिखा नहीं गया, फिर भी उसमें पूर्वमीमांसा के अस्पष्ट प्रसंगों का स्पष्ट विवरण है। अर्थ-संग्रह ही न्यायप्रकाश का मूलाधार ग्रन्थ है; यह कथन भी अत्यधिक सन्देहजनक है। इसके विपरीत आपदेव ने जपने न्यायप्रकाश में पार्थसारथि मिश्र की 'न्यायरत्न-माला', 'तन्त्ररत्न' तथा 'शास्त्रदीपिका' में संगृहीत सिद्धान्तों का ही अनुकरण किया है। उसकी दूसरी रचना तर्ककौमुदी है, जो अर्थसंग्रह के ही समान न्यायपद्धति पर एक सुन्दर प्रारम्भिक ग्रन्थ है। परन्तु यह अन्नम्भट्ट के तर्कसंग्रह के प्रभाव के कारण अर्थसंग्रह के समान अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका।

१६वीं शताब्दी के अन्त तक शंकरभट्ट, आपदेव, खण्डदेवमिश्र, राजचूडा-मणि दीक्षित, वेंकटाध्वरिन्, सोमनाथ दीक्षित और यज्ञनारायण दीक्षित जैसे महान् लेखक हुए।

शंकर भट्ट

(१५५०-१६२९ ई०)

इन्हें निम्नलिखित चार ग्रन्थों के रचयिता माना जाता है—१. शास्त्रदीपिका

1. Several editions of this work have appeared in India; one of them, is that of Dr. G. Thibaut with his English Translation (Benares, 1882); another, with the Commentary Kaumudi by Rame-svara Sivayogin at Benares (about 1900) and at Bombay 1933; another with a commentary by D. T. Tatachari (a reprint from his Monthly Journal 'Udyanopatrika' (1922); another with the Kaumudi and English Translation of the Text by D. V. Gokhale, B. A., Poona (1932).

२. दे० —ई० १९२५ में वाराणसी से प्रकाशित म० म० श्रीचिन्नस्वामि शास्त्री के सारविवेचनी सहित न्यायप्रकाश की संस्कृत-भूमिका तथा प्रो० एफ० एजर्टन् सम्पादित इंगलिश भाषान्तर सहित अर्थसंग्रह की भूमिका पृ० २०।

पर प्रकाश टीका,[१] २. मीमांसाबालप्रकाश,[२] जो मीमांसा के १२ अध्यायों का एक सारभूत प्रकरण-ग्रन्थ है, ३. मीमांसासारसंग्रह,[3] ४. विधिरसायनदूषण,[४] जो विधिरसायन में अप्पय्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन है।

इनको अप्पय्य दीक्षित तथा खण्डदेव के मध्य में रखा जा सकता है। इनको प्रयोगरत्न के लेखक नारायण भट्ट[५] का पुत्र माना जाता है। बनारस के गोविन्द भट्ट[६] के पुत्र रामेश्वर भट्ट तथा इनके पुत्र नारायण भट्ट थे। शंकर भट्ट के भाई रामकृष्ण भट्ट भी कुमारिल के तन्त्रवार्तिक की टीकाकार के रूप में परिचित हैं।

आपदेव
(१५८०-१६५० ई०)

आपदेव के वंश के विषय में उनके पुत्र अनन्तदेव के विवरणों से ज्ञात हो जाता है। अपने स्मृतिकौस्तुभ[७] के परिचयात्मक पद्यों में अनन्तदेव ने अपने को कृष्णभक्त तथा अनेक ग्रन्थों के कर्ता और सन्त एकनाथ का वंशज बतलाया है।

म० म० पी० वी० काणे के अनुसार अनन्तदेव द्वितीय को वेगबहादुर चन्द्र (ई० १६४५-१६७५) के द्वारा संरक्षण मिला था[८]। अतः न्यायप्रकाश के लेखक तथा अनन्तदेव के पिता आपदेव का काल १५८०-१६५० ई० तक यथाकथंचित् निश्चित किया जा सकता है। उनके मीमांसान्यायप्रकाश[९] मे द्वादशलक्षणी के

१. This work is preserved in the Madras Mss. Libraries.

२. This work was published by the Chaukhamba Book Depot, Benares (1902).

३. This was also published at Benares (1904).

४. मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित।

५. 'इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणमीमांसास्वाराज्यधुरन्धर-श्रीभट्टनारायणात्मजभट्टशङ्करकृतं विधिरसायनदूषणं समाप्तम्' (विधिरसायनदूषण), तथा म० म० पी० वी० काणे —हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ३००-३५० और ४३८।

६. म० म० पी० वी० काणे के हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र में पृ० ४३२ पर कमलाकर भट्ट को देखिए।

७. स्मृतिकौस्तुभ—श्लोक १३-१८।

८. द्रष्टव्य—म० म० पी० वी० काणे कृत धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४५०-४५३

९. The earliest edition of this work (along with the Arthasangraha) was in Telugu script (Mysore), It was afterwards published by the N. S. Press, Bombay (1911), another with a commentary by Pandit M. M. A. Chinnaswamî Sastri at Benares. Later on, it was edited in Roman script with English translation by Professor F. Edgerton.

विषयों (विशेषकर १, ३, ५, अध्याय) का विस्तृत वर्णन है। मीमांसा के उत्तर भाग में आये हुए अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र, प्रसंग आदि जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर अन्य ग्रन्थ ऐसे स्पष्ट नहीं है। ग्रन्थ की शैली सरल तथा स्पष्ट है। कई स्थलों पर विवादास्पद भी है, किन्तु अपने दृष्टिकोण को युक्तिपुरस्सर सामने रख दिया है। जैसे—'सोमेन यजेत' इस विधि पर आख्यात प्रत्यय का अर्थरूप अर्थ-भावना की विशद व्याख्या, अंगत्व पर प्रकरण-प्रमाण का स्पष्टीकरण, लिङर्थ-रूप प्रवर्तना तथा नामधेय के चार निमित्तों की स्पष्ट व्याख्या आदि विषयों की लेखक ने अनुकरणीय रूप में विस्तृत विवेचना की है। उनकी अन्य रचना में अद्वैत-दर्शन के प्रकरण-ग्रन्थ वेदान्तसार पर एक व्याख्या है।

खण्डदेव

(१५७५-१६६५ ई०)

खण्डदेव केरल के नारायण भट्ट के समान ही अप्पय्य दीक्षित के समकालीन थे, जिनका उल्लेख उन्होंने मीमांसाकौस्तुभ में 'मीमांसक-मूर्धन्य' के रूप में किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि वे अप्पय्यदीक्षित से अवश्य मिले होंगे।

खण्डदेव रुद्रदेव[1] के पुत्र थे। जगन्नाथ पण्डित के रसगंगाधर से पता चलता है कि वे उनके पिता पेरूभट्ट के गुरु थे। जिसके कारण[2] खण्डदेव का समय सरलता से जगन्नाथ से कुछ पहिले रखा जा सकता है। म० म० पी० वी० काणे का कहना है[3] कि खण्डदेव की मृत्यु १६६५ में हुई थी।

उन्होंने मीमांसा पर भाट्टकौस्तुम, भाट्टदीपिका तथा भाट्टरहस्य नामक तीन पुस्तकें लिखी हैं। ये वास्तव में युगप्रवर्तक हैं और इन्हीं के कारण भट्ट-दल में एक नवीन मत का प्रारम्भ हो सका। वे भाषा तथा शैली में भी नवीन हैं। हाँ; नव्य-न्याय की शब्दावली न जानने वालों को अवश्य कुछ कठिनाई होती है[4]।

अपनी रचना में उन्होंने पार्थसारथि मिश्र, भवदेव भट्ट, सोमेश्वर भट्ट आदि के प्राचीन विचारों की आलोचना करते हुए अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। अपने अधिकरणों में पूर्वपक्षों तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रायः उन्होंने वार्तिककार का अवलम्बन लिया है। परन्तु किन्हीं स्थानों पर वह उनसे तथा उनके अनुयायियों से भिन्न हैं। अपने भाट्टकौस्तुभ[5] में वह अधिकरणों के स्वरूप तथा सूत्रों की

१. कौस्तुभ—श्लोक ३ तथा अन्त्योल्लेख भी।

२. Vide V. A. Ramaswami Sastri's paper on 'Jagannatha Pandita' Annamalai University. Journal, Vol. II, pp. 201-208.

३. द्रष्टव्य—पूर्वमीमांसा सिस्टम, पृ० १९।

४. द्रष्टव्य—म० म० एस० के० शास्त्रीगल की 'ए प्राइमर आफ इण्डियन लाजिक' भूमिका, पृ० ४७।

५. ई० १९०२, १९०४ और १९११ तक काँजीवरम् से तीन पाद प्रकाशित हुए और अवशिष्ट बनारस से ई० १९२४ में मुदित हुआ था।

विवेचना के साथ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की व्याख्या भी पूर्ण रूप से करते हैं। उनकी शैली नव्य-नैयायिक के समान तार्किक है। सूत्र तथा अधिकरण की व्याख्या में भाषा नैयायिकों के ढंग की होने से नव्यन्याय का ज्ञाता मीमांसा का विद्यार्थी उनके विचारों को अच्छी तरह जान लेता है। विषय का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तृत ढंग से किया गया है।

अपने शिष्य शंभुभट्ट के अनुसार उन्होंने तर्कपाद पर टीका नहीं की है,[1] किन्तु अभी भाट्टदीपिका के सम्पादक इसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

भाट्टदीपिका[2] उनकी अपनी महत्त्वपूर्ण रचना है, जो विद्यार्थियों के लिए एक नवीन दृष्टिकोण देती है। शास्त्रदीपिका के समान इसमें भी अधिकरणों का विस्तृत विवरण है।

यद्यपि शैली कुछ जटिल अवश्य है। विद्वान् विद्यार्थियों की दृष्टि से यह न्यायमालाविस्तर तथा शास्त्रदीपिका से उच्च स्तर का ग्रन्थ है। मौलिकता में खण्डदेव मिश्र के अपूर्व, नियम तथा परिसंख्या विधि का अत्यन्त महत्त्व है तथा अप्पय्य दीक्षित के विधिरसायन तथा वार्तिक में संगृहीत परिभाषाओं का खण्डन किया है। उनका भाट्टरहस्य[3] पूर्णतया शाब्दबोधपद्धति में एकाकी ग्रन्थ है, इसलिए यह व्युत्पत्तिवाद, कौण्डदेव के भूषणसार, नागेशभट्ट की मञ्जूषा के समान स्तर पर है। यद्यपि इनमें विषय एक है, परन्तु रचनाक्रम तथा शैली भिन्न-भिन्न है। भाट्टरहस्य धर्म एवं अधर्म की परिभाषा से प्रारम्भ होकर विधिप्रत्यय पर विचार करता है।

यद्यपि व्युत्पत्तिवाद भारत में प्राचीन काल से प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु १६वीं शताब्दी में मीमांसा, न्याय तथा व्याकरण का एक अंग बन गया था।

अन्त समय में संन्यास लेने पर इनका नाम श्रीधरेन्द्र यतीन्द्र हुआ। १६५७ ई० में देवर्षि ब्राह्मणों के विषय में जो व्यवस्थापत्र दिया गया था उस पर इनके हस्ताक्षर है।

राजचूडामणि दीक्षित
(१५८०–१६५० ई०)

इनके वंश तथा साहित्यिक कार्यों के विषय में बालज्ञानेश्वर की रचना रुक्मिणी-

---

१. शम्भुभट्ट की प्रभावली—१।१।१, ७ तथा म० म० रामानुज शास्त्रीगल के भाट्टकल्पतरु में 'ए ग्लास ऑन दी भाट्टदीपिका' को देखिये।

२. सर्वप्रथम इसका मुद्रण तर्कपादरहित एशियायटिक सोसायटी बंगाल से हुआ। दूसरी बार मैसूर गवर्न० ओ० लाय० सीरी० से चार भागों में हुआ, तीसरी बार प्रभावली व्याख्या के साथ मुंबई से हुआ। चौथी बार वांछेश्वरयज्वा के भाट्टचिन्तामणि के सहित संस्करण मद्रास से प्रकाशित हुआ।

३. यह काँजीवरम् से दो बार प्रकाशित किया गया।

कल्याण[1] से ज्ञात होता है कि दीक्षित के दूर के पूर्वज भवस्वामी थे। जिनका पुत्र पुत्र श्रीकृष्ण तथा पौत्र कुमार भवस्वामी था। ये लक्ष्मी के पति तथा प्रसिद्ध रत्नखेट श्रीनिवास के पिता थे। रत्नखेट श्रीनिवास की दो पत्नियाँ थीं। प्रथम पत्नी से दो पुत्र—(१) केशवदीक्षित और (२) अर्धनारीश्वर दीक्षित, तथा दूसरी पत्नी से (१) यज्ञनारायण थे, जो राजचूडामणि नाम से भी जाने जाते हैं। इनके माता-पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया था। राजचूडामणि का लालन-पालन अर्धनारीश्वर नामक भाई ने ही किया, और अपनी कुलपरम्परा के अनुरूप उन्हें शिक्षा दी। शीघ्र ही उनकी प्रतिभा चमक उठी। और छह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने 'कमलिनी कलहंस' नाटिका की प्रस्तावना लिखी। अपने काव्यदर्पण में उन्होंने २७ ग्रन्थों का उल्लेख किया है और वे भी नीलकण्ठ दीक्षित के समान ही अपने युग के एक महान् साहित्यिक प्रतिनिधि थे तथा वेंकटेश्वर दीक्षित के शिष्य थे, जिनकी उन्होंने अत्यधिक प्रशंसा की है।

मीमांसा पर उनके तीन ग्रन्थ हैं—तंत्रशिखामणि[2], संकर्षमुक्तावलि, कर्पूरवर्तिका। 'तन्त्रशिखामणि' द्वादशलक्षणी पर एक टीका है, जो कि वेंकटेश्वरदीक्षित के समय में लिखी गई थी, जिसका रचनाकाल लगभग १६३६ ई० हैं।

उनकी 'संकर्षमुक्तावली' (न्यायमुक्तावली) जो संकर्षकाण्ड पर द्वादशलक्षणी की पूरक टीका मात्र है।

तीसरी रचना 'कर्पूरवर्तिका' शास्त्रदीपिका पर एक व्याख्या है।

वेंकटाध्वरिन्

(१५९०–१६६० ई०)

यह नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीन अक्कान दीक्षित के पौत्र, अप्पय दीक्षित के भाई तथा राजचूड़ामणि दीक्षित के समकालीन थे। विश्वगुणादर्शचम्पू की भूमिका[3] में वह अपने को ताताचार्य के परिवार का बतलाते हैं। जो परिवार विजयनगर के राजा वेंकटपति के प्रसिद्ध आचार्यों का था, और यह परिवार दीक्षितेन्द्र अप्पय्य दीक्षित का घोर विरोधी था। वे मीमांसा, तर्क, वेदान्त और व्याकरण में पारंगत थे तथा काँजीवरम् के अरशाणीपाले[4] नामक ग्राम के निवासी थे। उनके दो

---

१. द्रष्टव्य—डा० टी० आर० चिन्तामणि के द्वारा लिखित रुक्मिणीकल्याण की भूमिका पृ० २३–३६ (अडियार संस्करण)

२. तन्त्रशिखामणि और कर्पूरवर्तिका, मद्रास मेन्युस्क्रिप्ट लायब्रेरी में सुरक्षित है, किन्तु संकर्षमुक्तावलि उस संग्रह में उपलब्ध नहीं है।

३. 'काञ्चीमण्डल''''भागिनेयं विदुः।
अस्तोकाध्वर''''पूर्णोगुणैरेधते'॥

४. द्रष्टव्य—विश्वगुणादर्श की सं० भूमिका, पृ० ६, नि० सा० संस्करण १९१५।

ग्रन्थ—विधित्रयपरित्राण तथा मीमांसामकरन्द हैं[1]। प्रथम में अपूर्व, नियम तथा परिसंख्या विधि की आवश्यकता बतलाई गई है। द्वितीय में धर्म में अर्थवाद की उपयोगिता के विषय में कहा गया है। उनका विश्वगुणादर्शचम्पू वास्तव में प्रशंसनीय है और महत्त्व में रामायणचम्पू से द्वितीय स्थान पर है।

राघवेन्द्रयति

(१६००–१६७० ई०)

राघवेन्द्रतीर्थ विजयेन्द्रतीर्थ[2] (द्वितीय आध्यात्मिक उत्तराधिकारी) के रूप में जाने जाते हैं। इनका वास्तविक नाम वेङ्कणभट्ट था। इनके प्रपितामह कृष्णम्भट्ट ने विजयनगर राज्य के लिए अपने निवास-स्थान कुंभकोणम् को त्याग दिया था। विजयनगर राज्य के वे प्रसिद्धतम वैयाकरण थे। विजयनगर राज्य का पतन होने पर वे काञ्ची चले गये। राघवेन्द्रयति, जिन्हें वेणी या वेंकणभट्ट कहा जाता था, उन्होंने पाँच मील दूर चिदम्बरम् में भुवनगिरिस्थान में जाकर विवाह किया। तुंगभद्रा नदी के किनारे बेवरी जिले में मंत्रालय में आज भी उनकी अस्थियाँ समाधिगत हैं। वेदों पर लिखित टीका के सहित इनकी पचास रचनाएँ हैं। इनकी प्रमुख रचना 'जयतीर्थ' की न्यायसुधा की टीका 'परिमल' है। 'भाट्ट-संग्रह' मीमांसा सम्बन्धी इनका एकमात्र ग्रन्थ है, जो पूर्वमीमांसा सूत्रों की टीका है[3] और 'नीलकण्ठ दीक्षित' द्वारा जिसकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है।

इनके पिता 'तिम्मनभट्ट, माँ गोपम्पा, पितामह कनकाचल भट्ट, प्रपितामह कृष्णम्भट्ट थे। इनके गुरु सुधीन्द्रगुरुपाद थे।

रामकृष्ण दीक्षित

(१६००–१६७०)

मीमांसान्यायदर्पण[4] नामक उनकी रचना है। वह प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्तपरिभाषा तथा तर्कचूडामणि[5] के प्रसिद्ध रचयिता धर्मराजाध्वरीन्द्र के पुत्र हैं। वह कुम्भकोणम् के समीपस्थ वेलनगुड़ी ग्राम के निवासी थे। आधुनिक युग में रामकृष्ण दीक्षित पिता के द्वारा रचित परिभाषा के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध है[6]।

---

१. दोनों ग्रन्थ मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

२. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १२, पृ० ३४४-३४७।

३. इस ग्रन्थ के अन्त्योल्लेख में—'इति भाट्टसङ्ग्रहे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-सुधीन्द्रगुरु-पादशिष्यराघवेन्द्रयतिकृते द्वाद्शाध्यायस्य चतुर्थः पादः'। यह ग्रन्थ म० हस्त० संग्रह में सुरक्षित है।

४. यह ग्रन्थ म० ह० सं० सु० है!

५. द्रष्टव्य—वेदान्तपरिभाषा के परिचयात्मक पद्यों को।

६. द्रष्टव्य—म० म० एन० एस० अनन्तकृष्णशास्त्रीगल की द्रष्टव्य—परि० की सं० भूमिका पृ० ६४ तथा सर राधाकृष्णन् का 'इंग्लिश फारवर्ड' कलकत्ता १९२७।

सोमनाथ दीक्षित

(१६०० ई०)

सोमनाथ दीक्षित इस युग के एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं। वह तर्कपाद को छोड़कर शास्त्रदीपिका के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। खंडदेव की भाट्टदीपिका के टीकाकार शम्भुभट्ट ने इनका उल्लेख अपनी प्रभावलि में सर्वप्रथम किया है[१]। भूमिका के परिचयात्मक पद्य और पुष्पिका के उल्लेख[२] से ज्ञात होता है कि वे त्रिप्रवरीय निट्टलगोत्र के सुरेश्वरयज्वशर्मन् के प्रपौत्र और सूरभट्टशर्मन् के पौत्र और सूरभट्टमहोपाध्याय के पुत्र थे। उनकी माता का नाम 'मैयरम्मदा' था। उनके बड़े बाई 'वेंकटाध्वरिन्' ही उनके गुरु थे। इनका परिवार वैदिक यज्ञों के कराने में विख्यात कर्मकाण्डी था। पुष्पिका से प्रमाणित होता है कि ये स्वयं भी सर्वतोमुखयाजी के रूप में प्रसिद्ध थे। उनकी 'मयूखमालिका' शास्त्रदीपिका पर उच्चकोटि की टीका है[३]। वे अपनी रचना में शबरस्वामिन्, वार्तिककार एवं निबन्धन, भवदेव, भवनाथ, वरदराज, काशिका, तन्त्ररत्न न्यायरत्नमाला आदि उच्चस्तरीय ग्रन्थ और अप्पयदीक्षित आदि जैसे ग्रन्थकारों का उल्लेख करते हैं[४]।

यज्ञनारायण दीक्षित

(१६०० ई०)

अपनी रचना के प्रारम्भ में तथा पुष्पिका में इन्होंने स्वयं को तिरुमलयज्वन् का प्रपौत्र, यज्ञेश्वर भट्टोपाध्याय का पौत्र एवं शिष्य तथा कुरिकोण्ड भट्टोपाध्याय और गंगाम्बिका का पुत्र कहा है। यह शास्त्रदीपिका के बहुत बड़े व्याख्याता हैं। अपनी व्याख्या के अन्त्योल्लेख तथा प्रारम्भिक पद्यों के द्वारा अपना परिचय भी

---

१. प्रभावली पृ० ६६, ८८, ९२, ९५, ९७, १०८ (नि० सा० सं०) मुंबई।

२. 'अधिगत्य कलामखिलामग्रभवाद् वेङ्कटाद्रियज्वगुरोः।
वचनैरनतिप्रचुरैर्व्याकुर्वे शास्त्रदीपिकां विशदाम्' ॥ (श्लो० २)

'इति श्रीनिट्टलकुलतिलकसूरभट्टमहोपाध्यायतनूभवस्य वेङ्कटाद्रियज्वगुरुचरणानुजस्य सोमनाथसर्वतोमुखयाजिनः कृतौ शास्त्रदीपिकाव्याख्यायां मयूखमालिकायां द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः' ॥ (अन्त्योलेख पृ० ८८४ नि० सा० प्रे० सं०, मुंबई)

३. शास्त्रदीपिका के सहित 'मयूखमालिका' व्याख्या निर्णयसागर प्रे० मुंबई से ई० १९१५ में प्रकाशित हुई थी।

४. द्रष्टव्य—वार्तिककार का उल्लेख निबन्धकार के रूप में पृ० १२ पर, भवदेव का पृ० ३३, ५२, १२७ पर, भवनाथ का पृ० ११, १८३ पर, न्यायसुधाकार का पृ० ८६, १०६, १३१, २७४ पर, वरदराज का पृ० ७५, ९६, १८३ पर, विधिरसायनकार अप्यय्य दीक्षित का पृ० २७८ पर, काशिका टीका पृ० ५० पर, तन्त्ररत्न का पृ० १०५ पर और न्यायरत्नमाला का पृ० ११० पर मिलता है।

अच्छी तरह दिया है[1]। इनके चाचा लक्ष्मण थे, जिन्हें ये अपना गुरु कहते थे। इन्हें 'तिरुमल' नाम का एक बड़ा भाई था। यह काश्यपगोत्र का था और इसने ऋग्वेद का अध्ययन किया था। शास्त्रदीपिका पर इसने उत्तम व्याख्या लिखी है, जिसका नाम 'प्रभामण्डल' है। यह व्याख्या प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद से प्रारम्भ होती है। यह अपने को बहुत बड़ा नाटककार एवं अलंकार, वेदान्त, तर्क तथा व्याकरण का निबन्धकार भी समझता है। प्राभाकर-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को, जिनका खण्डन पार्थसारथि ने शास्त्रदीपिका में किया है, यथार्थ रूप में समझाने वाली विस्तृत एवं अत्यन्त उपयोगी इसकी व्याख्या है[2]।

नारायण

(१६०० ई०)

कलिकट के राजा मानदेव के उदार संरक्षण में नारायण ने मानमेयोदय का मेय-भाग लिखा। ग्रन्थ के प्रारंभिक तथा अन्तिम पुष्पिका से इनके गुरु सुब्रह्मण्य, जो प्रसिद्ध पुरुषोत्तम के दौहित्र थे एवं मीमांसा के गुरु 'राम' तथा साहित्य के गुरु कृष्ण थे; नारायण की रचना[3] से इन गुरुओं का ज्ञान होता है, जिनसे क्रमशः मीमांसा तथा साहित्य का अध्ययन किया था।

कमलाकर भट्ट

(१५९०–१६६० ई०)

कमलाकर भट्ट[4] 'रामकृष्ण भट्ट' के पुत्र तथा 'शंकर भट्ट' के भ्राता थे। उन्होंने

---

१. 'वन्देऽस्मत्प्रपितामहं तिरुमलश्रीयज्वराजं ततो
यज्ञेशं च पितामहं स्वपितरं श्रीकोण्डभट्टारकम्।
तच्छिष्यानुजनिं पितृव्यतिलकं श्रीलक्ष्मणार्यं गुरुं
ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणान्वितं तिरुमलाख्यानं वरं यज्वनाम्॥
कदलिकपोतमहेशप्रीतिपरिप्राप्तभारतिश्रीकौ।
आचारकौरिकुलेन्दूनपि नौमि पुरुषधौरेयान्॥
नुत्येह गौतमाम्बातनयोऽलङ्कारनाटकादिकरः।
वेदान्ततर्कशब्दग्रन्थकृदाभाति जगति यज्ञेशः॥
प्रभिन्नतमसं शास्त्रदीपिकार्थप्रकाशकम्।
प्रभामण्डलनामानं प्रबन्धं सोऽहमारभे'॥

अन्त्योल्लेख में—'इति श्रीसकलपण्डितमण्डलाखण्डल····प्रभामण्डलाख्याने प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः'।

२. म० ह० सं० में सुरक्षित है।

३. द्रष्टव्य—मानमेयोदय का प्रमेय भाग (टी० पी० एच०), पृ० १४६-१४७, ३०६-३०९।

४. द्रष्टव्य—म० म० पी० वी० काणे की 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र' पृ० ४३२ और ४३७ तथा उन्हीं का पी० एम० सिस्टम, पृ० १९।

मीमांसा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है—(१) तन्त्रवार्तिक की टीका तथा (२) शास्त्रदीपिका पर आलोक नामक टीका रची[१]। एवं भट्टपाद के वार्तिक पर भावनाविनोद नामक व्याख्या रची। तथा भाट्टमीमांसाकुतूहल और मीमांसाशास्त्र माला की रचना की। धर्मशास्त्र से सम्बन्धित भिन्न विषयों पर २१ अन्य ग्रन्थों की भी उन्होंने रचना की। धर्मशास्त्र में उनकी प्रसिद्ध रचना निर्णयसिन्धु (निबन्ध ग्रन्थ) वि० सं० १६६८ को समाप्त हुई थी। साहित्य में काव्यप्रकाश पर व्याख्या और वेदान्त में वेदान्तरत्न की रचना की। फलतः इनका साहित्यिक जीवन १६३० से १६४० ई० तक निर्धारित किया जा सकता है।

दिनकर भट्ट

(१५९०–१६६० ई०)

कमलाकर भट्ट के भ्राता दिनकर भट्ट एक महामीमांसक थे। उनका कार्य शास्त्रदीपिका के आधार पर मीमांसा-सूत्र के १२ अध्यायों की संक्षिप्त व्याख्या है।[२]

अनन्तदेव तथा जीवदेव

(१६००–१६७० ई०)

१७वीं सदी के आरम्भ में आपदेव के दो पुत्र हुए। अनन्तदेव ने अपने पिता के द्वारा रचित ग्रन्थ न्यायप्रकाश पर भाट्टालङ्कार[३] नामक टीका रची। यह टीका अच्छी होती हुई भी उनके कार्यों में सर्वश्रेष्ठ नहीं कही जासकती है।[४] उनका स्मृतिकौस्तुभ वास्तव में उनको उच्च स्थान दिलाता है। आपदेव के कनिष्ठ पुत्र जीवदेव ने भट्टभास्कर की रचना की, जिसका उल्लेख शम्भु भट्ट ने किया[५] है। यह प्रथम अध्याय के विषय—धर्म के प्रमाणों का उल्लेख करती है। धर्मशास्त्र से सम्बन्धित उनकी अन्य दो रचनाएँ—गोत्रप्रवरनिर्णय और अशौचनिर्णय भी हैं।

कवीन्द्राचार्य

(१६००–१६७० ई०)

कवीन्द्राचार्य का काल ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि से ई० १७०० शती के आरंभ में निर्धारित किया गया है। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक पर इन्होंने व्याख्या लिखी है। कवीन्द्राचार्य न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के लेखक विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य के समकालीन थे। भट्टाचार्य के अन्य ग्रन्थ भी न्यायशास्त्र में हैं।

---

१. दोनों ग्रन्थ मद्रासगवर्न० हस्त० संग्र० में सुरक्षित है।

२. यह मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

३. बनारस से मूल के साथ मुद्रित हो चुकी है।

४. द्रष्टव्य—प्रभावलि, (नि० सा० सं०) पृ० ३, ६, १५, १९, २१, ३२, ८० और २८२ पर। शंभुभट्ट ने प्रभावलि में उपरिनिर्दिष्ट पृष्ठों पर खूब कसकर आलोचना की है।

५. द्रष्टव्य—प्रभावलि पृ० १४, १८ पर।

कवीन्द्राचार्य ने वेदों पर भी व्याख्याएँ रची हैं। अपने समय में महान् विद्वानों में इनकी गणना थी। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इसके अतिरिक्त प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थों का संग्रह भी इनके पास सुरक्षित था, जो गायकवाड ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

अनन्त भट्ट

(१६३०–१७३० ई०)

कमलाकर भट्ट के पुत्र अनन्त भट्ट ने 'शास्त्रमालावृत्ति'[1] की रचना की, जो शास्त्रदीपिका के आर्दश पर सूत्रों की टीका है। यह बहुत संक्षिप्त तथा अधिकरणों का सारांश मात्र है। शास्त्रमाला पर वृत्ति की रचना करनेवाले अनन्तभट्ट ने ग्रन्थ के आरंभ में अपने पिता कमलाकरभट्ट को प्रणाम किया है। इनकी पाँच पीढ़ियों तक मीमांसा की अध्ययन-अध्यापन परम्परा अविच्छिन्नरूप से चलती रही। वाराणसी में भट्टकुल और देवकुल दो ही कुल ऐसे हैं, जिनमें अनेक पीढ़ियों तक मीमांसा-धर्मशास्त्र का अध्ययन एवं अध्यापन अबाधित गति से चलता रहा।

अपने पिता कमलाकरभट्ट की 'शास्त्रमाला' सूत्र रूप होने से जिज्ञासुओं को उसके अध्ययन में कठिनाई का अनुभव न हो, यह विचारकर उनके पुत्र अनन्तभट्ट ने उस सारगर्भित रचना पर वृत्ति (व्याख्या) लिखी। जहाँ-तहाँ 'इत्यत आह'— कहकर शास्त्रमाला के पद्यों की व्याख्या की है। जहाँ-तहाँ पूर्वपक्षों को तदनुकूल युक्तियों के साथ उपस्थित किया है, तदनन्तर सिद्धान्तों को स्थापित किया है। सिद्धान्त-स्थापना के समय पूर्वपक्षीय हेतुओं का खण्डन किया गया है। पूर्वपक्षों के उपस्थापन में भी मीमांसा के न्यायों के संचार एवं सिद्धान्तों के स्थापन में भी मीमांसा के न्यायों का संचार करने का कौशल प्रदर्शित किया है।

गागाभट्ट

(१६३०–१७०० ई०)

गागाभट्ट को 'विश्वेश्वर भट्ट' के नाम से भी जाना जाता है। ये दिनकर भट्ट के पुत्र हैं। इन्होंने द्वादशाध्याय की पूर्वमीमांसा पर 'भाट्टचिन्तामणि'[2] नामक व्याख्या लिखी है। उनकी शैली सारगर्भित है। इन्होंने श्लोकवार्तिक पर 'शिवार्कोदय' तथा 'कुसुमाञ्जलि' नामक व्याख्या लिखी है। इन्होंने कुसुमाञ्जलि का उल्लेख भाट्टचिन्तामणि में किया है।[3] यह कुसुमाञ्जलि व्याख्या मीमांसासूत्रों पर 'वृत्ति' के रूप में हैं। इन्होंने अपनी व्याख्या की भाषा न्यायपरिष्कृत रखी है। न्याय के पारिभाषिक शब्दों का प्रचुर उपयोग किया है। इनका सर्वतोमुखी अध्ययन होने के कारण इनकी व्याख्याएँ उत्कृष्ट हैं और विद्वत्समाज के द्वारा प्रशंसित है। यह प्रसिद्ध है कि छत्रपति

---

१. यह मद्रास गवर्न० हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित है।

२. इसका तर्कपादमात्र बनारस से प्रकाशित हुआ है। अवशिष्ट भाग मद्रास और तंजौर के हस्तलिखित संग्र० में सुरक्षित है।

३. द्रष्टव्य—भाट्टचिन्तामणि पृ० ६७ (बनारस सं० १९३४)।

शिवाजी के राज्याभिषेक (राजतिलक) १६७४ ई० के समय ये प्रमुख कार्यकर्ता थे,[1] जिससे स्पष्ट हो रहा है कि इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी था।

कोल्लूर नारायण शास्त्री

(१६३०–१७०० ई०)

ये 'शास्त्रदीपिका' के प्रसिद्ध व्याख्याकार 'सोमनाथ दीक्षित' के शिष्य थे।[2] इन्होंने तीन ग्रन्थ रचे हैं। इनके पिता का नाम कोल्लूर सोमयाजिन् और माता का नाम 'आक्कमाम्बा' था। इन्होंने तीन ग्रंथों की रचना की है।

१. 'मीमांसासर्वस्व'—अधिकरणों को विशद रूप से स्पष्ट करते हुए पूर्वमीमांसा-सूत्रों पर टीका है।

२. 'विधि-विवेक'—यह 'विधि' का निरूपण करनेवाला स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थ में नौ प्रमुख प्रकरण हैं—(१) शास्त्रारंभविचार, (२) काम्यनित्यविवेक, (३) श्रुतिविनियोगविधि, (४) लिंगादिविनियोगविधि, (५) प्रयुक्तिचिन्ता, (६) क्रमप्रमाणनिरूपण, (७) विद्याधिकारनिरूपण, (८) अतिदेशविचार, (९) अतिदेशबाधविचार।

३. विधिदर्पण—यह ग्रन्थ भी विधिविवेक के समान ही विधि और उसके विभिन्न प्रकारों का निरूपण करता है। अपने गुरु सोमनाथ दीक्षित के पश्चात् इन्हें भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान ई० १६३० से १७०० तक प्राप्त हुआ।

शम्भुभट्ट कविमण्डन

(१६४०–१७०० ई०)

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भाट्टदीपिका के माने हुए टीकाकार थे। यह खण्डदेवमिश्र के साक्षात् शिष्य थे।[3] इनके पिता बालकृष्ण वेद-शास्त्रों के अच्छे विद्वान् होने के साथ शिव के भक्त भी थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'प्रभावलि' है। भाट्ट-दीपिका की यह टीका[4] अत्यन्त विस्तृत है। इन्होंने अपने गुरु के द्वारा स्थापित मत को समृद्ध कर आगे बढ़ाया। इसमें दीपिका के प्रत्येक अध्याय का वर्णन है। शम्भुभट्ट प्रखर प्रतिभाशाली स्वतन्त्र विचारक थे। इन्हें जो ठीक लगता था वही लिखते थे। भाट्टदीपिका के कठिन स्थलों पर इन्होंने स्पष्टतया व्याख्या नहीं की है, तथापि भाट्टदीपिका के समझने में इनकी प्रभावली व्याख्या अवश्य सहायक है।

---

१. म० म० पी० वी० काणे का 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पृ० ४३७ तथा उन्हीं का 'पूर्वमीमांसा सिस्टम' पृ० १९।

२. मीमांसासर्वस्व के अन्त्योल्लेख में 'इति श्रीनिट्टलकुलतिलकसोमनाथदीक्षित-महोपाध्यायचरणपरिचयणसमुदितमनोनैर्मल्यविशदीकृतसकलशास्त्रतत्त्वस्य कोल्लूरि-सोमयाजितनूद्भवस्य नारायणशास्त्रिणः कृतिषु मीमांसासर्वस्व समाख्यायां द्वितीयस्य चतुर्थः पादः'। इनके तीनों ग्रंथ मद्रास हस्त० संग्र० में सुरक्षित हैं।

३. प्रभावलि के प्रारंभिक पद्य को देखिये।

४. प्रभावलि पृ० २९५ (नि० सा० सं०)।

शंभुभट्ट ने अपनी 'प्रभावली' पृ० २९५ पर स्वयं कहा है—"पूज्यपाद गुरुजी ने स्वयं आज्ञा की थी कि भाट्टदीपिका के 'बलाबलाधिकरण' से लेकर अन्त तक की व्याख्या मत करना, क्योंकि भाट्टकौस्तुभ की व्याख्या के आधार पर विद्यार्थीगण भाट्टदीपिका के बलाबलाधिकरण को स्पष्टतया समझ लेंगे"। तथापि अपने पूज्यपाद गुरुजी की आज्ञा के विरुद्ध शंभुभट्ट ने तर्कपाद के महत्त्वपूर्ण स्थलों पर भूमिका के रूप में उन्हें स्पष्ट कर ही दिया है।

यह भी ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी थे। इन्होंने तीन प्रकार का आत्मज्ञान माना है—१. शरीरव्यतिरिक्त कर्ता—'भोक्ता' के रूप में जो कर्मप्रवृत्ति में 'अंग' होता है। २. 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुति से काम्यमानफलप्राप्ति तथा संकल्पमात्राधीनसिद्धिरूपगुणविशिष्ट के रूप में जो वाक्यशेष समर्पित फल का साधन होता है। ३. 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि श्रुति से जो केवल निर्गुण आत्मविषयक होता है। यह 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुति के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मलोकरूप 'मोक्ष' का साधक होता है। किन्तु पार्थसारथि मिश्र नैयायिकों की तरह 'दुःखध्वंसात्मक मोक्ष' मानते हैं। और न्यायसुधाकार कहते हैं कि 'स्वाभाविकस्वप्रकाशानन्द' संसार दशा में दुःखसंवलित' रहने पर भी वायु-विक्षिप्त दीपक के तुल्य मुक्तिदशा में उस असत् के न रहने पर भी उसका अनुभव होना ही मोक्ष है। इसी तरह अध्ययनविधि पर १।२।१, विधिलक्षण के विचारप्रसंग में १।२।४, अश्वप्रतिग्रहेष्टयधिकरण में ३।४।१५, प्रासनवन्मैत्रावरुणायाधिकरण ४।२।६, विश्वजिदधिकरण ४।३।५, स्त्रियासहाधिकाराधिकरण ६।१।६, रथकाराधिकरण ६।१।११, स्वामिनः फलसमवायाधिकरण ६।३।७, अभ्युदितेष्टयधिकरण ६।५।१, देवताधिकरण ९।१।४, तदुत्पत्तेस्तु निवृत्त्यधिकरण ९।२।१२, सन्ततवचनात् धारा-यामादिसंयोगाधिकरण १२।३।११ आदि निर्दिष्ट स्थलों पर शम्भुभट्ट के स्वतन्त्र विचार देखने योग्य हैं। इन्होंने भाट्ट-सम्प्रदाय के प्राचीन विद्वानों; यथा—पार्थ-सारथि, भट्ट सोमेश्वर, खण्डनकार,[१] अप्पयदीक्षित, आपदेव और उनके पुत्र अनन्त-देव, शंकर भट्ट तथा सोमनाथ दीक्षित का खूब खण्डन किया है। इसी कारण आगे चलकर खण्डदेव के मत को नव्यमत कहा जाने लगा। तथा प्रभाकर के विचारों का भी यथेष्ट खण्डन किया है।

अप्पय दीक्षित

(१६५० ई०)

पूर्वमीमांसासूत्र की टीका 'तंत्रसिद्धान्तदीपिका'[२] के लेखक हैं। सम्भवतः इन्हीं के द्वारा 'विषयसंग्रहदीपिका[३] रची गई हो, जिसमें १२ अध्यायों की 'तर्कपाद' के

---

१. प्रभावलि पृ० ४१ पर उल्लिखित खण्डनकार कौन है? इसका पता अभी नहीं चल पाया है।

२-३. दोनों ग्रंथ मद्रास हस्त० सं० में सुरक्षित है।

अतिरिक्त संक्षिप्त विवेचना की गई है। 'तंत्रसिद्धान्तदीपिका' पूर्वमीमांसासूत्रों की सुन्दर व्याख्या है। 'रुक्मिणी-परिणय' तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता अप्पय दीक्षित के ये पुत्र हैं तथा 'अय्या दीक्षित' के पौत्र हैं, जो कि प्रसिद्ध 'अप्पय दीक्षित' के भाई थे। अतः इनका १७ शतक का मध्यकाल स्थिर किया जा सकता है।

अन्नम्भट्ट

(१७०० ई०)

यह तैलंग जाति के ब्राह्मण थे। राघवसोमयाजी वंश के 'तिरुमलार्य' इनके पिता थे[1]। ये बहुत बड़े नैयायिक थे। आन्ध्र जिले के गरिकपाद (तैलंगण) ग्राम में इनका जन्म हुआ। कौण्डिन्यपुर (कोंडवीडु) की संस्कृत पाठशाला में १२ वर्षों तक सम्पूर्ण न्यायशास्त्र का इन्होंने अध्ययन किया। ये चतुरस्र बहुश्रुत विद्वान् हुए।

तीव्र मेधावी एवं महान् प्रतिष्ठित अन्नम्भट्ट ने अनेक ग्रंथों की रचना की। वैशेषिक शास्त्र पर तर्कसंग्रह नाम का एक ग्रन्थ लिखा और उस पर स्वयं ही दीपिका नाम की एक टीका भी लिखी। इन दोनों ग्रन्थों को मिलाकर अन्नम्भट्टीय कहते हैं। यह ग्रन्थ न्याय-वैशेषिकशास्त्र में प्रवेश प्राप्त करने में अतीव उपकारक है। अतएव इस ग्रन्थ ने अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की, इसी कारण यह ग्रंथ 'विश्वप्रसिद्ध' है। उदयन के न्यायपरिशिष्ट पर 'न्यायपरिशिष्टप्रकाश' नाम की टीका भी इन्होंने लिखी, ऐसा कहते हैं। यह दक्षिण अर्काट (चित्तूर) के निवासी थे। १७वीं सदी के प्रारम्भ में यह वाराणसी में रहने गये। इन्होंने अपनी दीपिका में काञ्ची के पल्लव राजा त्रिभुवनतिलक का उल्लेख किया है। बेवर के केटलाग से पता चलता है कि तर्कसंग्रह के एक हस्तलिखित पर सन् १७२४ (संवत् १७८१) लिखा हुआ है। (No. 683 p. 203) प्रो० J. R. Ballantyne महोदय ने तर्कसंग्रह का अंग्रेजी में भाषान्तर किया है। कुछ लोगों का कहना है कि अन्नम्भट्ट ने तत्त्वचिन्तामणि पर भी टीका लिखी है। १७वीं सदी से पूर्व तो इनका होना सम्भव नहीं है (हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३८८)। अपनी ५५ वर्ष की अवस्था में केवल श्रीक्षेत्र मल्लिकार्जुन के दर्शनार्थ गये थे। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई प्रवास इन्होंने नहीं किया। किसी भी राजा के यहाँ द्रव्य की आशा से वह नहीं गये। सन्तोषी वृत्ति के होने से पिता के अर्जित धन पर ही सन्तोष करते रहे। शेष आयु स्नान-संध्या और विद्यार्थियों को पढ़ाने में व्यतीत की। इन्हें अनेक पुत्र थे, किन्तु वे सब इनके सामने ही दिवंगत हो गये, ऐसी चर्चा हैं। मीमांसा पर इन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे—१. सुबोधिनी, जो तंत्रवार्तिक पर व्याख्या है। २. राणकोज्जीविनी, जो राणक (न्यायसुधा) की व्याख्या है। ३. राणक-भावनाकारिकाविवरण, जिसमें ५४

---

१. इति श्रीमहोपाध्यायाऽद्वैतविद्याचार्य····राघवसोमयाजी-कुलावतंस-श्रीतिरुमलार्यवर्यस्य सूनोः अन्नम्भट्टस्य कृतौ तन्त्रवार्तिकटीकायां सुबोधिन्यां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अनुच्छेदों की व्याख्या है, जो विधिप्रत्यय का मीमांसक-सम्प्रदाय की दृष्टि से विवरण करती है। संभवतः इसमें सोमेश्वरभट्ट विरचित राणक (न्यायसुधा) का ही कुछ अंश ग्रहण किया गया है। इनके अन्य ग्रंथों में —(१) ब्रह्मसूत्र की अद्वैतपरक व्याख्या, (२) पाणिनि के अष्टाध्यायी पर व्याख्या, (३) कैयट के भाष्यप्रदीप पर उद्योतन नाम की विस्तृत व्याख्या है[1]। (४) जयदेव के 'मण्यालोक' पर 'सिद्धाञ्जन' नाम की वैदुष्यपूर्ण व्याख्या है। इन सभी ग्रन्थों से अन्नंभट्ट की विद्वत्ता स्पष्ट हो जाती है।

रामकृष्ण भट्ट

(१७०० ई०)

शास्त्रदीपिका पर आपकी रची युक्तिस्नेहप्रपूरणी नाम की व्याख्या उपलब्ध है, जिसके प्रारम्भिक परिचायक श्लोकों से उनकी वंशावलि का पता चलता है। मालवा में नर्मदा (रेवा) नदी के उत्तरी किनारे पर पराशर गोत्र के ब्राह्मणवंश में—

१. शिवदास (जो वेद-शास्त्रों के बहुत बड़े विद्वान् थे)।

२. मित्रशर्मन् (शिवदास के पुत्र, जो विभिन्न शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा विद्वानों की दृष्टि में इनका बड़ा सम्मान था एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व था)।

३. जनार्दन + गंगा (मित्रशर्मन् का पुत्र बहुत बड़ा विद्वान् था और विष्णुभक्त था। उसकी पत्नी का नाम 'गंगा' था)।

४. भैरव + पूनादेवी (जनार्दन का पुत्र भैरव अपने समकालीन शेषवंशीय राजा का आश्रित था)।

५. नारायण + रमा (भैरव का पुत्र नारायण और उसकी पत्नी का नाम रमा था। अपने समकालीन राजाओं का वह आश्रित था)।

६. माधव + प्रभावती (नारायण के पुत्र माधव की पत्नी का नाम प्रभावती था। वाराणसी में माधव ने अध्ययन किया था)।

७. रामकृष्ण भट्ट (माधव का पुत्र रामकृष्ण था, उसकी माता का नाम प्रभावती था। यह माता-पिता का परम भक्त था)।

'भट्ट' उपाधि उन्हें उनकी विद्वत्ता पर दी गई थी। अपने 'प्रतापमार्तण्ड' पर उन्हें 'पण्डितशिरोमणि' की उपाधि काशीराजा बलभद्र से मिली थी। शास्त्रदीपिका के तर्कपाद पर भी आपने व्याख्या लिखी है। तर्कपाद की अपनी विस्तृत व्याख्या में 'उम्बेक' तथा भर्तृमित्र का भी उल्लेख किया है। इसमें कुमारिल मिश्र की व्याख्या से बहुत-कुछ उद्धृत किया गया है।

यह विवादग्रस्त है कि 'पूर्वमीमांसाधिकरणकौमुदी'[2] के रचयिता यही रामकृष्ण है या नहीं। इन्होंने वार्तिककार की बृहट्टीका का भी उल्लेख किया है। शाबरभाष्य

---

१. उक्त तीनों ग्रन्थ मद्रास हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

२. यह ग्रन्थ वाराणसी से मुद्रित हो चुका है।

१।१।५ पर वृत्तिग्रंथ के समझने में इनकी (युक्तिस्नेहप्रपूरणी) टीका का अच्छा उपयोग होता है[१]।

भास्करराय

(१७००–१७६० ई०)

अठारहवीं शती के आरंभ में इनका समय माना जाता है। इनके पिता का नाम गंभीरराय था। गंभीरराय के पुत्र 'भास्करराय' ने भाट्टदीपिका पर 'चन्द्रोदय' नामक व्याख्या और संकर्षकाण्ड के सूत्रों पर 'चन्द्रिका' नाम की व्याख्या रची। 'मत्वर्थ-लक्षणाविचार' नामक एक प्रबन्ध की भी रचना की। जिसमें केवल पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तों को संक्षेपतः बतलाया है। कुछ विद्वानों का मत है कि उन्होंने 'खण्ड-देव' द्वारा रचित 'संकर्षकाण्ड की व्याख्या' के आधार पर लिखा है। किन्तु स्वयं भास्करराय के द्वारा उनकी अपनी लिखी भाट्टचन्द्रिका में स्पष्ट कहा गया है कि खण्डदेव द्वारा 'संकर्षकाण्ड' पर कोई टीका नहीं लिखी गई है। अतः वह देवस्वामी के भाष्य[२] पर आधारित है। भाट्टदीपिका पर इनकी लिखी व्याख्या 'तर्कपाद' से प्रारम्भ होती है। इनकी व्याख्या 'प्रभावलि' से उत्तम है। इनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट और मूल ग्रन्थ को समझने में बहुत ही सहायक है। इनके द्वारा विरचित 'ललितासहस्रनाम' तथा 'वैदिककोष' का भी नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों ग्रन्थों पर इनकी स्वयं की व्याख्या भी है। 'भाट्टदीपिका' पर रची व्याख्या का नाम 'चन्द्रोदय'[३] है और 'संकर्षकाण्ड' पर रची व्याख्या का नाम 'चन्द्रिका'[४] है।

कृष्णयज्वन्

(१७००-१७६० ई०)

सम्भवतः १८वीं शती के आरम्भ में कृष्णयज्वन् का काल-निर्धारण विद्वानों के द्वारा किया गया है। आपने 'मीमांसा-परिभाषा'[५] नाम का एक प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है। इसमें विधि और उसके प्रकार, अंगत्व और उसके बोधक छह प्रमाण, कर्म के विभाग, भावना के दोनों प्रकार आदि का स्पष्टीकरण किया है। शैली सरल तथा

---

१. द्रष्टव्य—वी० ए० रामस्वामी शास्त्री का 'ओल्ड वृतिकाराज़ आन दी पूर्व-मीमांसा सूत्राज़' प्रबन्ध। आई० एच० क्यू० सितम्बर १९३४।

२. म० हृ० लि० सं० में सुरक्षित।

३. 'पण्डित' में प्रकाशित किया गया था।

४. वी० ए० रामस्वामी शास्त्री का लेख 'दी संकर्षकाण्ड : ए जेनुइन सप्लीमेण्ट टू दी पूर्वमीमांसाशास्त्र' (इण्डि० हि० क्वार्ट०)।

५. इस पर डी० टी० ताताचार्य तंजौर की व्याख्या मुद्रित हो चुकी है। तथा 'मीमांसाभूषण' गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर की 'आशुबोधिनी' नाम की संस्कृत व्याख्या एवं डॉ० कमलनयन शर्मा की हिन्दी कृष्णदास अकादमी, वाराणसी से मुद्रित हुई है।

धारावाहिक है। सिद्धान्तों में वास्तविकता है। सम्भवतः लेखक तामिल रहा होगा, क्योंकि वह तामिल में अधिक प्रिय है। कुछ लोगों का कहना है कि इसकी रचना 'मीमांसान्यायप्रकाश' के आधार पर की गई है। किन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः रचयिता ने इसे स्वतन्त्र रूप से ही रचा है। यह बात दोनों ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन करने पर ध्यान में आ जाती है। मीमांसाशास्त्र के संकेतों को सुसम्बद्ध रीति से और संक्षेप में इस छोटे से ग्रन्थ में जैसे बतलाया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं देखने में आता। इसमें मीमांसाशास्त्र की परिभाषा सुव्यक्त की गई है।

वासुदेव दीक्षित

(१७०० १७६० ई०)

मीमांसा में इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्ति'[१] है। शहाजी-राजा (ई० १६८४-१७१०) के विख्यात मन्त्री त्र्यम्बकरायमखी के द्वारा किये गये यज्ञों में महादेव वाजपेयी अध्वर्यु नामक मुख्य ऋत्विज थे। ई० १७११ से १७३५ तक तंजौर में मराठा राजाओं में सरफोजी और तुकोजी (तुलजा प्रथम) के राज्यकाल में प्रसिद्ध मंत्री आनन्दरायमखी थे। अतः वासुदेव दीक्षित का काल १८वीं शती का पूर्वार्ध प्रतीत हो रहा है। यह टीका 'खण्डदेव' के आदर्श पर लिखी गई है। वह संकर्षकाण्ड तथा 'देवस्वामिन्' के भाष्य से भी उद्धृत करते हैं। यह भी सम्भव है कि उन्होंने शंकर के सूत्रों पर टीका लिखी हो।

कई स्थानों पर इनकी टीका अन्य टीकाकारों से भिन्न है। 'वादाधिकरण' में स्वाध्यायविधि की व्याख्या पूर्वव्याख्याकारों से पूर्णतया भिन्न है। इनका कहना है कि वेदाध्ययन का फल 'अर्थज्ञान' न होकर 'अक्षरग्रहण' है। इनका कथन है कि यदि 'प्रथम' उद्देश्य होता, तो एक ब्राह्मण को क्षत्रियों से सम्बन्धित राजसूय यज्ञ पढ़ने से क्या अर्थ रखता? इसलिए 'अर्थज्ञान' केवल आनुषङ्गिक फल है।

कई जगह वे वार्तिककारों के विचारों का भी खण्डन करते हैं। अभ्यासाधिकरण में वह 'संकर्षकाण्ड' के आधार पर 'समिधो यजति' को गुणविधि बतलाते हैं। इनकी सिद्धान्तकौमुदी पर 'बालमनोरमा' नाम की व्याख्या एवं 'बोधायनश्रौतसूत्र' पर भी व्याख्या प्रसिद्ध है।

रामानुजाचार्य

(१७५० ई०)

'तंत्ररहस्य'[२] के पद्यों से ज्ञात होता है कि वे गोदावरी के तटवर्ती धर्मपुरी के

---

१. इसके तीन अध्याय म० म० प्रो० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्रीगल के द्वारा लिखित सार के सहित वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् से मुद्रित हुए थे। किन्तु सन् १९६८-६९ में श्रीलालबहादुर राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ से सम्पूर्ण मुद्रित हो चुकी है। उसका सम्पादन विद्यासागर श्रीपट्टाभिरामशास्त्री ने किया है।

२. तन्त्ररहस्य, श्लोक १-२।

निवासी और नरसिंह के पूजक थे। वह सूत्रकार जैमिनि, भाष्यकार शबरस्वामिन् और टीकाकार गुरु की अभ्यर्थना करते है[1], पश्चात् वे ऋजुविमला तथा दीपशिखा के लेखक शालिकनाथ के प्रति भी अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं[2]। इन्होंने नयविवेक के लेखक भवनाथ का भी उल्लेख किया है[3]।

अपने तन्त्ररहस्य[4] में उन्होंने पूर्वजों के द्वारा प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण विचारों का मान तथा मेय के रूप में सारांश दिया है। उसमें पाँच परिच्छेद हैं—प्रथम मान, द्वितीय मेय, तृतीय शब्द (शाब्दबोध का अन्विताभिधानवाद), चतुर्थ अपूर्वविधि तथा पञ्चम प्रकरणपञ्चिका के शास्त्रमुख भाग की अध्ययन-विधि का उल्लेख करते हैं। अतः यह कार्य मानमेयोदय ग्रन्थ के समान ही प्रभाकर के पक्ष में महत्त्वपूर्ण है। इनकी शैली सरल, प्रावाहिक तथा तार्किक है। कई स्थानों में कुमारिल को आचार्य कहकर तो कहीं पर वार्तिककार कहकर सम्बोधित किया है। इन्होंने अपने तन्त्ररहस्य नामक ग्रन्थ में प्रकरण-ग्रन्थ विमलाञ्जन[5] तथा न्यायशुद्धि[6] का भी उल्लेख किया है।

पार्थसारथि मिश्र द्वारा रचित न्यायरत्नमाला की टीका नायकरत्न[7] उनकी द्वितीय रचना है। रामानुजाचार्य यद्यपि प्रभाकर पक्ष के थे, तथापि उन्होंने इस भट्ट-मत के महान् लेखक के प्रति आदर-श्रद्धा होने के कारण उस पर टीका लिखी है।

वाञ्छेश्वर यज्वन्

(१७६०-१८३० ई०)

उन्नीसवीं शती के आरम्भ में अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनका काल-निर्धारण किया गया है। इन्होंने खण्डदेव की भाट्टदीपिका पर 'भाट्टचिन्तामणि' नामक व्याख्या लिखी है। इनके प्रारम्भिक पद्यों[8] से ज्ञात होता है कि इनके प्रपितामह 'वाञ्छेश्वरसुधी' महान् कवि थे, जिन्होंने 'महिषशतक' 'धाटीशतक' और 'आशिष-शतक' नामक तीन काव्यों की रचना की थी। उसके फलस्वरूप उन्हें दरबार से 'श्लेषकविसार्वभौम' की उपाधि मिली थी। वाञ्छेश्वर के पितामह माधवराज तथा

१. तन्त्ररहस्य, श्लोक ३-४-५।

२. तन्त्ररहस्य, श्लोक ६-७।

३. तन्त्ररहस्य, श्लोक ८।

४. This was published in 'Gaekwad Oriental Series No. XXIV under the editorship of Dr. R Sama Shastri.

५. देखिये तन्त्ररहस्य पृ० २८।

६. देखिये तन्त्ररहस्य पृ० २७।

७. यह ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में अण्णामलै यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में सुरक्षित है तथा मद्रास के हस्तलिखित संग्रहालय में भी।

८. भाट्टचिन्तामणि, श्लोक ३–१०।

पिता नरसिंह भी वेद तथा वेदांग में पारंगत थे। वाञ्छेश्वर ने अपने पिता के संरक्षण में ही वेदों का अध्ययन कर 'महिषशतक' की व्याख्या लिखी और हिरण्यकेशीयश्रौतसूत्र की भी व्याख्या रची। स्वरचित 'दत्तकचिन्तामणि' तथा 'श्राद्ध-चिन्तामणि' पर दो आलोचनाएँ लिखीं। ब्रह्मसूत्र पर 'ब्रह्मसूत्रार्थचिन्तामणि' तथा 'काकतालीयवादार्थ' नामक स्वतन्त्र टीका लिखी। ये सरफोजी नामक अन्तिम मराठा प्रधान के आश्रित थे। ये होसल नामक कणार्टक परिवार के सदस्य थे। प्रपितामह से लेकर अन्य सभी सदस्य मराठा सरदारों के आश्रित थे तथा 'शाहराजपुर' में रहते थे, जिसे आजकल 'थिरुवेण्णोल्लोर' कहते हैं, जो कुंभकोणम् के समीप है। शाहजी और उनके पुत्र एकोजी तथा व्येंकोजी द्वारा उन्हें यह दान में प्राप्त हुआ था।

वह अपने भाट्टचिन्तामणि[१] में तथा हिरण्यकेशीयश्रौतसूत्र की व्याख्या में ईश्वर, श्रीनिवास तथा अहोबल नामक गुरुओं का उल्लेख करता है। जिनसे क्रमशः उसने मीमांसा, न्याय और वेदान्त का अध्ययन किया था। हिरण्यकेशीयश्रौतसूत्र की व्याख्या के आरम्भ में पूर्वमीमांसाशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास भी लिखा है। उसमें इसने संकेत किया है कि ७० मीमांसकों में से कुछ ही मीमांसकों के नामों से आज का विद्यार्थिवर्ग परिचित है। अन्य मीमांसकों से अपरिचित रहने का कारण उनके ग्रन्थों का प्रकाशन न हो पाना ही है। इन्होंने हिरण्यकेशीयश्रौतसूत्र की व्याख्या-लेखन की तिथि की ओर भी संकेत किया है[२]। अतः १७६० से १८३० तक के समय में इन्हें सरलता से रखा जा सकता है।

---

३. 'ईश्वरश्रीनिवासार्याहोबलाख्यगुरूत्तमान्' श्लोक १।

२. देखिये—टी० एम० एस० एस० एम० लाइब्रेरी डिस्क्रिप्टिव केटलाग आफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट भाग ४, सी० नं० २०७२, पृ० १६८२-१६८७।

तृतीय परिच्छेद

उपोद्घात

प्रमाणों में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द का प्रामाण्य जैमिनि ने स्वयं ही बतलाया है[1]। उसी तरह कहीं-कहीं प्रमेय-विशेषों की स्वीकृति की सूचना भी दी है। आगे चलकर भाष्यकार ने प्रथमपाद में वृत्तिकार के मत का निरूपण करने के मिष (बहाने) से छह प्रमाण तथा तदुपयोगी आत्मज्ञानादि कतिपय प्रमेय विचारों को भी प्रस्तुत किया है। इसी को कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक में अच्छी तरह पल्लवित किया है। इन प्रमाण-प्रमेयादि तत्त्वों का और भी आसानी से ज्ञान कराने के लिए पार्थसारथि मिश्र ने अपनी शास्त्रदीपिका के प्रथम पाद में और श्लोकवार्तिक की न्यायरत्नाकर नामक व्याख्या में प्रयत्न किया है।

नवीन निबन्धकारों में से इनका ज्ञान करानेवाथा ग्रन्थ 'भाट्टचिन्तामणि' है, जिसके रचयिता गागाभट्ट हैं, जो खण्डदेव के गुरु कहे जाते हैं। किन्तु यह गंगेशोपाध्याय तथा रघुनाथ शिरोमणि आदि नवीन नैयायिकों की चलाई हुई न्यायप्रक्रिया के निरन्तर चिन्तन करते रहने से दृढ़ संस्कार हो जाने के कारण प्राचीन मीमांसक सम्प्रदाय के द्वारा स्वीकृत पदार्थों का प्रतिपादन करने में शिथिल प्रतीत होते हैं। तथापि नैयायिकों को फटकार लगाने में कसर नहीं रखते। भाट्टचिन्तामणि के अतिरिक्त नारायणरचित 'मानमेयोदय' नाम का दूसरा ग्रन्थ भी है, जिसमें मीमांसा के प्रमाण-प्रमेयों का विवेचन अच्छी तरह से पाया जाता है। इसमें दो परिच्छेद हैं—एक 'प्रमाण' को लेकर और दूसरा 'प्रमेय' को लेकर। उनमें से प्रमाणपरिच्छेद तो केरल के नारायणभट्ट ने और प्रमेयपरिच्छेद किसी दूसरे नारायणपण्डित ने रचा है। जैसा इसका नाम 'मानमेयोदय' है वैसा ही यह ग्रन्थ पाया जाता है।

भाट्टमीमांसकों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण—मीमांसकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—ये छह प्रमाण माने हैं[2]।

---

१. जै० सू० १।१।४ (प्रत्यक्ष), १।१।५ (शब्द), १।३।१५ (अनुमान), चार प्रमाणों के लिए श्रुति का भी आधार है—'अनोहवै नाम प्रत्यक्षम्' (छां० उ० ५।२।१); 'अनुमा वा अनुमानम्', 'बहिरात्मैक्या गत्या अन्तरात्मनोऽनुमीयते गतिः' (मैत्री उ० ६।१); 'उपमा वा उपमानं सप्तविधेयं तस्योपमा' (मैत्री उ० ६।२२); 'उपनिषदः प्रमाणम्' (मुक्तिकोपनि०) और 'प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वान् शब्दान् आप्नोति' (कौषीत० उप० ३।६)।

२. प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमितिस्तथा।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि मादृशाम्॥
(मानमेयो० पृ० ७ थिया० प० हा० अडयार, मद्रास)

प्रत्यक्ष के लक्षण तथा इन्द्रियों की संख्या में अन्य दर्शनों से समानता—उनमें प्रत्यक्ष का लक्षण 'पदार्थ के साथ इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध होने पर पैदा होने वाला ज्ञान' तो अन्य शास्त्रकारों[१] के समान इन्होंने स्वीकार कर लिया है।[२] उसी तरह प्रत्यक्षज्ञान में करणभूत 'चक्षु' से लेकर 'मन' तक छह इन्द्रियाँ भी इन्हें स्वीकार हैं[३]।

इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध में नैयायिकों से मतभेद—किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध में नैयायिकों से मीमांसकों का मतभेद है। नैयायिक[४] इन्द्रिय और पदार्थ में छह प्रकार के सम्बन्ध (सन्निकर्ष) मानते हैं।

किन्तु मीमांसक इन छह में से पहले तीन ही और समवाय के स्थान पर तादात्म्य मानते हैं।[५]

नैयायिकों को समवाय-कल्पना की आवश्यकता—नैयायिकों के मत में समवाय की कल्पना इसलिए आवश्यक होती है क्योंकि वे श्रोत्रेन्द्रिय[६] को आकाशरूप मानते हैं। श्रोत्र के आकाशरूप होने से उसके (आकाश) गुण (शब्द) का ज्ञान 'समवायसम्बन्ध' की कल्पना किये बिना नहीं बन सकता।

मीमांसकों को 'समवाय' कल्पना की अनावश्यकता—परन्तु मीमांसक[७] श्रोत्र

---

१. 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्'। (सि० मुक्ता० पृ० १६७, सन् १९२९, मेहरचन्द, लाहौर)

२. 'तत्र इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम्'। (मानमेयो० पृ० ८, सन् १९३३)

३. न्या० सू० अ० १, आ० १, सू० १२ 'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।' इस पर वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका पृ० २२२ द्रष्टव्य है।

तुलना कीजिये —'चक्षूरसनघ्राणस्पर्शनश्रोत्राणि मनश्चेति षडिन्द्रियाणि।'
(मानमेयो० पृ० ८)

४. संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषणविशेष्यभाव। (तर्कभाषा पृ० ५३ का० सं० ग्रा० मा० सन् १९५३)

५. तुलना कीजिये—'तत्राद्यं त्रिविधं तावन्नाममात्रेण भिद्यते।
समवायादयस्त्वन्ये सन्निकर्षा निराश्रयाः॥'
(मा० मे० पृ० १५)

भाट्टमते जातिगुणकर्मणां द्रव्येण सह तादात्म्याङ्गीकारः। इदं च तादात्म्यं न नैयायिकमतवत् अत्यन्ताभेदरूपम्। किन्तु भेदसहिष्णुः अभेदः। केनचिदंशेन भेदः, केनचिदंशेन अभेदः, प्राभाकरास्तु संयोगः, संयुक्तसमवायः। (विवरणप्रमेयसं० पृ० ४४, अच्युत ग्र० मा०, काशी)

समवायः इति त्रेधा सन्निकर्षमाहुः। (मा० मे० पृ० १६)

६. 'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्'। (तर्कभा० पृ० ५५, का० सं० ग्रं० मा०)

७. 'दिशः श्रोत्रम्' इति श्रुतिः। 'दिशः श्रोत्रे भूत्वा कर्णौ प्राविशन्'। (ऐ० आ० ४।२।२ तथा अधिगुप्रैष तै० ब्रा० ३।५।६)

को दिक् (दिशा) रूप मानते हैं। तथा इनके मत में 'शब्द' को 'द्रव्य पदार्थ' माना गया है[1], 'गुण पदार्थ' नहीं। अतः दोनों में संयोगसम्बन्ध ही बन सकता है, क्योंकि 'द्रव्यद्रव्ययोः संयोगः'—यह नियम है। इसलिए मीमांसकों के मत में 'समवाय' की कल्पना नहीं करनी पड़ती[2]।

'समवेत-समवाय' की कल्पना भी अनावश्यक—इसी तरह शब्दवृत्ति सामान्य (शब्दत्व) का ज्ञान होने में 'संयुक्ततादात्म्य'[3] सम्बन्ध से ही काम हो जाता है,[4] अतः मीमांसक 'समवेतसमवायसम्बन्ध' को भी नहीं मानते।

नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध का अनौचित्य—इसी प्रकार 'अभाव' का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से न हो सकने के कारण वहाँ सन्निकर्ष की आवश्यकता ही नहीं; तदर्थ 'विशेष्य-विशेषणभावरूप सम्बन्ध' (सन्निकर्ष) मानना अनावश्यक है। इसलिए नैयायिकों का 'अभावज्ञानार्थ' विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध स्वीकार करना अनुचित है।

मीमांसकों के यहाँ 'अभाव' ग्राहक प्रमाण—मीमांसकों के मत में 'अभाव' का ज्ञान 'अनुपलब्धि' प्रमाण से होता है।[5] अतः मीमांसकों के मत में छह इन्द्रियों से और उनके तीन प्रकार के सम्बन्धों से 'प्रत्यक्ष' होता है।

चतुर्थ सन्निकर्ष माननेवाले भी कुछ लोग—द्रव्य, गुण, कर्म पर रहनेवाले द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वरूप 'सामान्य' पर 'सत्तारूप सामान्यान्तर' को स्वीकार करने वाले कुछ लोग इन्द्रिय से उनका ग्रहण होने के कारण 'संयुक्त-तादात्म्य' की तरह 'तादात्म्य' नाम का चौथा सन्निकर्ष भी मानते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाण पर नैयायिक तथा मीमांसकों में समानता और विषमता—नैयायिकों की तरह प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भेद मीमांसक भी मानते है[6]। किन्तु नैयायिक लोग 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' के 'लौकिक' और 'अलौकिक'

---

१. 'शब्दो द्रव्यं साक्षादक्षसम्बन्धग्राह्यत्वात्, घटवत्—इत्यनुमानम्' तथा—
'वर्णात्मकास्तु ये शब्दा नित्यास्सर्वगतास्तथा।
पृथग्द्रव्यतया ते तु न गुणाः कस्यचिन्मताः'॥
(सर्वदर्शनकौमुदी, पृ० ९२)

२. समवायस्तु भाट्टैर्नाङ्गीक्रियते। (तं० सि० र० पृ० ५७)

३. भेदाभेदसहमन्योन्याभावविरोधितादात्म्यम्। (विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० ४४; अ० ग्रं० मा० से मुद्रित)

४. भाट्टमते जातिगुणकर्मणां द्रव्येण सह तादात्म्याङ्गीकारात्। (तन्त्रसिद्धान्त-रत्नावलि, प्रथ० परि०, पृ० ३६-३७)

५. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥ (श्लो० वा० पृ० ४७३)

६. सविकल्पस्य लोकसिद्धस्यापह्नोतुमशक्यत्वात्। एवं जात्यादिकल्पनातः पूर्वमुत्पद्यमानस्य सम्मुग्धाकारस्य वस्तुमात्रविषयकस्य निर्विकल्पकज्ञानस्यापि निवारण-

दो भेद करते हैं, और 'लौकिक प्रत्यक्ष' में पहले बतलाये सन्निकर्ष हैं, लेकिन 'अलौकिकप्रत्यक्ष' में समानधर्मरूप, ज्ञानरूप और योगजधर्मरूप तीन सन्निकर्ष और मानते हैं।

नैयायिकों की छह सन्निकर्षों के अतिरिक्त अन्य तीन सन्निकर्षों की अधिक कल्पना— अनुमिति में कारणभूत 'व्याप्तिज्ञान' के समय महानसीय धूम में ही 'व्याप्ति' का ग्रहण हो जाने से कालान्तर में 'पर्वत' पर 'धूम' को बिना देखे 'अनुमिति' बन नहीं सकती; और वहाँ धूम को देखने पर भी उसमें वह्नि की व्याप्ति पूर्वगृहीत न होने से 'अनुमिति' कथमपि नहीं बन सकेगी। इस संकट को दूर करने के लिए महानस में 'एक धूमव्यक्ति' के प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर-देशान्तर में रहनेवालीं 'सभी धूम-व्यक्तियों' को प्रत्यक्ष मान लिया जाता है, और उनमें उसी समय 'वह्नि' की 'व्याप्ति' का भी ज्ञान मान लिया जाता है। 'अनुमिति' में 'प्रत्यक्षलक्षण' की अति-व्याप्ति न आने पाये, इसलिए साक्षात् इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थ को उद्देश्य कर होने वाले 'ज्ञान' को 'प्रत्यक्ष' कहना सभी दार्शनिकों ने अपना नियम-सा बना लिया है। ऐसी स्थिति में महानसीय 'धूमदर्शन' में जैसे 'संयोगसन्निकर्ष' बतलाया जाता है, वैसे ही उस समय होनेवाले धूमान्तर के प्रत्यक्ष में भी 'किसी सम्बन्ध' की कल्पना करनी होगी। इसलिए 'सामान्यलक्षणसन्निकर्ष' की कल्पना की गई है। महानसीय धूम के साथ इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध है। इस धूम पर रहनेवाला सामान्य 'धूमत्व' है। यह सामान्य (जाति) धूमत्व देशान्तरीय-कालान्तरीय सभी धूमव्यक्तियों पर रहता है। ऐसे सामान्य के द्वारा धूमान्तरव्यक्तियाँ भी 'सन्निकर्ष' से युक्त होने के कारण महानसीय 'धूमप्रत्यक्ष' के समय 'संयोगसन्निकर्ष के समान 'सामान्यरूपसन्निकर्ष' के द्वारा 'अन्यान्य धूमव्यक्तियों' का भी प्रत्यक्ष होना ठीक बन जाता है। इसी प्रकार चक्षुःसन्निकृष्ट 'चन्दनखण्ड' में 'सुरभिचन्दनम्' ऐसा प्रत्यक्ष होता है। वहाँ पर 'संयोगसन्निकर्ष' से 'पार्थिवद्रव्य चन्दन' का प्रत्यक्ष होते रहने पर भी चक्षुरिन्द्रिय से अग्राह्य सौरभ का प्रत्यक्ष होना बन नहीं पाता। इसलिए द्रव्य के प्रत्यक्ष होते समय यथा—कथमपि उपस्थित होनेवाले सौरभ का भी भान स्वीकार करना होगा, और बिना सन्निकर्ष के यह भान होना असम्भव है। निर्धारित सन्निकर्षों में से किसी एक का भी यहाँ सम्भव न हो सकने से उसकी उपस्थिति होना ही वहाँ सन्निकर्ष है। इस रीति से 'ज्ञानरूप सन्निकर्ष' मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों से परे वर्तमानकालीन वस्तुओं का योगियों द्वारा प्रत्यक्ष होते देखा जाता है, तो उसके लिए एक 'योगजधर्मसन्निकर्ष' भी मानना आवश्यक हो जाता है। एवं च नैयायिकों को सामान्य-लक्षण, ज्ञान-लक्षण, और योगजसन्निकर्ष नामक 'तीन सन्निकर्ष' निर्धारित छह सन्निकर्षों के अतिरिक्त स्वीकार करने पड़ते हैं।

मशक्यमेव। अतो भट्टमतावलम्बिभिरुभयमप्यङ्गीक्रियते—निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। (सं० सि० र० प्र० परि०, पृ० ३३)

मीमांसकों के मत में अलौकिक प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता—परन्तु मीमांसक इस 'अलौकिक प्रत्यक्ष' को अप्रामाणिक मानते हैं। उनका कहना है कि 'जहाँ जिस व्यक्ति को अनुमिति होती है, वहाँ उसे उससे पूर्व उसकी व्याप्ति का अनुभव होना ही चाहिए'—यह कोई नियम नहीं है, जिस कारण उसके अनुरोध से 'जहाँ-जहाँ धूम हो वहाँ-वहाँ अग्नि हो'—इस अनुमानोपयोगिनी व्याप्ति के स्वरूप को स्वीकार करने के कारण उस व्याप्तिज्ञान के लिए 'सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति' को स्वीकार किया जाय, बल्कि यज्जातीय से अनुमान हो रहा है तज्जातीय का जिस-जिस धर्मी में दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ नियत लौकिक प्रत्यक्षगम्य जो 'साध्यसजातीय सामानाधिकरण्य' है, वही व्याप्ति है, और वही 'अनुमान' के उपयुक्त है। इस व्याप्ति का जिसे जितनी बार दर्शन सम्भव है उसे उतने ही अधिक लौकिक प्रत्यक्षात्मक दर्शनों से ही प्रत्यक्ष दीखनेवाले धर्मियों में अव्यभिचार के साथ वह ज्ञात होती है। इसलिए 'सामान्य-लक्षणाप्रत्यासत्ति' मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार सौरभानुभव से पैदा हुए प्राचीन संस्कारों के सहित इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा 'सुरभिचन्दनम्' यह प्रत्यक्ष ठीक बन जाता है, इसलिए यहाँ भी एक अलग 'ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष' मानने की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ पर सौरभांश में 'स्मृतित्व' है और अन्य अंश में 'चाक्षुष अनुभव' है—यही विशेषता है। 'प्रत्यभिज्ञा' में यह बात सभी ने स्वीकार की है। जैसे—'अप्रमाज्ञान' में अंशतः प्रमात्व तथा 'संशयज्ञान' में अंशतः 'निश्चय' होता है, उसी तरह अंशभेद से 'विरुद्धधर्मों' के समावेश होने पर भी कोई हानि नहीं है। अब योगियों के असन्निकृष्ट प्रत्यक्ष के विषय में जो कहा जाता है, उस पर कुछ लोगों का तो यह कहना है कि ऐसे कोई योगी नहीं हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अनुभूत पदार्थ की निरन्तर चिन्तनरूपभावना के कारण उन्हें ज्ञान होता है, अननुभूत पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। अतः भावना के बल से होनेवाला 'योगियों का ज्ञान' स्मृतिरूप है, प्रत्यक्षरूप नहीं; इसलिए इस सन्निकर्ष की कल्पना करना व्यर्थ है।

गागाभट्ट के मत में अलौकिक प्रत्यक्ष का स्वीकार—भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट प्रथम दो सन्निकर्षों से होनेवाले अलौकिक प्रत्यक्ष को मानते हैं। ज्ञानलक्षणा के स्वीकार में उनकी यह युक्ति है कि किसी एक घट व्यक्ति में 'घटपद' की शक्ति मानने पर उस 'घटपद' से घटान्तर का बोध नहीं हो सकेगा। परन्तु 'पदानां जातौ शक्तिः' इस मीमांसक सिद्धान्त की ओर उनका ध्यान कैसे नहीं पहुँच पाया, यह विचारणीय है।

नैयायिकों के यहाँ अनुमान के तीन प्रकार—नैयायिक अनुमान के भी तीन भेद करते हैं—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि।

मीमांसकों के यहाँ 'केवलव्यातिरेकि' का अस्वीकार—परन्तु मीमांसक 'केवल-व्यतिरेकि' को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि इसमें 'प्रकृत पक्ष' के अतिरिक्त अन्यत्र 'अप्रसिद्ध पदार्थ' को ही 'साध्य' कहना पड़ता है। तब 'अदृष्टादि अलौकिक पदार्थ'

भी अनुमान के विषय होने लगेंगे। इसी भय से मीमांसकों ने 'केवलव्यतिरेकि अनुमान' के निरसन का प्रयत्न किया है। अनुमिति के प्रति 'अन्वयव्याप्ति' और 'व्यतिरेकव्याप्ति' दोनों मिलकर कारण नहीं होती, किन्तु प्रत्येक पृथक्-पृथक् कारण होती है। कहीं 'अचयव्याप्ति' से तो कहीं 'व्यतिरेकव्याप्ति' से अनुमिति होती है।[1]

परार्थानुमान में पाँच के स्थान पर मीमांसकों के तीन अवयव—'परार्थानुमान' में नैयायिकों ने 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन' भेद से पाँच अवयव माने हैं।[2] परन्तु मीमांसक उनमें से 'तीन' को ही आवश्यक बतलाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण' अथवा 'उदाहरण, उपनय, निगमन'। इनका अभिप्राय यह है कि 'प्रतिज्ञा' और 'निगमन' में से या 'हेतु' और 'निगमन' में से किसी एक से ही चारितार्थ्य हो जाता है, तब एकत्र दोनों का संग्रह करना तो 'पुनरुक्ति' के सिवाय कुछ नहीं है। अतः मीमांसक 'तीन अवयव' ही मानते हैं।

नैयायिकों के पाँच हेत्वाभासों के स्थान पर मीमांसकों के तीन हेत्वाभास—नैयायिक पाँच 'हेत्वाभास' मानते हैं,[3] किन्तु मीमांसक तीन ही—असिद्धि, अनैकान्तिक, बाधक हेत्वाभास मानते हैं। 'हेत्वाभास' का अर्थ है—'हेतोः आभासः' अर्थात् हेतु का दोष। बाधित 'विषयत्व' को प्रतिज्ञादोष या पक्षदोष मानते हैं, हेतुदोष नहीं।

इनका कहना है कि यथाकथंचित् इसे हेतुदोष भी कहा जा सकता है, तथापि प्रतिज्ञा—उच्चारण के पश्चात् ही हेतु का निर्देश करने से प्रतिज्ञा निर्देश के समय ही 'बाध' का स्फुरण होना सम्भव है। इसलिए उसे 'प्रतिज्ञा-दोष' मानना ही उचित है। उसके बल पर पीछे से ज्ञात होनेवाले को 'हेतुदोष' मानना उचित नहीं है।

'सत्प्रतिपक्ष' तो अनैकान्तिक के अन्तर्गत आ जाता है। अनैकान्तिक 'साध्य' में संशयजनकता होने से दोष माना गया है। जैसे 'साधारण' से साध्यसंशय उत्पन्न होता है, वैसे ही हेतु के 'साध्य' तथा 'तदभावव्याप्य' होने पर भी 'साध्य-संशय' होता है। इसीलिए अनैकान्तिक के दो भेद किये गये हैं—'सव्यभिचार' और 'सप्रतिसाधन'। नैयायिकों ने साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी के भेद से 'अनैकान्तिक' के तीन भेद बतलाये हैं। उनमें से 'साधारण' ही केवल सव्यभिचार कहलाने योग्य है। और उसी का 'अनैकान्तिक' में अन्तर्भाव होता है। 'असाधारण' तो असिद्धविशेष ही है। तथा च—हेतुस्वरूप का, पक्ष पर हेतुसम्बन्ध का, पक्ष के एकदेश में हेतु-

---

१. व्याप्त्या साधर्म्य उक्ते च न वैधर्म्यमपेक्षते। इति।
परस्साधर्म्यदृष्टान्तात् तं च नापेक्षते यदा॥
पूर्वज्ञानोपमर्दन वैधर्म्येणेष्टसाधनम्॥ इति च।

२. न्या० सू० १।१।३२ पृ० ३६। प्रक० पञ्चि० पृ० ८३-८५, न्यायरत्नाकर—श्लो० ५४ पर।

३. अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा॥
(कारिकावली—वि० न्या० पंचानन, श्लो० ७)

सम्बन्ध का, बिना पक्ष के या पक्ष के अन्यत्र हेतुसम्बन्ध का अथवा 'पक्ष' की ही असिद्धि—इस रीति से 'असिद्धि' के पाँच भेद किये गये हैं। इनमें से बिना 'पक्ष' के हेतु की असिद्धि को 'व्यतिरेकासिद्धि' कहते हैं और उसी को असाधारण भी कहते हैं। कुछ लोग 'सपक्ष' पर हेतु के न रहने को ही 'व्यतिरेकासिद्धि' कहते हैं। तब 'हेतु' असाधारण कहलाता है, और उसे चौथा हेत्वाभास बताते हैं। नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत 'अनुपसंहारी' भी 'व्यतिरेकासिद्ध' ही है। मीमांसक 'विरुद्ध' को ही 'बाधक' कहते हैं। इस प्रकार तीन या चार यथासम्भव अवान्तर विभाग के सहित हेतुदोषों को मीमांसकों ने माना है। 'बाध' को हेतुदोष न मानकर 'प्रतिज्ञादोष' मानते हैं। वह भी तीन प्रकार का होता है—१. साध्य का किसी अन्य प्रमाण से निश्चय होने पर; २. उसके अभाव का निश्चय होने पर तथा ३. साध्य की ही अप्रसिद्धि होने पर। इसी प्रकार उदाहरण दोष भी साध्यवैकल्य, साधनवैकल्य, उभयवैकल्य और आश्रयवैकल्य भेद से चार प्रकार का होता है।

मीमांसकों का शब्द-सिद्धान्त—मीमांसक लोग 'शब्द' को नित्य मानते हैं।[1] रूढ, यौगिक, योगरूढ के भेद से वह तीन प्रकार का है। कुछ नवीन[2] विद्वान् योगरूढि को पृथक् नहीं मानते। अभिधा (शक्ति), लक्षणा[3] और गौणी के भेद से उनकी वृत्ति के तीन प्रकार माने हैं। शब्दार्थ 'जाति' या 'अखण्डोपाधि' है। यौगिक पदों का अर्थ 'द्रव्य' है। धातुओं का अर्थ यत्नातिरिक्त 'व्यापार' है। आख्यात का अर्थ यत्नरूप 'भावना' है। प्रत्येक पद अपने-अपने अर्थ को बतलाकर निवृत्तव्यापार हो जाते हैं। अवगत हुए पदार्थ परस्पर संसर्गरूप 'वाक्यार्थ' को लक्षणा के द्वारा बतलाते हैं। यही कारण है कि मीमांसकवर्ग 'वाक्यार्थ' में पदार्थों की 'लक्षणा' मानते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि पद से होनेवाला 'अर्थज्ञान' भी स्मृति ही है। तथा कुछ लोग उसे 'अनुभवविशेष' बतलाते हैं। वैयाकरणों की तरह 'वाक्यार्थबोध' में धात्वर्थ की मुख्य विशेष्यता नहीं है, और न नैयायिकों की तरह 'प्रथमान्त पदार्थ' में ही मुख्य विशेष्यता होती है। किन्तु 'आख्यातार्थरूप अर्थभावना' की ही मुख्य विशेष्यता होती है।

शब्द के दो प्रकार—यह शब्द पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से प्रथम प्रकार का 'आप्तवाक्य' और दूसरे प्रकार का 'वेदवाक्य' है।

---

१. उद्भिच्छब्दस्य ज्योतिष्टोमादौ याज्ञिकानां प्रयोगाभावेनेत्यादिः।
(मीमांसाकौस्तुभ १।४।२ पृ० १६९ प्रथम भाग, चौखम्बा संस्करण)

२. वर्णा नित्याः ध्वनिभिन्नत्वे सति श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत् इत्यनुमानात्, सोऽयं गकारः स एवायं गकारः इति अबाधितप्रत्यभिज्ञाबलाच्च नित्यत्वसिद्धिः।
(तं० रि० र० पृ० ४४)

३. अभिधेयाविनापूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥

एक अन्य प्रकार से भी शब्दप्रमाण के दो भेद किये जाते हैं—'विधायक' और 'सिद्धार्थक'। विधायक भी दो प्रकार का है—'उपदेशरूप' और 'अतिदेशरूप'। लोक में अथवा वेद में लिङादि प्रत्ययों का अर्थ 'विधि' है; नैयायिकों की तरह 'इष्ट-साधनत्व' नहीं। प्रेरणा, चोदना, प्रवर्तना आदि शब्दों के द्वारा कही जानेवाली विधि लोक में लिङ् का उच्चारण करनेवाले व्यक्ति की इच्छाविशेष ही है, किन्तु वेद में 'लिङ्' का उच्चारण करनेवाले किसी पुरुष के न होने से उन 'लिङादि' शब्दों में ही एक 'व्यापारविशेष' रहता है, जिसे 'शब्दभावना' कहते हैं, ईश्वरेच्छा नहीं; क्योंकि उसके मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

उपमान प्रमाण को स्वीकार करते हुए भी नैयायिकों से भेद—नैयायिक और कौमारिल मत में यह भी एक अन्तर है—नैयायिकों ने 'उपमानप्रमाण' को माना है, जिसे अन्य दार्शनिकों ने नहीं माना। उसका फल शब्दार्थव्युत्पत्ति का होना बतलाया जाता है। मीमांसकों ने इस प्रमाण को स्वीकार करते हुए भी नैयायिकों द्वारा अभिमत 'शब्दार्थव्युत्पत्ति' को फल नहीं माना है। वे उसका निर्वाह अन्य प्रकार से बतलाते हैं। उनका कहना है कि पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश अन्य वस्तु के प्रत्यक्ष होने पर दोनों में रहने वाली समानता का ज्ञान होना ही 'उपमान' का फल है। जहाँ पर किन्हीं विशेष अंगों को नहीं बतलाया गया है; ऐसे 'विकृति कर्मों' में अंगों की प्राप्ति के लिए 'प्रकृतिकर्मों' में अभिहित अंगों की समानता के कारण उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को यदि स्मृति मात्र समझ लिया जाय तो यथाकथञ्चित् स्मृत हुए अंगों का अनुष्ठान 'विकृतिकर्मों' में करना होगा, परन्तु ऐसा करने में किसी सुनिश्चित प्रमाण के न होने से विश्वास न हो सकेगा। इसलिए 'विकृतिकर्म' का पर्यालोचन करते समय उसकी 'प्रकृति' को जानना एक 'सुनिश्चित प्रमाणविशेष' के ही अधीन होगा। वह निश्चित प्रमाणविशेष अन्य कोई न होकर अनुभव ही है।

मीमांसकों की अर्थापत्ति—अर्थापत्ति नाम का एक पाँचवाँ प्रमाण मीमांसकों ने माना है, कतिपय अन्य दार्शनिकों ने भी उसे माना है। इस अर्थापत्ति के दो भेद हैं। एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति। पहली का स्वरूप इस प्रकार है—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त का भोजन न करना और पुष्ट रहना प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है, जो असम्भव-सा प्रतीत होता है। अतः वह अपने उपपादक रात्रिभोजन की कल्पना कराता है। दूसरी अर्थापत्ति—'विश्वजिता यजेत' यहाँ पर विश्वजिद्यागकरणक-भावनाविषयकप्रवर्तना का ज्ञान विधि से हो रहा है। कोई भी विधि अभिलषित उद्देश्य के बिना अनुपपन्न होती है। अतः वह अपने 'विधित्व' को सुस्थिर रखने के लिए स्वर्गादि अभिलषित फल की कल्पना कराता है। इसी तरह जहाँ फल-विशेष का श्रवण न हो वहाँ फल की कल्पना, आधेयशक्तिरूप 'अपूर्व' की कल्पना तथा कारणादि में रहनेवाली 'सहज शक्ति' की कल्पना के लिए इस प्रमाण का स्वीकार करना आवश्यक है।

साधारणतया 'कार्य' के भाव और अभाव नाम से दो भेद किये गये हैं। यहाँ नैयायिकों का कहना है कि 'जिस इन्द्रिय से जिस भाव पदार्थ का ग्रहण होता है

उसके अभाव का ग्रहण भी उसी इन्द्रिय से होता है'। इस नियम को बतलाते हुए भी 'तत्तत् प्रतियोगी' के 'उपलम्भाभाव' को भी सहकारी कारण रूप से स्वीकार करते हैं।

मीमांसकों की अनुपलब्धि (अभाव)—परन्तु मीमांसकों का कहना है कि अर्थापत्ति तक पाँच प्रमाण 'केवल भावपदार्थ' के ग्राहक हैं, अभाव पदार्थ के नहीं। अतः 'अभाव पदार्थ' के ग्रहण के लिए एक अतिरिक्त 'अभाव' प्रमाण मानना चाहिए, जिसे 'अनुपलब्धि' भी कहते हैं। मीमांसकों का यह छठा प्रमाण है।[1] इस प्रकार छह प्रमाण मानने में श्रीमद्वाल्मीकिरामायण का वचन भी सहायक है[2]। किन्तु गागाभट्ट इससे सहमत होते नहीं प्रतीत हो रहे हैं। वे कहते हैं कि वास्तव में 'अर्थापत्ति और अनुपलब्धि' में भेद एवं 'अनुमान' से उसका पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता[3]।

(१) मीमांसकों की विचार-पद्धति में परस्पर संघर्ष और उसका मीमांसा के विकास पर प्रभाव

भट्ट और प्रभाकर

शबरस्वामी के पश्चात् भट्टकुमारिल और प्रभाकर इन दोनों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हो जाने से इस शास्त्र में दो सम्प्रदाय चल पड़े।

प्रभाकर के सिद्धान्तों का अच्छी तरह अध्ययन करने के लिए पर्याप्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। गिनती के केवल दो-चार ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, जो प्रकाशित भी हैं। उनमें पहला—शालिकनाथ कृत प्रकरणपंचिका, दूसरा—नन्दीश्वरकृत प्रभाकरविजय, तीसरा—तंत्ररहस्य, चौथा—वाक्यार्थरत्नम् और पाँचवाँ—भाष्य-व्याख्यान रूप 'बृहती-लघ्वी', जो प्रभाकर की स्वयं अपनी रचना कही जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन-सामग्री उपलब्ध नहीं है, जो प्रभाकर के समग्र सिद्धान्तों को अच्छी तरह बतला सके।

चौखम्बा-मुद्रित प्रकरणपंचिका में प्रकरण-रचना के 'क्रम' की आलोचना— शालिकनाथ की मुद्रित 'प्रकरणपंचिका' में १४ प्रकरण उपलब्ध होते हैं। उनमें प्रथम प्रकरण 'शास्त्रमुख' है, जिसमें जिज्ञासाधिकरण पर विचार किया गया है। चोदनासूत्र पर भाष्यकार के द्वारा प्रतिपादित शब्द के 'अर्थव्यभिचारित्वाभाव' का समर्थन करने के लिए 'नीतिपथ' नाम का द्वितीय प्रकरण है। तृतीय प्रकरण में 'जातिनिर्णय' किया गया है। 'नयवीथि' नामक चतुर्थ प्रकरण में सभी 'ज्ञानों' को यथार्थ बतलाया गया है। इसके पश्चात् प्रमाणों का निरूपण किया गया है, इसलिए

---

१. शाब० भा० १।१।५ तथा 'अभावो वा प्रमाणेन·······भावात्मकात् पृथक् ॥'
(श्लो० वा० अभाववाद श्लो० ५५)

२. 'राम षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते'।

३. 'वस्तुतस्त्वर्थापत्त्यनुपलब्ध्योरन्योन्यभेदमनुमानाच्च भेदन्नाकलयाम इति'।

इस प्रकरण को 'प्रमाण-पारायण'[1] नाम दिया गया है। व्याख्यारूप इस प्रकरण की मूल कारिकाओं को छठे प्रकरण में दिखलाया गया है, जिसे 'अमृतकला' कहते हैं। इस प्रकार 'प्रत्यक्षसूत्र' तक के विषयों को बतला चुकने पर शब्दार्थ-सम्बन्ध का नित्यत्व साधने के लिए 'विमलाञ्जन' नाम का सप्तम प्रकरण रचा गया है। यहाँ के सूत्र पर व्याख्या करते समय भाष्यकार के द्वारा प्रतिपादन किये गये 'आत्मास्तित्व' को 'तत्त्वालोक' नामक प्रकरण से बतलाया गया है। इसके पश्चात् शब्द-नित्यत्व और शब्दाधिकरण का विचार 'न्यायशुद्धि' नामक प्रकरण में किया गया है। इसके बाद मीमांसाजीवरक्षा'[2] नामक प्रकरण है, जिसमें क्षणिकत्व का निराकरण किया है। इसके पश्चात् जो प्रकरण है उसे 'वाक्यार्थमातृका' नाम दिया गया है। इसमें दो परिच्छेद हैं, उनमें से प्रथम परिच्छेद में 'अभिहितान्वयवाद' का खण्डन कर 'अन्विताभिधानवाद' का समर्थन किया है और सूत्र तथा भाष्य का स्वारस्य 'अन्विताभिधानवाद' में ही है, 'अभिहितान्वयवाद' में नहीं है। यह बतलाया है। द्वितीय परिच्छेद में—अलौकिक कार्य में 'लिङादि' की शक्ति है और लोक व्यावहारिक क्रियाकारक में लक्षणा है, यह सयुक्तिक रीति से बतलाया गया है। इसके आगे 'धात्वर्थ' का भावना में अन्वय बतलानेवाला 'विषयीकरण' नाम का बारहवाँ प्रकरण है। प्रमाणों का विचार करते समय ही कर्मभेदक 'शब्दान्तरादि' प्रमाणों को बतलाकर प्रथम और द्वितीय अध्याय के स्वसम्मत पदार्थों को प्रकरणों के द्वारा बतला चुकने पर तीसरे अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक के पदार्थों को बतलाने के लिए 'अंगपारायण' नाम का प्रकरण रचा गया है। इसमें भी दो प्रकरण हैं। प्रथम में 'सन्निपत्योपकारक' अंगों का विवेचन है और द्वितीय में 'आरादुपकारकों' का। उसके अनन्तर विशेषरूप से 'अतिदेशविशेष' को बतलाने के लिए 'अतिदेशपारायण' नामक अन्तिम प्रकरण लिखा गया है, जिसमें भट्टमत के अनुसार 'उपदेशातिदेश' के विषय-वैलक्षण्य का खण्डन कर दोनों एकविषयक ही हैं और इसी में मीमांसा संगत होती है इत्यादि। इस रीति से प्रभाकरमत के अनुसार 'प्रकरणपंचिका' नामक ग्रन्थ की रचना की गई है।

परन्तु इस रचनाक्रम पर आलोचना की दृष्टि से विचार करने पर इस क्रम में अनौचित्य प्रतीत होता है। जैसे—'जातिनिर्णय' प्रकरण को तृतीय स्थान दिया गया है, परन्तु वह उचित नहीं है, किन्तु शब्दार्थसम्बन्धविचार के पश्चात् या शब्दप्रमाण-निरूपण के पश्चात् उसे होना चाहिए था। अन्य प्रकरणों का क्रम तर्कपाद

---

१. चौखम्बा, काशी से मुद्रित 'प्रकरणपंचिका' में 'प्रमाणपारायण' के पश्चात् 'अमृतकला' प्रकरण दिया गया है, किन्तु 'अमृतकला' प्रकरण मूल होने से प्रथम देकर पश्चात् उसका व्याख्यानरूप 'प्रमाणपारायण' देना चाहिए था।

२. चौखम्बा, काशी से मुद्रित 'प्रकरणपंचिका' में यह प्रकरण अपूर्ण मुद्रित हुआ है, किन्तु अब का० हि० वि० वि० से सम्पूर्ण प्रकरण मुद्रित हो चुका है।

के भाष्यक्रम के अनुसार रखना चाहिए था। बहुत सम्भव है कि लेखक या किसी अन्य के प्रमाद से अस्थान में प्रकरणों का सन्निवेश हो गया हो।

शालिकनाथ के ग्रन्थ का विषय-निरूपण-क्रम देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसके निर्दिष्ट मार्ग का अवलम्बन कर ही उसके मत का खण्डन करने के लिए प्रवृत्त हुए पार्थसारथिमिश्र ने अपनी न्यायरत्नमाला में विषय-विवेचन का क्रम वैसा ही किया हो।

पूर्वषट्क और उत्तरषट्क पर विचार-विमर्श—उपदेश और अतिदेश के भेद से शब्द-प्रमाण दो प्रकार का होता है। उनमें प्रथम उपदेशाश्रित पूर्वषट्क और दूसरा अतिदेशाश्रित उत्तरषट्क कहलाता है। दूसरे के अंगरूप से निर्णीत पदार्थों को अन्य किसी दूसरे के अंगरूप में बतलाने वाला प्रमाण 'अतिदेश' कहलाता है। इस विषय में प्राभाकरों का कहना है कि तत्तद् वचनों से विहित हुए विकृति कर्मों को अंगों की अपेक्षा होने पर ही दूसरे कर्म के अंग वहाँ लिये जाते हैं।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि औपदेशिक पदार्थों की आकांक्षापूर्ति के लिए अध्याहृत पदार्थों को भी औपदेशिक ही समझ लेना चाहिए। अन्यथा 'विश्वजिता यजेत' में अध्याहृत फलसम्बन्ध का औपदेशिकत्व नष्ट हो जायगा।

इसी प्रकार विकृतियों में औपदेशिक अंगों का भी विकृति से सम्बन्ध होने के पूर्व ही अन्यांगत्व ज्ञात होने से पुनः अन्यांगत्व-बोधन होने पर अतिदेश कहा जाता है। इतने मात्र से अतिदेश को उपदेश से बिलकुल ही पृथक् नहीं समझ लेना चाहिए। इसलिए उपदेशविषय को पूर्वषट्क और अतिदेशविषय को उत्तरषट्क इस रीति से भेद दिखलाना उचित नहीं है।

किन्तु उपदेश-विषय को पूर्व और उपदेशकार्य-विषय को उत्तर समझना चाहिए। प्रकृति में उपदेश से ज्ञात हुए पदार्थों का अंगत्व-निर्वाह करने के लिए उनके कार्यरूप-प्रधानकर्मोपकार की कल्पना कर ली जाती है।

तात्पर्य यह है कि कल्पना करना उपदेश के अधीन है, इसलिए उपदेश के उपजीव्य कोटि में आने से 'पूर्वषट्क' उपदेश का विषय है।

और विकृतिकर्मों में कार्यभूत उपकार की ही प्रथम अपेक्षा होने से प्रकृति से उसकी प्राप्ति होने पर तज्जनकरूप से पदार्थों की प्राप्ति अंगरूप में पीछे से होती है। अभिप्राय यह है कि विकृति का पदार्थोपदेश उपकाररूप कार्य के अधीन होने से विकृति के अंगों का विचार करने के लिए प्रवृत्त हुआ 'उत्तरषट्क' उपदेश के कार्य का विषय है।

मीमांसा के अध्यायों में कुमारिल और प्रभाकर की दृष्टि से विषय की विभिन्नता—अध्यायों में भी प्रथम अध्याय का विषय धर्मप्रमाण, विधि, अर्थवाद, मंत्र, नामधेय, स्मृति और आचार बतलाये गये हैं, किन्तु गुरुमत के अनुयायी इसे स्वीकार नहीं करते। इनके मत से 'धर्म' में प्रमाण केवल 'विधि' ही है। उसी का प्रामाण्य सुदृढ़ करने के लिए अन्यान्य बातों का भी विचार किया गया है।

इसी तरह गुरुमत में कुमारिल की तरह कर्मभेदपुरःसर 'भावनाभेद' द्वितीय अध्याय का विषय नहीं है। किन्तु तत्तत्पदार्थविधायक वाक्यरूप शास्त्रभेद, द्वितीय अध्याय का विषय है। 'शब्दान्तरादि प्रमाणों' को भी शास्त्रभेदक रूप से ही बतलाया गया है। 'संख्या' तो केवल भावार्थ की भेदिका है, शास्त्र की नहीं।

तृतीय अध्याय में कुमारिल भट्ट के मत से प्रतिपादित अवान्तर प्रकरण को ये प्राभाकर नहीं मानते।

पंचम अध्याय में भी 'श्रुत्यादि प्रमाण-प्रमेयरूप क्रम' का विधेयत्व भट्टमत की तरह इन्हें सम्मत नहीं है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या 'क्रम' की विवक्षा न की जाय? तब इस प्रश्न का समाधान प्राभाकर किसी तरह कर देते हैं।

दशमोध्याय में 'बाध' का विचार किया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि 'बाध्य पदार्थ' को विकृति में अतिदेश के द्वारा नहीं लाया जाता। प्रबल प्रमाण के द्वारा तृतीय अध्याय में स्थित दुर्बल प्रमाण का बाध 'अप्राप्त बाध' कहलाता है और दाशमिक बाध 'प्राप्त बाध' कहा जाता है—बहुत प्राचीनकाल से यह भेदप्रतिपादन का प्रकार चलता आया है। भाट्टमत का अनुसरण करने पर 'दाशमिक बाध' को भी अप्राप्त बाध कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। यह देखकर गुरुमतानुयायियों ने बाध्य-पदार्थों की भी 'अतिदेश' के द्वारा विकृति में प्राप्ति बतलाकर प्राकृत कार्य के न होने पर 'अनुष्ठानाभावरूप बाध' बतलाया है। इस प्रकार गुरु के मत में तथा कुमारिल भट्ट के मत में अध्यायार्थ-निरूपण का प्रकार भिन्न-भिन्न पाया जाता है।

प्रमाणों की स्वीकृति में कुमारिल, नैयायिक और प्रभाकर की विभिन्न विचार-धारा—भट्टपाद के द्वारा स्वीकृत छह प्रमाणों में से अन्तिम 'अनुपलब्धि' प्रमाण का निरसन कर अवशिष्ट पाँच प्रमाणों को ही गुरु ने माना है। 'प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण' भावविषयक होने से अभावविषयक 'एक प्रमाण' पृथक् से मानना आवश्यक है, जिसे 'अनुपलब्धि' कहते हैं—यह कुमारिल भट्टपाद का कहना है।

किन्तु नैयायिक यह कहते हुए इसका खण्डन करते हैं कि जिन भावपदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादिप्रमाण कराते हैं, उनके अभाव का ज्ञान भी वे ही कराते हैं।

प्रभाकर इससे भी एक कदम आगे बढ़ते हैं। इनका कहना है कि अभाव नामक प्रमेय ही अप्रसिद्ध है, तब उसके ज्ञान के लिए प्रमाणान्तर के स्वीकार की क्या आवश्यकता? यह कहते हुए प्रभाकर 'अनुपलब्धि प्रमाण' को नहीं स्वीकार करते।

ज्ञान की यथार्थता व अयथार्थता में कुमारिल और प्रभाकर की विचार सरणि—सभी शास्त्रकार कुछ ज्ञान यथार्थ और कुछ ज्ञान अयथार्थ मानते हैं। परन्तु प्रभाकर इस बात से सहमत नहीं हैं। इनका अपना मत है कि कभी भी कोई ज्ञानव्यक्ति अयथार्थ नहीं होती। जो भ्रान्ति-व्यवहार होता है वह भेद-ज्ञान के न हो सकने से ही होता है। जैसे कोई व्यक्ति 'शुक्ति' को प्रत्यक्ष देखता है। वहाँ पर स्फुरित होनेवाला चाकचक्यरूप रजत-सादृश्य है, वह शुक्ति के आकार को तिरोहित करता है और रजत की स्मृति कराता है। तब 'शुक्ति' और 'रजत' में भेद-ग्रहण नहीं हो पाता।

अतः उस समय का ज्ञान 'भ्रान्ति' शब्द से कहा जाता है। वास्तव में उस समय एक ही ज्ञान नहीं है, अपितु दो ज्ञान हैं। एक 'इदम्' इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक और दूसरा 'रजतम्' इत्याकारक स्मरणात्मक ज्ञान। यहाँ पर शुक्तिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान अयथार्थ तो है नहीं और न रजत-विषयक स्मरणात्मक ज्ञान ही अयथार्थ है। इनके मत में ज्ञान स्वयंप्रकाश है, अनुमेय नहीं है। भट्टपाद ज्ञान को 'अनुमेय' मानते हैं।

ज्ञान की 'प्रत्यक्षता' भी नैयायिकों की तरह प्रत्यक्षात्मक ज्ञानान्तर की विषयतारूप नहीं है, किन्तु समस्त ज्ञानव्यक्तियाँ नियमित रूप से स्वसंवेद्य होती हैं, अतः उनमें स्वात्मक ज्ञानविषयत्व ही होता है।

ज्ञान के प्रामाण्य में प्रभाकर और कुमारिल का प्रकार-भेद—स्मृति और अनुभव के भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। उनमें से अनुभव को यथार्थानुभवत्वरूप प्रामाण्य जिसे प्रमात्व भी कहते है, नैयायिकों ने माना है; परन्तु भाट्टमीमांसकों ने 'अनधिगत अबाधित-अर्थविषयत्वरूप प्रामाण्य' बतलाया है।

किन्तु इसमें भी प्रभाकर ने अपना एक नवीन मार्ग स्वीकार किया है। वह 'अनुभव' में अनधिगतार्थ विषयता को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने 'अनुभवत्वमेव प्रमाणत्वम्' कह दिया है[1]। अन्यथा व्याप्तिग्रहण के समय ही 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्'—अर्थात् जो जो धूमवान् होता है वह अग्निमान् होता है—इत्याकारक व्याप्तिग्रह से सभी धूमवाले देशों में अग्निमत्व का ज्ञान हो जाने से पर्वत पर धूम से अग्नि का जो अनुमान किया जाता है, वह गृहीत-ग्राही होने से उसमें स्मृति की तरह प्रामाण्य नहीं हो सकेगा।

किञ्च भट्टपादोक्त प्रमाण-लक्षण मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति हो सकेगी, किन्तु हम तो 'अनुभूति' को ही प्रमाण कहते हैं। इसलिए प्राभाकरोक्त प्रमाण-लक्षण के अनुसार अनुमान का प्रामाण्य सुरक्षित रह पाता है।

कुछ लोग पर्वतादि पक्ष में 'अगृहीतपूर्वत्व' स्थापित करने के लिए अनुमान में उपयुक्त होने वाली व्याप्ति का आकार ही अन्यथा बतलाते हैं।

शब्द-प्रामाण्य में कुमारिल और प्रभाकर का प्रकार-भेद—लौकिक-वैदिक उभयविध शब्दों में भाट्टमीमांसक तथा नैयायिक 'शब्दविधया' प्रामाण्य मानते हैं और वैशेषिक उपर्युक्त उभयविध शब्दों में 'अनुमानविधया' प्रामाण्य मानते हैं। किन्तु प्रभाकर ने एक तीसरा ही प्रकार अपनाया है। वह वैदिक शब्दों में 'शास्त्रविधया' प्रामाण्य मानते हैं और लौकिक शब्दों में 'अनुमानविधया'।

प्रमाणभूत शब्द पौरुषेय-अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का है। उनमें पौरुषेय शब्द को लोकव्यवहार में 'आप्तवाक्य' कहते हैं—यह कौमारिल का मत है, किन्तु प्रभाकर इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि लौकिक वाक्यों को 'प्रमाण शब्द' नहीं कह सकते। 'वेदात्मक अपौरुषेय' वाक्य को ही 'प्रमाण' शब्द से कह सकते हैं।

---

१. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्'—बृहती १।१।५।

इस रीति से लोकव्यवहार में भले ही किसी पौरुषेय-शब्दविशेष का अप्रामाण्य रहे, किन्तु वेद में किसी भी पुरुष की सम्भावना न होने के कारण अर्थात् वेदों का कर्ता कोई भी न होने से 'अपौरुषेय' होने के कारण विसंवाद की शंका उठने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। क्योंकि शब्दविसंवाद में कारणभूत दोष, प्रयोक्ता व्यक्ति के आश्रय से रहते हैं। यदि व्यक्ति का ही अस्तित्व नहीं है तो उसमें रहनेवाले 'भ्रम-प्रमाद' आदि दोषों की शंका को स्थान कैसे मिल सकता है?

लौकिक शब्दों को प्रमाण मानने में प्राभाकरों को यह आपत्ति है कि कहीं-कहीं प्रामाण्य-व्यभिचार दिखलाई पड़ता है, ठीक उसी तरह वैदिक शब्द में भी वही शंका हो सकती है, इसलिए यह प्राभाकर लौकिक शब्दों को प्रमाण नहीं मानते।

किन्तु व्यवहार में लौकिक शब्दों का प्रामाण्य तो प्रसिद्ध है, अन्यथा लोकव्यवहार ही नहीं चल सकेगा। प्रभाकर इसका अपलाप कैसे कर सकते हैं? इसका समाधान शालिकनाथ ने बड़ी सुन्दरता से किया है।

लिङर्थ में प्रभाकर और कुमारिल का मतभेद—कुछ लोग दश लकारों में तिङ् प्रत्यय का अर्थ 'कृति' (प्रयत्न), कुछ लोग 'कर्ता', कौमारिल उसका अर्थ 'आर्थीभावना' करते हैं, किन्तु प्रभाकर केवल लिङ्स्थल में 'तिङ्' (आख्यात) का अर्थ 'कृति' मानते हैं, सभी लकारों में नहीं। इसी तरह लिङादि विधिप्रत्ययों का प्रवृत्त्यनुकूलव्यापाररूप प्रवर्तना चोदना आदि रीति से सामान्यतया व्यवहृत होनेवाली शब्दभावना अर्थ है, किन्तु प्रभाकर उनका अर्थ नियोग (अपूर्व) बतलाते हैं।

कुमारिल के मत में श्रुतार्थापत्ति का स्वीकार—नैयायिक लोग अपूर्व को अनुमेय कहते हैं। संसार में पुरुष-बुद्धि की विचित्रता इतनी है कि उसे सोचा नहीं जा सकता, अतः अनुमान की व्यवस्था होना असम्भव होने से 'अपूर्व' की सिद्धि में सन्देह हो जाता है, इसलिए उस 'अपूर्व' को श्रुतार्थापत्तिगम्य माना है, जो श्रुतार्थापत्ति वेदवाक्य के ज्ञान पर निर्भर है—कौमारिल ने स्वीकार किया है।

प्रभाकर के मत में श्रुतार्थापत्ति का अस्वीकार—परन्तु उससे भी 'अपूर्व' को सुप्रतिष्ठित न होता देख गुरुमतानुयायियों ने उसे साक्षात् शब्दवाच्य बतलाया है। वेद में लिङ् के द्वारा अपूर्व का कथन संभव होने पर भी लोक में लिङ् का प्रयोग कैसे हो सकेगा? क्योंकि प्रथम 'अपूर्व' को जानकर पश्चात् उसके तात्पर्य से विधिप्रत्यय का प्रयोग किसी को करते नहीं पाया गया है। इस आक्षेप पर यह समाधान दिया जाता है कि वह लाक्षणिक प्रयोग है।

भट्टसम्मत अर्थापत्तियों में 'श्रुतार्थापत्ति' को प्राभाकर नहीं मानते। प्रभाकर के मत से पदार्थों की संख्या को नारायण पण्डित ने लिखा है—'यथाहुः प्राभाकाराः'—

'द्रव्यं गुणः कर्म च जातिशक्ती सादृश्यसंख्ये समवाय एते।
अष्टौ पदार्था इह तान् विभज्य संक्षिप्य वक्ष्यामि गुरोर्मतेन'॥

कुमारिल के समान इनके मत में 'वायु' तथा 'आकाशादि' का प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रभाकर 'तम' को द्रव्य नहीं मानते। वे 'शब्द' को भी द्रव्य न मानकर

आकाश का गुण मानते हैं। 'मन' को 'विभु' नहीं मानते, किन्तु 'अणु' कहते हैं। नित्यसंयोग भी इनके मत में नहीं है। प्रभाकर-मत में 'आत्मा' को क्रियावान् नहीं स्वीकार किया गया है। कुमारिल के अनुसार आत्मा का मानसप्रत्यक्ष इन्हें भी स्वीकार है। 'अहम् आत्मानं जानामि' (मैं अपने को जानता हूँ) इस अनुभववाक्य में कर्त्ता को अपना 'अस्तित्व' जाननेवाला बतलाया गया है। इस आत्मप्रत्यय का विषय 'आत्मानं' कौन है ? तो यही 'आत्मा' है। इस रीति से कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्त्ता तथा 'विषय' दोनों मानते हैं।

किन्तु प्रभाकर आत्मा को 'अहं प्रत्ययवेद्य' ('अहं' पद के द्वारा जाना गया) मानते हैं। प्रत्येक ज्ञान के कर्तृरूप में 'आत्मा' की सत्ता है। 'घटमहं जानामि' (मैं घड़े को जानता हूँ) इस अनुभववाक्य में घट-ज्ञान का कर्त्ता 'आत्मा' है। अतः प्रत्येक ज्ञान के 'कर्तृरूप' में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत हो रहा है।

अभिहितान्वयवादी कुमारिल—'पदों' में अपने अर्थ का बोधन कराने की स्वाभाविक शक्ति होती है। यह शक्ति केवल पदार्थ का ही बोधन नहीं कराती, बल्कि 'इतरान्वित पदार्थ' का बोधन कराती है, अतएव भट्टमत में तत्तत्पदों से पदार्थ-मात्र के अभिहित होने पर भी 'परस्परान्वयरूप वाक्यार्थ' के लिए उनकी पुनः लक्षणा करनी पड़ती है। इसी कारण भाट्टमतानुयायियों को 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर—प्राभाकर-सम्प्रदायी परस्परान्वयरूप वाक्यार्थ को भी तादृश पदार्थों में विशेषण के रूप में शक्य अर्थात् पदवाच्य मानते हैं। इसी कारण यह अन्विताभिधानवादी नाम से प्रसिद्ध हैं। इस अन्विताभिधान के अनुकूल शक्ति के द्वारा वैदिक पद जब ज्ञान कराते हैं तब उस ज्ञान में 'स्वतःसिद्ध प्रामाण्य' होने से 'वेदवाक्यों का प्रामाण्य' स्वतःसिद्ध एवं अप्रकम्प्य रूप से स्थिर होता है।

स्वतःप्रामाण्य में दोनों की एकता—लौकिक व्यवहार में शब्द का विसंवाद दिखलाई देने पर वह प्रमाण नहीं समझा जाता, उसी तरह वेद में भी हो जाने पर उसका प्रामाण्य कैसे स्थिर समझा जा सकता है ? ऐसा सन्देह किया जा सकता है। किन्तु भाट्टमतानुयायी इस पर ऐसा समाधान देते हैं—लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ में विसंवाद होने पर शब्द-प्रयोक्ता में भ्रम, प्रमाद, करणापाटव आदि दोषों की खोज की जाती है और उन दोषों में से किसी भी दोष के उपलब्ध होने पर उन शब्दों से उत्पन्न हुए ज्ञान में स्थित स्वतःप्रामाण्य का विनाश हो जाता है तथा दोष के कारण उस ज्ञान में 'अप्रामाण्य' पैदा हो जाता है। यही कारण है कि मीमांसकों ने ज्ञान में प्रामाण्य को 'स्वतः' और अप्रामाण्य को 'परतः' माना है।

वैयाकरणों की शाब्दबोध-प्रक्रिया—शाब्दबोध के विषय में दार्शनिकों की चार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। वैयाकरणों की शाब्दबोध-पद्धति में 'धात्वर्थ' ही मुख्य विशेष्य-तया भासता है और पदार्थ प्रकारतया (विशेषरूप से) भासते हैं। जैसे—'देवदत्तः

तण्डुलैः ओदनं पचति' इस वाक्य में पच्-धातु का अर्थ पाक है। यही 'मुख्य-विशेष्य' है। इसी में तण्डुल का 'करणतासम्बन्ध' से अन्वय होता है। इसी तरह ओदन का 'कर्मतासम्बन्ध' से अन्वय है। देवदत्त का 'कर्तृतासम्बन्ध' से अन्वय है। निष्कर्ष यह हुआ कि पच्धात्वर्थ पाक रूप मुख्य विशेष्य में तण्डुल, ओदन, देवदत्त आदि तत्तत्सम्बन्ध से विशेषण है अर्थात् 'प्रकार' हैं। अब शाब्दबोध इस प्रकार हुआ— 'देवदत्तकर्तृकः तण्डुलकरणकः ओदनकर्मकः पाकः'।

मीमांसकों की शाब्दबोध-प्रक्रिया—भाट्टमीमांसकों की शाब्दबोध-पद्धति में 'भावना' ही मुख्य विशेष्यतया भासती है। अन्य सब उसमें विशेषण रूप से रहते हैं। जैसे— 'देवदत्तः तण्डुलैः ओदनं पचति' इस वाक्य में आख्यातार्थ भावना ही मुख्य विशेष्य है। उसी में पाक (धात्वर्थ) करणतासम्बन्ध से प्रकार है। मीमांसकों के मत में धात्वर्थ करण होता है। क्रिया शब्द से उसका व्यवहार औपचारिक (लाक्षणिक) है। वैयाकरण लोग धात्वर्थ को ही क्रिया मानते हैं। ओदन का कर्मतासम्बन्ध से प्रकारतया अन्वय और देवदत्त का कर्तृतासम्बन्ध से प्रकारतया अन्वय होता है। अब उनके मत से शाब्दबोध का स्वरूप इस प्रकार हुआ—'तण्डुलनिष्ठकरणता-निरूपता ओदननिष्ठकर्मता निरूपिता देवदत्तनिष्ठकर्तृता निरूपिता भावना'।

नैयायिकों की शाब्दबोध-प्रक्रिया—नैयायिकों के मत में 'प्रथमान्तार्थमुख्य-विशेष्यक' शाब्दबोध माना जाता है अर्थात् प्रथमान्त पद से उपस्थित अर्थ मुख्य विशेष्य रहता है। उसमें आख्यातार्थ कृति आश्रयत्वसम्बन्ध से प्रकार है। 'कृति' में धात्वर्थ-पाक अनुकूलतासम्बन्ध से प्रकार है। शाब्दबोध का आकार इस प्रकार हुआ—'तण्डुलनिष्ठकर्मतानिरूपितपाकानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः'।

प्राभाकरों की शाब्दबोध-प्रक्रिया—प्रभाकर मीमांसकों के मत में 'कार्यमुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध' होता है। लिङ् आदि विधि प्रत्यय का वाच्य 'कार्य' होता है। वह कार्य, नियोग, अपूर्व आदि शब्दों से भी कहा जाता है। शाब्दबोध में यह मुख्य विशेष्य होता है। 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में लिङर्थ हुआ 'कार्य'। उसमें 'स्वर्गकाम' का नियोज्यत्वसम्बन्ध से अन्वय होता है और 'धात्वर्थ याग' का विषयत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। शाब्दबोध का स्वरूप इस प्रकार निष्पन्न हुआ— 'स्वर्गकामनियोज्यकं यागविषयकं कार्यम्'। अहोबलसूरि ने अपने 'वाक्यार्थरत्न' में इस विषय का बड़ी सुन्दरता के साथ विवेचन किया है। यद्यपि इस विषय का विवेचन बृहती, ऋजुविमला, पंचिका, नयविवेक, प्रभाकरविजय, तंत्ररहस्य आदि ग्रन्थों में भी विशदरूप से किया गया है, तथापि इसकी भाषा एवं प्रतिपादन शैली सुन्दर तथा सरल है।

कर्मानुष्ठान के समीप का पक्ष—वाक्यार्थ के सम्बन्ध में यही चार मत प्रसिद्ध हैं। यहाँ इनके स्वरूप का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। इन मतों में से भावना-वाक्यार्थ-पक्ष तथा कार्यवाक्यार्थ-पक्ष कर्मानुष्ठान के सन्निहित प्रतीत होता है। दोनों अलौकिक हैं, अर्थात् शास्त्रैकसमधिगम्य हैं। दोनों में से किसी एक को मानने पर शास्त्रप्रामाण्य या वेदप्रामाण्य सुरक्षित रहता है। प्रथमान्तार्थ या धात्वर्थ-

पक्ष इन दोनों में से कोई भी पक्ष शास्त्रप्रामाण्य या वेदप्रामाण्य का सहकारी नहीं होता। इसलिए मीमांसकों ने वैयाकरणाभिमत या नैयायिकसम्मत 'धात्वर्थ' या प्रथमान्त शाब्दबोध को स्वीकृत नहीं किया।

जातिवाद—'ब्राह्मणत्वादि' जातिवाद का खण्डन-मण्डन प्राचीन काल से चला आ रहा है। कुछ लोगों ने ब्राह्मणत्वादि जाति का समर्थन किया है। कुछ लोगों ने ब्राह्मणत्वादि जाति को कर्मणा माना है। यह महाभारत के अजगरोपाख्यान में प्रसिद्ध है। मीमांसादर्शन के प्रथमाध्याय-प्रथमपाद के द्वितीय अधिकरण में 'शास्त्रदृष्ट-विरोधाच्च' सूत्र के वार्तिक में कुमारिल ने ब्राह्मणत्वादि जाति को प्रत्यक्ष-सिद्ध माना है। कुमारिलकृत इस सिद्धान्त का शालिकनाथ ने प्रकरणपंचिका के जातिनिर्णय नामक चौथे प्रकरण में खण्डन कर 'ब्राह्मणत्व' को उपाधिरूप माना है। इसमें केवल कुमारिल-सिद्धान्त का खण्डन करना ही मुख्य लक्ष्य है। तथापि ब्राह्मण-मातापितृ-सन्तति-प्रभवत्व को ही ब्राह्मण शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया है।

इससे नास्तिकवादियों को कहने का अवसर मिल गया कि प्रभाकर ने भी ब्राह्मणत्वजाति का खण्डन किया है। इसी बात को लेकर आजकल के कुछ लोग भी प्रभाकर की आड़ में आकर 'ब्राह्मणत्वादि जाति का खण्डन मीमांसा में भी है'—इत्यादि लिखते और कहते हैं। अब यह विचारणीय है कि शालिकनाथ ने ब्राह्मणत्व-जाति का जो खण्डन किया तो उनके मत के अनुसार अवेष्टयधिकरण, आधानाधि-करण, रथकाराधिकरण, निषादस्थपत्यधिकरणों में भी इसी तरह से उपाधिरूप मानना होगा, किन्तु वहाँ जाति मानी गई है। दूसरी बात यह है कि सूत्र, भाष्य, टीका ग्रन्थ आदि सभी का अन्यथा व्याख्यान करना होगा। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि वेदों में, पुराणों में तथा इतिहास आदि में सर्वत्र ब्राह्मणादि शब्द जाति-वाचक रूप से प्रयुक्त हैं। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मणत्वादि जाति का निराकरण करना कुमारिल-द्वेष के सिवाय दूसरा कोई कारण ज्ञात नहीं होता। इसलिए किसी आधुनिक का जनता-जनार्दन को खुश करने के लिए जो आक्षेप है, वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का कर्मानुष्ठान से सम्बन्ध—अभिहिता-न्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद दोनों में शक्तिकल्पना, कार्यकारणभावकल्पना, सूत्रभाष्य को लगाना आदि बातें तुल्य हैं। ऐसा होते हुए भी अभिहितान्वयवाद को ही ठीक बतलाना और अन्विताभिधानवाद को ठीक न बतलाना या अन्विताभिधान-वाद को ही ठीक बतलाना और अभिहितान्वयवाद को ठीक न बतलाना अभिनिवेश मात्र होगा। वेदान्त-सम्प्रदाय में भी चित्सुखाचार्य, मण्डनमिश्र, वाचस्पतिमिश्र प्रभृति ग्रन्थकारों ने अभिहितान्वयवाद का अवलम्बन कर अखण्डार्थवाद का समर्थन किया है, वहीं पर अन्विताभिधानवाद का खण्डन भी किया है।

खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार अभिनवद्राविड बालकृष्णानन्द सरस्वती, जो विद्यासागर मुनि के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्होंने अपनी न्यायचन्द्रिका में अभिहितान्वय-

वाद का खूब खण्डन किया है। 'व्यवहारे भाट्टनयः' इस वचन के लिए कहा है कि क्या यह मनु-वचन है ? और अन्विताभिधानवाद का समर्थन किया। टीकाकार द्वैत-संप्रदायाचार्य जयतीर्थ ने अपनी टीका में भी अन्विताभिधानवाद का ही समर्थन किया है।

यहाँ 'कार्यान्वित अर्थ' में पदों की शक्ति होती है, ऐसा प्रभाकर का मत है। उनके शिष्य शालिकनाथ ने 'इतरान्विते पदानां शक्तिः' कहकर उसी पक्ष का समर्थन किया है।

नयविवेककार ने 'अन्वयान्वयिनि शक्तिः' माना है—पदों के 'अन्वित पदार्थ' में शक्ति होती है अर्थात् पद अन्वय को बिना बतलाये पदार्थ को नहीं बतलाता, अतः पद की 'पदार्थ' और 'अन्वय' दोनों में शक्ति होती है।

अन्य लोगों ने अन्वय शब्द का अर्थ 'विषय' माना है।

यह सब देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सबका वैमत्य विश्लेषण में भले ही हो, लेकिन 'अन्विताभिधानवाद' के मानने में कोई वैमत्य नहीं है।

मधुसूदन सरस्वती ने अखण्डार्थवाद के प्रसंग में 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दोनों का निरूपण करते हुए दोनों में से किसी से भी अखण्डार्थ-वाद का समर्थन कर मध्यस्थता का अवलम्बन किया है। न्यायमत (तार्किक मत) को अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों से बहिर्भूत बतलाया है।

प्रकृत में मीमांसाशास्त्र कर्तव्य-अकर्तव्य पदार्थ का निर्णय करते हुए कर्मा-नुष्ठान को बतलाता है। उसमें 'अन्विताभिधानवाद' तथा 'अभिहितान्वयवाद' दोनों बराबर हैं। कर्मानुष्ठान में किसी से कोई हानि-लाभ नहीं दीखती। अतः इन दो वादों में से किसी एक को ही ठीक बतलाना और दूसरे को ठीक न बतलाना इत्यादि बातें विचारशीलों के मन में उठती ही नहीं।

दार्शनिकों में मीमांसकों का स्थान—एक समय था कि जब प्रमाण-प्रमेय का विचार करने में मीमांसक लोग अग्रगण्य माने जाते थे। अर्थात् प्रमाणवादी नैयायिकों का पक्ष इतना दुर्बल हो गया था कि नहीं के बराबर ज्ञान होने लगा। उस समय मीमांसकों ने प्रमाण-प्रमेयों का विचार तथा पदार्थों का निर्वचन बड़ी प्रगल्भता से किया। यही कारण है कि मीमांसा-ग्रंथों के नाम प्रायः न्याय शब्द से घटित हैं। इससे भी मीमांसा का वैशिष्टय स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। इस क्षेत्र में न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग, वेदान्त के साथ मीमांसा का बड़ा संघर्ष हुआ। उसी के परिणामस्वरूप मीमांसा के ग्रन्थों में प्रमाण-प्रमेयों का परिष्कार हुआ है। मीमांसा सूत्र और भाष्य दोनों में प्रमाणों का और कुछ प्रमेयों का निर्देश मात्र किया गया है और उनका विशद विवेचन कुमारिल तथा प्रभाकर ने किया है। इसी दार्शनिक शैली से पार्थसारथि आदि ने भी प्रमाण-प्रमेयों का विशद विवेचन किया है। शास्त्रदीपिका में प्रतिपादित प्रमाण-प्रमेयों की समालोचना उदयनाचार्य ने की है। इनके अनन्तरकालिक चिदानन्दपण्डित, नारायणभट्ट, गागाभट्ट, गौड-

ब्रह्मानन्द आदि ने उसका खण्डन कर मीमांसा के दृष्टिकोण से विशद विवेचना की है। न्याय-वैशेषिक के समान नवीन विचार-पद्धति से मीमांसाशास्त्र के अनुसार विध्यर्थ-विचार, आख्यातार्थ-विचार तथा कारक-विचार भाट्टरहस्य आदि ग्रन्थों में विशद रूप से किया गया है। अभिप्राय यह है कि न्याय-वैशेषिकादि आस्तिक दर्शनों एवं जैन-बौद्धादि नास्तिक दर्शनों के धुरन्धर विद्वानों ने मीमांसकों पर जब अनेक युक्ति-प्रत्युक्ति से पूर्ण तर्कों द्वारा आक्रमण किया तब परिणामस्वरूप दार्शनिक प्रमाण-प्रमेय प्रक्रिया में मीमांसक लोग नैयायिकों से आगे बढ़ गये, अर्थात् प्रमाण-प्रमेय प्रक्रिया को खूब अच्छी तरह परिष्कृत किया। इतना ही नहीं, बौद्धयुग तथा जैनयुग में मीमांसाशास्त्र का परिष्कार बहुत ही तीव्रगति से हुआ। उससे त्रस्त होकर शान्त-रक्षित ने कुमारिल का खण्डन करने के लिए 'तत्त्वसंग्रह' की रचना की, जो श्लोक-वार्तिक का अक्षरशः खण्डन है। जैन-ग्रन्थों में कुमारिल-ग्रन्थों के अनेकान्तवाद आदि के समर्थन में भट्ट कुमारिल का बहुत सम्मान किया गया है। धर्मकीर्ति ने विशेषकर प्रमाणवार्तिक में कुमारिल का खण्डन किया है। प्रज्ञाकरगुप्त ने अपने प्रमाण-वार्तिकालंकार-भाष्य में प्रभाकर (गुरु) के नियोगवाद पर ग्यारह विकल्प कर उसका खण्डन किया है, जिसका अनुवाद विद्यानन्द ने अपनी अष्टसाहस्री में ज्यों-का-त्यों किया है। मीमांसकों के शब्दप्रामाण्य पर नास्तिक दर्शनों में जो आक्षेप किये गये हैं, उससे मीमांसकों के सिद्धान्त और भी परिष्कृत होने लगे।

प्रभाकर-संप्रदाय एवं भाट्ट-संप्रदाय की प्राचीनता पर विचार

प्रभाकर-सम्प्रदाय अतिप्राचीन है अथवा कुमारिल-सम्प्रदाय ? इस प्रश्न पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से कुछ विचार किया जाय।

म० म० श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री[1] का मत है कि कुमारिल-सम्प्रदाय प्राचीन है और प्रभाकर-सम्प्रदाय अर्वाचीन।

किन्तु म० म० श्रीगंगानाथ झा[2] तथा प्रो० श्रीपशुपतिनाथ शास्त्री का मत इसके विपरीत है।

अब प्रश्न यह है कि दोनों सम्प्रदाय दोनों के अपने निर्मित हैं या अन्यान्य आचार्यों के हैं ?

इस पर कुछ विद्वानों का कहना है—'प्रभाकर-सम्प्रदाय भर्तृमित्राचार्य का निर्माण किया हुआ है और कुमारिल-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य के सम्बन्ध में पता नहीं चल पाया है।

1. 'Further Light on the Prabhakara Problem in the Proceedings of the Third Oriental Conference. 1924 pp. 474-481.

2. Prabhakara Mimansa : A reprint from 'Indian Thought'. pp. 12–17. Refer also Keith's A History of Sanskrit Literature. pp. 473–474

किन्तु कतिपय विद्वान् कहते हैं कि—"कुमारिल-सम्प्रदाय किसी अन्य वार्तिककार का प्रवर्तित किया हुआ है, जिनका उल्लेख प्रकरणपंचिका में 'वार्तिककार मिश्र' शब्द से किया गया है"।

परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह भर्तृमित्राचार्य प्रभाकर-मत के प्रवर्तक आचार्य नहीं हैं, अपितु अपवर्ष, भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, शंकर आदि के समान यह भी भाष्यकार हैं, न कि भाष्यव्याख्याकार। तभी सिद्धित्रयोक्ति[1] की उपपत्ति लग सकती है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त आचार्यों ने जैमिनि के सूत्रों पर भाष्य रचे थे या बादरायण के सूत्रों पर ?

विचार करने पर यह स्वीकार करना होगा कि भर्तृप्रपञ्च, शंकर आदि के साहचर्य से उक्त आचार्यों ने बादरायण के सूत्रों पर ही भाष्य रचे होंगे, जैमिनि के सूत्रों पर नहीं। इस स्थिति में भी नित्यकर्मों की निष्फलता को बतलानेवाले भर्तृ-मित्राचार्य के सिद्धान्त का कुमारिल भट्ट के द्वारा खण्डन किया जाना अनुपपन्न नहीं है।

यदि हम इस प्रकार भी कल्पना करें कि उक्त आचार्यों ने जैमिनिसूत्रों पर ही भाष्य रचे, तो उनकी यह रचना शबर की भाष्य-रचना के अनन्तर ही स्वीकार करनी होगी, इससे पूर्व नहीं। यदि पूर्व होती तो उपवर्ष की तरह उनका भी मण्डन या खण्डन के रूप में अवश्य उल्लेख हुआ होता। और प्रभाकर भी भर्तृमित्रविरचित अपने मूलभूत भाष्य की व्याख्या करना छोड़कर शबर के भाष्य पर विस्तृत व्याख्या क्यों करते ? इससे यह सूचित होता है कि सिद्धान्तों में ऐकदेशिक साम्य होने पर भी प्रभाकर-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भर्तृमित्राचार्य नहीं है।

कलकत्ता के प्राच्यविद्या सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन में म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्रीजी ने कुमारिल ही वार्तिककार मिश्र हैं, ऐसा बतलाया था।

किन्तु श्रीपशुपतिनाथ शास्त्री ने अपने मीमांसोपोद्घात नाम के प्रबन्ध में तथा अन्य निबन्ध में भी लिखा है कि प्रकरणपंचिका में जिस वार्तिककार मिश्र का खण्डन किया है वे प्रभाकर-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भर्तृमित्राचार्य नहीं हैं; और वार्तिककार मिश्र के नाम पर संगृहीत किये बहुत से श्लोक कुमारिल के श्लोक-वार्तिक में न मिलने से यह वार्तिककार मिश्र, कुमारिल भट्ट न होकर कोई अन्य ही वार्तिककार हैं। बीच-बीच में से जिनके वार्तिकों का संग्रह कर कुमारिल ने श्लोक-वार्तिक की रचना की होगी, इस कारण वार्तिककार मिश्र या वार्तिककार पाद के नाम पर संगृहीत कुछ वार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि में उपलब्ध नहीं होते।

दोनों पक्षों को ध्यान में रख नयविवेक के अन्तर्गत बृहती के द्वारा निरसनीय रूप में प्रदर्शित किये गये वार्तिककार कौन-से हैं ? इस सम्बन्ध में विवेचन कर लेना

---

१. यद्यपि भगवता बादरायणेन''''युक्तः प्रकरणप्रक्रमः'।

(यामुनाचार्यकृत सिद्धित्रय)

अनुचित न होगा। श्रीपशुपतिनाथ शास्त्री अपने मीमांसोपोद्घात में विवेचन करते हैं कि नयविवेक में निरसनीय रूप में निर्दिष्ट वार्तिककार कुमारिल नहीं हैं, क्योंकि वहाँ वार्तिककार की दशपक्षी को भी खण्डन के लिये प्रस्तुत किया गया है। श्लोकवार्तिक में प्रारंभिक भाष्य पर[१] कुमारिल की षट्पक्षी[२] तो दिखलाई देती है, परन्तु कुमारिल की दशपक्षी कहीं पर भी नहीं देखी गई। तब नयविवेक में खण्डन के रूप में निर्दिष्ट किये गये वार्तिककार कुमारिल कैसे हो सकते हैं?

किन्तु प्राच्यविद्या सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन में म० म० श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्रीजी नयविवेक की व्याख्या 'नयकोश'[३] आदि से अनेक प्रमाणों को उद्धृत कर कहते हैं कि नयविवेक में खण्डनार्थ निर्दिष्ट किये गये वार्तिककार कुमारिलपाद ही हैं, अन्य कोई नहीं।

श्लोकवार्तिक में दशपक्षी यद्यपि उपलब्ध नहीं है, तथापि कुमारिल-विरचित बृहट्टीका या मध्यमटीका, जो आजकल अनुपलब्ध[४] है, में उसका होना बहुत सम्भव है। अतः वार्तिककार मिश्र और कुमारिल भट्ट को एक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस सम्बन्ध में चार विकल्पों के द्वारा आलोचना कर सकते हैं—

प्रथम विकल्प—वार्तिक में उल्लिखित प्रारम्भिक भाष्य पर प्रस्तुत की गई षट्पक्षी कुमारिल की है या किसी अन्य की?

द्वितीय विकल्प—इस षट्पक्षी को यदि कुमारिल की ही स्वीकार करते हैं तो नयविवेक में निरसनीय रूप में उल्लिखित षट्पक्षी और श्लोकवार्तिक में प्रस्तुत की गई षट्पक्षी दोनों एक ही हैं या पृथक्?

तृतीय विकल्प-- यदि दोनों एक हैं तो नयविवेक के निरसनीय वार्तिककार कुमारिल ही हैं या अन्य कोई?

चतुर्थ विकल्प-- बृहट्टीका और मध्यमटीका में उक्त दशपक्षी का होना संभव है या नहीं?

विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि श्लोकवार्तिक में प्रस्तुत की गई षट्पक्षी कुमारिल की न होकर अन्य[५] किसी वार्तिकार की ही है, क्योंकि कुमारिल ने

१. 'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि·····'। (शाब० भा०)

२. 'लोक इत्यादिभाष्यस्य षडर्थान् सम्प्रचक्षते'। (श्लोकवा०)

३. मीमांसानयकोश—Manuscript in the Govt. Mss. Library, Madras, p. 10.

4. Page 121 of the Mss. of the Sarvadarshana Kaumudi in the Govt. Oriental Mss. Library, Madras.

५. 'षडर्थान् सम्प्रचक्षते' यहाँ प्र० पुरुष का प्रयोग किया है। (श्लो० वा० २६ (अ) पृ० ८, चौ० सं०।

प्रथम पुरुष का प्रयोग कर यह सूचित किया है कि प्रारम्भिक भाष्य[1] पर किसी दूसरे ने यह व्याख्या की है। आगे चलकर 'परे' 'केचित्' पदों का प्रयोग[2] भी निर्दिष्ट सूचना में पोषक है।

भाष्यकार के द्वारा खण्डन किये जाने के कारण 'अथातः' पद-समुदाय को एक ही पद करनेवाले भवदास आदि को भाष्य-व्याख्याता के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, किन्तु सूत्र-व्याख्याता के रूप में ही इन्हें स्वीकार करना होगा; और भर्तृमित्राचार्य को यदि सप्तदशार्थवादी प्राभाकर-सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाय तो ये षट्पक्षीकार कैसे हो सकते हैं?

अतः अवश्य ही यह स्वीकार करना होगा कि कुमारिल के समान भाष्य के अन्यान्य व्याख्याता भी हो चुके थे। इसलिए षट्पक्षी को कुमारिल की बतलाना उचित नहीं है।

अथवा षट्पक्षी को कुमारिल की मानने पर भी नयविवेक में उद्धृत षट्पक्षी वह नहीं हो सकती।

नयकोश के वाक्यों से इतना ही समझ में आता है कि दशपक्षी में दशम और षट्पक्षी में षष्ठ पक्ष 'औचित्यानुभाषण' है। किन्तु वार्तिक में प्रस्तुत किये गये षट्पक्षी का षष्ठ पक्ष 'अथ' शब्द की दूषणता का है[3]। अतः नयविवेक के द्वारा निरसनीय रूप में इस षट्पक्षी की संभावना कैसे की जाय?

नयकोशकार के विवरण[4] से यद्यपि यह प्रतीति होता है कि 'अथ' शब्द को दूषणपरक 'तत्र लोकेऽथ शब्दः' इत्यादि भाष्य से किया गया है और 'यत्नगौरवं प्रसज्येत' यहाँ तक के भाष्य से 'औचित्यानुभाषण' बतलाया गया है। अतः 'यत्नगौरवं प्रसज्येत' यहाँ तक के भाष्य का औचित्यानुभाषणपरत्व कुमारिल को भी सम्मत है। इसी कारण 'न्यायरत्नाकर' का विवरण[5] भी उपपन्न होता है। अतः 'अथशब्दस्य दूषणम्' इस वार्तिक से भी षष्ठ पक्ष 'औचित्यानुभाषण' की ही विवक्षा प्रतीत होने से कोई विरोध नहीं है। तब कैसे कहा जा सकता है कि नयविवेककार के निरसनीय वार्तिककार कुमारिल नहीं हैं?

तथापि अभी विचार करना होगा कि नयकोश में जिनका खण्डन किया गया है, उस वार्तिककार ने 'औचित्यानुभाषणपरत्व' ही स्वीकार किया है—इस कथन से ही उपर्युक्त वार्तिककार से कुमारिल की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि

---

१. 'लोके येष्वर्थेषु ....'। (शाब० भा०)

२. 'प्रत्याख्यानं तथा परे' 'परिसंख्यास्तुती केचित्'।

(श्लोकवा० २७, पृ० ९ चौ० सं०)

३. 'लोक इत्यादि भाष्यस्य.....शब्दस्य दूषणम्'। (श्लोकवा० २६-२७, पृ० ८-९)

४. 'अथशब्ददूषणार्थम् औचित्यानुभाषणपरत्वम्'। (नयकोश)

५. "अत्र पञ्चसु पक्षेषु 'यत्नगौरवपर्यन्तं पृथग्वाक्यम्। तत्र 'लोक' इत्यादि तु वाक्यान्तरम् अथशब्ददूषणार्थम्"। (न्यायरत्नाकर, पृ० २३, चौ० सं०)

कुमारिल ने तो 'अथ' शब्द के दूषण पक्ष की तरह 'परिसंख्या पक्ष' को भी स्वीकार किया है, केवल दूषण पक्ष का ही नहीं[1]।

अतः सभी प्रकार से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि नयविवेककार के निरसनीय षट्पक्षीकार कुमारिल नहीं है। इस कारण कुमारिल-सम्प्रदाय को पूर्ववर्ती और प्रभाकर-सम्प्रदाय को अनन्तर्वर्ती मानना उचित नहीं है।

(२) मीमांसा में अनेक परम्पराओं का प्रादुर्भाव और उनका आचार-विचारों पर प्रभाव

मानव मात्र को विचार करने की शक्ति निसर्ग से ही प्राप्त है। शिक्षा-दीक्षा के द्वारा वह शक्ति विकसित होती रहती है। आहार-विहार की सात्विकता से उसका उत्कर्ष होता जाता है। विचारशक्ति-सम्पन्न मानव में स्वाभिमान जागरूक रहता है और उसके अपने सिद्धान्त होते हैं। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' कहावत भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का होना कोई अशोभनीय नहीं है; निसर्ग का तो यह स्वभाव ही ठहरा। मानव की उत्पत्ति से लेकर अन्त तक सर्वदा से प्राचीनों के साथ नवीनों की विचार-विभिन्नता होती आई है और होती रहेगी। नवीन लोग अपनी सूक्ष्म बुद्धि से प्राचीनों का यथेष्ट अध्ययन कर उनके वास्तविक दोषों को समझ लेते हैं और उनका उद्घाटन कर देते हैं। कभी-कभी आवेश में अवास्तविक दोषों को भी कह बैठते हैं। तब उन दोषों का परिहार करने के लिए किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना होने लगती है, किसी नवीन रचना का जन्म होता है अथवा पूर्व सिद्धान्तों की साधक युक्तियों में परिवर्तन होना शुरू होता है। यही है परम्पराओं के प्रादुर्भाव का मूल। यह कोई आज के युग की बात नहीं, अपितु पूर्व-पूर्व से प्रवाहरूपेण चली आ रही है। कपिलों का मत वैशेषिकों को नहीं रुचा; वैशेषिकों का नैयायिकों को नहीं भाया और इन तीनों के विचार मीमांसकों को अच्छे नहीं लग पाये; मीमांसकों में भी प्राचीन वृत्तिकार की विचारधारा भाष्यकार को अच्छी न लगी। भाष्यकार के विचार वार्तिककार को नहीं सुहाये। वार्तिककार के विचारों को नव्यमीमांसक खण्डदेव ठीक नहीं मानते। भवदेव के विचारों का खण्डन पार्थसारथि करते हैं, पार्थसारथि का निरसन खण्डदेव करते हैं, तब खण्डदेव का कतिपय अंशों में अंगत्वनिरुक्तिकार मुरारिमिश्र खण्डन करते हैं। शास्त्रों में ही क्या, सर्वत्र ही नवीन-प्राचीनों का सदा से कलह होता आया है और दोनों दल (प्राचीन-नवीन) अपने-अपने सिद्धान्तों को कहते हुए परम्परा का रूप देते रहते हैं।

---

१. 'अस्य दृष्टविरुद्धत्वात् फल्गुत्वाच्चापि पूर्वयोः।
मध्यमे चातिदौर्जन्यात् परिसंख्यैव युज्यते'॥
(श्लो० वा० ४६।४७ (अ) पृ० १५, चौ० सं०)

इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार अन्य शास्त्रों की तरह मीमांसा में भी परम्पराओं के दर्शन होते हैं। यज्ञानुष्ठान में कुछ पदार्थों को मीमांसक लोग किसी और ढंग से बतलाते हैं, तो उन्हीं को याज्ञिक लोग कुछ पृथक् रूप में बतलाते हैं। याज्ञिक लोग अपने कल्पसूत्रों के अनुसार अपना स्वतंत्र शास्त्र ही निर्णायक समझते हैं। उस समय ये मीमांसा-सिद्धान्त को नहीं मानते। भाट्टदीपिकाकार ने कितनी ही जगह याज्ञिकों के सिद्धान्तों को दूषित किया है और कितने ही को भूषित भी किया है। उनका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है—

(१) 'तदेतन्न रोचयन्ते याज्ञिकाः 'ऊहं' कुर्वन्ति, अग्न आगच्छ रोहिताश्व बृहद्-भानो धूमकेतो विचर्षणे' इति। (भाष्य० अ० ९, पा० १, अधि० १५, सू० ४२-४४)

(२) 'इषेत्वा' इत्यादौ 'छिनद्मि' इत्यादिकं पदं प्रयोगकाले याज्ञिकैर्नानुष्ठीयते। केचित्तु अध्याहृतस्यापि उच्चारणमस्त्येव, याज्ञिकानां तु तदननुष्ठानं अनास्थया इत्याहुः'। (सोमनाथी २।१।१६)

(३) 'याज्ञिकानुष्ठानं चेत् तर्हि तेन अस्तु सः'। (सर्वत्रैव एकपात्रे कर्तृभेदे इव एककर्तरि कारणभेदेऽपि युक्तो भक्षणस्य पृथगनुष्ठानेन समुच्चयः। हरियोजने तु मास्तु समुच्चयः इति प्रागुक्तम्)। (भाट्टदीपिका ३।५।१०)

इसी विचार-परम्परा को लेकर ही श्रौतसूत्रकार, गृह्यसूत्रकार, धर्मसूत्रकार आदि सब चले हैं। इनके अनुसार विचार करने के बाद अपने-अपने मार्ग को अलग-अलग ही उन लोगों ने बनाया है। जैसे—सत्याषाढश्रौतसूत्र के व्याख्याता महादेवभट्ट कहते हैं कि मीमांसकों ने जो सिद्धान्त किये हैं, उनको अपने सम्प्रदाय से अविरुद्ध होने पर स्वीकार करना और विरुद्ध होने पर उनकी उपेक्षा करना। ऐसे ही गृह्य-सूत्रों में भी मीमांसक-सिद्धान्तों को याज्ञिकों ने नहीं माना, बल्कि अपनी परम्परा प्राप्त को ही समर्थित किया है। जैसे नित्यकर्म एवं नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठानों में। नित्यकर्म को करने से पापक्षय होता है, तथा स्वर्गादि फल भी प्राप्त होता है, अर्थात् नित्य से काम्य की सिद्धि होती है—यह गृह्यसूत्र और तत्तद् व्याख्याओं का पक्ष है। आपस्तम्बसूत्रकार कहते हैं—'फलार्थे आम्रे निर्मिते छायागन्धौ अर्थात् अनूत्प-द्येते। तथा धर्मचर्यमाणं अर्था अनूत्पद्यन्त इति' (आप० ध० सू० प्र० २)। जिसका विश्लेषण तैत्तिरीयसंहिता की भाष्यभूमिका में माधवाचार्य ने किया है।

यहाँ मीमांसक कहते हैं—काम्य से 'नित्य' की सिद्धि होती है, अर्थात् काम्य-कर्मानुष्ठान से फल भी प्राप्त होता है, और प्रसंगात् नित्य की सिद्धि भी होती है। 'यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात्' (जै० सू० २।४।१) इस अधिकरण में 'नित्य प्रयोग' और 'काम्य प्रयोग' की भिन्नता बतलाई गई है। इससे मीमांसक-सिद्धान्त एक अलग ही रूप धारण करता है। कल्पसूत्राधिकरण मीमांसा के सिद्धान्त का ही समर्थन करता है। श्रौतसूत्र या गृह्यसूत्रादिकों को अप्रमाण ही बतलाता है। अभिप्राय यह है कि मीमांसा की विचारधारा को सबने लिया है, परन्तु अपने-अपने सिद्धान्तों

को ही उसमें से निकालते पाये जाते हैं। उनमें भी भाट्ट तथा प्राभाकर सिद्धान्तों को लेकर कौन-कौन ग्रन्थ या ग्रन्थकार प्रवृत्त हुए हैं, उन्हें भी देख लें। मिताक्षरा, जीमूतवाहन का दायभाग, दत्तकमीमांसा, हेमाद्रि, वीरमित्रोदय, रघुनंदन का स्मृतितत्त्व — यह सब पदे-पदे प्राभाकर-सिद्धान्त को लेकर ही अपने-अपने विषयों का शोधन करते हैं। इसी तरह पराशरमाधव, स्मृतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, नीलकण्ठ के मयूख, बालक्रीडा, अपरार्क इत्यादियों में भाट्टसिद्धान्त को विशेष रूप से माना गया है। जो भी हो, इन सिद्धान्तों को लेने पर भी याज्ञिकों की परम्परा अलग ही चलती है। जैसे—श्रौत-आधान करने के पश्चात् बारह दिन के अनन्तर पावमानेष्टि होती है—'आधान-पवमानाभ्यामग्निसिद्धिः' यह प्रसिद्ध है। यहाँ आधान के बाद और पवमान इष्टि के पूर्व अर्थात् १२ दिनों में अग्निहोत्रहवन करना होता है। वह समन्त्रक है या आमन्त्रक है, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर मीमांसकों का सिद्धान्त है—'तूष्णीम्'। परन्तु याज्ञिक लोग समन्त्रक करते हैं—इस सम्बन्ध में दशमाध्याय की मयूखमालिका में सोमनाथ ने चर्चा की है[1]।

रथकार को आधान विहित है, किन्तु उसका आधान अग्नि का संस्कारक है या नहीं? यदि संस्कारक है तो आधानोत्तर भावी अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि में उसका अधिकार है या नहीं? रुद्रदत्तवृत्ति (आप० सू० व्याख्या) में इसको अग्निसंस्कारक माना गया है।

ऐसे बहुत-से स्थल हैं, जिन स्थलों को देखने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि मीमांसकों की व्याख्या का प्रकार दक्षिण की ओर अधिक है तो याज्ञिकों की विचारधारा उत्तर की ओर जाती है। ऐसा परस्पर विरोध रहने पर भी मीमांसक-गण सबके ऊपर अपनी धाक जमाये हुए हैं, अन्यथा एक श्रौतसूत्र पर कई वृत्तियाँ, कई भाष्य, कई तदनुसारी पद्धतियाँ क्योंकर निर्मित हुईं? जैसे—शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखाओं पर एक कात्यायनश्रौतसूत्र चलता है। उस पर कर्कभाष्य मुद्रित है और पठन-पाठन में प्रचलित है। वे अपने भाष्य में पितृभूति आचार्य, देवयाज्ञिक आदि व्याख्याताओं के व्याख्यानों का अनुवाद कर खण्डन करते हैं। यथाश्रुत सूत्र से जो अर्थ निकलता है, वह मीमांसा-सिद्धान्त के विरुद्ध है। उसी का प्रकारान्तर से व्याख्यान करते हैं—'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' 'उभौ वा विशेषात्' इत्यादि। पिण्डपितृयज्ञ 'दर्श' का अंग है—यह पूर्वपक्ष कर सिद्धान्त में उसको अनंग सिद्ध किया गया है। किन्तु वह स्वतन्त्र है, क्योंकि उसमें स्वर्ग की कल्पना की गई है। कात्यायन ने अनंगत्व को पूर्वपक्ष में रखकर उसका अंगत्व सिद्ध किया है और समभिव्याहार रूप वाक्य को प्रमाण में दिया है। किन्तु कर्कोपाध्याय ने उसे पूर्वपक्ष में लगाकर उसके अनंगत्व का सिद्धान्त कर दिया है। ऐसे ही 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति', 'आग्नेयं चतुर्धा करोति'। आग्नेय-अनाग्नेय अर्थात् 'अग्नीषोमीय-ऐन्द्राग्न पुरोडाश' का भी चतुर्धाकरण होता है—यह बात 'उभौ वा विशेषात्' इस यथाश्रुत सूत्र से स्पष्ट

---

१. 'यत्तु माधवीये वेदभाष्ये'। (शा० दी० १०।८)

मालूम होता है। किन्तु कर्कोपाध्याय ने केवल 'आग्नेय पुरोडाश' का ही चतुर्धाकरण बतलाया है, क्योंकि 'यदि विशेषो न स्यात्, अस्ति तु विशेषः' वे यह व्याख्या करते हैं। इसी तरह प्रैष में अध्वर्यु का अधिकार है और प्रैषार्थ में 'होता' का। अतः यहाँ कर्तृभेद सिद्ध है—यह मीमांमा का सिद्धान्त है। यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि प्रैष और प्रैषार्थ में 'अध्वर्यु' का ही अधिकार है। दोनों में इस अन्तर के रहते भी याज्ञिक-वर्ग में मीमांसा के सिद्धान्तों का आदर बना हुआ है। इसी बल पर ही तो कुमारिल-भट्टपाद ने कहा—'इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति'। और लोगों ने उनको कमजोर समझा, जो मीमांसान्यायों का आश्रयण नहीं करते थे। किंबहुना कादम्बरी में भी 'भावनेव अंशत्रयविभूषिता' कहकर ही बाणभट्ट ने अपने को गौरवान्वित समझा।

'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्' (जै० सू० २।१।१४, सू० ४६) सूत्र के द्वारा एकवाक्य का लक्षण बतलाया गया है। इसमें 'अर्थैकत्वम्' एकवाक्य का लक्षण है, ऐसा कहने पर 'भगो मां विभजतु' से विहित कई विभाग एक हो जायेंगे, तब इसके वारणार्थ 'साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्' विशेषण दिया है। अब यदि 'विभज्यमानं साकाङ्क्षत्वं' इतना ही एकवाक्य का लक्षण करें तो 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इस समस्त मन्त्र की एकवाक्यता हो जायेगी, क्योंकि मन्त्र में 'यत्-तत्' शब्द का उपादान है। 'यत्-तत्' शब्दघटित वाक्य एकार्थ के प्रतिपादक होते हैं। इसके वारणार्थ 'अर्थैकत्वं' विशेषण दिया गया है। यह बात भाष्य, वार्तिक, शास्त्रदीपिका, न्यायसुधा, न्यायप्रकाश, अर्थसंग्रह, परिभाषा आदि में दुहराई गई है। किन्तु यह आपातरमणीय है। क्योंकि यह त्रिष्टुभ् छन्द की ऋक् है। इसके पूर्वार्ध से सदनकरण और उत्तरार्ध से प्रतिष्ठापन होता है। ऐसा ही भट्ट-भास्कर ने भाष्य में बतलाया है। इससे भी स्पष्ट है कि वेद-भाष्यकारों की पद्धति अलग चलती है और मीमांसकों की अलग।

इसी प्रकार सूत्रकार से वृत्तिकार के, वृत्तिकार से भाष्यकार के, भाष्यकार से वार्तिककार के विचार कितने ही विषयों पर आपस में नहीं मिलते। इसी तरह आगे चलकर वार्तिककार तथा टीकाकार की अनुयायि-परम्परा में यही स्थिति परिलक्षित हो रही है। किन्तु यह जीवित बुद्धि के परिचायक चिह्न हैं। इन विद्वानों की अर्थात् सूत्रकार-परम्परा, भाष्यकार-परम्परा, वार्तिककार-परम्परा, गुरु-परम्पराओं का ही यह परिणाम रहा कि भारतीय संस्कृति आज तक टिक पाई है। जब कि कितनी ही संस्कृतियाँ इस भारत में पैदा हुईं, फली-फूलीं और काल-कवलित भी हो गईं, किन्तु भारतीय संस्कृति जो आज भी कितनी ही संस्कृतियों को अपने में समाकर टिकी है, वह इन्हीं परम्पराओं का मधुर परिणाम है। आचार-विचार ही संस्कृति का स्वरूप होता है। जो भारत में ही श्लाघनीय रूप में सुस्थिर है। यही मीमांसा की वेदार्थ-व्याख्यान अथवा यज्ञीयव्याख्यानपरम्पराओं का भारतीय आचार-विचारों पर प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित हो रहा है।

(३) मीमांसा के विकास-काल में उसका बौद्धादि[1] दार्शनिकों के साथ संघर्ष

(क) बौद्धों के साथ मीमांसकों का संघर्ष

मीमांसा के प्रत्येक सिद्धान्त का निराकरण करने का प्रयास जितना बौद्धों ने किया है उतना किसी ने नहीं; कारण यह है कि बौद्ध अनात्मवादी[2] हैं और मीमांसा का सर्वस्व कर्ता-भोक्ता-आत्मा ही है।

आत्म-विचार—शान्तरक्षित ने अपने 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में मीमांसक-सम्मत आत्म-स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि कृतनाश और अकृताभ्यागम, प्रत्यभिज्ञा, अहमनुभव आदि युक्तियों के आधार पर मीमांसकलोग 'ज्ञानस्वरूप आत्मा' की सिद्धि किया करते हैं।[3]

आत्मा की नित्यता और ज्ञानरूपता में बौद्धों द्वारा दोष-प्रदर्शन—इस पर बौद्ध विद्वानों ने दोष दिखलाते समय कहा है—यदि आत्मा नित्य है और ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान अर्थात् बुद्धि को भी नित्य मानना पड़ेगा, तब सिद्धान्त-विरोध[4] उपस्थित होगा। अहं-अनुभव के आधार पर भी आत्मा की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि 'निरालम्बन एवायं अहङ्कारः प्रवर्तते। अनादि सत्त्वदृक् बीजप्रभावात् क्वचिदेव हि'॥

---

१. बौद्ध-दर्शन चार सम्प्रदायों में विभक्त है—
(१) वैभाषिक—बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद।
(२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद।
(३) योगाचार—विज्ञानवाद।
(४) माध्यमिक—शून्यवाद।

इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का वर्णन मानमेयोदयकार ने भी किया है—

'मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरञ्च सकलं वैभाषिको भाषते'॥
(मानमेयोदय, अडयार सं०, पृ० ३००)

२. सब्बासब-सुत्तंत (मज्जिम० १।१।२)।

३. 'स्यातां·····नैव स्यादेकरूपिणः'। (तत्त्वसंग्रह श्लोक २२६ पृ० ९६, गायक० सीरीज) 'तस्मादयमहङ्कारो·····शाश्वतरूपवान्'। (तत्त्वसंग्रह श्लोक २३७ पृ० ९७) 'तथाहि ज्ञातवान्···रुपजायते'। (तत्त्वसंग्रह श्लोक २३१ पृ० ९६)।

४. जैमिनि ने बुद्धि को अनित्य माना है (१।१।४)। शबर ने भी उसे 'क्षणिका हि सा' (पृ० ३) कहा है और कुमारिलभट्ट भी बुद्धि को अनित्य ही मानते हैं—'नैतत् क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमात्मकम्'।

(तत्त्वसंग्रह पृ० १०८, श्लो० २७५) अर्थात् अहंकारानुभव किसी आत्मा जैसी वस्तु को आलंबन (विषय) नहीं करता। केवल अनादि सत्त्वदृक् (सत्कायदृष्टि[1]) के बीजभूत संस्कारों से षडायतन[2] के लिए 'अहं-प्रयोग' होता आ रहा है।

इसके अतिरिक्त यदि शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को अहं शब्द से कहा जाय तो दूसरे की आत्मा को भी अहं शब्द से कहना चाहिए। तब अपने शरीर को ही अहं-अनुभव का ज्ञान मानना होगा। अतः उसी को ही अहं-अनुभव का विषय मानना उचित है, उसके अतिरिक्त आत्मतत्त्व को नहीं।

क्षणिक सन्तान-धारा में प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति--प्रत्यभिज्ञा भी क्षणिक सन्तान धारा में दीपधारा के समान बन जाती है। इसके लिए एक एवं स्थिर तत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं।

आत्मस्वरूप की सत्तास्थिरता में मीमांसकों पर बौद्धों का विशेष कटाक्ष—आत्मा की स्वरूप-सत्ता की स्थिरता में मीमांसकों को जैसा बौद्धों ने दोषी ठहराया है वैसा वेदान्तियों को नहीं। उनके लिए इतना ही कहा है—

'नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजो जलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः॥
तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः'॥
(तं० सं० श्लोक ३३० पृ० १२३)

अर्थात् वेदान्तीगण 'प्रपंच' को विज्ञान का विवर्त ही मानते हैं, जैसे बौद्ध। केवल वेदान्ती उसे नित्य कह देते हैं, अतः वे अल्प अपराधी कहे जाते हैं।

पदार्थों की स्थिरता में मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष का बौद्धों द्वारा खण्डन—मीमांसक-गण पदार्थों की स्थिरता में प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षप्रमाण को प्रस्तुत किया करते हैं, उसका निराकरण बौद्धों ने अपनी दृष्टि से किया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है—'कल्पनापोढमभ्रान्तम्'। (न्यायबिन्दु पृ० ११-१३ धर्मकीर्ति) अर्थात् जो ज्ञान नाम, जाति आदि पंचविध कल्पना से रहित और भ्रम-भिन्न हो, उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में कल्पना और भ्रम दोनों का समुच्चय देखा जाता है। अतः वह ज्ञान, प्रमाण ही नहीं,[3] तब प्रत्यक्ष-प्रमाण हो ही कैसे सकता है? केश, नख आदि नूतन अभिजात पदार्थों में भी प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है, अतः प्रत्यभिज्ञा भ्रमज्ञान है। दूसरी बात यह भी है कि

---

१. अस्तिकाये कश्चित् सत्त्व इति भ्रमः = सत्कायदृष्टिः।

२. छह इन्द्रिय।

३. 'न खलु प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षमुपपद्यते।
वस्तुरूपमनिर्देश्यं साभिलाषं च तद्यतः॥
भ्रान्तं च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्येकं तद्विलक्षणम्।
अभेदाध्यवसायेन भिन्नरूपेऽपि वृत्तितः'॥
(त० सं० श्लो० ४४६-४७, पृ० १५७)

प्रत्यभिज्ञा गृहीत विषय को विषय करने के कारण स्मरण के समान मीमांसकों को भी अप्रमाण माननी पड़ती है।

उस पर कुमारिल का समाधान—इस आक्षेप का उत्तर कुमारिल भट्ट ने दिया है कि 'प्रत्यभिज्ञा ज्ञान' वर्तमानकाल में वस्तु के अस्तित्व को विषय करता है, किन्तु यह 'अस्तित्व' पूर्वज्ञान का विषय नहीं हुआ था, अतः अगृहीत अंश को विषय करने के कारण 'प्रत्यभिज्ञा' को प्रमाण मानना चाहिए।

बौद्धों द्वारा पुनः आक्षेप—इसका निराकरण करते हुए बौद्धों ने कहा कि पूर्व-ज्ञान का पूर्वकालीन अस्तित्व विषय होता है, उस अस्तित्व से इस वर्तमानकालिक अस्तित्व का भेद है अथवा अभेद? भेद होने पर सत्ता और क्षणभेद मानने पर क्षणभंगवाद मानना पड़ जाता है और दोनों अस्तित्वों का अभेद मानने पर यह अस्तित्व ही पूर्वबुद्धि का विषय हो जाता है[1]।

मीमांसकों का बौद्धों के क्षणभंगवाद पर आक्षेप—मीमांसकों ने बौद्धों के क्षणभंग-वाद पर यह आक्षेप उठाया कि कर्म और उसके फल का सम्बन्ध एवं कार्य और उसके कारण का सम्बन्ध क्षणभंगवाद में कैसे बनेगा? क्योंकि जो क्षण प्राण्यादि का उत्पादक है, वह फलोत्पत्तिकाल में अनुवृत्त नहीं रहता और फल का भोक्ता-क्षण उसके अनुष्ठान काल में नहीं था, अतः कर्त्ता और भोक्ता का भेद हो जाने पर कृतनाश और अकृताभ्यागमादि दोष प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार कोई वस्तु उत्पन्न होकर उतने समय तक स्थिर नहीं रह सकती कि किसी कार्य को उत्पन्न करे, अतः क्षणिकवाद में कार्य-कारणभाव भी नहीं बन सकता। किन्तु प्रतीत्यसमुत्पादवाद[2] में केवल कार्यकारणभाव ही माना जाता है। यदि घटादि पदार्थ क्षणस्थायी हैं और चक्षुरादि इन्द्रिय भी क्षणिक हैं तब चक्षु और घट का ग्राह्य-ग्राहकभाव ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि ग्राहक पहिले क्षण में ग्राह्य से सम्बद्ध होता है और दूसरे क्षण में उसका प्रकाश करता है।

किन्तु क्षणभंगवाद में किसी वस्तु का दो क्षण तक रह सकना अत्यन्त असम्भव है। बन्ध-मोक्षव्यवस्था भी क्षणभंगवाद में नहीं बन सकती, क्योंकि बद्धक्षण दूसरा है और मुक्तक्षण दूसरा है। जो बद्ध है वह मुक्त नहीं हो सकता। बद्धक्षण को जब यह निश्चय होता है कि मैं दूसरे क्षण में नष्ट होनेवाला हूँ तब वह मोक्ष के लिए कभी यत्न न करेगा। कोई व्यक्ति अपना नाश करने के लिए कभी प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार क्षणभंगवाद में 'स्मरण-ज्ञान' भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि

---

१. 'नन्विदानीन्तनास्तित्वं यदि भिन्नं त्वयेष्यते।
पूर्वभावात्तदा भेदस्त्वयैव प्रतिपादितः॥
अनन्यत्वेऽपि सत्त्वस्य कथं पूर्णधिया गतम्'॥
(तं० सं० २५७-५८, पृ० १६०)

२. प्रतीत्य = आश्रित्य समुत्पादः।

अनुभव करनेवाला दूसरा क्षण और स्मरण करनेवाला दूसरा क्षण। जिसने अनुभव किया, वह स्मरणकाल में समाप्त हो चुका है।

बौद्धों का उत्तर—इन सब आक्षेपों का प्रतिविधान बौद्धों ने इस प्रकार किया है कि बीजांकुर आदि स्थलों पर स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाता है कि बीजक्षण-संततिधारा का प्रत्येक बीजक्षण अंकुरोत्पत्ति में समर्थ नहीं होता, अपितु कोई एक बीजक्षण अंकुर को जन्म दिया करता है, फिर भी सभी बीजक्षणों को कारण माना जाता है, वैसे ही कर्म और फल का सम्बन्ध, कार्य और कारण का सम्बन्ध, ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध, कर्ता और भोक्ता का सम्बन्ध, स्मर्ता और अनुभविता का सम्बन्ध सम्पन्न हो जाता है। अर्थात् देवदत्त व्यक्ति एक स्थिर तत्त्व नहीं, अपितु वह अपने में एक क्षण धारा या सन्तान के स्वरूप में होता है। यद्यपि उस सन्तति का कर्ता क्षण दूसरा और भोक्ता क्षण दूसरा है, तथापि दोनों एक ही सन्तान की इकाइयाँ हैं। अतः फलित हुआ कि एक सन्तान के विभिन्न क्षणों में कर्तृत्व भोक्तृत्व बन जाता है, विभिन्न सन्तानों के विभिन्न क्षणों का नहीं।

ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध में बौद्धों की अपनी विशिष्ट प्रक्रिया—ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बौद्धों ने अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया स्थापित की है कि घटादि ग्राह्य पदार्थ भी क्षणिक हैं और चक्षुरादि ग्राहक पदार्थ भी क्षणिक हैं, फिर भी उनके क्षणों में अन्तर है। चक्षुरादि ग्राहक पदार्थों के सत्रह क्षण हो जाने पर घटादि ग्राह्य पदार्थों का एक क्षण होता है[1]। अतः मन्दगामी पक्षी को जैसे द्रुतगामी पक्षी पकड़ लेता है वैसे ही मन्द क्षण सन्ततिवाले घटादि का ग्रहण द्रुतक्षण-धारा के चक्षुरादि कर लेते हैं। अर्थात् चक्षुक्षण जिस घटादि-क्षण को पकड़ता है और जब तक उसका प्रकाश न हो घटक्षण वहीं बना रहता है।

अनुभव और स्मरण का कार्य-कारणभाव ठीक उसी प्रकार निभ जाता है, जैसे कि किसी तालाब के मध्य का काष्ठ तरंग-परम्परा पर लहराता हुआ किनारे आ लगता है। अनुभव करने वाला क्षण अपने संस्कारों को समान सन्तति के क्षणों पर जन्म देता रहता है, जिस क्षण का उद्बोधन-समवधान होता है, उसमें स्मरण पैदा होता है।

'पिता वै जायते पुत्रः' का सिद्धान्त-समन्वय करने के लिए मानना पड़ता है कि एक पिता अनेक पुत्रों के रूप में नहीं आ सकता, किन्तु पिता के अनेक क्षण अनेक पुत्रों के रूप में आ सकते हैं, अतः सजातीय क्षण-परम्परा का कार्य-कारण भाव सभी को मानना पड़ता है। बौद्धों ने मीमांसादि सम्मत स्थिर भाव की ही आलोचना नहीं की, अपितु धर्मी से अतिरिक्त धर्मादि का भी निराकरण किया है।

मीमांसकों का जातिवाद—शब्द और अर्थ की नित्यता सुरक्षित रखने के लिए मीमांसकों ने जाति में शब्द की शक्ति मानी है।

---

१. अभिधर्मार्थसंग्रह—वीथिसंग्रहप्रकरण द्रष्टव्य है।

जातिवाद का खण्डन—इस जातितत्त्व का बौद्धों के लिए निराकरण करना आवश्यक था। उनका कहना है कि 'गो' आदि पिण्डों की अपेक्षा 'गोत्व' आदि जाति भिन्न सिद्ध नहीं हो सकती और न अनुभव में ही आती है। यदि जाति कोई नित्यतत्त्व है तो व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर वह कहाँ चला जाता है? और व्यक्ति के उत्पन्न होने पर वह उसमें कहाँ से आ जाता है? जाति में क्रिया नहीं मानी जा सकती। अतः मीमांसकगण जिस 'तत्त्व' को जाति पदार्थ कहते हैं, वस्तुतः उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

मीमांसकों का प्रश्न—'गोत्व' के सिद्ध न होने पर 'गो' व्यवहार कैसे चलेगा?

बौद्धों का उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर बौद्धों ने अपोहवाद का सहारा लेकर दिया है, अर्थात् 'गोत्व' क्या है? 'अगोभिन्नत्व'। घट क्या है? 'अघटभिन्नत्व'। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म अन्यव्यावृत्त (अपोहस्वरूप) होता है। इनकी इस शैली का जैसा प्रभाव वेदान्त के विवेचकों पर पड़ा है वैसा अन्य दार्शनिकों पर नहीं।

उस पर भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के उत्तर—यद्यपि 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' (कुसुमां० तृ० स्त० श्लो० २) कहकर उदयनाचार्य ने भी 'अपोह' का प्रतिपादन किया है, ऐसा आपाततः प्रतीत होता है; किन्तु उदयनाचार्य प्रतियोगित्वादि धर्मों को अवश्य मानते हैं।

वेदान्तीगण सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म की व्याख्या में स्पष्ट रूप से मान लेते हैं कि ब्रह्मरूप धर्मी की अपेक्षा सत्यत्वादि धर्म पृथक् नहीं हैं, केवल असत्यभिन्नत्वादि रूप से निरूपणीय ब्रह्म को सत्य कहा जाता है। दिङ्नाग से लेकर रत्नकीर्ति और उनके भी परवर्ती विद्वानों ने अपोह-सिद्धि के लिए कई ग्रन्थ बनाये थे, जिनका उद्देश्य मीमांसकों का घोर निराकरण करना ही था। 'गोत्वादि सामान्य' भावाभावविलक्षण है—ऐसा कुछ कुमारिलानुयायी विद्वानों ने कहा था।

उस पर रत्नकीर्ति का आक्षेप—उसका भी निराकरण रत्नकीर्ति ने इस प्रकार किया है—'एतेन यदुच्यते कौमारिलैः सभागत्वादेव वस्तुनो न साधारण्यदोष; वृक्षत्वं हि अनिर्धारितभावाभावं शब्दादवगम्यते, तयोरन्यतरेण शब्दान्तरावगतेन सम्बध्यते इति, तपि असङ्गतम्। सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्तौ अनिर्धारितभावाभावत्वायोगात्' (रत्नकीर्ति-निबन्धावलि पटना से मुद्रित; पृ० ५६)। अर्थात् जातितत्त्व को जब जैमिनि से लेकर कुमारिल तक विद्वानों ने एक भावात्मक तत्त्व मान लिया है, तब उसे भावाभावविलक्षण कैसे कहा जा सकता है? इस प्रकार धर्मी से लेकर धर्म तक कोई भी पदार्थ–स्थिर या स्थायी, नित्य नहीं सिद्ध होता।

प्रत्यक्ष-अनुमान को छोड़कर अवशिष्ट चार प्रमाणों का बौद्धों द्वारा निराकरण—बौद्धगण अपने प्रमाण और प्रमेय के दो-दो भेद मानते हैं। अर्थात् प्रमेय पदार्थ दो प्रकार का होता है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। स्वलक्षण 'वस्तुतत्त्व' है और सामान्यलक्षण 'आरोपित' है। स्वलक्षण का ग्रहण करने के लिए प्रत्यक्षप्रमाण की आवश्यकता है और सामान्यलक्षण का भान करने के लिए अनुमानप्रमाण की

आवश्यकता होती है । तीसरा कोई प्रमेयतत्त्व है ही नहीं, जिसके लिए अधिक प्रमाण की आवश्यकता हो । इस प्रकार मीमांसकों के प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर अवशिष्ट चार प्रमाणों का निराकरण बौद्धों ने किया है ।

मीमांसकों के प्रत्यक्षप्रमाण पर दोष—मीमांसकों के प्रत्यक्षलक्षण को भी दूषित किया है । व्यक्ति या स्वलक्षण को विषय करनेवाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है । गुण, जाति, क्रिया आदि काल्पनिक पदार्थों को विषय करनेवाला ज्ञान कदापि प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता ।

उस पर कुमारिल का कथन—कुमारिल भट्ट ने निर्विकल्पक के साथ-साथ सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना है । उनका कहना है—'अस्तिह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्' ॥ (श्लो० वा० ११२) 'ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया । बुद्धयावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता' ॥ (प्रत्यक्षसूत्र श्लो० वा० १२०) । अर्थात् विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होनेपर एक प्राथमिक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमें जाति आदि धर्मों का भान नहीं होता, केवल वस्तुमात्र ग्राही ज्ञान होता है, उसे आलोचनात्मक ज्ञान कहा जाता है । उसके उत्तर जाति आदि धर्मों का भासक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसे सविकल्पक कहा जाता है । ये दोनों ज्ञान 'प्रत्यक्ष' ही माने जाते हैं, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का संनिकर्ष होने पर दोनों उत्पन्न होते हैं ।

बौद्धों का उस पर आक्षेप—इस पर बौद्धों का कहना[1] है कि स्वलक्षण मात्र-ग्राही निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमाण है । जाति आदि पदार्थ काल्पनिक मात्र हैं । उनका ज्ञान रजतज्ञान के समान प्रमाण ही नहीं होता तो प्रत्यक्षप्रमाण होगा ही कैसे ?

प्रमाणफलभाव पर बौद्ध और मीमांसकों में मतभेद—प्रमाणफलभाव के विषय में बौद्धों का मीमांसकों से गहरा मतभेद है । मीमांसकों का कहना है कि बाह्य विषय का 'प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यताम्' (श्लो० वा० ५९, पृ० १५२) अर्थात् नैयायिकों के समान प्रमाणफलभाव अव्यवस्थित है । इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर तज्जन्य ज्ञान 'फल' होता है और उस ज्ञान को प्रमाण मानने पर हानादि ज्ञान 'फल' होता है ।

किन्तु बौद्धगण एक ही ज्ञान को प्रमाण और फल माना करते हैं । अर्थात् घट-ज्ञान 'घट' का व्यवस्थापक तभी होता है जबकि वह 'घट' के समानरूप होता है । ज्ञान में अर्थप्रकाशकत्व और अर्थसारूप्य दो वस्तुएँ पाई जाती हैं, इनमें अर्थसारूप्य-

---

१. तदयुक्तं यदि ज्ञानं तत्प्रवृत्तं स्वलक्षणे ।
अनाविष्टाभिलापं तज्जात्यादिग्रहणेऽपि हि ॥ १२९३ ॥
तथा (चा) वाच्यमेवेदं साधितं प्राक् स्वलक्षणम् ।
तस्मिन् वृत्तं च विज्ञानं नियतं निर्विकल्पकम् ॥ १२९४ ॥
(तत्त्वसंग्रह पृ० ३८६)

प्रमाणता और अर्थप्रकाशकत्वफलता मानी जाती है। एक ही ज्ञान 'अर्थ' के समान होने के कारण 'प्रमाण' और अर्थ का प्रकाशक होने के कारण 'फल' माना जाता है। इस प्रकार 'प्रमाणफलभाव' एक ही पदार्थ में व्यवस्थित होता है, भिन्न-भिन्न पदार्थों में नहीं।

मीमांसक भी एक ही पदार्थ को साधन और साध्य मानते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि सिद्धावस्थापन्न वही पदार्थ 'साधन' और साध्यावस्थापन्न वही पदार्थ 'साध्य' माना जाता है। जब नैयायिक एक ही पर्वत को पर्वतत्वेन सिद्ध और वह्निमत्वेन साध्य मानते हैं, तब एक ही ज्ञान अर्थसादृश्यरूप से 'साधन' और अर्थव्यवस्थापकत्व रूप से 'साध्य' क्यों नहीं माना जा सकता? इस प्रकार कुमारिल भट्ट का कुठार और द्वैधीभाव रूप भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रमाणफलभाव दिखलाकर[1] पुनः उसका वैयधिकरण्य बतलाना असंगत है।

बौद्धों द्वारा शब्दप्रामाण्य का निराकरण—शब्दप्रामाण्य का निराकरण बौद्धों ने किया है। अपौरुषेय वाक्य से ज्ञान की उत्पत्ति का ही खण्डन कर दिया गया है। उनका प्रश्न है[2]—अपौरुषेय वाक्य किसी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करने में शक्त है या अशक्त? यदि शक्त है तो उससे सदैव सब को ज्ञान हो जाना चाहिए, अशक्त होनेपर कभी भी उससे ज्ञान नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह भी[3] है कि जैसे वक्ता के द्वेष, मोह आदि दोष वाक्य(शब्द)गत 'मिथ्यात्व' में हेतु होते हैं, वैसे ही आर्जव, प्रज्ञा आदि गुण 'शब्दसत्यत्व' में हेतु होते हैं। अपौरुषेय शब्द में गुण-दोष दोनों सम्भावित नहीं, अतः उसे न सत्य कह सकते हैं और न मिथ्या। इस प्रकार की शब्दराशि को निरर्थक मात्र मानना होगा।[4] शबरस्वामी ने कहा है कि—'नच स्वर्गकामो-यजेतेत्यतोवचनात् सन्दिग्धमवगम्यते भवति वा स्वर्गो न वा भवतीति। नच विनिश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्। यो हि जनित्वा प्रध्वंसते नैतदेवमिति स मिथ्या प्रत्ययः। नैष देशान्तरे कालान्तरे विपर्येति, तस्मादवितथ' इति (शाब० भा० पृ० १५; पूना संस्करण) अर्थात् 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वैदिक वाक्यों से संदिग्ध या मिथ्या ज्ञान नहीं होता, अतः वेद प्रमात्मक ज्ञान का ही जनक होता है। इस पर शान्तरक्षित ने यह प्रश्न उठाया है कि वैदिक वाक्य से संशयरहित ज्ञान

---

१. 'विषयैकत्वमिच्छंस्तु यः प्रमाणं फलं वदेत्। साध्यसाधनयोर्भेदो लौकिकस्तेन बाधितः'। (७४) 'छेदने खदिरप्राप्ते पलाशे, न च्छिदा यथा। तथैव परशोर्लोके छिदया सह नैकता' (७५) (श्लो० वा०, प्रत्य० सू० पृ० १५७ चौ० सं०)

२. 'शक्ताशक्तस्वभावस्य सर्वदाह्यनुवर्तनात्।
तदा तद्भावि विज्ञानं भवेन्नो वा कदाचन'॥ (तं० सं० १५०१, पृ० ४३६)

३. 'द्वेषमोहादयो''''सत्यत्वहेतवः'॥ (त० सं० १५०२, पृ० ४३७)
'तदाश्रयनराभावे न तयोरपि सम्भवः।
आनर्थक्यमतःप्राप्तं वचस्यपुरुषाश्रये'॥ (त० सं० १५०३, पृ० ४३७)

४. आनर्थक्यमतः प्राप्तं षडपूपादिवाक्यवत्। (त० सं० २३५६, पृ० ६४६)

सभी विद्वानों को होता है अथवा केवल वेदश्रद्धालुओं को ? सभी बुद्धिमानों को संशयरहित ज्ञान नहीं होता। सौगतादि विद्वानों को अवश्य उस विषय में सन्देह रहता है। श्रद्धालुओं को अपनी श्रद्धा के आधार पर सत्यता की प्रतीति आचार्यादि के नितान्त असत्यार्थक वाक्य से भी होती देखी जाती है। अपौरुषेय वाक्य को जिस प्रकार स्वतः सत्यार्थबोधकता कहा जाता है, वैसे ही स्वतः असत्यार्थबोधकता क्यों नहीं कहा जा सकता ? वायु के सम्पर्क से बाँस की पोरियों से निकले शब्द का कोई अर्थ नहीं माना जाता।

मीमांसकों की व्याख्यातृ-परम्परा के आधार पर अपौरुषेय शब्द से ज्ञान की उत्पत्ति बतलाई है, उस पर बौद्धों ने कटाक्ष किया है—'व्याख्यापरम्परायत्ते भवेदन्ध-परम्परा'[1] (वार्तिकालंकार पृ० ५३२ श्लो० १८८, प्रज्ञाकर गुप्त)।

कुमारिल का ज्ञानवाद—कुमारिलभट्ट ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते। उनका कहना है[2] कि 'ज्ञान' पदार्थ का प्रकाश करने में व्यापृत होता है, स्वयं अपना प्रकाश नहीं कर सकता। यद्यपि दीपक स्व, पर का प्रकाशक होता है, तथापि भौतिक प्रकाश का साधन अनुभवात्मक प्रकाश में उपलब्ध नहीं होता। वहाँ तो रूप का ज्ञान चक्षु से और चक्षु आदि का ज्ञान अन्य अनुमानादि ज्ञानों पर निर्भर होता जाता है। प्रत्येक ज्ञान में बाह्य वस्तु प्रकाशन का सामर्थ्य सिद्ध है। स्वप्रकाशन सामर्थ्य न होने पर अपना प्रकाश कैसे कर सकेगा ?

बौद्धों द्वारा उसका खण्डन—इस पक्ष का निराकरण बौद्धों ने किया है। उनका कहना है—मीमांसकों का यह कथन कि ज्ञान अर्थसंविति में व्यापृत होता है—अत्यन्त असंगत है, क्योंकि अर्थसंवित्ति और ज्ञान दोनों एक ही पदार्थ हैं, तब अपने में ज्ञान का क्या व्यापार होगा ? ज्ञान यदि स्वयं अपना प्रकाशक नहीं[3] तो वह विषय का भी प्रकाशक नहीं हो सकेगा। पूर्व-पूर्व ज्ञान का प्रकाश उत्तर-उत्तर ज्ञान से होने पर अनवस्था होने लगती है। अतः ज्ञान को स्वयंप्रकाश[4] मानना सर्वथा युक्ति-संगत है।

बौद्धों का सर्वज्ञवाद—जिस प्रकार भौतिक प्रकाश न्यूनाधिक सामर्थ्य का देखा

---

१. माने स्थितेऽपि वेदेऽतः शिष्याचार्यपरम्परा।
अनादिः कल्पिताप्येषा सञ्जातान्धपरम्परा॥ (तं० सं० २३८६, पृ० ६५२)

२. 'व्यापृतं····बोधायान्यत्प्रतीक्षते'॥ (श्लो० वा० १८४ पृ० ३२० चौ० सं०)
'ईदृशं वा प्रकाशत्वं···न प्रकाशकम्'॥ (श्लो० वा० १८५ पृ० ३२०)
'सति प्रकाशकत्वे च····भविष्यति'॥ (श्लो० वा० १८६ पृ० ३२० चौ० सं०)
'प्रकाशकत्वं नैवं पर्यनुयुज्यते'॥ (श्लो० वा० १८७ पृ० ३२१ चौ० सं०)

३. 'प्रकृत्या····परार्थानुभवस्तथा'॥ (तं० सं० २०२१, पृ० ५६४)

४. 'प्रकाशस्तु प्रकाशात्मकत्वान्नान्यमपेक्षते' इति स्वयंप्रकाशैव मितिः। (प्रक० पं० पृ० १७२–७३ हि० वि० वि० प्रका० १९६१)

जाता है, वैसे ही ज्ञान अपने आधारभूत चित्त या विज्ञानस्कंध की स्वच्छता या निर्मलता के अनुसार न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। यह प्रत्यक्ष अनुभूत तथ्य है कि एक कामावचर प्राणि का प्रवृत्ति-विज्ञान उतना स्वच्छ नहीं होता जितना कि एक ध्यानशील प्राणि का होता है। ज्ञान की यह स्वच्छता उत्कर्ष की दिशा में बढ़ती हुई कहीं न कहीं अवश्य समाप्त होगी। जहाँपर उसकी समाप्ति होती है उसे बौद्धगण सर्वज्ञ कहते हैं।

कुमारिल के द्वारा सर्वज्ञवाद का खण्डन—सर्वज्ञता का निराकरण कुमारिल भट्ट ने मार्मिक ढंग से किया है। वर्तमान समय के अनुसार ही भूत और भविष्यत् की कल्पना की जाती है[1]। वर्तमान समय में कोई ऐसा सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता जो किसी एक प्रमाण[2] के आधार पर विश्व के समस्त पदार्थों का ज्ञान कर लेता है। वह अवश्य[3] है कि एक व्यक्ति की दृष्टि समीप के पदार्थ तक ही पहुँचती है तो दूसरे की कुछ दूर और तीसरे की उससे भी दूर के पदार्थ को ग्रहण कर लेती है, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कोई व्यक्ति अयोग्य पदार्थ को भी चक्षु से देख लेगा। अयोग्य पदार्थों का ज्ञान सर्वज्ञ को भी नहीं हो सकता, फिर वह सर्वज्ञ कैसे माना जा सकता है?

आक्षेप—कुछ लोगों ने कहा[4] है कि सर्वज्ञ की कल्पना वेदापौरुषेयता की कल्पना के समान है।

समाधान—पर उनका कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि इस समय भी सर्वज्ञ हम लोगों के दर्शन में[5] नहीं है, किन्तु वेद की अपौरुषेयता प्रत्यक्षसिद्ध है।

आगमप्रमाण से सर्वज्ञवाद के समर्थन की शंका—यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि न होने पर भी आगमप्रमाण[6] से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है।

समाधान—तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि करने पर अन्योन्याश्रय और असर्वज्ञप्रणीत आगम के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान कभी सम्भव नहीं हो सकता। सर्वज्ञ नितान्त निष्काम[7] व्यक्ति है, तब वह

---

१. 'यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातियार्थदर्शनम्।
भवेदिदानीं लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत्' ॥ ११३ ॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८०)
२. 'एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते।
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते' ॥ ११२ ॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८०)
३. यत्राप्यतिशयो दृष्टः''''श्रोत्रवृत्तिता' ॥११४॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८० चौ॰ सं॰)
४. 'सर्वज्ञकल्पनाद्यैस्तु''''तेनेदं सम्प्रधार्यताम्' ॥ ११६ ॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८१)
५. 'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः' ॥ ११७ ॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८१)
६. 'नचागमेन सर्वज्ञस्तदीये''''गम्यते कथम्' ॥ ११८ ॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८२)
७. 'रागादिरहिते''''प्रत्यवेक्षणात्' ॥ १३७ ॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८६ चौ॰ सं॰)

आगम प्रणयन में प्रवृत्त ही क्यों होगा ? उसके सन्निधानमात्र[१] से शिष्यों के मुख से अलौकिकार्थप्रकाशक, उदान प्रवाहित हो जाते हैं। किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि सर्वज्ञ का सन्निधान पाकर दीवार, पहाड़, पत्थर से भी अलौकिक उपदेश निकल पड़ते हैं। एक सर्वज्ञ[२] के आधार पर बने आगम या सम्प्रदाय का संशोधन न होने के कारण कालुष्य और भ्रम की सम्भावना बनी रहती है, किन्तु बहुत व्यक्तियों के मेल से प्रचलित सम्प्रदाय या आगम में यह दोष नहीं रहता। एक व्यक्ति वैदिक पद का अन्यथा उच्चारण या अन्यथा अर्थ करता है तो दूसरा उसे तुरन्त टोक देता है। इस प्रकार वैदिक सम्प्रदाय अत्यन्त परिशुद्ध और निर्भ्रान्त है। वैसा बौद्ध सम्प्रदाय नहीं हो सकता।

बौद्धों द्वारा पुनः सर्वज्ञवाद का समर्थन—इस पर बौद्ध विद्वानों ने सर्वज्ञ के समर्थन में कहा है—अतीन्द्रिय और सूक्ष्म अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र सब पौरुषेय ही हैं—यह हमने सिद्ध कर दिखाया है। अतः सूक्ष्म और अलौकिक अर्थ का वक्ता साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता, बल्कि कोई सर्वज्ञ ही होगा। वैदिक वाक्यों की प्रमाणता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वेदवक्ता को सर्वज्ञ माना जाय।[3]

मीमांसकों ने जो यह कहा कि आजकल कोई सर्वज्ञ दिखलाई नहीं देता—यदि कोई है तो वह बतलाये कि हमारे हृदय में क्या है, हमारे शरीर पर कितने रोम और केश हैं, आकाश में कितने नक्षत्र हैं आदि। उनका यह कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि गन्धर्वशास्त्र का विशेषज्ञ यदि उक्त प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता तो उसकी विशेषज्ञता क्या जाती रहती है? धर्म के सूक्ष्म साधन-साध्यादि तत्त्वों का विशेषज्ञ उक्त प्रश्नों का उत्तर न देने पर भी धर्ममर्मज्ञ बना ही रहता है। ऐसे ही विश्व के समस्त सूक्ष्म पदार्थों का प्रकाश करनेवाले निर्मल और निष्कम्प ज्ञान में कमी नहीं आ सकती, उक्त प्रश्नों का उत्तर न देने पर भी सर्वज्ञ का यह शास्त्रीय अर्थ कदापि विवक्षित नहीं कि वह पृथ्वी के कण-कण की गणना करता रहे। अपितु आध्यात्मिक और भौतिक रहस्यों का स्फुरण जिस योगी, ध्यायी, मनीषी के तपःपूत अन्तःस्तल पर होता है, उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार के सर्वज्ञ का निराकरण नहीं किया जा सकता। कोई वस्तु किसी के दृष्टि पथ में नहीं आई, एतावता उसका

---

१. 'सान्निध्यमात्रतस्तस्य·····पि देशनाः' ॥ (श्लो० वा० १३८ पृ० ८७ चौ० सं०)

२ 'एकस्य प्रतिमानं तु कृतकान्न विशिष्यते'।

(श्लो० वा० १५०, पृ० ९० चौ० सं०)

'अतश्च सम्प्रदाये च नैकःपुरुष इष्यते' ॥ (श्लो० वा० १५१ पृ० ९१)

३. 'स्वर्गयागादयस्तस्मात्स्वतो ज्ञात्वा प्रकाशिताः।
वेदकारस्तवाप्यस्ति तादृशोऽतीन्द्रियार्थदृक्' ॥

(त० सं० ३२६५, पृ० ८४७)

'प्रधानपुरुषार्थज्ञः सर्वधर्मज्ञ एव वा।
तस्यानुपगमे नस्याद् वेदप्रामाण्यमन्यथा' ॥ (त० सं० ३२६६, पृ० ८४७)

अभाव स्थिर नहीं किया जा सकता[1]। अनुमान के आधार पर किसी वस्तु का साधन या बाध समस्त हेतु और साध्य का व्याप्य-व्यापकभाव जाने बिना नहीं हो सकता। समस्त हेतु और साध्य का व्याप्यव्यापकभाव मीमांसक भी मानते और जानते हैं। इस प्रकार वे भी आंशिक रूप से सर्वज्ञ कहे जा सकते हैं। अतः उनका सर्वज्ञ निराकरण अपने पर ही कुठाराघात करना है।[2]

समस्त विषयों के आवरणाभाव को ही शून्यता कहते हैं—दो प्रकार का आवरण जगत् में पाया जाता है। एक बुद्धिगत आवरण (क्लेशावरण) और दूसरा विषयगत आवरण (ज्ञेयावरण)। जिस व्यक्ति के दोनों प्रकार के आवरण भंग हो जाते हैं, वह सर्वज्ञ कहा जाता है। जैसे घट का अज्ञान जिस व्यक्ति में होता है, उसके असत्त्व और अभान के नियामक दो आवरण सभी मानते हैं। उन आवरणों की निवृत्ति हो जाने पर घट का ज्ञान होता है। एक ज्ञानी से अपेक्षाकृत दूसरा ज्ञानी अधिक विषयों के आवरण की निवृत्ति से ज्ञानी कहा जाता है। इसी प्रकार सर्वविषयों के आवरणों का अभाव हो जाने पर व्यक्ति सर्वज्ञ बनता है। इसी अभाव को माध्यमिकों ने 'शून्यता' की संज्ञा दी है।[3]

(ख) बौद्धों के साथ संघर्ष

मीमांसा के विकास-क्रम में नास्तिक दर्शनों की अल्प-स्वल्प चर्चा की गई है। इस प्रकरण में विशेषकर बौद्धों के साथ मीमांसकों का जो संघर्ष हुआ है, उसका यहाँ दिग्दर्शन मात्र करा रहे हैं।

बौद्धों का निरालंबनवाद तथा शून्यवाद—शाबरभाष्य में निरालम्बनवाद और शून्यवाद नाम से दो वादों की चर्चा की गई है। ये दोनों वाद विज्ञानवाद के ही है, किन्तु दोनों का प्रतिपादन-प्रकार और हेतु भिन्न-भिन्न दिखलाया गया है। निरालंबन वाद में 'प्रत्ययत्व' हेतु से अनुमान किया जाता है। इस 'प्रत्ययत्व' हेतु से जाग्रत्-प्रत्यय में निरालंबनता अर्थात् वाक्यालंबनशून्यता का समर्थन 'स्वप्नप्रत्यय' को दृष्टान्त बनाकर किया जाता है। इससे ज्ञान की निराकारता सिद्ध होती है। सब का सार यह है कि ज्ञानातिरिक्त कोई 'बाह्यवस्तु' नहीं है। बाह्य वस्तु के न होने

---

१. 'किञ्चाकारणमेवेदमुक्तमज्ञप्रभावितम्।
केशरोमाणि यावन्ति कस्तानि ज्ञातुमर्हति' ॥ (त० सं० ३२६८ पृ० ८४७)
'यस्मान्निर्मलनिष्कम्पज्ञानदीपेन कश्चन ।
द्योतिताखिलवस्तुः स्यादित्यत्रोक्तं न बाधकम्' ॥
(त० सं० ३२६९ पृ० ८४७)

२. 'भवानेव तदा सिद्धः सर्वार्थज्ञोऽप्रयत्नतः।
ततश्च स्वात्मनि द्वेषः कस्ते सर्वविदि स्वतः' ॥ (त० सं० ३२७४ पृ० ८५२)

३. 'क्लेशज्ञेयावृतितमः प्रतिपक्षो हि शून्यता।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम्' ॥
(बोधिचर्यावतार—९, ५५–५६ शान्तिदेव)

में यह एक हेतु है। दूसरा हेतु यह है कि 'प्रत्यक्ष' स्वयं को ग्रहण करते-करते क्षीण हो जाता है, पुनः अर्थ का ग्रहण करने में उसका सामर्थ्य नहीं रहता—यही शून्यवाद कहलाता है। भाष्य में निरालम्बनवाद के पश्चात् 'शून्यस्तु' इस ग्रन्थ से शून्यवाद का उपन्यास किया गया है। वहाँ 'शून्यस्तु शून्य एव' अर्थात् 'प्रत्ययः बाह्यार्थशून्य एव, प्रत्ययः अनुकृष्यते'। इस तरह निरालम्बनवाद से 'प्रत्यय' पद की अनुवृत्ति की आती है। इसीलिए 'प्रत्यक्षस्य बाह्यप्रवृत्यसामर्थ्यात्' यह दूसरा हेतु दिया गया है। इन दोनों हेतुओं से 'जाग्रत्' प्रत्यय का निरालम्बन सिद्ध किया गया है।

भाट्टमत से उक्त वादों का खण्डन—बाह्य वस्तु को 'ज्ञान' से अतिरिक्त सिद्ध करने पर 'विज्ञानवाद' का जैसे खण्डन हो जाता है, वैसे ही 'शून्यवाद' का भी खण्डन हो जाता है। इसी अभिप्राय से शबरस्वामी एवं कुमारिलभट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में इसका (विज्ञानवाद का) उपन्यास कर खण्डन किया है। बाह्य वस्तु के सिद्ध होने पर जैसे 'विज्ञानवाद' सिद्ध नहीं हो पाता, वैसे ही उष्ट्र-लगुडन्याय से 'शून्यवाद' भी सिद्ध नहीं होता। इसके निराकरण की यह रीति है—'अयं घटः' इत्यादि जाग्रत् प्रत्यय का अनुमान से बाध होने के कारण उसका अनुमान नहीं हो सकता। क्योंकि बाध अनुमिति का साक्षात् बाधक होता है। अतः प्रत्यक्ष के विरुद्ध अनुमान हो नहीं सकता। इस अनुमान में 'प्रत्यक्ष' पक्ष है। वह कर्मणि, भावे, कर्तरि या करण इनमें से किसमें व्युत्पन्न है? यह विकल्प करने पर सभी पक्ष खण्डित हो जाते हैं। इसलिए निरालम्बनत्व के साधक अनुमान का 'प्रत्यक्ष' से बाध होता है। अतः इसकी सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती।

अब रहा दूसरा हेतु—'प्रत्यक्ष'। वह भी बाह्य वस्तु के आकार को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि 'ज्ञान' तो निराकार है और बाह्य वस्तु साकार है। 'निराकार' का प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष तो साकार का होता है और विषय साकार है, किन्तु जड़ होने से उसमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है। विषय का आकार 'ज्ञान' में चला आता है, तब 'ज्ञान' साकार बनकर स्वयं प्रत्यक्ष होता है। इसलिए 'साकार ज्ञान' का ही प्रत्यक्ष होता है, 'निराकार विषय' का नहीं।

किन्तु विचार करने पर यह रीति भी उचित प्रतीत नहीं होती। कारण यह है कि विषय के लक्षण का विवेचन करने पर यह प्रतीत होता है कि विषय में ज्ञान के द्वारा कोई 'अतिशय' उत्पन्न होता है। इसीलिए 'घट' अपने ज्ञान का विषय कहलाता है और 'ज्ञान' विषयी। 'ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वम्' यह विषय का लक्षण है और 'विषयनिष्ठफलजनकत्वं विषयित्वम्' यह विषयी का लक्षण है। विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से (सम्बन्ध से) ज्ञान होता है। ज्ञान से विषय में 'ज्ञातता' नाम का धर्म उत्पन्न होता है, तब उससे (ज्ञातता से) ज्ञान का अनुमान होता है। इसलिए 'बाह्य विषय' को ज्ञान से अतिरिक्त स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह भाट्ट-सिद्धान्त है।

प्राभाकर मत से—प्रभाकर (गुरु) यह कहता है कि सविषयकज्ञान 'स्वयं प्रकाश' होता है। अर्थात् ज्ञान में तीन अंश भासते हैं—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। इनमें

'ज्ञान' स्वयंप्रकाश है। वह आश्रयविधया 'आत्मा' का और विषयविधया 'घट' का प्रकाशक होता है, अर्थात् विषयविधया 'घट' को प्रकाशित करते हुए स्वयं को भी प्रकाशित करता है। 'संवित्प्रकाशेन साकम् अर्थात्मनोः प्रकाशः' इति। इस रीति से भाट्ट-मत में 'ज्ञान' अनुमेय है और प्रभाकर मत में 'सविषयक ज्ञान' स्वयंप्रकाश है।

दोनों का निष्कर्ष—सब का सार यह है कि 'ज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर विषय का अपलाप करना' यह विज्ञानवादी का पक्ष है। भट्ट ने इस पक्ष का निरसन करते हुए 'ज्ञान' को अनुमेय और विषय को प्रत्यक्ष मानकर बाह्यवस्तु (पदार्थ) के अस्तित्व का समर्थन किया है; और प्रभाकर (गुरु) ने 'सविषयकज्ञान' को स्वयंप्रकाश माना है अर्थात् बिना विषय के ज्ञान का प्रकाश होता ही नहीं, इसलिए बाह्य विषय को मानना आवश्यक है। इस रीति से भट्ट तथा प्रभाकर दोनों के मत में ज्ञानातिरिक्त 'बाह्य वस्तु' का अस्तित्व मान्य है। अतः दोनों ने ज्ञानातिरिक्त 'बाह्य वस्तु' का समर्थन किया है, केवल शैली भिन्न है। इसका विशेष विवेचन श्लोकवार्तिक एवं शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थों में किया गया है।

बौद्धों का अपोहवाद—इसी प्रकार बौद्धों के 'अपोहवाद' का भी खण्डन मीमांसकों ने किया है। 'अपोह' का अर्थ है—अतद्व्यावृत्ति अर्थात् तद्भिन्न भेद। घटादि पदार्थों में लगातार (धारावाहिक) 'अयं घटः, अयं घटः' ऐसी समानाकार प्रतीति (समानाकार शब्दप्रयोग) होती है। ऐसी प्रतीति होने में कारण क्या है? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए नैयायिकादि आस्तिक दर्शनकारों ने 'सामान्य' को नियामक माना है। इसी अभिप्राय को 'समानप्रसवात्मिकाजातिः' यह गौतमसूत्र भी बतला रहा है—

'जातिमेवाऽऽकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्'॥
(श्लो० वा० ३, आकृ० वा० पृ० ५४६, चौ० सं०)

'समानेषु पिण्डेषु पूर्वाकारावमर्शः' इत्यादि वचन पूर्वोक्त अर्थ का ही समर्थन करते हैं।

इस विषय में बौद्धों का कहना है कि भावरूप धर्म को लेकर अनुगत शब्द-प्रयोग 'सामान्य' को लेकर नहीं होता, बल्कि 'अभावरूप धर्म' को लेकर होता है। इसी को 'अपोह, अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्न भेद' कहते हैं और इसी से अनुगम होता है। अतः 'अभावरूप धर्म' से अनुगत होने पर 'भावरूप धर्म' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उक्त वाद का खण्डन—इस पर मीमांसक कहते हैं—विधिप्रत्यय का समर्थन 'भावमुख' से ही किया जाता है, अभाव द्वारा नहीं। 'अभाव' का समर्थन अभाव द्वारा और 'भाव' का समर्थन भाव द्वारा होता है। 'भाव-प्रतीति का समर्थन अभाव-रूप ही होना चाहिए'—यह कोई नियम नहीं है। यह अपोहवाद व्यवहार में नहीं आ पाता बल्कि व्यवहार का विरोधी है, इसलिए उसका खण्डन किया गया है।

कुमारिल ने अपोहवाद के खण्डनार्थ जिन दोषों को प्रदर्शित किया है, उनके निरसनार्थ अपोहसिद्धि नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बौद्धों को रचना पड़ा।

मीमांसकों के द्वारा बौद्धमत का असमाधेय खण्डन—भिन्न-भिन्न प्रस्थान-प्रवर्तक कुमारिल तथा प्रभाकर दोनों ने बौद्धमत का खण्डन किया है, वह अत्यन्त श्लाघनीय है, क्योंकि उन खण्डनों का समाधान आज तक किसी से नहीं हो पाया। बौद्धमत के खण्डन के सम्बन्ध में कुमारिल तथा प्रभाकर ने जो तर्क उपस्थित किये हैं, उन्हीं के थोड़े-थोड़े अंशों को लेकर परवर्ती मण्डन, उम्बेक, शालिकनाथ, वाचस्पति, उदयन, जयन्तभट्ट, शंकराचार्य आदि विद्वानों ने भी बौद्धमत का खण्डन किया है। अर्थात् मरे हुए साँप को ही इन लोगों ने मारा है।

कुमारिल तथा प्रभाकर के पश्चात् मौलिक रचना का ह्रास—कुमारिल तथा प्रभाकर के पश्चात् ऐसे प्रज्ञासम्पन्न, वेदव्याख्याता एवं स्वतन्त्र विचार के विद्वान् बहुत कम हुए हैं, अर्थात् नहीं के बराबर ही हैं। परवर्ती विद्वानों ने केवल वकालत ही की है। सम्प्रदाय की रक्षा करने के लिए सभी ने अपनी-अपनी शक्ति लगाई है। किन्तु मौलिक रचना किसी ने नहीं की। यही कारण है कि मध्ययुग में जितने ग्रन्थ रचे गये हैं, उनमें सिद्धान्त की बातें बहुत कम हैं, खण्डन ही अधिक है। जैसे शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में बौद्धसिद्धान्त बहुत कम हैं, परमत-निराकरण ही बहुत है; वैसे ही शास्त्रदीपिका के तर्कपाद तथा गागाभट्ट कृत भाट्टचिन्तामणि, खण्डदेवकृत भाट्टदीपिका आदि ग्रन्थों में मीमांसकों के सिद्धान्त तो हैं किन्तु वे बहुत कम हैं। निरालम्बन-वाद, शून्यवाद, अपोहवाद आदि के खण्डन ही विस्तार के साथ किये गये हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की समझ—इसे देखकर नास्तिक दर्शन के समर्थक आज के पाश्चात्य शिक्षादीक्षित विद्वान् यह समझते हैं कि बौद्धयुग के कारण ही आस्तिक दर्शनों में परिष्कार होना आरम्भ हुआ। अर्थात् सोते हुए समाज को बौद्धों ने जगाया। इसलिए बौद्धयुग के पूर्व जो प्रमाण-प्रमेय परिष्कृत नहीं थे, वे बौद्धयुग के बाद ही परिष्कृत होने लगे।

मेरे अपने विचार—किन्तु मेरे विचार से उपर्युक्त कथन को विपरीत (उलटा) समझना चाहिए। अर्थात् नास्तिक दर्शनों में 'प्रमाण-प्रमेयों' का विशद विवेचन था ही नहीं, किन्तु आस्तिक दर्शनों के साथ टक्कर लगने से उधर के विद्वानों ने अपने प्रतिपादित विषयों को परिष्कृत किया। अपने इस कथन के समर्थन में धर्मकीर्ति का एक उदाहरण उपस्थित करता हूँ।

न्यायबिन्दु के आरम्भ में धर्मकीर्ति[1] ने कहा है—'सम्यग्ज्ञानपूर्विका हि पुरुषार्थ-सिद्धिः, तद्द्विविधं प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति'। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि

१. सातवीं शताब्दी के आरम्भ में (सन् ६००) 'नालन्दा विद्यापीठ' में प्रसिद्ध विज्ञानवादी बौद्ध विद्वान् 'धर्मकीर्ति' था। जिसने प्रमाणनिश्चय, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, वादन्याय, सबन्धपरीक्षा, सन्तानान्तरसिद्धि एवं प्रमाणवार्तिक जैसे महान् ग्रन्थों की रचना की।

'सामान्य धर्म' का ज्ञान होने पर 'विशेष' की जिज्ञासा होती है और उसके होने पर विभाग बतलाया जाता है—इस नियम को सभी दार्शनिकों ने माना है। किन्तु धर्मकीर्ति ने सामान्यलक्षण का प्रतिपादन किये बिना ही 'विभाग' बतलाया है और उसका समर्थन करते हुए धर्मोत्तराचार्य ने लिखा है कि जब तक 'यावत् विशेषों' का ज्ञान नहीं होगा, तब तक तदनुगत 'सामान्यलक्षण' बन ही नहीं सकता। इस पर विद्वान् लोग थोड़ा विचार करें कि एक आदमी गलती करता है और दूसरा आदमी उसी का समर्थन करता है। ऐसे प्रसंगों पर एक कहावत चरितार्थ होती है—'अबद्धं पठित्वा कुचोद्यं ब्रूयात्' इति।

इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण देखिये—अनुमान का भेद जहाँ बतलाया है वहाँ भी धर्मकीर्ति ने यही गलती की है, और उसका समर्थन धर्मोत्तराचार्य ने किया है। किन्तु आस्तिक दार्शनिक ग्रन्थों में ऐसा कहीं भी नहीं मिलेगा। छोटे-मोटे तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों में भी यह गलती नहीं है तो भाष्य आदि बड़े ग्रन्थों में कहाँ? यह सब बतलाने का अभिप्राय यह है कि बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में परिष्कार आस्तिक दर्शन-ग्रन्थों के कारण हो पाये हैं। दोनों ग्रन्थों के अध्ययनशील विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है। एक ओर न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-वेदान्तादि आस्तिक दर्शनों के साथ और दूसरी ओर नास्तिक दर्शनों से मीमांसादर्शन का संघर्ष रहा। ऐसी विषम परिस्थिति प्राप्त होने के कारण मीमांसादर्शन के परिष्कारों का अनायास ही विकास होता गया।

ख्यातिवाद—भ्रमज्ञान के सम्बन्ध में दार्शनिकों का महान् मतभेद है। उनमें प्रधानतया ये पाँच ख्यातियाँ प्रसिद्ध हैं—१. आत्मख्याति, २. अख्याति, ३. अन्यथाख्याति, ४. असत्ख्याति और ५. अनिर्वचनीयख्याति।

पहली 'आत्मख्याति' विज्ञानवादियों की है। दूसरी 'अख्याति' प्रभाकर की है। तीसरी 'अन्यथाख्याति' नैयायिक तथा मीमांसकों की है। चौथी 'असत्ख्याति' शून्यवादी तथा द्वैतवादियों की है। पाँचवीं 'अनिर्वचनीय ख्याति' अद्वैतवेदान्तियों की है।

मण्डन मिश्र ने विभ्रमविवेक नामक ग्रन्थ में आत्मख्याति, असत्ख्याति तथा अख्याति इन तीनों ख्यातियों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका निराकरण करते हुए अन्यथाख्याति का समर्थन किया है। इनमें 'आत्मख्याति' विज्ञानवादी लोकाचार की है। उसका अभिप्राय यह है कि 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' के भेद से दो वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं। उनमें ज्ञान के अतिरिक्त कोई 'बाह्य वस्तु' नहीं है, अपितु ज्ञान ही बाह्य वस्तु के आकार में प्रतीत होता है। अतः भ्रमस्थल (इदं रजतम्) में आत्म-स्थानापन्न 'आन्तर ज्ञान' ही रजतरूप से पुरोवर्तितया प्रतीत होता है। 'धर्मी' और 'धर्म' दोनों की कल्पना करने की अपेक्षा धर्ममात्र की कल्पना करने में लाघव है। इसलिए 'आन्तर ज्ञान' ही रजताकार से पुरोवर्ती प्रतीत होता है। 'ज्ञानाकार रजत' में पुरोवर्ती मात्र का निषेध होने पर 'रजत' ज्ञान के रूप में रह जाता है—यही

आत्मख्याति कहलाती है। अतः भ्रमस्थल में 'आत्मख्याति' होती है—यह विज्ञानवादियों का मत है।

अन्यथाख्याति नैयायिकों की है—भ्रमस्थल में देशान्तरस्थ रजत पुरोवर्तितया भासता है। अर्थात् शुक्तिरूप से अवस्थित पदार्थ 'रजत' के रूप में प्रतीत होता है, इस कारण यह 'अन्यथाख्याति' कहलाती है। 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्' यह इसका लक्षण बतलाया जाता है। 'नेदं रजतम्' इस निषेध से पुरोवर्ती पदार्थ में 'रजतत्व' और उसका 'तादात्म्य' दोनों का प्रतिषेध किया जाता है। अतः रजत ज्ञान से पुरोवर्ती पदार्थ में प्रवृत्ति हुई थी, किन्तु 'रजतत्वसंसर्ग' का निषेध होने पर प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि रजतत्वजातीय में इष्टसाधनता ज्ञान है। अतः 'रजतत्वजातीयत्व' हेतु से पुरोवर्ती पदार्थ में इष्टसाधनताज्ञान का अनुमान होता है। यही अन्यथाख्याति नैयायिकों की अभिप्रेत है।

किन्तु मण्डनमिश्र, वाचस्पतिमिश्र, पार्थसारथि मिश्र प्रभृति मीमांसकों ने 'अन्यथाख्याति' को मानते हुए भी उसका रूपान्तर कर दिया है, जो इस प्रकार है—भ्रमस्थल में 'पदार्थ' सत् है और 'संसर्ग' असत् है। इसलिए वह अन्यथाख्याति या विपरीतख्याति कहलाती है। 'सर्वत्र संसर्गमात्रं असदेव अवभासते। संसर्गिणस्तु सन्त एव। सेयं विपरीतख्यातिरित्युच्यते मीमांसकैः'। (शा० दी० पृ० ५८, नि० सा० प्रे० मुं०) इस अवान्तर विशेष के होते हुए भी 'अन्यथाख्याति' का स्वीकार करना नैयायिक तथा भाट्ट मीमांसकों का समान है।

'असत्ख्याति' को मानने वाले शून्यवादी तथा द्वैतवादियों का कहना है कि 'अत्यन्त असत् पदार्थ' ही भासता है, अर्थात् 'पदार्थ' भी असत् है और 'संसर्ग' भी असत् है। अतः 'असत् पदार्थ' का ही भ्रमस्थल में भान होता है।

अद्वैतवेदान्तियों ने भ्रमस्थल में 'अनिर्वचनीय ख्याति' मानी है। उनका अभिप्राय यह है कि भ्रमस्थल में जो रजत भासता है, वह न 'सत्' है और न 'असत्' ही है तथा 'उभयात्मक' भी नहीं है, किन्तु विलक्षण है। क्योंकि आत्मा की तरह यदि उसे 'सत्' माना जाय तो उसका बाध नहीं होना चाहिए। यदि उसे 'असत्' कहें तो उसका भान नहीं होना चाहिए। परस्पर विरोध होने से उसे 'उभयात्मक' भी नहीं मान सकते और अनुभयात्मक कोई चीज (वस्तु) नहीं होती। अतः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्या 'अनिर्वचनीय रजत' ही भ्रमस्थल में भासता है। इसलिए भ्रमस्थल में 'अनिर्वचनीय पदार्थों' का ही भान होता है, यह अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है।

मीमांसाशास्त्र का उद्देश्य तो धर्मानुष्ठान है। इसलिए किस 'ख्याति' को मानने से गौरव, लाघव, हानि, लाभ क्या हैं ? यह विचारणीय है।

अख्यातिवाद को छोड़ अन्यान्य ख्यातिवादों का कर्मानुष्ठान या वेदप्रामाण्य में कोई प्रयोजन नहीं है।

अख्यातिवाद अर्थात् सर्वज्ञानयाथार्थ्यवाद में वेद-प्रामाण्य तथा कर्मानुष्ठान सुरक्षित रह सकता है। उसका उद्देश्य ही यह है कि वेद में अप्रामाण्य चर्चा का अन्त कर देना। इसलिए वैदिक-व्यवहार में इन 'ख्यातिवादों' का कोई प्रयोजन नहीं है। लौकिक-व्यवहार में किसी भी वाद के मानने या न मानने में विशेष प्रमाण कोई नहीं है। धर्मचर्चा करने वाले जैमिनि तथा शबरस्वामी को कौन-सा ख्यातिवाद अभिप्रेत है, यह निर्णय करना कठिन है। कुमारिल ने अपने वार्तिक में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने अभिप्रेत ख्यातिवाद को उपस्थित नहीं किया; तथापि श्लोकवार्तिक का अनुसन्धान करने पर 'सदसत्ख्यातिवाद' उन्हें अभिप्रेत है, यह अनुमान किया जा सकता है।

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित् कैश्चिद् रूपं कदाचन॥

(श्लो० वा० १२ अनु० परि० पृ० ४७६ चौ० सं०)

वेद-प्रामाण्य के साधन में अन्यान्य ख्यातिवादों का विशेष उपयोग न होने से प्रभाकर-सम्मत सर्वज्ञान याथार्थ्यवाद ही अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैन तथा बौद्धों ने वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिए सर्वज्ञानयाथार्थ्यवाद का खण्डन किया, किन्तु आस्तिक दर्शनों का पाठ पढ़ानेवाले और शब्दप्रामाण्य तथा वेदप्रामाण्य को माननेवाले नैयायिक, भट्टमीमांसक और वेदान्तियों ने भी इसका खण्डन किया, यह एक आश्चर्य है। मेरी समझ से तो 'शिवद्रोहे तात्पर्यम्' के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रो० कीथ की भूल—प्रो० कीथ ने अपने कर्ममीमांसादर्शन में शाबरभाष्य के निरालंबनवाद तथा शून्यवाद पर यह लिखा है कि निरालम्बनवाद 'विज्ञानवाद' से सम्बन्ध रखता है और शून्यवाद नागार्जुन के 'माध्यमिक शून्यवाद' से सम्बन्ध रखता है। निरालम्बन का अर्थ उन्होंने 'हॅव नो फाउण्डेशन' किया है। (कर्ममी० पृ० ४६) जिसका अर्थ होता है—'विषयशून्य'। किन्तु वास्तव में निरालम्बन शब्द का यह अर्थ नहीं है। क्योंकि 'आलम्बन' का अर्थ होता है—'बाह्य विषय'। तब निरालम्बन का अर्थ हुआ—'बाह्यालम्बनशून्य'। यही अर्थ श्लोकवार्तिक तथा उसकी व्याख्या आदि ग्रन्थों में बतलाया गया है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर शून्यवाद से 'माध्यमिक शून्यवाद' नहीं लिया गया है, किन्तु वह 'विज्ञानवाद' का ही एक प्रकार है। यह ज्ञान को साकार मानता है। उसी को लेकर 'शून्यवाद' का उपक्रम किया गया है। शून्यवाद का भाष्य देखने से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है। 'निरालम्बनवाद' में 'विज्ञान' को निराकार माना जाता है। 'निरालंबनवाद' में 'अयं घटः इत्यादिसर्वः जाग्रत्प्रत्ययः, बाह्यालम्बनशून्यः, प्रत्ययत्वात्, स्वाप्नप्रत्ययवत्' यह अनुमान-प्रमाण है। और 'शून्यवाद' में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण होते हैं। 'बाह्ये च प्रवृत्यसामर्थ्यात्' (शा० दी० पृ० ५१, नि० सा० प्रे०, मुं०) इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अख्यातिवाद अर्थात् सर्वज्ञानयाथार्थ्यवाद में वेद-प्रामाण्य तथा कर्मानुष्ठान सुरक्षित रह सकता है। उसका उद्देश्य ही यह है कि वेद में अप्रामाण्य चर्चा का अन्त कर देना। इसलिए वैदिक-व्यवहार में इन 'ख्यातिवादों' का कोई प्रयोजन नहीं है। लौकिक-व्यवहार में किसी भी वाद के मानने या न मानने में विशेष प्रमाण कोई नहीं है। धर्मचर्चा करने वाले जैमिनि तथा शबरस्वामी को कौन-सा ख्यातिवाद अभिप्रेत है, यह निर्णय करना कठिन है। कुमारिल ने अपने वार्तिक में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने अभिप्रेत ख्यातिवाद को उपस्थित नहीं किया; तथापि श्लोकवार्तिक का अनुसन्धान करने पर 'सदसत्ख्यातिवाद' उन्हें अभिप्रेत है, यह अनुमान किया जा सकता है।

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित् कैश्चिद् रूपं कदाचन॥

(श्लो० वा० १२ अनु० परि० पृ० ४७६ चौ० सं०)

वेद-प्रामाण्य के साधन में अन्यान्य ख्यातिवादों का विशेष उपयोग न होने से प्रभाकर-सम्मत सर्वज्ञान याथार्थ्यवाद ही अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैन तथा बौद्धों ने वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिए सर्वज्ञानयाथार्थ्यवाद का खण्डन किया, किन्तु आस्तिक दर्शनों का पाठ पढ़ानेवाले और शब्दप्रामाण्य तथा वेदप्रामाण्य को माननेवाले नैयायिक, भट्टमीमांसक और वेदान्तियों ने भी इसका खण्डन किया, यह एक आश्चर्य है। मेरी समझ से तो 'शिवद्रोहे तात्पर्यम्' के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रो० कीथ की भूल—प्रो० कीथ ने अपने कर्ममीमांसादर्शन में शाबरभाष्य के निरालंबनवाद तथा शून्यवाद पर यह लिखा है कि निरालम्बनवाद 'विज्ञानवाद' से सम्बन्ध रखता है और शून्यवाद नागार्जुन के 'माध्यमिक शून्यवाद' से सम्बन्ध रखता है। निरालम्बन का अर्थ उन्होंने 'हॅव नो फाउण्डेशन' किया है। (कर्ममी० पृ० ४६) जिसका अर्थ होता है—'विषयशून्य'। किन्तु वास्तव में निरालम्बन शब्द का यह अर्थ नहीं है। क्योंकि 'आलम्बन' का अर्थ होता है—'बाह्य विषय'। तब निरालम्बन का अर्थ हुआ—'बाह्यालम्बनशून्य'। यही अर्थ श्लोकवार्तिक तथा उसकी व्याख्या आदि ग्रन्थों में बतलाया गया है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर शून्यवाद से 'माध्यमिक शून्यवाद' नहीं लिया गया है, किन्तु वह 'विज्ञानवाद' का ही एक प्रकार है। यह ज्ञान को साकार मानता है। उसी को लेकर 'शून्यवाद' का उपक्रम किया गया है। शून्यवाद का भाष्य देखने से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है। 'निरालम्बनवाद' में 'विज्ञान' को निराकार माना जाता है। 'निरालंबनवाद' में 'अयं घटः इत्यादिसर्वः जाग्रत्प्रत्ययः, बाह्यालम्बनशून्यः, प्रत्ययत्वात्, स्वाप्नप्रत्ययवत्' यह अनुमान-प्रमाण है। और 'शून्यवाद' में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण होते हैं। 'बाह्ये च प्रवृत्यसामर्थ्यात्' (शा० दी० पृ० ५१, नि० सा० प्रे०, मुं०) इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रो० कीथ को भ्रम होने का कारण—प्रो० कीथ को भ्रम होने का कारण म० म० गंगानाथ झा विरचित श्लोकवार्तिक का अंग्रेजी अनुवाद है। उसमें उन्होंने 'परः' का—'एनदर साइ-अन ऑफ दी बौद्ध कम्स फॉरवर्ड' (एस० वी० टी० पृ० १४८) लिखकर अर्थ अन्य बौद्ध किया है। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है।

प्रो० कीथ की दूसरी भूल—इसी प्रकार प्रकरणपंचिका में प्रत्यक्ष परिच्छेद के अन्त में 'संवित्' को स्वयंप्रकाश माना है। वहाँ यह शंका की है कि 'आत्ममनः-संयोग' तो जड़ है, तब वह स्वयंप्रकाश कैसे हो सकता है? किन्तु 'आत्ममनः संयोग एव परितुष्यताम् आयुष्मता' (प्र० पं० पृ० १८८-१८९) के द्वारा ग्रन्थकार संवित् को स्वयंप्रकाश भी कहता है और अनुमेय भी कहता है—यह विरुद्ध-सा लगता है। (कर्ममी० पृ० २०)

ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रकरण प्रो० कीथ नहीं समझ पाये। यहाँ पर 'कारण' में कार्योपचार मानकर समर्थन करना चाहिए, तभी पूर्वापर संगति लगती है।

यहाँ केवल प्रो० कीथ ही भ्रम में नहीं गिरे बल्कि एक भारतीय विद्वान् पं० सुखलालजी संघवी ने भी भ्रम के गर्त में गिरते हुए प्रो० कीथ का साथ दिया है। इन्होंने भी अपनी प्रमाणमीमांसा में इसी विरोध की उद्भावना की है। म० म० अनन्तकृष्णशास्त्री ने भी अपनी प्रभाकरविजय की भूमिका में इसी विरोध को दिखलाया है। अतः प्रो० कीथ अकेले ही भ्रमगर्त में न गिरकर दो साथी भी उनके साथ भ्रमगर्त में गिरे हैं।

वार्तिक, भाष्य और शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थों की भाषा-शैली गंभीर, प्रसाद-गुणयुक्त और ललित है। जो लोग संस्कृत भाषा में अच्छा प्रवेश चाहते हैं, उन्हें इन ग्रंथों का अभ्यास करना चाहिए। अन्य ग्रंथों में यह बात देखने में नहीं आती। जिस अर्थ को वे बतलाना चाहते हैं; उसे बतलाने के लिए अनेक शब्द खर्च करने पड़ते हैं; तब भी विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन पूर्णतया हो पाता है या नहीं, इसमें सन्देह ही है।

किन्तु भाष्य आदि में शब्द थोड़े हैं और अर्थ विस्तृत है, पर वह स्पष्ट है। उसकी भाषा मंजी-मंजाई है। भाष्य के वाक्य सभी न्यायरूप हैं। इसीलिए शाबर-भाष्य के वाक्यों को 'न्याय' (वाक्यार्थनिर्णय करने के लिए तर्क या युक्ति) शब्द से भी कहा जाता है।

मैक्समूलर की भूल—ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मंत्राधिकरण का जहाँ वर्णन किया है, वहाँ 'मन्त्राभिधानात्' इस शबर-वचन को जैमिनि-सूत्र समझकर उसका मैक्समूलर आदि विदेशी विद्वानों ने व्याख्यान किया है।

वेंकटनाथाचार्य की असावधानी—विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के आचार्य कवितार्किक-केसरी वेंकटनाथाचार्य ने अपनी सेश्वरमीमांसा में 'ननु वेदे व्यक्तमसंवादः' इस शाबरभाष्य को जैमिनिसूत्र समझकर व्याख्यान किया है। श्रीहर्ष ने अपने नैषधमहा-काव्य में शाबर-कथन पर सूत्रकार-कथन का आरोप किया है। अ० ९, पा० १,

अ० ४ अधिकरण में भाष्यकार ने विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति, शिष्टाचार और लोक प्रसिद्धि के द्वारा देवताविग्रह का समर्थन तथा निरसन किया है। इस बात को कवि ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

'विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुः व्यर्थतां मदशनिं स निनाय' ॥३९॥ (नैषध० सर्ग ५)

उपसंहार

इस प्रकार बौद्धों ने संघर्ष करते हुए अपने क्षणभंगवाद और सत्यद्वयवाद का समर्थन किया है, किन्तु इस मत में ग्राह्यग्राहकभाव की अनुपपत्ति और सत्यद्वय की कपोलकल्पित कल्पना आदि दोष ऐसे हैं जिनका उद्धार नहीं हो सकता। ग्राहक-इन्द्रिय भी क्षणिक और ग्राह्य विषय भी क्षणिक है। अतः दोनों में ग्राह्य-ग्राहकभाव वैसे ही नहीं बन सकता जैसे दो पक्षी समान गति से आकाश में आगे-पीछे उड़ते चले जा रहे हों, उनमें पिछला पक्षी अगले को कभी पकड़ नहीं सकता। बौद्धों ने स्वयं माना है कि इन्द्रिय से वस्तु का ग्रहण सत्रह क्षणों में पर्यवसित होता है। ग्राह्य वस्तु का एक क्षण ग्राहक के सत्रह क्षणों के बराबर होता है; यह पूर्वचर्चित कल्पना निराधार है और सत्रह क्षणों तक किसी वस्तु को स्थिर मान लेना क्षण-भंगवाद को तिलांजलि दे देना है। सत्यद्वय की कल्पना भी परीक्षकों की परीक्षण-निरीक्षण ग्रावा (निकष) पर आज तक ठीक से नहीं उतर पाई। यही कारण है कि अन्ततोगत्वा बौद्धों को अपनी पराजय स्वीकार करते हुए इस पुण्यभूमि भारत को त्याग कर चला ही जाना पड़ा।

बौद्धों का कर्मवाद, प्रयोजनवाद, निर्वाणवाद, अनीश्वरवाद, अनात्मवाद तथा शिथिल पुनर्जन्मवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, सत्यद्वयवाद आदि के सिद्धान्त जनसमाज पर चिरस्थायी प्रभाव न डाल सके।

बौद्धधर्म में कर्म का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड न होकर मनुष्य की समस्त कायिक-वाचिक-मानसिक चेष्टाओं से है। यही कर्म मनुष्य के सुख-दुःख का दाता है। बौद्धधर्म कर्मप्रधान धर्म है। जो महत्त्व आस्तिक धर्मों में ईश्वर का है, वही महत्त्व बौद्धधर्म में 'कर्म' का है। ज्ञान-प्राप्ति कर्म के ऊपर ही आधारित है। इसी तथ्य को बुद्ध ने राहुल से कहा है[१]। इसी प्रकार जाति-आचरण के प्रति अनास्था भी प्रदर्शित की है[२]। केवल कायिक-वाचिक-मानसिक कर्म के आधार पर ही चतुर्वर्णों को मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है[३]। मनुष्यों में कोई भेद नहीं है[४]। मनुष्यों की अधमता और उत्तमता उनके कर्म पर ही निर्भर है[५]। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तः-

---

१. अम्बलट्ठिक-राहुलवाद-सुत्तंत (मज्झिम० २।२।१)।
२. सुंदरिकभारद्वाज-सुत्त (सुत्तनिपात)।
३. अग्गञ्ज-सुत्त (दीघ० ३।४)।
४. कण्णत्थलक-सुत्त (मज्झिम० २।४।१०)।
५. मज्झिम० (३।४।५)।

शुद्धि और सम्यक् कर्म के ऊपर जोर देकर बुद्ध ने जनसमाज में नैतिक आदर्शवाद स्थापित करने की चेष्टा की। महात्मा बुद्ध अत्यन्तप्रयोजनवादी थे। उन्होंने लोक, जीव और परमात्मा के विचारों को व्यर्थ समझा और अपने अनुयायियों को लोक-सम्बन्धी, जीव-सम्बन्धी और पुनर्जन्म से सम्बन्धित दस अकथनीय सिद्धान्त बताये। 'निर्वाण' के सम्बन्ध में भी अन्य दार्शनिकों से इनका विचार भिन्न हैं। इनका मत है कि इसी जीवन में निर्वाण संभव है, मृत्यु के पश्चात् नहीं[1]। बुद्ध कर्मवादी होने के कारण मीमांसकों की तरह ही अनीश्वरवादी समझे जाते हैं। उन्होंने भी अनिर्वचनीय परमतत्त्व के अस्तित्त्व की ओर संकेत किया है[2]।

बुद्ध के समय में आत्मविषयक दो विचारधाराएँ थीं—एक शाश्वतवादियों की और दूसरी उच्छेदवादियों की। महात्मा बुद्ध ने दोनों के बीच का मार्ग अपनाया। उन्होंने तो 'आत्मा' पर विचार करना ही वर्जित किया है। उन्होंने इसे 'अमनसिकरणीय' धर्म बतलाया है[3]। महात्मा बुद्ध ने आत्मदीप होकर विहार करने का और आत्मशरण एवं अनन्यशरण होने का अपने अनुयायियों को उपदेश दिया था। इससे सर राधाकृष्णन् ने यह निष्कर्ष निकाला है[4] कि महात्मा बुद्ध 'आत्मा' में विश्वास करते थे। यदि आत्मा न होती तो वे उसे दीपक बनाने के लिए क्यों कहते? उसकी शरण में जाने के लिये क्यों कहते? परन्तु सर राधाकृष्णन् का यह मत उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। यहाँ 'आत्मा' का प्रयोग लौकिक भाषा में किया गया है। यहाँ 'अपने को दीपक बनाओ' का तात्पर्य यह है कि आत्मनिर्भर हो। लौकिक भाषा में 'अपने' का प्रयोग करनेवाला मनुष्य 'आत्मवाद' का प्रचारक नहीं कहा जाता। इसी प्रकार आत्मवाद की स्पष्ट व्याख्या किये बिना ही पुनर्जन्मवाद को अक्षत रखने का प्रयत्न किया गया है।

तात्पर्य यह है कि बुद्ध के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त कपोलकल्पित होने से निराधार सिद्ध हुए और बालू के दुर्ग की तरह विद्वानों की विवेकभागीरथी के अदम्य प्रवाह से ढह गये और बौद्ध पराजित हुए।

(ग) अन्य दार्शनिकों के साथ मीमांसकों का संघर्ष

मीमांसा और न्याय

मीमांसा दर्शन ही सम्भवतः वह प्रथम दर्शन है, जिसने सन्दिग्ध तत्त्वों का

---

१ अंगुत्तरनिकाय (तिकनिपात), सुत्तनिपात (परायण वग्गो)।

२. सर राधाकृष्णन् की 'इण्डियन फिलॉसफी' (वॉल्यु० १, पृ० ११७)।

३. सब्बासव-सुत्तंत (मज्झिम० १।१।२)।

४. 'गौतम दी बुद्ध' (पृ० ४०) कुमारस्वामी और हार्नर आदि कुछ विद्वान् भी बुद्ध को आत्मवादी मानते हैं। (प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास—पृ० ३९६, विमलचन्द्र पाण्डेय प्र० सं० १९५८, सेण्ट्रल बुकडिपो, इलाहाबाद)

निर्णय करने के लिए अधिकरणप्रणाली का सर्जन किया है, इन अधिकरणों की ही आगे चलकर 'न्याय' संज्ञा पड़ी; और अधिकरणों के ही विषय, संशय, प्रयोजन के आधार पर न्याय के प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण पाँच अंगों की स्थापना की गई।

न्याय और तर्क की व्याख्या—न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वाचस्पति मिश्र ने—'नीयते प्राप्यते निवक्षितार्थ सिद्धिः अनेन' (तात्पर्य परि० १।१।१) कहा है। इसी प्रकार तर्क की व्याख्या करते समय नैयायिकों ने मीमांसा को ही तर्क का रूप दिया है। तात्पर्य टीका (१।१।१) में ही कहा है कि 'निश्चयाय तु प्रवतमानं प्रमाणं तद्विषयविवेकेन अनुगृह्णन् इतिकर्तव्यतात्वेन उपयुज्यते। यथोक्तम्—मीमांसा-संहितस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः सोऽतो वेदो रुमाप्राप्तः काष्ठादिलवणात्मवत्' अर्थात् मीमांसा-सम्मत तर्क वेद से समुद्भूत होने से वेदात्मक ही है, जैसे—लवणराशि में पड़ी हुई काष्ठादि वस्तु तदात्मक हो जाती है।

तार्किकों की दृष्टि में मीमांसा का स्थान—मीमांसा को तार्किकों ने अत्यन्त उच्च स्थान दिया है। उनका कहना है कि 'पूजितविचारवचनो हि मीमांसा शब्दः' (तात्पर्यटीका १।१।१, पृ० ६१), "अयुक्तप्रतिषेधेन युक्ताभ्यनुज्ञानं तर्कः प्रमाणेति-कर्तव्यतात्वेन च प्रमाणाद्भेदाद् भेद उक्तः 'सोऽतो वेद' इति अङ्गाङ्गिनोरभेद-विवक्षया। इतिकर्तव्यतात्वं चास्य साक्षाद् दर्शितम्। धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना। इतिकर्तव्यताभागं मीमांसापूरयिष्यति।" इति। मीमांसकों ने बौद्धों का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए जिस शैली को अपनाया है, वही नैयायिकों का आदर्श मार्ग है।

बौद्धों के खण्डनार्थ अनेक सिद्धान्तों में मीमांसक और नैयायिकों की एकता—बौद्धगण 'निर्विकल्पक ज्ञान' को ही प्रमाण मानते हैं[१]। सविकल्पक ज्ञान को नहीं। भट्टपाद ने श्लोकवार्तिक में इसका निराकरण अत्यन्त ऊहापोह के साथ करते हुए सविकल्पक ज्ञान की प्रमाणता जिस प्रकार सुरक्षित की है,[२] उसी प्रकार नैयायिकों ने भी अपने ग्रन्थों में निरूपण किया है[३]। आत्मा का स्वरूप मीमांसा-सम्मत[४] जैसा का तैसा नैयायिकों ने अपनाया है[५]। मीमांसकों ने वेद की प्रमाणता अक्षुण्ण रखने के लिए जिस वाद मार्ग का सहारा लिया, वह दूसरे आस्तिक दर्शनों का सिद्धान्त

---

१. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्। (दिङ्नाथ-सौगतसिद्धान्तसारसंग्रह पृ० ७५ प्रमाणसमुच्चय, प्र० परिच्छेद)

२. 'ततःपरं पनुर्वस्तु.....प्रत्यक्षत्वेन सम्मता'॥ (श्लो० वा० प्रत्यक्षसू० १२०)

३. 'तस्मात् सविकल्पकप्रत्यक्षावरोधार्थं व्यवसायात्मकं पदमितिसिद्धम्'। (न्या० वा० ता० टी० १।१, पृ० १४४)

४. 'तस्मादयभिममर्थमवगच्छामो.....व्यपदिश्यते'। (शा० भा० १।१।५, पृ० ६७) आत्मैव चाश्रयस्तस्य.....कर्तृत्वं सर्वकर्मसु। (वा० २।१।२।५, पृ० ३९७)

५. 'तस्मादनन्वरोक्तेन.....परलोकित्वमात्मनः'। (न्या० मं० अ० ७, पृ० ४६९) 'पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनु.....प्रतिपत्तेः'। (न्या० सू० ३।१।१८)

बनकर रह गया। कणाद एवं अक्षपाद ने तो अपने-अपने सूत्रों में 'तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशेषिकदर्शन १०।२।९) तथा 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्-आप्तप्रामाण्यम्' (न्या० सू० २।१।६८ शब्दप्रमाणपरीक्षा) अर्थवादाधिकरण के समान पूर्वोत्तर पक्षों की विशद शैली पर वेद की प्रमाणता स्थापित की है। बौद्धों के निरालम्बनवाद का विशेष निराकरण जैसा भट्टपाद ने किया है, उसकी ओर केवल संकेत करके ही कुछ न्यायाचार्यों ने अपनी सम्मति प्रकट की है, और जयन्त जैसे उद्भट नैयायिकों ने भट्टपाद के निराकरण का सहारा लेकर विशेषरूप से शून्यवादादि का निराकरण किया है[1]।

वैदिक सिद्धान्त और संस्कृति का रक्षण मीमांसक और नैयायिक दोनों को अभीष्ट— प्रमेयनिरूपण में नैयायिकों को मीमांसकों से विशेष वैमत्य नहीं है, क्योंकि वेद और वैदिक सिद्धान्त और संस्कृति का परिरक्षण दोनों को अभीष्ट है। वस्तुतः नैयायिक और मीमांसक एक-दूसरे के पोषक कहे जा सकते हैं। क्योंकि एक यदि 'प्रमेयनिरूपण' को प्रधानता देता है तो दूसरा 'प्रमाणनिरूपण' को। नैयायिकों ने प्रमाण वर्ग का विशेष लक्षण और बहिष्कार इसीलिए किया है कि मीमांसा-अभिमत प्रमेय सुदृढ़ रूप से सुरक्षित हो सके। मीमांसकों ने धर्मादि प्रमेय का निरूपण विशेषरूप से किया और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की धर्म में अनिमित्तता प्रदर्शित की है[2]। प्रत्यक्षादि का विशेष लक्षण नहीं किया। इसीलिए महर्षि जैमिनि ने अनुमानादि प्रमाणों का निरूपण नहीं किया, किन्तु विपक्षियों ने प्रत्यक्षसूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण समझ कर प्रमादि में अतिप्रसंग दिखलाकर प्रत्यक्ष लक्षण को दूषित किया है। महर्षि अक्षपाद ने उन दोषों का उद्धार करने के लिए प्रत्यक्ष का लक्षण सर्वांगपूर्ण किया है[3]। इतना ही नहीं, महर्षि अक्षपाद ने जैमिनिदर्शन का प्रमाणनिरूपण से उपक्रम[4] देखकर अपने सूत्र का भी उपक्रम 'प्रमाण' पदार्थ से ही किया है[5]। मीमांसकों में भाट्टगण छः और प्राभाकर पाँच प्रमाण मानते हैं। नैयायिकों ने चार प्रमाणों में ही उनका समावेश बतलाया है। अनुमान में व्याप्ति के दो स्वरूप 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' नैयायिकों ने माने हैं। इसीलिए मीमांसकों का भी अभिमत 'अर्थापत्तिप्रमाण' जो 'व्यतिरेक-व्याप्ति' पर निर्भर है, नैयायिकों ने 'अनुमान' में अन्तर्भूत कर लिया है। 'अभाव' को 'पदार्थान्तर' मान कर भी उसे 'प्रत्यक्ष' मान लिया है। इस प्रकार 'प्रमेय' निराकरण के द्वारा 'प्रमाण' का निराकरण नैयायिकों ने नहीं किया है, अपितु

---

१. 'अतः शब्दानुसन्धान····तत्त्वार्थदर्शिनाम्'॥ (न्या० मं० अ० २, पृ० ९९)

२. 'एवं लक्षणकत्वं····निमित्तता'॥ (श्लो० वा० सू० ४।१९-२०)

३. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'। (न्या० सू० १।१।४)

४. जैमिनिदर्शन के प्रथम अध्याय में प्रमाण का निरूपण है, इसीलिए उसे प्रमाणाध्याय भी कहते हैं।

५. 'प्रमाणप्रमेय····निःश्रेयसाधिगमः'। (न्या० सू० १।१।१)

मीमांसकों के प्रमेयों को मानते हुए भी उन्हें अपने चार प्रमाणों से प्रमित बतलाया है। प्राचीन मीमांसक लोग 'ज्ञान' को ही सर्वत्र प्रमाण मानते हैं, किन्तु नैयायिकों ने 'इन्द्रिय' जैसे द्रव्यतत्त्व को प्रमाण मानकर भी 'ज्ञान' की प्रमाणता का निराकरण नहीं अपितु समर्थन ही किया है। नैयायिकों ने 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' (गौ० ध० सू० २।१।१६) आदि सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित किया है कि प्रमाण-फलभाव व्यवस्थित नहीं, अपितु अव्यवस्थित है। इंद्रिय को प्रमाण मानने पर 'ऐन्द्रियकज्ञान' को फल, उस 'ज्ञान' को प्रमाण मानने पर हानोपादान, उपेक्षा बुद्धि को फल, इस प्रकार 'प्रमाणफलभाव' अन्यत् बताते हुए 'ज्ञान' की प्रमाणता भी मान ही ली है। यह सब कुछ भट्टपाद-प्रदर्शित मार्ग के अनुरूप ही माना गया है[1]।

प्रत्यक्षप्रमाण में उपयोगी इन्द्रिय की प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता का शास्त्रार्थ न्याय में[2] 'मीमांसा' से ही आया है।

बौद्धगण इन्द्रियों को अप्राप्यकारी अर्थात् 'विषयसम्बन्ध' के बिना ज्ञानजनक मानते हैं। इस मत का निराकरण भट्टपाद ने श्लोकवार्तिक में विस्तार से किया है[3]। प्रत्यक्षसूत्र घटक 'इन्द्रियार्थसंन्निकर्षोत्पन्नम्' का पदकृत्य दिखलाते समय भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका, परिशुद्धि आदि न्याय-ग्रंथों में विस्तारपूर्वक इसका निरूपण किया गया है।

विज्ञानवादी बौद्धों ने 'ज्ञेयवर्ग' को ज्ञान का मार्ग मानकर बाह्यजगत् का अपलाप किया है। इस मत का भट्टपाद ने 'निरालंबनवाद' और 'शून्यवाद' में विशद रूप से परीक्षण और निराकरण किया है। इसी निराकरण का प्रायः न्याय-ग्रंथों में अनुवाद या समर्थन मात्र किया गया है।

शबरस्वामी के 'निराकराच नो बुद्धिः आकारवत् बाह्योऽर्थः' इस सिद्धान्त का ही प्रतिपादन नैयायिकों ने किया है।

नैयायिकों ने मीमांसा के गंभीर अर्थ-विवेचन को न समझ कर या जानबूझकर कतिपय सिद्धान्तों का निराकरण किया है। जैसे 'प्रमा' निरूपण में देखा जाता है। 'प्रमा'—सत्यानुभूति या यथार्थोपलब्धि या अबाधित ज्ञान का नाम है। इसकी सत्यता (प्रमात्व) कैसे उत्पन्न होती है और कैसे जानी जाती है, इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिकों ने चार प्रकार से दिया है।

१. प्रमात्व और अप्रमात्व—दोनों स्वतः उत्पन्न और स्वतः ज्ञात होते हैं—यह सांख्य-सिद्धान्त है।

---

१. 'प्रमाणफलभावश्च''''व्यापाराच्च प्रमाणता'। (श्लो० वा० सू० ४, श्लो० ५९-६०)

२. अत्राभिधीयते''''प्राप्यकारितायां प्रमादाः'। (न्या० मं० ८, आति० पृ० ४७८)

३. ततश्चाप्राप्यकारित्वात्''''मिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्॥ (श्लो० वा० सू० ४ श्लो० ४०-४१)

२. दोनों परतः उत्पन्न और ज्ञात होते हैं—यह नैयायिकों ने माना है।

३. प्रमात्व परतः और अप्रमात्व स्वतः उत्पन्न और ज्ञात होता है—यह बौद्धों की व्यवस्था है।

४. प्रमात्व स्वतः और अप्रमात्व परतः—यह मीमांसा की दृष्टि है।

५. नैयायिकों ने दूसरे दार्शनिकों के साथ-साथ मीमांसकों के प्रमात्व-स्वसत्त्व पक्ष का निराकरण किया है[१]।

मीमांसकों के 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' रूप प्रामाण्य का निराकरण भी नैयायिकों ने किया है।[२]

प्रमाणों के स्वरूप में भी नैयायिकों ने मतभेद प्रकट किया है। जैसे उपमान के स्वरूप में 'एतत्सदृशी मदीयागौः' यह मीमांसा-सम्मत उपमान का स्वरूप है। इसका निराकरण नैयायिकों ने मीमांसकों के वाक्यों के द्वारा ही विरोध उपस्थित करके किया है।[३]

शब्द को मीमांसकों ने नित्य माना है। उसके विरोध में नैयायिकों ने शब्द को अनित्य सिद्ध करने का महान् प्रयास किया है।[४] मीमांसा-प्रतिपादित 'शब्दनित्यत्वाधिकरण' की प्रत्येक युक्ति के उल्लेख का निराकरण किया है। इस मौलिक विषमता के कारण शब्दबोध प्रणाली में भी कुछ अन्तर आ गया है। जैसे—मीमांसकों ने शब्द[५] की शक्ति 'जाति' (आकृति) में मानी है, क्योंकि 'अर्थ' के अनित्य होने पर वेद में पौरुषेयत्व मानना पड़ता है, किन्तु नैयायिक 'शब्द' की शक्ति, 'जाति, आकृति और व्यक्ति' में मानते है,[६] और 'वेद' को सर्वज्ञ पुरुषरूप ईश्वर की रचना मानते हैं। शब्द स्वरूप के विषय में भारतीयदर्शन में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग शब्द को द्रव्य मानते हैं और कुछ लोग गुण। द्रव्य माननेवालों में भी कुछ चैतन्य-स्वरूप द्रव्य और उससे भिन्न स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं[७]। चेतनात्मक द्रव्य माननेवालों

१. 'तस्मात् स्वयंप्रामाण्यं गृह्यते इत्येष दुर्घटः पक्षः। अथ स्वतःप्रामाण्यं भवतीत्येष पक्ष आश्रीयते सोऽप्ययुक्तः'। (न्या० मं० आह्नि० ३ पृ० १७०)

२. 'अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिक····प्रामाण्यं विहन्तीति नाक्रियामहे'। (न्या० वा० ता० टी० अ० १ आ० १ सू० १ प्र० १ पृ० २१)

३. 'तदेतदसमञ्जसम्। प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य····विपर्यस्तु आश्रितः'। (न्या० मं० आ० २ पृ० १४९)।

४. 'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च इति'। (न्या० सू० २।२।१३)

५. मीमांसकों ने शब्द की शक्ति जाति में मानी है।

६. 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' (न्या० सू० २।२।६५)

७. मीमांसक 'शब्द' को स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं।

में काश्मीरत्रिकदर्शन[१-२] से लेकर अद्वैतवेदान्त के मण्डनमिश्रादि आचार्यगण[३-४] तथा न्यायवैशेषिकाचार्य उसे गुण मानते हैं[५-६]।

अनुपलब्धि प्रमाण का निराकरण अभाव को प्रत्यक्ष मानकर किया है। प्रभाकर के अभावानभ्युपगम पक्ष का जयन्त भट्ट ने उपहास मात्र से निराकरण कर डाला है—

'यैस्तु मीमांसकैः सिद्धिरभावो नाभ्युपेयते।
प्रमादेनामुना तेषां वयमप्यद्य लज्जिताः'॥

(न्या० मं० आह्नि० २ पृ० ६२)

परन्तु कुमारिल भट्टपाद ने अनुपलब्धि को मानने में जो युक्ति दी है, उसका खण्डन नैयायिक नहीं कर पाये। उसी तरह अभावानभ्युपगम में प्रभाकर (गुरु) ने जो तर्क उपस्थित किया है, उसका उत्तर जयन्त भी नहीं दे पाये।

नैयायिकों ने अर्थापत्ति का निराकरण श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति का भेद दिखाते हुए किया है[७]। मीमांसकों का कहना है कि प्रमा और प्रमाण दोनों में प्रवृत्त अर्थापत्ति शब्द मीमांसा सिद्धान्त में व्युत्पत्ति-वैचित्र्य से दोनों अर्थों को कहता है। 'अर्थस्य आपत्तिः' इस व्युत्पत्ति से अर्थापत्ति शब्द का अर्थ है—अर्थापत्ति 'प्रमा' और 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति से अर्थापत्ति शब्द

१. उन्मेष-निमेष-विमर्शरूपं त्रिकम्।

२. 'मन्त्रवर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः' इति च। तथाहि चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहं विमर्शमयी या इयं परा वाक्शक्तिः आदि क्षान्तरूपाऽशेष शक्तिचक्रगर्भिणी, सा तावत् पश्यन्ती-मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति। (प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० १२, पृ० २७)।

३. अक्षरमिति। शब्दात्मतामाह, विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात्, अपरिणामित्वं वा, परिणामे पूर्वधर्मनिवृत्तेः क्षरणस्य भावात्, तद्व्युदासेन। कथं तावच्छब्दात्मता? 'परं चाऽपरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारः' इत्यादि श्रुतिभ्यः।

(ब्रह्मसि० ब्रह्मकां०, पृ० १६–१७)

४. 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः'॥ (वा० प० प्र० काण्ड पृ० ३)।

५. किमेतर्हि शब्दस्य गुणत्वे प्रमाणं परिशेषानुमानमिति ब्रूमः। प्रसक्तयोर्द्रव्य-कर्मणोः प्रतिषेधे सामान्यादावप्रसङ्गाच्च गुण एवावशिष्यते शब्दः। (न्या० मं० आ० ३, पृ० २२९)।

६. एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम्—नापि कर्म चाक्षुषत्वात्—गुणस्य सतोपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्। (वैशे० सू० अ० २ आ० २ सू० २३-२५, पृ० ८०)

७. इत्यर्थापत्तिरुक्तैषा षट्प्रमाणसमुद्भवा।
एषा विचार्यमाणा तु भिद्यते नानुमानतः॥
प्रतिबन्धाद्विना वस्तु न वस्त्वन्तरबोधकम्।
यत्किञ्चिदर्थमालोक्य नच कश्चित् प्रतीयते॥ (न्या० मं० प्र० आ० पृ० ४०)

का अर्थ अर्थापत्ति 'प्रमाण' होता है। अर्थापत्ति प्रमा का स्वरूप अपेक्षित अर्थसिद्धि करना है। जैसे—देवदत्तगत पीनत्व को देखकर रात्रि-भोजन की कल्पना या सिद्धि भी अर्थापत्ति प्रमा है। इस प्रमा के विषय में तो नैयायिकों का कोई विवाद नहीं है। इस प्रमा की सिद्धि व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्ट पीनत्वरूप हेतु से हो जाती है। अतः उसके लिए अर्थापत्ति रूप प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। किन्तु इसी अर्थापत्ति के आधार पर मीमांसकगण अग्नि आदि पदार्थों में एक अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना किया करते हैं। उस शक्ति को नैयायिकों ने मानने से ही इनकार कर दिया है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं समझते।

यज्ञजन्य अदृष्टादि व्यापार को नैयायिकगण यज्ञ की शक्ति नहीं मानते, अपितु यज्ञजन्य कर्तृनिष्ठ अदृष्ट माना करते हैं, जिसकी कल्पना अनुमान के द्वारा हो जाती है। अतः कोई ऐसी प्रमा अवशिष्ट नहीं रह जाती, जिसके लिए अर्थापत्ति प्रमा की आवश्यकता हो। किन्तु अर्थापत्ति के मानने में मीमांसा की दी हुई युक्ति का खण्डन नैयायिक नहीं कर पाये।

अनुमानप्रमाण के विषय में मीमांसकों से नैयायिकों का विशेष अन्तर नहीं है केवल बौद्ध विद्वानों, जो अनुमान के दो ही अवयव मानते हैं, का निराकरण करने के लिए मीमांसकों ने तीन अवयवों की स्थापना की और नैयायिकों ने उसी को परिष्कृत रूप देकर पाँच अवयव माने। नैयायिकों का यह कहना है कि सत् हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, असत्प्रतिपक्षितत्व और अबाधितत्व—इन पाँच धर्मों (रूपों) का होना आवश्यक है। इनमें से किसी एक धर्म के भी न होने पर सद्हेतुता न रहकर हेत्वाभासता आ जाती है, यह सभी मानते हैं। उक्त पाँच धर्मों की सिद्धि के लिए पाँच अवयवों का प्रदर्शन अनिवार्य हो जाता है। अतः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवों की कल्पना को युक्तिसंगत मानकर नैयायिक मीमांसकों के त्र्यवयववाद को चुनौती दिया करते हैं। (न्या० मं० ५।८५)।

किन्तु नैयायिकों को अपने पंचावयववाद में पुनरुक्ति नहीं दिखाई देती, जब कि प्रतिज्ञा और हेतु का उपनय और निगमन के साथ स्पष्ट एकरूपता प्रतीत होती है। अनुमिति का स्वरूप भी नैयायिकों का प्रत्यक्ष और स्मृति का संग्रह मात्र कहा जा सकता है, जो कि अर्ध-प्रमा और प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है; उसके लिए अनुमिति प्रमा एक नई संज्ञा देने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार नैयायिकों के प्रमाण और प्रमेयों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर उनका अबाधित अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट होता है कि मीमांसकों के साथ संघर्ष में नैयायिकगण सफल नहीं हो पाये हैं।

मीमांसा और वैशेषिक—वैशेषिक दर्शन के 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इन आरम्भिक सूत्रों को देखकर यही प्रतीत होता है कि

वैशेषिक दर्शन मुख्यरूप से धर्म का प्रतिपादन करना चाहता है। किन्तु धर्म-निरूपण प्रसंग में मीमांसा-परिशोधित धर्म की ओर संकेत मात्र करके द्रव्यादि पदार्थों के निरूपण से पूरा शास्त्र भरा पड़ा है। अतः धर्म के स्वरूप-प्रदर्शन करने से मीमांसा पर सर्वथा आधृत वैशेषिक दर्शन प्रतीत होता है। किन्तु धर्म में प्रमाणभूत वेद का प्रामाण्य अपौरुषेयतया न मानकर ईश्वरप्रणीततया माना है।[1]

कुछ वैशेषिकाचार्य सूत्रस्थ धर्मपद से पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य धर्मों का ग्रहण किया करते हैं, किन्तु वह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव' (प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २)—इस लेख से नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के अर्थ को ही प्रशस्तपाद ने ईश्वरचोदना के द्वारा अभिव्यक्त शब्द से प्रतिपादित किया है। यहाँ पर ईश्वरचोदना का अर्थ ईश्वरेच्छा करना अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि उदयनाचार्य ने प्रशस्तपादभाष्य की 'किरणावली' व्याख्या में ईश्वरचोदना का अर्थ किया है—'वेद'[2]। अतः वेदप्रतिपादित धर्म ही निःश्रेयस का साधन प्राचीन वैशेषिकाचार्यों को सम्मत है।

शंकर मिश्र ने 'उपस्कार' व्याख्या में स्पष्ट शब्दों में पूर्वाचार्यों की उपेक्षा की है।[3] उन्होंने केवल श्रीधराचार्य[4] का अनुवाद मात्र कर दिया है। वस्तुतः श्रीधराचार्य जैसे आचार्यों के अनुचित व्याख्यानों को ध्यान में रखकर ही चित्सुखाचार्य ने वैशेषिकसूत्रों के प्रशस्तपादभाष्य को अवहेलना की दृष्टि से देखा।[5] किन्तु प्रशस्तपाद[6] की त्रयीविद्या पर गाढ़ श्रद्धा परिलक्षित होती है।

प्रमाण के विषय में वैशेषिकाचार्यों का दृष्टिकोण अवश्य भिन्न था। वे लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं[7]। अतः यह स्वाभाविक था कि वे

---

१. 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशे० सू० १।१।३ पृ० १)

२. ईश्वरचोदना उपदेशो वेद इति यावत्। तेनाभिव्यक्तात् प्रतिपादिताद्धर्मात्। (किरणावली पृ० ११)

३. तत्र धर्मविशेषो निवृत्तिलक्षणो धर्मः, यदि तु तत्वं ज्ञायतेऽनेनेति तत्त्वज्ञानं शास्त्रमुच्यते तदा धर्मविशेष ईश्वरनियोगप्रसादरूपो वक्तव्यः (उपस्कार पृ० १२–१३, सू० ४)

४. चोद्यन्ते प्रेर्यन्ते स्वकार्येषु प्रवर्त्यन्तेऽनया भावा इति चोदना ईश्वरचोदना ईश्वरेच्छाविशेषाभिव्यक्तिः कार्यारम्भं प्रत्याभिमुख्यं ईश्वरचोदनयाऽभिव्यक्तादीश्वरचोदनाभिव्यक्तात् ईश्वरेच्छाविशेषेण कार्यारम्भाभिमुखीकृताद्धर्मादेव निःश्रेयसं भवतीति वाक्ययोजना। (न्यायकंदली पृ० ७-८)

५. नच प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनम्, येन निर्गुणता गुणादीनां प्रामाणिकी स्यात्। (चित्सुखी परि० २, पृ० ३००)

६. विपर्ययनिरूपण के प्रसंग में उन्होंने कहा है—'त्रयीदर्शनविपरीतेषु शाक्यादिदर्शनेष्विदं श्रेयः इति मिथ्या प्रत्ययः। (प्रश० भा० पृ० ८९)

७. विद्यापि चतुर्विधा। प्रत्यक्ष लैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा। (प्रश० भा० पृ० ९४)

इनसे अतिरिक्त प्रमाणों का निराकरण या कथित दो प्रमाणों में ही अन्तर्भाव करते, वैसा ही उन्होंने किया भी है।

शब्दप्रमाण के लिए स्वयं सूत्रकार ने 'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' (कणादसू० ९।२।३) सूत्र के द्वारा अनुमान के अन्तर्गत ही उसे सिद्ध किया है।

अर्थापत्ति आदि प्रमाणान्तरों का निराकरण उनके व्याख्याकारों ने किया है[1]।

मीमांसा-सम्मत शक्ति और ज्ञातता पदार्थों का खण्डन करते हुए न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य ने कहा है[2] कि सात पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति कोई अन्य पदार्थ नहीं है[3]। ज्ञातता और वैशिष्टय को भी इसी तरह पदार्थान्तर नहीं माना जा सकता[4]। सादृश्य को भी सामान्य के अन्तर्गत ही माना है[5]।

शब्दशक्ति के विषय में वैशेषिक जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों में शक्ति मानते हैं और केवल जातिशक्ति या व्यक्ति में अज्ञातशक्तिवाद का निराकरण करते हैं[6]।

आश्चर्य की बात तो यह है कि मिथिला और बंगाल की जिस भूमि ने न्याय की बड़ी-बड़ी उड़ानों को जन्म दिया, उसी भूमि की जन्मजात महती विशेषता रही 'अज्ञातशक्तिपूजन'। प्रतिवर्ष समूचा बंगाल एवं मिथिला प्रान्त बड़े समारोह एवं श्रद्धा के साथ किसी अज्ञात शक्ति की प्रतीकरूप मूर्तियाँ बनाकर नवरात्र में विशेष पर्व मनाया करता है। जिज्ञासा होती है कि यदि कोई शक्तितत्त्व पृथक् नहीं है तो यह किसकी प्रतीकोपासना प्रचलित है? इस प्रतीकोपासना की प्रथा केवल व्यवहार में ही नहीं; इसके लिए बड़-बड़े ग्रन्थों की रचना भी की जा चुकी है। शाक्तसम्प्रदाय के आराध्य शक्तितत्त्व का खण्डन स्वयं उन्होंने ही किया; इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या

---

१. 'अर्थापतिरप्यनुमानमेव' (वैशे० सू० उपस्कार पृ० २२६)। 'अभावोऽपि न मानान्तरं, कार्येण कारणानुमानवत्, कार्याभावेन कारणाभावानुमानस्य व्याप्तिमूलकत्वेन अनुमान अवान्तर्भावात्' (वही, पृ० २२८)। 'भट्टमते तु भूतलादावभावग्राहकं प्रमाणमनुपलम्भाख्यम्, तत् क्वचित् प्रत्यक्षे क्वचिच्च अनुमानेऽन्तर्भूतं चक्षुरादि नैवाभावग्रहात्' (वही, पृ० २२८) 'तत्रोपमानं तावदनुमानमेव शब्दद्वारा' (वही, पृ० २२५)

२. शक्तिश्च मीमांसकानाम्। अत्रैव संग्रहश्लोकः—न द्रव्यं गुणवृत्तित्वात् गुणकर्मबहिष्कृता। सामान्यादिषु सत्त्वेन सिद्धा भावान्तरं हि सा॥ अतएव ज्ञाततापि वैशिष्टयञ्च। कथमन्यथा भावाभावयोर्वैशिष्टयस्यावगमः। (न्यायलीलावती पृ० २१-२४)।

३. न्यायलीलावती, पृ० ५४ चौ० सं० सी० मुद्रित १९२७।

४. वही, पृ० ६८ तथा पृ० ८६।

५. वही, पृ० ७६।

६. समयश्च जातिमात्रे व्यक्तेराक्षेपत एवोपस्थितेरिति तौतातिकाः। जातौ व्यक्तौ च उभयत्र शक्तिः किन्तु जात्यंशे ज्ञाता, व्यक्त्यंशे स्वरूपसती प्रयोजिकेति प्राभाकराः। (उपस्कार, पृ० १८९–९०)

हो सकता है ? नैयायिकगण वावदूकता को छोड़कर अपने पदार्थों की प्रामाणिकता मीमांसकों के समक्ष सिद्ध नहीं कर सके हैं। यह दूसरी बात है कि मीमांसकगण अपने मुख्य उद्देश्य वेदार्थ-निरूपण में व्यस्त रहने के कारण नैयायिकों के कुतर्कों का उत्तर देने का समय उन्होंने न पाया हो।

मीमांसा और सांख्य—सांख्य और योग दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त प्रायः एक जैसे ही हैं। मीमांसापरिशोधित मार्ग का निराकरण करते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है कि कर्मकाण्ड के द्वारा दुःखों का आत्यन्तिक प्रतीकार नहीं किया जा सकता[1] और न सुख की प्राप्ति ही की जा सकती है। यद्यपि 'यजेत स्वर्गकामः' आदि श्रौतवाक्यों से प्रतीत होता है कि यागादि से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। स्वर्ग एक ऐसा सुखविशेष है,[2] जिसमें दुःख का लेशमात्र भी नहीं है।

किन्तु सांख्याचार्यों का कहना है कि स्वर्ग के उद्देश्य से कई प्रकार के छोटे-बड़े यज्ञों का विधान किया गया है। यदि स्वर्ग एक ही प्रकार का सुखविशेष है और वह यदि स्वल्पद्रव्य और श्रम से साध्य कर्म के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, तब उसके लिए अधिक द्रव्य और श्रमसाध्य कर्म का विधान क्यों किया गया ? अतः यह मानना पड़ता है कि स्वर्ग-सोपान की कई श्रेणियाँ हैं। क्रमशः उन श्रेणियों को प्राप्त करने के लिए वैसे-वैसे श्रेणि-सम्पन्न कर्मों का विधान किया गया है। इस प्रकार मनुष्यलोक के समान ही स्वर्गलोक न्यूनाधिकभाव से समन्वित होने के कारण क्लेश, द्वेष, ईर्ष्या आदि भावों से अछूता नहीं रह सकता, क्योंकि एक झोपड़ी का रहने वाला दरिद्र व्यक्ति पास में खड़े गगनचुम्बी सौध के विलासमय जीवन को देखकर नितान्त दुःखी होता है। ऐसे ही स्वर्ग की निम्न श्रेणि के रहने वाले अपने से उन्नत स्तर के प्राणियों का अधिक सुख और सौविध्य देखकर दुःखी होना स्वाभाविक है; और फिर स्वर्ग एक नश्वर भोग है,[3] उसके समाप्त होने पर दुःख का प्रत्यावर्तन निश्चित है। स्वर्ग आदि फलों को प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का सहारा लेना पड़ता है, उन साधनों में कुछ हिंसा जैसे पापकर्म भी सम्मिलित हैं, जिनसे पाप होगा और उस अधर्म (पाप) का फल रूप दुःख स्वर्ग में भी भोगना पड़ेगा। फलतः वैदिक कर्मकलाप से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का होना सम्भव नहीं है।

सांख्य-योग आत्मा को नितान्त निर्लिप्त, असंग एवं अकर्ता मानता है। फिर वह किसी कर्म का अधिकारी क्योंकर बन सकेगा ? प्रत्युत अधिकार विरुद्ध ही आत्मा का स्वरूप है। अतः कर्ममार्ग का यथाशक्ति खण्डन सांख्य और योग में किया गया है।

---

१. दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। (सां० का० २)

२. यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

३. 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। (गीता)
'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'।
(छां० उ० ८।१।६)

मीमांसा के छह या पाँच प्रमाणों में से प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति (शब्द) को छोड़कर अन्य प्रमाण सांख्य-सम्मत नहीं हैं। उनका निराकरण वैशेषिकादि के समान ही सांख्ययोग में किया गया है।

हाँ, श्रुतिप्रमाण को अवश्य निरपेक्ष या अपौरुषेय माना है--'आप्तश्रुतिराप्त-वचनं तु'--ईश्वरकृष्ण के इस वचन का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार किया है—'आप्ता अबाधिता श्रुतिः अर्थात् अपौरुषेयो वेदः'।

सांख्याचार्य धर्माधर्मादि को बुद्धि के धर्म मानते हैं,[1] आत्मा के नहीं; और उन धर्माधर्म आदि साधनों का फल ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की प्राप्ति मानते हैं[2]। इतना सब होते हुए भी मीमांसकों के कर्म में फलसाधनत्व या फलदातृत्व देखकर ही इन्होंने अपनी 'जड़ प्रकृति' को सृष्टि का हेतु (कर्त्री) माना है और जड़ की प्रवृत्ति में गोदुग्ध और बछड़े का दृष्टान्त दिया है, अर्थात् जिस तरह बछड़े के पैदा होने पर गो-स्तनों में दुग्ध अपने आप उतर आता है, वैसे ही जड़ प्रकृति भी सर्गादि के करने में प्रवृत्त हो जाती है। जड़ प्रकृति की प्रवृत्ति में सांख्यगण उदाहरण दिया करते हैं—'दुग्धादि की प्रवृत्ति'। इस प्रकार सांख्याचार्यों को दीवार और पत्थर आदि के ऊपर मुखाघात करते देख लेना चाहिए कि उनमें दूध उतरता है कि नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि चेतन गो के शरीर में बछड़े और माँ के अदृष्ट संस्कारों की प्रेरणा से दुग्ध का उद्भव और गो के ही संकल्प से दूध स्तन में आ जाता है। इसीलिए गाय बछड़े के अतिरिक्त गोपालों से दूध चुरा लिया करती है, स्तनों में उतारती ही नहीं। बछड़े के मर जाने पर दूध सूख जाता है। वत्साभास बनाकर गोपगण तभी तक उससे दूध प्राप्त करते रहते हैं, जब तक गो को अपने बछड़े के जीवित रहने का भ्रम बना रहता है। यह समस्त प्रक्रिया केवल जड़ प्रकृति में संभव नहीं हो सकती। मीमांसकगण अपने यज्ञयागादि कर्मों से समुद्भूत संस्कारों (अदृष्ट = अपूर्व) की सहायता से भूत-भौतिक जगत् से अभीष्ट को प्राप्त करते हैं, यह नितान्त उचित और ध्रुव सत्य है।

मीमांसा और योग—योगाचार्यों ने वेदप्रतिपादित होमादि कर्मों को आध्यात्मिक रूप दिया था, अर्थात् प्राणरूपी अग्नि में अपान की आहुति[3] और अपान रूप अग्नि में प्राण की आहुति देनी चाहिए।

कुछ आचार्यों ने उसका अर्थ नासामध्यगत प्राणापान वृत्तियों को समान करना बतलाया, किन्तु दूसरे योगाचार्यों ने नाभि-प्रदेश को वेदी माना और मूलाधार की अपान और ऊर्ध्वस्थ प्राण—इन दोनों प्राणवृत्तियों का समीकरण करना उक्त होम का आध्यात्मिक रहस्य बतलाया और इस प्राण-साधना को स्वर्ग का साधन माना, क्योंकि स्वर्गादि लोकों के साथ सुषुम्णा का सम्बन्ध होने के कारण उसके द्वारा गये

१. 'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्'। (सां० का० २३)
२. 'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण'। (सां० का० ४४)
३. 'अपाने जुह्वति प्राणम्' (गीता ४।२९)

प्राण के साधक को स्वर्गादि की प्राप्ति का होना असम्भव नहीं। शुक्ल-कृष्णपक्षों के साथ सम्बन्धित दर्शपूर्णमास याग को इडा और पिंगला की साधना का रूपक माना, और तदनुसार उन-उन नाड़ियों में प्राण की साधना का फल दर्शपूर्णमास के समान स्वर्ग माना गया है। पशुयाग के स्थान पर मनोनाश रूपी योग का प्रतिपादन किया गया है, जिसका स्वरूप योगवासिष्ठ में भी विद्यमान है। अर्थात् मन एक प्रकार का तूपर पशु है। पशु को कृत्याकृत्य विवेक नहीं होता, वैसे ही मन भी सब कुछ सोच सकता है और संकल्प में ला सकता है। इसका विशसन मेरुदण्ड के यूप में बाँधकर किया जाता है; अर्थात् मेरुदण्ड के मध्य में विद्यमान सुषुम्णा नाड़ी के मूलाधारादि षट्चक्रों में मन का धारण, निबंधन, स्थिरीकरण करना योग का प्रधान अंग माना गया है। जिस प्रकार पशु के उपाकरण, नियोजन पर्याग्नि करणादि संस्कारों का विधान किया जाता है, वैसे ही मन के प्रत्याहारादि अनेक संस्कारों का विधान योग ने किया है। योगाचार्यों ने प्रमाण-निरूपण में सांख्य के समान ही मीमांसा के उपमानादि प्रमाणों का निराकरण किया है। योगाचार्य ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखते हैं। अतः जड पदार्थ की स्वतंत्र प्रवृति नहीं मानते, अपितु ईश्वर की प्रेरणा से जड़ में प्रवृत्ति मानते हैं। अतः मीमांसा के जड़-प्रवृत्ति पक्ष से भी इनका वैमत्य प्रतीत होता है।

इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखने वाले योगाचार्य उस ईश्वर निर्मित सृष्टि के पदार्थों में उसी के द्वारा निहित शक्ति पर विश्वास नहीं करते। जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तब उसके लिए क्या असंभव है? मीमांसकों का उसकी सर्वशक्तिमत्ता पर अटूट विश्वास है। अत एव मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया का अकाट्य खण्डन कोई नहीं कर सका है।

मीमांसा और वेदान्त

मीमांसा और वेदान्त की प्रतिद्वन्द्विता—वेदान्तशास्त्र भी एक प्रकार से मीमांसा शास्त्र ही है, किन्तु वेदान्तीगण पूर्वमीमांसा से इस वेदान्त या उत्तरमीमांसा की एक-वाक्यता नहीं मानते। इसीलिए महर्षि (बादरायण) व्यास ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र से अपने शास्त्र का नूतन आरंभ सूचित किया है। पूर्वमीमांसा का विषय कर्मकाण्ड के वाक्यों का विचार करना और उत्तरमीमांसा का विषय ब्रह्मकाण्ड के वाक्यों का विचार करना है। अतः विरुद्ध दिशाओं में जानेवाले यात्रियों का जिस प्रकार मेल नहीं हो सकता, वैसे ही पूर्व और उत्तरमीमांसा के सिद्धान्तों की एकवाक्यता नहीं हो सकती। एक शास्त्र अपने अधिकारी को प्रपंच की अध्यारोप-परंपरा की ओर ले आता है और दूसरा अपवाद की ओर ले जाता है। वस्तुदृष्टि से दोनों शास्त्र उस अधिष्ठानतत्त्व की व्याख्या के रूप में उपस्थित हुए हैं, क्योंकि 'अध्यारोपाप-वादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' अर्थात् वेदान्तीगण भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या अध्यारोप और अपवाद के द्वारा हो सकती है, केवल अध्यारोप या अपवाद मात्र से नहीं हो सकती। इस दृष्टि से विचार करने पर पूर्व

मीमांसा और उत्तरमीमांसा की एकवाक्यता माननी पड़ जाती है। किन्तु दोनों के विचारणीय विषयों एवं प्रयोजनों को देखकर पार्थक्य ही प्रतीत नहीं होता, किन्तु परस्पर विरोध भी प्रतीत होता है[1]। पूर्वमीमांसा का विचारणीय विषय धर्म है और उत्तरमीमांसा का ब्रह्म। धर्म का ज्ञान होने पर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के आधार पर जन्म-मरण-परम्परा का प्रवाह उपस्थित होता है और वेदान्त का विचारणीय विषय ब्रह्म; ब्रह्म के ज्ञानमात्र से सर्वथा प्रवृत्तिमार्ग का उच्छेद; तत्पश्चात् संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, ऐसा वेदान्ताचार्यों का कथन है।

दोनों की विचार-शैली में साम्य—इतना सब होने पर भी दोनों की विचार-शैलियों का अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि एक शास्त्र दूसरे की प्रतिकृति है, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए सूत्र और भाष्य वाक्यों का कुछ निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

सर्वप्रथम—सूत्र में धर्म पद को हटाकर ब्रह्म पद रख देने मात्र से उत्तरमीमांसा का प्रथम सूत्र रचा गया है। पूर्वमीमांसा सूत्र के अथादि शब्दों का व्याख्यान जैसा शबरस्वामी ने किया है, उसकी ही छाया शांकरभाष्य में परिलक्षित होती है। दोनों सूत्रों में अथ शब्द का आनंतर्य अर्थ भाष्यकारों ने किया है। किन्तु दोनों के अधिकारी परस्पर विरुद्ध होने के कारण आनन्तर्यावधि भी विरुद्ध मानी गई है। प्रवृत्ति मार्गानुगामी माणवक धर्मजिज्ञासा का अधिकारी और निवृत्ति मार्ग का पथिक व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी माना गया है। अतः पूर्वमीमांसा में प्रवृत्तिमार्ग के उपकारी धर्माधर्म के प्रतिपादक वाक्यों का अध्ययन पूर्वमीमांसा की पूर्वावधि माना गया है। किन्तु उत्तरमीमांसा की पूर्वावधि 'विवेक, वैराग्य, षट्कसंपत्ति, मुमुक्षत्व' को मानी गयी है, जो कि निवृत्तिमार्ग में उपयोगी है। धर्म का बिचार करते समय शबरस्वामी नें कहा है—'धर्मः प्रसिद्धो वा ख्यात् अप्रसिद्धो वा, स चेत् प्रसिद्धो न जिज्ञासितव्यः अथाऽप्रसिद्धो नतराम्'[2]। ब्रह्म-निरूपण के प्रसंग में श्री शंकराचार्य ने कहा है—'ब्रह्म प्रसिद्धं अप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासिव्यम्। अथाऽप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति'[3]।

इसी प्रकार जिज्ञासादि पदों की व्याख्या भी अत्यन्त समानरूप की ही देखी जाती है। वार्तिककार श्री भट्टपादने शाबरभाष्य की जैसी व्याख्या की, वैसी व्याख्या शांकरभाष्य की इसीलिए नहीं बन सकी कि भाष्यस्थ पदों की दूसरी व्याख्या हो ही

---

१. धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षं, निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानं नचानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकाले अस्ति पुरुषव्यापारपरतन्त्रत्वात्, इह तु भूतं ब्रह्मजिज्ञास्यं नित्यत्त्रात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम् इत्यादि। (शाङ्क० भा० पृ० ६९ नि० सा० मुद्र० १९३८)

२. शाबरभाष्य पृ० १०।

३. शांकरभाष्य पृ० ७९।

नहीं सकती थी या वेदान्तियों को अभीष्ट नहीं थी। दोनों दर्शनों के सूत्रकार अपने-अपने प्रतिज्ञातार्थ का लक्षण द्वितीय सूत्र में करते पाये जाते हैं। उत्तर ग्रन्थ में वैसे ही परीक्षादि का क्रम बराबर चलता गया है। शबरस्वामी ने जिज्ञासाओं[1] का जो स्वरूप स्थिर कर दिया है, उसी के अनुसार ही उत्तरमीमांसा में विचार पाये जाते हैं।

दोनों के कलेवर का दर्शन—विधि का परिवार जितना विस्तृत होता है उतना निषेध का नहीं। अनेक प्रकार की वस्तुओं का विधान करने के लिए जहाँ अनेक वाक्यों की आवश्यकता होती है, वहाँ निषेध केवल एक ही नेतिवाक्य से हो जाता है। इसलिए विध्यात्मक पूर्वमीमांसा की अपेक्षा निषेधात्मक उत्तरमीमांसा का कलेवर बहुत कम है, केवल तृतीयांश ही रह गया है। अर्थात् महर्षि जैमिनि को धर्म के प्रमाण-भेद-शेषत्वादि प्रतिपादक १२ अध्यायों की जहाँ आवश्यकता थी, वहाँ महर्षि बादरायण व्यास का काम केवल चार अध्यायों से ही चल गया। वह भी कुछ अंशों को जान-बूझकर बढ़ाकर सम्पन्न किया गया है। वेदान्तशास्त्र में समन्वय, अविरोध, साधन और फल इन चार वस्तुओं का प्रतिपादन चार अध्यायों में किया गया है। समन्वय, साधन और फल इन तीन वस्तुओं का प्रतिपादन पूर्वमीमांसा में भी है, किन्तु दूसरे दर्शनों के विरोधाविरोध की बृहत्तर चर्चा से पूर्वमीमांसा के कलेवर को बढ़ने नहीं दिया गया, किन्तु वेदान्तशास्त्र में द्वितीय अध्याय अविरोधाध्याय ही कहा जाता है, जिसमें विभिन्न दर्शनों के संघर्ष मात्र की चर्चा है। इस प्रकार की चर्चा श्री शंकराचार्य को अवश्य खटकी थी, कि पूर्वमीमांसा ने अपने प्रमाण-प्रमेय पदार्थों का निरूपण अत्यन्त विस्तार से किया, किन्तु मतमतान्तरों का निराकरण या उनसे अपना अविरोध स्थापन करने की चेष्टा सूत्रकार जैमिनि ने नहीं की। तब महर्षि व्यास ने सांख्य आदि दर्शनों का निराकरण करने में क्यों श्रम और समय व्यर्थ किया। इस शंका का समाधान श्री शंकराचार्य ने यह दिया[2] कि अपने सिद्धान्तों की सुरक्षा के लिए विपरीत घातक सिद्धान्तों का निराकरण वैसे ही आवश्यक होता है, जैसे कृषक को अपनी खेती की रक्षा के लिए खेत के चारों ओर काँटों की बाढ़ करने की आवश्यकता होती है।

दोनों के अध्यायों में समता—वेदान्त का प्रथम अध्याय मीमांसा के प्रमाणाध्याय के समान ही है; अन्तर केवल इतना है कि वेदान्तीगण इसे समन्वयाध्याय कहते

---

१. 'स कथं जिज्ञासितव्यः। को धर्मः कथं लक्षणः कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किं परश्चेति'। (शा० भा० पृ० ९)

२. यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रम्प्रवृत्तं, न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्। तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते। (शांक० भा० २।२१)

हैं—विविध औपनिषद् वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में ही हो सकता है। इसी तथ्य को इन शब्दों से भी कह सकते हैं कि विविध औपनिषद् वाक्य ब्रह्म में प्रमाण हैं। धर्म के समान ब्रह्म भी वेदैकसमधिगम्य है। यद्यपि वेदान्ताचार्यों ने प्रत्यक्षादि प्रमाण गम्यता भी ब्रह्म में प्रतिपादित की है, तथापि जीवभावापन्न कर्ता और भोक्ता चेतन प्रत्यक्षगम्य है। कर्तृत्वादि उपाधि रहित निर्विशेष चैतन्यस्वरूपत्वेन ब्रह्म वैसे ही प्रत्यक्ष का विषय नहीं जैसे व्रीहि आदि द्रव्य; व्रीहित्वेन रूपेण प्रत्यक्ष होने पर भी धर्मता-प्रयोजक श्रेयःसाधनत्वेन रूपेण प्रत्यक्ष के विषय नहीं, किन्तु एकमात्र वेदप्रमाण से ही अवगत होते हैं[1]। इस प्रकार धर्म और ब्रह्म दोनों वेदैकसमधिगम्य सिद्ध होते हैं, इसीलिए धर्मविधायक वेदवाक्यों के समन्वय के समान ही विविध औपनिषद् वाक्यों का ही समन्वय वेदान्त के प्रथम अध्याय में दर्शाया गया है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का नहीं। फिर तो मीमांसा की पद्धति से ही ब्रह्म का निरूपण वेदान्त के प्रथम अध्याय में किया गया लक्षित होता है। इसी प्रकार धर्म के साधनों (अंगों) के प्रतिपादन के समान ही वेदान्त के तृतीयादि अध्याय में साधनादि तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इतनी विशेषता अवश्य है कि 'धर्म' निष्पाद्य होने के कारण उसके 'साधन' धर्म के निष्पादक होते हैं, किन्तु ब्रह्म के साधन ब्रह्म के निष्पादक नहीं अपितु ब्रह्मज्ञान के निष्पादक होते हैं[2]। फलाध्याय वेदान्तदर्शन का चतुर्थ अध्याय है, जो मीमांसा दर्शन के छठे अध्याय (अधिकाराध्याय) के समान ही 'फल सम्बन्ध' का प्रतिपादक है। केवल पूर्वमीमांसा में फल के साथ धर्म का सम्बन्ध और उत्तरमीमांसा में फल के साथ ब्रह्म के ज्ञान का। इस प्रकार वेदान्त-दर्शन के चारों अध्याय मीमांसा की शैली पर ही आधृत हैं।

---

१. द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥
(श्लो० वा० चोदनासू० २।१३-१४)

इन श्लोकों में कुमारिल भट्ट ने स्पष्टतया यह सिद्ध किया है कि व्रीह्यादि द्रव्य यागादि क्रिया, आरुण्यादि गुण आदि पदार्थ-मीमांसा सिद्धान्त में धर्म माने जाते हैं। फिर भी यह प्रत्यक्ष के विषय नहीं माने जाते, अर्थात् जिस द्रव्यत्वादि रूप से उनमें प्रत्यक्षविषयता है, उस रूप से उनमें धर्मता नहीं मानी जाती, अपितु 'इष्ट-साधनत्वेन रूपेण धर्मता' मानी जाती है। उस रूप से यह प्रत्यक्ष के विषय नहीं, अपितु वेदमात्र के विषय होते हैं।

२. अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्म-सतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात् पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनो-पायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते।
(ब्र० सू० शाङ्करभा० ३।१।१)

केवल सूत्र ही नहीं; भाष्य, वार्तिकादि ग्रन्थों की भी यही अवस्था है। भाष्य के शाबर और शांकर वाक्यों का दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। दोनों ही मीमांसाओं के प्रतिपाद्य विषय एक ही मानदण्ड के हैं। वे दोनों तुलाफलकों में समान रूप से रखे प्रतीत होते हैं।

पूर्वमीमांसा के भाष्य, वार्तिक आदि परिवार की तुलना में ब्रह्मविचार विषयक भाष्य आदि का निर्माण कितना सरल है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

दोनों के वार्तिक-ग्रन्थों में भी साम्य— भाष्यों के समान वार्तिकों में भी प्रतिपादन शैली का अत्यन्त साम्य है। वही सुरेश्वराचार्य प्रणीत वार्तिक यदि ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य पर होता, तो लोग मुक्तकण्ठ से कहते कि यह वार्तिक भाट्टवार्तिक की ही अविकल छाया है। परन्तु कुछ व्यवधान पड़ जाने के कारण यह तथ्य सब की दृष्टि में न आ सका। श्लोकवार्तिक में जिस तरह 'सम्बन्धवार्तिक' आदि के प्रकरण हैं, वैसे ही सुरेश्वरवार्तिक में भी हैं। किन्तु 'बिम्ब' को देखकर प्रतिबिम्ब का चित्रण करना जितना सरल होता है, उतना बिम्ब का निर्माण नहीं। मीमांसाश्लोक वार्तिक 'बिम्ब' स्थानीय ग्रन्थ है, और सुरेश्वरवार्तिक 'प्रतिबिम्ब' स्थानीय है। बिम्ब का विपर्यय 'प्रतिबिम्ब' में निश्चितरूप से होता है। मीमांसा वार्तिक में कर्मस्वरूप, कर्मलक्षण, कर्मविधान, कर्मांग का सविस्तर वर्णन है, किन्तु सुरेश्वरवार्तिक में कर्म के परित्याग पर पूर्णतया बल दिया गया है। जहाँ कहीं भी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि ग्रन्थों में कर्मपरित्याग बोधक वाक्य मिले हैं, उनका संग्रह करके कर्मसंन्यास का विसृत निरूपण किया गया है। सुरेश्वरवार्तिक में स्पष्ट कहा है—इत्यादि श्रुतिवाक्यानि स्मृतिभिः सह कोटिशः। ज्ञानाय विदधत्युच्चैः संन्यासं सर्वकर्मणाम्। (सम्बन्धवार्तिक, अध्या० १, ब्रा० १, श्लो० २२६)।

भाट्टमीमांसक और वेदान्तियों में प्रश्नोत्तर—मीमांसकों के द्वारा वेदान्तियों से पूछा जाता है कि क्या आप वैदिकमतानुयायी हैं ? यदि हैं, तो वेद की किस विधि के आधार पर ? क्या आप कर्म-परित्याग (संन्यास) का अनुवर्तन करते हैं ?

इस पर वेदान्तियों ने यह उत्तर दिया कि यदि कोई भी विधिवाक्य हमारे मार्ग का निर्णायक नहीं, तब भी हमें कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि 'अतोऽत्र विध्यभावोऽयं न कथंचन दूषणम्, अलङ्कृतिरित्थं साध्वी वेदान्तेषु प्रशस्यते' (सम्बन्धवा० २३८ पृ० ८२) अर्थात् वेदान्तियों का कहना है कि हमारा प्रतिवाद्य विषय तो ब्रह्म है, उसके लिए किसी भी विधान की आवश्यकता नहीं; विधि की आवश्यकता कार्यात्मक धर्म के लिए आवश्यक हुआ करती है—

चोदनालक्षणत्वादि धर्मं प्रत्येव गृह्यताम्।
धर्मस्यैव प्रतिज्ञोक्तेः न तु ब्रह्म प्रतीष्यते'॥
(सम्बन्धवा० २४१, पृ० ८३)

इस उत्तर से भाट्ट पक्ष का कुछ समाधान हो जाता है।

वेदान्तियों के उत्तर से प्रभाकरपक्ष का असन्तोष—किन्तु प्रभाकर पक्ष को सन्तोष

नहीं होता, क्योंकि वे द्वितीय सूत्रस्थ धर्म शब्द का अर्थ वेदार्थ किया करते हैं। इस प्रकार वेदार्थ मात्र की प्रतिज्ञा ब्रह्म वस्तु से दूर क्योंकर रह जाती है, यह समझ में नहीं आता।

वेदान्तियों का कहना है कि पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—'पुरुषतन्त्र और वस्तु-तन्त्र। क्रियापदार्थ पुरुषतन्त्र होता है; पुरुष चाहे उसे करे या न करे अथवा अन्यथा करे, किन्तु दर्शन, ज्ञान आदि पदार्थ वस्तुतन्त्र होते हैं, पुरुषतन्त्र नहीं। वस्तु के अनुसार ही पुरुष का दर्शन सम्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

धर्म क्रियात्मक है और पुरुषतन्त्र है। इसके स्वरूप का विशद विवेचन करने के लिए ही द्वादशलक्षणी मीमांसाशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। किन्तु ब्रह्मदर्शन वस्तुतन्त्र है, इसका निरूपण पूर्वमीमांसा में नहीं, अपितु उसकी ठीक विपरीत दिशा से ही हो सकता है[1]।

प्रभाकर का कथन—ब्रह्मज्ञान मानसिक क्रिया है और समग्र वेद क्रियार्थक हैं। महर्षि जैमिनि ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्'। यहाँ आम्नाय पद से समस्त वेदराशि का ग्रहण किया गया है। किसी भाग का परित्याग अभीष्ट नहीं है। अतः ब्रह्म सिद्धार्थ होने पर भी उसका ज्ञान क्रियारूप होने से विधि की अपेक्षा अवश्य करेगा।

वेदान्तियों का कथन—प्रभाकर के इस कथन पर वेदान्तियों ने कहा कि आम्नाय शब्द वैसे ही संकुचितार्थक है[2] जैसे 'सर्वेभ्यो वै दर्शपूर्णमासौ' आदि वाक्यों में सर्व पद। अर्थात् 'ज्ञान' ध्यानादि के समान मानसी क्रिया नहीं, अपितु वस्तु का प्रकाश-मात्र है। वस्तु का 'प्रकाश' वस्तु का अनुसरण करता है, पुरुषप्रयत्न का नहीं। इसीलिए 'ज्ञान' क्रियात्मक न होने से किसी भी विधिवाक्य की अपेक्षा नहीं रखता। वेदान्तविज्ञान के अधिकारी वैदिकमार्गानुगामी होने पर भी विधि की सीमा से बाहर है[3]। अतः मीमांसकों को अपने लक्ष्य का साधन करने के लिए जहाँ विधि की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ वेदान्तियों को अपने लक्ष्य का परिचय देने के लिए केवल 'वैसा नहीं' यह कह देना ही पर्याप्त हो जाता है।

---

१ भावार्थाः कर्मशब्दा ये प्रतीयेत क्रिया ततः।
इत्येवं नरतन्त्रेऽर्थे ज्ञेया द्वादशलक्षणी॥ (सम्ब० वा० २४३ पृ० ८६)

२. तत्राम्नायाभिधानस्य ह्याम्नायांशाभिधानतः। विध्युक्तीनां क्रियार्थत्वं सिद्धं हेतुतयोच्यते॥ क्रियाप्रकरणस्थानां विधिशेषात्मनां सताम्। व च म क्रियार्थाना-मानर्थक्याय तद्वचः॥ न तूपनिषदां न्याय्यं पार्थगर्थ्यस्य संभवात्। पूर्वोक्तेनैव न्यायेन नातस्तद्विधिशेषता॥ विधिनात्वेकवाक्यत्वादिति यच्चापि चोदितम्। तेषामेव तदप्य-स्तुतदानर्थक्यचोदनात्॥ न तु वेदान्तवचसां दृष्टार्थत्वेन हेतुता। तद्बुद्धेः पृथगर्थत्व-मुक्तमेवातिविस्तरात्॥ (संबं० वा० अध्या १, ब्रा० १ श्लो० २७१–२७५)

३. 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' (महिमन्)

मीमांसकों की शंका और वेदान्तियों का समाधान—इस पर कुछ रुष्ट होकर मीमांसकों ने कहा—

'प्रत्यक्षश्रुतिविध्यन्तविहितानामकारणात् ।
त्यागोऽतिसाहसं मन्ये ननु यागादिकर्मणाम्' ॥
(संबं० वा० अ० १, ब्रा० १, श्लो० ३०९)

इस शंका का समाधान वार्तिककार सुरेश्वर ने किया है—'प्रत्यक्षोपनिषद्वाक्य-विहितायास्ततोऽपि तु । ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठायास्त्यागोऽतीव हि साहसम्' (संबं० वा० अ० १ ब्रा० १, श्लो० ३१०) ।

विचारणीय रहस्य—यहाँ यह विचारणीय है कि उपनिषद्वाक्य आत्मज्ञान के बोधक हैं, वे विधायक नहीं, किन्तु वेदान्तवार्तिककार ने मीमांसा के संस्कारों के आधार पर कह दिया है—'उपनिषद्वाक्यविहितायाः एकात्मज्ञाननिष्ठायाः' । वेदान्तियों का हृदय कर्म संन्यास का प्रतिपादन करता हुआ वेद की सीमा से बाहर ही प्रतीत होता है । सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

'कृत्स्नः प्रपञ्चविलयः कर्तुं शक्यो न केनचित् ।
स्वेन्द्रियादिलयःस्वापे स्वत एव न शास्त्रतः' ॥
(संबं० वा० अ० १, ब्रा० १, श्लो० ३८८)

अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञान बन्ध की निवृत्ति से होता है[1] । और बन्ध की निवृत्ति को शास्त्र की अपेक्षा नहीं । वेदान्तियों का कहना है कि जिन रागादि के आधार पर कर्म में प्रवृत्ति होती है, उनका परित्याग किये बिना कोई व्यक्ति वेदान्तविज्ञान का अधिकारी ही नहीं बन सकता[2] ।

यह एक गम्भीर अध्ययन का विषय है कि बुद्ध ने जिस राग की निवृत्ति[3] के लिए आत्मतत्त्व के मानने से भी इनकार कर दिया और कुमारिल भट्ट ने बुद्ध के जिस मार्ग का निवृत्तिमार्ग के लिए ही समर्थन-सा किया था,[4] वही रागादि निवृत्ति वेदान्तियों का सर्वस्व बनी हुई है ।

---

१. 'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत् तद्धि बन्धपरिक्षयात्' ।
(संबं० वा० अ० १, ब्रा० १, श्लो २९४)

२. षट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वम्' ।

३. 'रागाद्यराती अर्थात् रागादिका शत्रु०' । (न्या० बिन्दु० श्लोक १)

४. युक्त्याऽनुपेतामसतीं प्रकल्प्य यद्वासनामर्थनिराक्रियेयम् ।
आस्थानिवृत्त्यर्थमवादिबौद्धैर्ग्राहं गतास्तत्र कथञ्चिदन्ये ॥
(श्लो० वा० निरालंबनवाद २०१)

अर्थात् आत्मा और घटपटादि अनात्मपदार्थों की वास्तविक सत्ता नहीं, अपितु अनादिवसना के आधार पर व्यवहार मात्र होता है । वसुबंधु ने कहा है—

मीमांसक, वेदान्ती और बौद्ध इन तीनों में अनुगामिता-प्रतिगामिता —मीमांसक प्रपंच को सत्य मानकर उसकी उच्चावच अवस्था की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए धर्माधर्म का पथ अपनाते हैं, किन्तु वेदान्तीगण प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं। इसलिए उन्हें धर्माधर्म की इतनी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। प्रपञ्च मिथ्यात्व के साधन का भगीरथ प्रयत्न बौद्धों ने किया। निरालम्बनवाद ने ज्ञानमात्र की सत्ता मान कर ज्ञेय की सत्ता का नितान्त अपलाप कर दिया था। शून्यवादियों ने उस ज्ञान की सत्ता को भी तिलांजलि दे डाली और बौद्धाचार्यों ने अत्यन्त उन्नत पद प्राप्त किया। वैसे ही वेदान्तियों ने ज्ञानस्वरूप ब्रह्मतत्त्व को मानकर उससे भिन्न प्रपञ्च को उसमें अध्यस्त बतलाया। कुछ लोगों ने उसकी व्यावहारिक सत्ता मानी, किन्तु वेदान्त के उत्कृष्ट आचार्यों ने दृष्टिसृष्टिवाद मानकर प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता मानने से भी इनकार कर दिया।

मीमांसा के घोर विरोधी बौद्धगणों का निराकरण करने के लिए नैयायिकादि वैदिक आचार्यों ने बौद्धों के विरुद्ध भयंकर आन्दोलन खड़ा किया और उनकी एक-एक मान्यताओं का प्रबल युक्तियों से निराकरण किया।

किन्तु वेदान्तियों ने बौद्धों की मान्यताओं को अपनाकर सम्भव है कि उन्हें निस्तत्व बनाने की बात सोची हो। किन्तु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इनके सिद्धान्तों का साम्य अधिकतर बौद्धदर्शन से है। जिस ज्ञान को मीमांसकों ने निराकार और अनुमेय माना है, बौद्धगण तो उसे प्रत्यक्ष मानते ही हैं, वेदान्तीगण भी उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। इतना ही नहीं, मीमांसा की प्रमाण-प्रमेयादि परिभाषाओं और पदार्थों का निराकरण जैसा बौद्धग्रन्थों में पाया जाता है, उससे कम वेदान्त में नहीं।

खण्डनकार का आधार—खण्डनकार श्रीहर्ष ने बौद्धों की अनिर्वचनीयता के आधार पर ही अनिर्वचनीयतासर्वस्व अर्थात् खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ की रचना करके विज्ञप्तिमात्रता का समर्थन-सा ही किया है। मिलिन्दप्रश्न आदि ग्रन्थों में प्रत्येक वस्तु को एक कल्पना का स्वरूप मानकर उसके मूल में सर्वथा अनिर्वचनीयत्व सिद्ध किया है। वैसा ही खण्डन ग्रन्थ में भी निखिल पदार्थों की निर्वचनीयता का घोर विकल्पाडम्बर से निराकरण किया गया है। यद्यपि श्रीहर्ष ने अपने पिता के वैरभाव का बदला लेने के लिए नैयायिकों का निराकरण तत्त्वोपप्लवसिंहकार जयराशिभट्ट के प्रदर्शित मार्ग पर चलकर ही किया, किन्तु यह निराकरण इतना उग्र हो जाता है कि जिससे अपने पूर्वजों के सिद्धान्त भी अछूते नहीं रह पाते। फिर भी ऐसे वैतण्डिक ग्रन्थों पर वेदान्ताचार्य गर्व करते हैं।

आत्मधर्मोपचारो हि विविधोयः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोऽसौ, परिणामः स च त्रिधा॥
(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धित्रिंशिका, कारिका १)

प्रौढ़वेदान्तियों का आधार—खण्डनकार का मार्ग अपनाकर चित्सुखाचार्य, मधुसूदनसरस्वती आदि प्रौढ़वेदान्ती विद्वानों ने भी द्वैतवाद का कठोर शब्दों से निरास करते हुए 'क्व ममत्वं मुमुक्षूणाम्' का जयघोष करते गये।

हृदय की झलक—किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय विद्वान् अपना हृदय अवश्य ही झलका दिया करता है, जैसे कि देवताधिकरण में मीमांसा-पद्धति के आधार पर देवताओं के विग्रह आदि का निराकरण करके श्रीखण्डदेव ने स्पष्ट कहा है—'एवं वदतो मे वाणी दुष्यतीति हरिरेव शरणम्'। अर्थात् खण्डदेव का हृदय यह नहीं मान रहा है कि मीमांसा की रीति से देवताविग्रह आदि का निराकरण करना सर्वथा उचित है। इस प्रकार वेदान्त के किसी भी महारथी ने मीमांसाभिमत पदार्थों के निराकरणावसर पर करुणा या पश्चात्ताप प्रदर्शित नहीं किया।

विरुद्ध आदर्श का प्रभाव—कुछ आचार्यों ने ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय करना चाहा था, किन्तु वेदान्तियों के एक बहुत बड़े वर्ग ने उसका विरोध ही नहीं किया, अपितु समूल निरास करना अपना कुलधर्म समझ लिया।

द्वैतभावना की सुन्दरता से प्रभावित—वैष्णव आचार्यों ने अवश्य ही भक्ति को समुचित स्थान देने के लिए द्वैतभावना अपनायी है और वह भी सबके लिए। इनके संस्कारों के आधार पर कुछ अद्वैतवेदान्तियों ने भी पराभक्ति को ज्ञान का स्वरूप या ज्ञान की समकक्षता देते हुए द्वैतभावना की काल्पनिकता मानते हुए भी उसकी सुन्दरता[1] से इनकार नहीं कर सके। आदिशंकराचार्य के भी उद्गार यत्र-तत्र भक्ति-पक्ष का प्रबल पोषण करते हैं।

कट्टरता के कारण मौलिक उक्तियों के भी खण्डन का प्रयत्न—भक्ति के लिए अपेक्षित भेदभाव का निराकरण कट्टर वेदान्तियों ने जैसे किया है वैसे ही कर्मकाण्डापेक्षित भेद का निराकरण करने के लिए मीमांसकों की प्रायः सभी मौलिक उक्तियों और लक्षणों का निराकरण करने की चेष्टा श्रीहर्ष मिश्र ने की है। ऐसे अवसर पर प्रभाकर और भाट्ट का साक्षात् खण्डन किया है। जैसे प्रमाण लक्षण-सामान्य का निराकरण करते समय 'अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः, पूर्वविज्ञान-संस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते' (प्र० पं० अमृतकला श्लो० २, पृ० १२७) इस प्राभाकर सिद्धान्त का निरास प्रथम किया है—'सामग्रीतः सर्वसम्भवे लक्षणस्य असम्भवात्' (खण्डन पृ० ३७७, चौखं० विद्यासागरी टी०)। अर्थात् प्रत्येक कार्य किसी एक कारण से नहीं होता, अपितु अनेक कारण संवलित सामग्री[2] से होता है। अतः स्मृति को

---

१. 'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्'।

२. 'न्यायमंजरीकार श्रीजयन्तभट्ट ने प्रमाण का लक्षण करते हुए सामग्री में ही कारणता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्' (न्या० मं० आ० १, पृ० १२, मेकडोनल प्रे० काशी।)

केवल संस्कार से जन्य बतलाना सम्भव नहीं। इसी प्रसंग में भाट्टाभिमत अनुभव और स्मृति के लक्षणों का भी खण्डन किया है—'येन ज्ञानेन अर्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते तदनुभवः, येन तु ज्ञानमेव तथा तत्स्मरणमिति चेन्न, ज्ञातो ज्ञास्यते चेत्यनुमानादावप्यापत्तेः' अर्थात् ज्ञान दो प्रकार का होता है—अनुभव और स्मृति (खण्डन पृ० ३७८ विद्यासा०)। प्रत्येक ज्ञान अपने विषय पर ज्ञाततात्मक धर्म उत्पन्न करता है। जो ज्ञान घटपदादि पदार्थों पर ज्ञातता को जन्म दे, वह अनुभव; और जो ज्ञान किसी ज्ञान पर ही ज्ञातता को उत्पन्न करे उसे स्मृति कहा जाता है—यह भट्ट का सिद्धान्त है। इस स्मृति लक्षण की अतिव्याप्ति अनुमान और अर्थापत्ति में दी गई है। अनुमान के द्वारा अग्न्यादि के समान ही ज्ञान की सत्ता सिद्ध करने पर ज्ञान में ज्ञातता का उत्पादक अनुमानप्रमाण भी होता है, इसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण भी ज्ञान का व्यवहारान्यथानुपपत्ति के द्वारा आक्षेपक होता हुआ ज्ञानगत ज्ञातता का जन्मदाता होता है। अतः उक्त स्मृति-लक्षण दोनों अनुभवात्मक ज्ञानों में अतिव्याप्त होता है। ऐसे ही प्रमाण लक्षण का निराकरण करते हुए खण्डनकार ने कहा है—'नाप्यव्यभिचार्यनुभवः प्रमेति उक्तम्' (खण्डन पृ० ४२७)। प्रमात्व को भाट्ट प्रमागत शक्ति विशेष मानते हैं[1]। इसके लिए खण्डनकार ने दुरवधारणता[2] दोष दिखलाया है।

खण्डनकार का प्रभाकर पर अधिक रोष—खण्डनकार ने भाट्ट की अपेक्षा प्रभाकर मत का निराकरण अधिक किया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि खण्डनकार को नैयायिकों का खण्डन अभीष्ट था और नैयायिकों के साथ भाट्ट की अपेक्षा प्रभाकर का मतैक्य अधिक है। दूसरी बात यह भी है कि वेदान्तियों ने 'व्यवहारे भाट्टनयः' के सिद्धान्त को मानकर ही अपने-अपने निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय में प्रतिपादित शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण, प्रकरणान्तर—इन छह धर्म-भेदक हेतुओं की भाट्ट-रीति से ब्रह्मभेद-साधन में उपयोगिता दिखलाई है।[3] निराकरण के समय तात्त्विकत्व और व्यावहारिकत्व रूप से व्यवहार का समर्थन ही किया है, निराकरण नहीं। ज्ञान की प्रत्यक्षता जो प्रभाकर के मत से प्रतिपादित है, उसका निराकरण वेदान्त ग्रंथों में किया गया है। भाट्टाभिमत ज्ञान की निराकारता और अप्रत्यक्षता का निराकरण उस प्रकार नहीं। भाट्टमत की ज्ञाततागत स्वप्रकाशता का प्रतिपादन

---

१. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥
(श्लो० वा०, पृ० ५९ चौखं०)

२. 'एतेन शक्तिविशेषः प्रमात्वं तद्योगः प्रमालक्षणमित्यपास्तं दुःखधारणत्वात्'।
(खण्डन पृ० ४४८)

३. द्रष्टव्य—अद्वैतसिद्धि (पृ० ८२७)

वेदान्तियों ने ज्ञान में अवश्य किया है। तथापि बौद्धमत का निराकरण करने के लिए भट्ट की उक्तियों का उल्लेखमात्र कर देना ही पर्याप्त समझा गया है।

वेदान्तियों को भ्रम—किन्तु कहीं-कहीं भाट्ट कृत बौद्धनिराकरण को अपने मत का निराकरण समझकर ही आलोचना कर डाली है। जैसे भट्टपाद ने बौद्धों की दो प्रकार की सत्ता—संवृतिसत्ता और परमार्थसत्ता का निराकरण करते हुए कहा है—

'संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्।
सत्यश्चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्॥
सत्यत्वं नच सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः।
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः'॥

(श्लो० वा० निरालम्बनवाद, श्लो० ६-७ पृ० २१८-१९)

इस आलोचना को वेदान्तियों ने अपने मत की आलोचना समझ ली, क्योंकि बौद्धों के समान ही वेदान्ती भी दो प्रकार की सत्ता आविधिक[1] (सांवृतिक) और पारमार्थिक मानते हैं। अतः भाट्ट के उक्त निराकरण का खण्डन करने की चेष्टा वेदान्ताचार्यों ने की है[2]।

मीमांसकों की अन्यथाख्याति और अख्यातिवाद का खण्डन—ख्यातिवाद-निरूपण के प्रसंग में वेदान्तियों ने मीमांसकों की अन्यथाख्याति और अख्याति का निराकरण किया है। ब्रह्मसिद्धिकार ने प्रभाकर के अख्याति पक्ष का जो खण्डन किया है, परवर्ती वेदान्तियों ने उनकी युक्तियों का अनुवादमात्र किया है। शब्दशक्ति-निरूपण के अवसर पर प्रभाकर के कार्यार्थशक्तिवाद का खण्डन करने के लिए वेदान्तियों ने सिद्धार्थशक्तिवाद का प्रबल समर्थन किया है, किन्तु बहुत से वेदान्तियों ने कार्यार्थ-शक्तिवाद का स्रोत 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' (मी० सू० २।१।१) इस सूत्र को माना है। क्योंकि इस सूत्र में 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस वाक्य का वैसा ही अर्थ प्रतीत होता है। वस्तुतः उक्त सूत्र अर्थवादाधिकरण पूर्वपक्ष सूत्र है। अतः इस सूत्र के द्वारा किसी सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन कैसे होगा ? प्रभाकरमिश्र ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस द्वितीय सूत्र को कार्यार्थशक्तिवाद का मूल माना है[3]। पार्थसारथिमिश्र जैसे उद्भट विद्वानों ने प्रभाकर के कार्यार्थशक्तिवाद का पूर्णतया निरूपण करके निराकरण किया है, किन्तु

---

१. बौद्धों ने संवृति शब्द से जिस तत्त्व को कहा है, उसी को अविद्यापद से वेदान्तियों ने कहा है। प्रत्यक्स्वरूपभगवान् ने चित्सुखी की अपनी व्याख्या 'नयन-प्रसादिनी' में 'अत्र च संवृणोति तत्त्वमिति संवृतिरविद्या' (चित्सुखी-नयनप्रसा० पृ० ७२, उदासीन सं० वि०, काशी)

२. चित्सुखाचार्य—'एतेन इदमपास्तम्। यदाहुर्भट्टाचार्याः संवृतेर्न तु·····'।
(पृ० ७२)

३. 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः' इति कार्येऽर्थे वेदस्य प्रामाण्यं दर्शयति।

उन्होंने भी उक्त द्वितीय सूत्र के पदों से ही उक्त वाद निकाला है[1] और 'आम्नायस्य-क्रियार्थत्वात्' इस सूत्र को उपोद्बलक नहीं माना।

मण्डनमिश्र ने भी कार्यार्थवाद का निराकरण करके भूतार्थवाद की स्थापना की है, किन्तु उन्होंने भी पूर्वपक्ष के अवसर पर प्रभाकर-प्रदर्शित[2] लौकिक शब्दों के शक्तिग्रह के उपायभूत प्रवृत्ति-निवृत्ति को लेकर ही कार्यार्थशक्तिवाद को सिद्ध किया है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस सूत्र का स्पर्श तक नहीं किया है।

भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने समन्वयाधिकरण में यह अवश्य कहा है—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति 'क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्' (ब्र० सू० शां० भा० पृ० १०० नि० सा० प्रे०)।

किन्तु वाचस्पतिमिश्र को यह बात अवश्य खटकी थी, इसीलिए उन्होंने कह दिया है – पारमर्षसूत्रोपन्यासस्तु पूर्वपक्षदार्ढ्याय' इस उक्ति का अवतरण देते समय कल्पतरुकार ने स्पष्ट कर दिया है कि कार्यार्थशक्तिवाद के सिद्धान्ती का यह कथन नहीं[3] है कि वेदान्तियों ने प्रभाकर के कार्यार्थशक्तिवाद का निराकरण करके सिद्धार्थ में शक्ति मानते हुए भी कुमारिलभट्ट के शक्तिवाद को स्वीकार किया है।

वेदान्तियों का 'व्यवहारे भाट्टनयः' उद्घोष—इनका कहना है कि 'व्यवहारे भाट्टनयः'[4] इस उक्ति को वेदान्तीगण पूर्णतया स्वीकार करते हैं। कुमारिलभट्ट[5] ने जैसे वाक्यार्थबोध में पदार्थों की लक्षणा मानी है, वैसे ही अपौरुषेय वेदान्तवाक्यार्थ भी लाक्षणिक ही माना जाता है[6]। केवल इतना ही नहीं, प्रामाण्य के स्वतस्त्व-परतस्त्वादि अधिकतर शाब्द मर्यादाओं में भट्टपाद को ही वेदान्तियों ने अपना आदर्श माना है। वेदान्तीगण प्रभाकर से दूर इसीलिए भागते हैं कि प्रभाकर भ्रम नाम की कोई वस्तु नहीं मानते और वेदान्तियों का भ्रम पर ही समस्त प्रपंच खड़ा है।

तल्लक्षणो धर्मः—इति वदन् कार्यरूप एवेति दर्शयति'। (बृहती० १।१।२, पृ० २० मद्रास सं०)

१. 'कश्चित्त्वाह—कार्यरूपो वेदार्थो न सिद्धरूप इत्येतदनेन सूत्रेणोच्यते' (शा० दी० पृ० १६ नि० सा० प्रे०)

२. 'तत्र कार्यपरतयैव कार्यान्वयिष्वर्थेषु पदानि प्रयुज्यन्ते, तथार्थवत्वात्, नहि प्रवृत्तिनिवृत्तिशून्यस्य वचसः कश्चिदर्थः'। (ब्रह्मसिद्धि० ब्रह्मकाण्ड पृ० २३ मद्रा० सं०)

३. 'जैमिनिसूत्रोपन्यासो न व्युत्थितसिद्धान्तिविश्रम्भायाम्, अपितु दृढपूर्वपक्ष-निरासार्थं सिद्धान्तावश्यारम्भाय इत्यत आह—'पारमर्षेति' (कल्पतरु० पृ० १००)

४. 'चित्सुखी पृ० २६७।

५. कुमारिलभट्ट का कहना है—'न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः। वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि' सर्वत्रैवेति च स्थितिः।

(श्लो० वा० वाक्याधिक० श्लो० २२९ चौखं० पृ० ९०९)

६. तस्मात्पौरुषेय वाक्येभ्य इवाऽपौरुषेयेभ्यो वेदान्तवाक्येभ्यो लक्षणया यथोक्त-लक्षणं ब्रह्म सिद्धयतीति सिद्धम्। (चित्सुखी पृ० २६७)।

अतः प्रभाकर-सिद्धान्त को मानने का अर्थ वेदान्तियों द्वारा अपने मूलभूत अध्यास और आध्यासिक प्रपंच को तिलांजलि देना है। दूसरा कारण यह भी है कि प्रभाकर की रीति से उपनिषत्काण्ड का प्रामाण्य सुसंगत नहीं हो पाता[१]। मोक्ष की प्राप्ति में मीमांसा ने ज्ञान और कर्म दोनों का उपयोग माना है[२]। वेदान्तसूत्रों का मूलाध्ययन इस प्रकार के समुच्चयवाद की ओर संकेत करता प्रतीत होता है, क्योंकि 'अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः' (ब्र० सू० ४।१।१७) अर्थात् तत्त्वज्ञानी द्वारा अनुष्ठित अग्निहोत्रादि धर्म एवं हिंसा आदि अधर्मों का फल उसे भोगना नहीं पड़ता, अपितु उसके मित्रों-शत्रुओं को मिलता है। इस सिद्धान्त में 'उभयोः सम्प्रतिपत्तिः' अर्थात् दोनों जैमिनि और बादरायण आचार्यों की एकवाक्यता है[3]। तत्त्वज्ञानी के लिए कर्मानुष्ठान असम्भव होने पर उक्त सूत्र की संगति कथमपि नहीं बैठ सकती। अतएव प्राचीन ऋषियों में भी समुच्चयवाद के पक्षपाती पाये जाते हैं, किन्तु उक्त समुच्चयवाद का घोर विरोध शांकर-परिवार ने किया है[४]। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मीमांसा जिस आत्मज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय सम्भव बतलाती है, उस आत्मज्ञान का स्वरूप अभेदबोध या सर्वथा भेद-भावनारहित निर्विकल्पतत्त्व का साक्षात्कार नहीं, अपितु बुद्धि के सुख-दुःखादि धर्म से रहित निजरूप का बोध[५] है। अतः इस प्रकार के आत्मज्ञान के साथ नित्य कर्मानुष्ठान आदि का समुच्चय असम्भव नहीं है, किन्तु अद्वैतवेदान्तियों का आत्मज्ञान सर्वथा भेदरहित निर्विकल्पतत्त्व का साक्षात्कार है। इस प्रकार के आत्मज्ञान के साथ भेदभावना पर आधृत कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं। किन्तु वेदान्तियों में भी कुछ प्राचीन आचार्य अविद्या-निवृत्ति को ही मोक्ष मानते थे, जैसा कि भगवान् पतञ्जलि अपने परमार्थसार में कहते हैं— 'मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र। अज्ञानमयग्रन्थे भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम्' (परमार्थसार श्लो० ७३ पृ० ८१)। ये लोक कर्मत्याग के इतने पक्षपाती या आग्रही नहीं थे तथा तत्त्ववेत्ता के द्वारा किये गये कर्मों के फल का संश्लेष वे नहीं मानते थे।[६] प्राचीन आचार्यों में उपवर्ष, द्रमिडाचार्य, सुन्दरपाण्ड्य आदि आचार्य दोनों मीमांसाओं के व्याख्याता माने जाते हैं। इन लोगों के व्याख्यानों में कर्मानुष्ठान के प्रति इतना विद्रोह नहीं पाया जाता। अतः यह निश्चित तथ्य है कि बौद्धों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी विद्रोह का प्रभाव उत्तरवर्ती वेदान्ताचार्यों के प्रवचनों

---

१. विधिनिषेधात्मक वाक्यों से ही अर्थबोध, वह भी कार्य-विषयक—ऐसा प्रभाकर मानते हैं। ब्रह्मविषयक प्रवृत्ति-निवृत्ति संभव नहीं, अतः उपनिषत्काण्ड को अर्थवादवाक्यों के समान अथवा परिपक्व ज्ञान में उपयोगी माना जाता है।

२. शास्त्रदी० १।१।५, पृ० १३०।

३. ब्रह्मसूत्र, शां० भाष्य ४।१।१७ पृ० ९६१।

४. बृह० वार्ति० ३।३।७०, पृ० ११८९।

५. शास्त्रदी० पृ० १३०।

६. परमार्थसार श्लो० ४०, पृ० ५०।

में उपलब्ध होना न्यायसंगत कहा जा सकता है। अर्वाचीन वेदान्ताचार्यों में भी वाचस्पति, मण्डनमिश्र जैसे आचार्यों ने अनेक अवसरों पर मीमांसादृष्टि का समर्थन किया है[1]।

दार्शनिक प्रमेयों के सम्बन्ध में मीमांसक और नैयायिकों के तुलनात्मक विचार

द्विविध पदार्थ—हम पहले बतला चुके हैं कि भाव और अभाव के भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं।

भावपदार्थ की संख्या में नैयायिकों से मीमांसकों का मतभेद—उनमें भी द्रव्य, गुण, क्रिया और सामान्य के भेद से भाव पदार्थ चार प्रकार का होता है। किन्तु मीमांसक नैयायिकों की अपेक्षया दो द्रव्य अधिक मानते हैं[2]। नैयायिकों ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये नव (नौ) द्रव्य माने हैं[3]। किन्तु मीमांसक इनके आगे शब्द और तम नामक दो द्रव्यों को और भी स्वीकार करते हैं[4]।

कार्यद्रव्यता की स्वीकृति में दोनों की समानता—नैयायिकों के समान मीमांसकों ने भी पृथ्वी, जल, तेज और वायु में ही कार्यद्रव्यता को स्वीकार किया है।

मीमांसकों के मत में कार्यारम्भक परमाणुओं का अस्वीकार—जालसूर्य मरीचियों में दीखनेवाले इनके अणुओं को छोड़कर, अनुमेय समझे जाने वाले कार्यारम्भक परमाणुओं को मीमांसकों ने स्वीकार नहीं किया है[5]। मीमांसकों के मत में अवयवी को अवयवों से भिन्न माना गया है।

मीमांसकों के मत से श्रोत्रेन्द्रिय की दिग्रूपता—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्—इन इन्द्रियों को यथाक्रम नैयायिकों के समान ही पार्थिव, जलीय, तेजस तथा वायवीय माना है, किन्तु मीमांसकों ने श्रोत्रेन्द्रिय को वेदवचन के अनुसार दिग्रूप ही माना है[6]।

---

१. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि का प्रयोजन मीमांसक अर्थग्रहण-पर्यन्त मानते हैं। वाचस्पतिमिश्र ने भी इसका समर्थन किया है, किन्तु विवरणाचार्य आदि ने अक्षरग्रहणपर्यन्त ही अध्ययन-विधि का फल बतलाया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मण्डनमिश्र और वाचस्पतिमिश्र जैसे विद्वान् बौद्धमत के घोर विरोधी थे।

२. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्त्यभावाः षट् पदार्थाः'। (तंत्र० सि० रत्ना० पृ० ३८)

३. तर्कसंग्रह देखिये।

४. 'तच्च द्रव्यं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनश्शब्दतमोरूपेणैकादश-विधम्' (तं० सि० र० पृ० ३८)

५. 'तार्किकैः·····विशेषः' (तं० सि० रत्ना० पृ० १७०)

६. 'दिशः श्रोत्रम्' (शाब० भा०) न्या० सू० १।१।१२ इस पर तात्पर्यटीका पृ० २२२ पं० १९।

मीमांसकों के मत से वायु, आकाश, काल, दिक् का प्रत्यक्ष—वायु को नैयायिकों ने अप्रत्यक्ष माना है, किन्तु मीमांसक उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं[1]। इसी तरह आकाश, काल, दिशा का भी प्रत्यक्ष होना मीमांसकों ने बतलाया है[2]। नैयायिकों ने इनका प्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया है।

नैयायिकों के मत से ईश्वर की सिद्धि अनुमान से—इसी प्रकार नैयायिक वर्ग आत्मा को जीवात्मा और परमात्मा के रूप में विभक्त कर परमात्मा को ही ईश्वर कहते हैं[3]। उसके सम्बन्ध में प्रमाण पूछने पर अनुमानप्रमाण सामने रखते हैं,[4] अर्थात् अनुमानप्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि करते हैं और वेद को पौरुषेय बतलाते हैं।

मीमांसकों की निरीश्वरवादी रूप से प्रसिद्धि का कारण और वास्तविकता—परन्तु इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व एवं उसकी सर्वज्ञता, शक्तिमत्ता और कर्तृता को अनुमान के द्वारा सिद्ध करना मीमांसकों को न रुचने के कारण उन्होंने नैयायिकों के एतद्विषयक अनुमान का खूब अच्छी तरह खण्डन किया है। इसी कारण संसार में मीमांसकों की निरीश्वरवादी के नाम से प्रसिद्धि हो गई,[5] किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। कोई भी मीमांसक ऐसा नहीं हुआ है, जिसने नैयायिकों का खण्डन करते हुए भी ईश्वर को न माना हो। इस सम्बन्ध में मानमेयोदयकार नारायण पण्डित का कहना है—'सिद्धस्तार्किकेश्वरनिरासः। वैदिकेश्वरः परमकारुणिकः पुनरस्माकमनुगुण एव'।

मीमांसक और नैयायिकों का 'मन' के परिमाण में मतभेद—मीमांसक लोग मन को विभु मानते हैं;[6] नैयायिकों की तरह 'अणु'[7] नहीं। मन को विभु मानने में वे यह तर्क देते हैं कि 'प्रपंच-सम्बन्ध रूप संसार दशा में जीवात्मा में स्थित नित्य वर्तमान आनन्द प्रतिबन्धकवशात् अभिव्यक्त न हो पाता हुआ भी संसार-सम्बन्ध विलयरूप मोक्ष की प्राप्ति के समय अभिव्यक्त होता है। ज्ञान, संवेदन या अनुभव को अभिव्यक्ति कहते हैं। आत्मा को सुख का अनुभव बिना किसी कारण के उपपन्न नहीं हो सकता। इसलिए मोक्षदशा में भी अनुभव के अनुकूल आत्म-मनःसंयोग का होना आवश्यक है। नैयायिकों के अनुसार यदि मन को अणु माना जाय तो मोक्ष की दशा में भी आत्मसंयोग के अनुकूल मनःक्रिया आवश्यक होने से तत्प्रयोजक अदृष्ट

---

१. 'वायुरनुमेयः·····प्रत्यक्षः सः' (तं० सि० र० पृ० १७०)
२. 'आकाशकालदिशोप्यत्र प्रत्यक्षाः' (तं० सि० र० पृ० १७०)
३. 'जीवात्मा·····नैयायिकादयो मन्यन्ते'। (तं० सि० र० पृ० १७०)
४. 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटत्वाद् घटवत्'। (मुक्तावलि)
५. 'भाट्टाः पुनः·····परमपुरुषमसन्तमभिप्रैति'। (तं० सि० रत्ना० पृ० १७१)
६. मानमेयोदयकार का मन की विभुता में अनुमान—'मनो विभु स्पर्शानर्ह-द्रव्यत्वात्, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वाद् वा, आत्मवत्'।
७. 'तदभावादणुमनः' वैशेषिकसूत्र ७।१।२३ पृ० १७१ पर शंकरमिश्रकृत उपस्कारभाष्य।

को स्वीकार करना ही पड़ेगा, तब आत्मा के अदृष्ट-युक्त होने से उसे मुक्त नहीं कहा जा सकेगा। अतः मन को विभु मानने पर निर्दिष्ट अनुपपत्ति नहीं रहती।

मन की विभुता पर आक्षेप और उसका समाधान—कुछ लोग यहाँ पर यह आक्षेप कर सकते हैं कि मन को विभु मानने पर उसमें क्रिया नहीं हो सकेगी, तब आत्मा के साथ मन का क्रियाजन्य संयोग कैसे सम्भव हो सकेगा ? इस पर मीमांसक लोग यह समाधान देते हैं कि अनित्यसंयोग की तरह नित्यसंयोग भी होता है।

'तम' के सम्बन्ध में नैयायिक और मीमांसकों का मतभेद—नैयायिक 'तम' को तेजोऽभावरूप मानते हैं, परन्तु मीमांसक लोग उसमें प्रतीत होनेवाले गुण और कर्म को बिना किसी बाधक प्रमाण के अस्वीकृत नहीं कर सकते हैं। अतः 'तम' को अभावरूप न मानकर उसे 'द्रव्य' मानते हैं[1]।

'शब्द' के सम्बन्ध में नैयायिक और मीमांसकों का मतभेद—इसी तरह नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है। किन्तु मीमांसक लोग शब्द को द्रव्य मानते हैं। उनका कहना है कि 'शब्द' के नित्य होने से उसे एक मानना चाहिए और एक मानने पर उसे विभु और परम महत्परिमाणवाला भी अवश्य मानना होगा। अतः शब्द को द्रव्य मानना ही उचित है, गुण नहीं।

वाचक, अवाचक भेद से 'शब्द' दो प्रकार का होता है। उनमें 'अवाचक शब्द' भेरी बजाने पर पैदा होनेवाली ध्वनि से अभिव्यक्त होता है। और दूसरा अर्थात् 'वाचक शब्द' तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है[2]।

मीमांसकों के मत में शब्दात्मिका देवता—मीमांसकों के मत में शब्दात्मिका ही देवता है। इन्द्र, सूर्य, सोम, अग्नि आदि शब्दों से ज्ञात होनेवाली देवताओं को यज्ञों में दी जाने वाली हवि का ग्राहक नहीं माना गया है। वेदों में जो वाक्य देवता-स्वरूप के प्रतिपादक दिखलाई पड़ते हैं, वे सब अर्थवाद हैं। अतः वे समीप पढ़े हुए विधिवाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के स्तुतिपरक समझे जाते हैं। एक वाक्य का दो अर्थों में तात्पर्य न रह सकने से और स्वार्थ में भी तात्पर्य न रहने से प्रतीत होनेवाले देवताओं के स्वरूप में कोई विशेष प्रमाण नहीं है। विधिवाक्यों में तद्धितान्त शब्दों के द्वारा और चतुर्थ्यन्त विभक्ति के द्वारा निर्देश होने पर प्रतीत होनेवाली देवता की उद्देश्यता बतलाने के लिए जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसी को देवता समझा जाता है।

शब्दात्मिका देवता को बतलाते हुए भी खण्डदेव का अन्तरंग—शबरस्वामी आदि मीमांसकों के मत को बतलाने भर के लिए मीमांसक लोग इसको कह देते हैं, किन्तु स्वयं अपने मन में दूसरे ही अभिप्राय को रखते हैं। नवमाध्याय में प्रथमपाद के

---

१. 'चक्षुर्मात्रग्राह्यं····प्रतीयमानत्वात्'। (तं० सि० र० पृ० ४३)। 'तमो नाम द्रव्यं बहुलविरिलं मेचकचलं·····'। (तत्त्वसार)

२. 'शब्दश्च गगनगुण इति परमतम्····वर्णात्मकः'। (तं० सि० र० पृ० १७१)

देवताधिकरण में खण्डदेव कहते हैं—'किन्तु शब्दमात्रं देवता। अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधात् चेतनः अचेतनो वा स्वीक्रियते। न तु विग्रहादिमान्। उपासनादौ परं ध्यानमात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमतनिष्कर्षः। मम त्वेवंवदतोऽपि वाणी दुष्यतीति हरिस्मरणमेव शरणम्'।

गुणों की संख्या में वैशेषिक और मीमांसकों के मतभेद—वैशेषिक लोग रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—इन चौबीस गुणों को मानते हैं। किन्तु मीमांसकों के मत में 'शब्द' को द्रव्य माना गया है, अतः उसकी गुणों में गिनती नहीं है। कारणभूत सभी वस्तुओं में शक्ति[1] का अस्तित्व उपलब्ध होने से तथा धर्म और अधर्म भी विहित एवं निषिद्ध कर्मों की फलोत्पत्ति के अनुकूल शक्तिरूप होने से उनकी भी गुणों में पृथक् रूप से गिनती नहीं है। अतः शब्द, धर्म, अधर्म को छोड़ देने पर नैयायिकों की तरह २१ गुणों को मीमांसकों ने स्वीकार किया है।

प्रकार-भेद से समानता—किन्तु नैयायिकों के द्वारा अस्वीकृत ध्वनि, प्राकट्य,[2] शक्ति—इन तीनों को मिलाने पर मीमांसकों के भी २४ गुण होते हैं। इनमें 'नीलादि-रूप व्यक्ति' एक ही है। द्रव्यों के उत्पन्न होने पर उसमें रूप की अभिव्यक्ति मात्र होती है, उत्पत्ति नहीं। ऐसा प्राचीनों का मत है। 'चतुर्विंशतिर्गुणाः' इस अबाधित व्यवहार के अनुरोध से 'गुणा द्रव्यमात्रनिष्ठाः' अर्थात् गुण केवल 'द्रव्य' में रहते हैं; इस नियम की ओर ध्यान न रखनेवाले ये लोग संख्या की द्रव्यवृत्तिता को भी नहीं मानते।

मीमांसकों के मत में ज्ञान का अप्रत्यक्ष—बुद्धि अर्थात् ज्ञान, भाट्ट मीमांसकों के मत में अप्रत्यक्ष है। कुछ अवैदिक लोग सम्पूर्ण जगत् को ज्ञान के आकार में ही मानकर बाह्य पदार्थ का अपलाप तक करते हैं। उनका खण्डन करने के लिए ज्ञान की अप्रत्यक्षता के साधनार्थ ये प्रवृत्त हुए हैं[3]। इनका कहना है कि पदार्थ के अभाव में तत्प्रकाश के द्वारा अनुमेय ज्ञान तो खरगोश के श्रृंग के समान ही होगा।

ज्ञान के सम्बन्ध में नैयायिक और मीमांसकों के भिन्न-भिन्न विचार—स्मृति और अनुभव के द्वारा ज्ञान दो भागों में विभक्त किया जाता है। कुछ समय के पश्चात् यदि

---

१. 'शक्तिः अपि पदार्थान्तरम् ··स्वर्गादिसाधनत्वशक्तिः'। (तं० सि० र० पृ० ५४)

२. 'प्राकट्यं ज्ञानजन्यो विषयनिष्ठो गुणः, स च ज्ञातता विषयता प्रकाशापर-पर्यायः'। (तं० सि० र० पृ० ५१)

३. 'ज्ञानजन्योऽर्थगतः कश्चिदतिशयः····अतो ज्ञानस्य कल्पकः'। (न्यायरत्नाकर)
'नह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते। ज्ञातेत्वनुमानादवगच्छति इति'। (शबरस्वामी)
'संवित् न प्रत्यक्षा····प्रत्यक्षत्वनिराकरणात्'। (तं० सि० र० पृ० ५०)

ज्ञान का बाध हो जाता है तो उसे भ्रम कहते हैं। और जहाँ वस्तु का यथावत् ग्रहण कर पश्चात् यदि उसका बाध नहीं होता, तब उसे यथार्थज्ञान कहते हैं। इनमें प्रथम भ्रमज्ञान तो अप्रमाण है और बादका यथार्थज्ञान 'प्रमाण' होता है।

नैयायिकवर्ग[1] किसी पदार्थ के धर्मानुरूप ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं, अर्थात् यथार्थ मानते हैं। परन्तु ऐसा कहने पर यथार्थ रूप से होनेवाली स्मृति को भी प्रमाण मानना होगा, किन्तु स्मृति के यथार्थ रहने पर भी उसमें प्रामाण्य व्यवहार नहीं होता, यह सभी शास्त्रकारों का सिद्धान्त है। अतः इस अतिप्रसक्ति का निवारण करने के लिए नैयायिकों को 'स्मृतिभिन्नत्वे सति यथार्थत्वम्' कहना पड़ा।

मीमांसकों ने 'अगृहीतग्राहित्व और अबाधितविषयत्व रहना' प्रमाण का लक्षण किया है[2]। इनके मत से स्मृति में गृहीतग्राहिता होने से उसमें प्रामाण्य की अतिप्रसक्ति नहीं हो पाती। इसी तरह भ्रान्ति का 'विषय' बाधित होने से वह भी प्रमाण नहीं समझी जाती।

ज्ञान-प्रामाण्य के सम्बन्ध में सभी दार्शनिकों के अपने मौलिक विचार—इस प्रामाण्य को लेकर दार्शनिकों में बहुत वाद-विवाद चल पड़ा है। सांख्य का कहना है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ज्ञान के पैदा होने पर स्वयं उत्पन्न होते हैं। अतः ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं।

बौद्धों का कहना है कि अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः है।

नैयायिक और वैशेषिक कहते हैं कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः हैं।

इन पक्षों के संघर्ष में वेद का प्रामाण्य कम्पित होता-सा दिखलाई पड़ता है। अप्रामाण्य को भी स्वतः मानने पर वैदिक ज्ञान का प्रामाण्य निष्कम्प सिद्ध नहीं हो पाता।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः बतलाने वाले नैयायिकों ने प्रामाण्य को गुण के अधीन माना है। तब शब्दज्ञान का प्रामाण्य शब्दोच्चारण करनेवाले पुरुष के यथार्थज्ञानरूप गुण के अधीन होगा। इस नियम के अनुसार वैदिक ज्ञान के प्रामाण्य का निर्वाह करने के लिए वेदार्थ-विषयक यथार्थज्ञान रखनेवाले पुरुष का अनुमान लगाते-लगाते अन्ततः वेद को पौरुषेय सिद्ध कर बैठते हैं। अर्थात् नैयायिकगण वेद को परमाप्त परमेश्वरप्रणीत मानकर उसे पौरुषेय कहते हैं।

किन्तु वेद के प्रामाण्य की हृदय से रक्षा करनेवाला मीमांसक नैयायिकों के वेदप्रामाण्यविषयक सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसने अपना एक निराला ही मार्ग बनाया है। वह प्रामाण्य को 'स्वतः' और अप्रामाण्य को 'परतः' बतलाता है। उसका कहना है कि वेदवाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञान में सुदीर्घ समय तक सूक्ष्म अन्वेषण करने पर भी पुरुष के भ्रम, प्रमाद, अशक्ति, विप्रलिप्सा, आलस्य आदि दोषों का स्पर्श तक नहीं पाया जाता। इस कारण वेद का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है।

---

१. 'तद्धर्मवति तद्धर्मावगाहित्वं यथार्थत्वम्'।

२. 'अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानजनकं प्रमाणम्'। (तं० सि० र० पृ० ३२)

ध्वनि के सम्बन्ध में वैशेषिक और मीमांसकों का मतभेद—वैशेषिक ध्वनि को 'आकाश' का गुण कहते हैं, किन्तु मीमांसक उसे 'वायु' का गुण मानते हैं[1]।

'प्राकटच' के सम्बन्ध में विचार-विमर्श—'प्राकटच' के सम्बन्ध में मानमेयोदयकार का कहना है कि विषय की व्यवस्था करनेवाला तथा समस्त द्रव्यों पर रहने वाला सामान्य गुण ही 'प्राकटच' है। उसका प्रत्यक्ष 'संयुक्ततादात्म्य' सम्बन्ध से होता है। वह प्राकटचद्रव्याश्रित होता हुआ भी उसी 'तादात्म्यसम्बन्ध' से परम्परया जाति, गुण और कर्म पर भी रहता है। इस कारण इनमें अविषयता नहीं हो पाती। क्योंकि विषय बनने के लिए प्राकटच का आश्रय होना आवश्यक है। 'प्राकटचाश्रयो-विषयः' यह विषय का लक्षण आचार्यों ने किया है।

अब यह प्राकटच क्या वस्तु है; इस पर थोड़ा विचार करें। संसार में प्रतिदिन लौकिक परीक्षकों के 'घटः प्रकाशते' घट प्रकाशित होता है; 'घटो भाति' घट प्रतीत होता है; 'प्रकटो घटः' घट प्रकट है—आदि व्यवहार होते रहते हैं। इन व्यवहारों का बाध किसी प्रकार से भी न होने से ये भ्रान्तिमूलक नहीं कहे जा सकते। यदि अबाधित प्रत्ययों को भी भ्रान्तिमूलक माना जाय तो सभी को भ्रान्तिमूलक कहने का प्रसंग आयेगा। इस कारण ये व्यवहार ही अपनी उपपत्ति के लिए प्रकाश-विशिष्ट अर्थ (पदार्थ = वस्तु) की कल्पना कर लेते हैं। अतः प्राकटच एक विशेषगुण पदार्थ कहा जाता है।

यदि हम आगन्तुक ज्ञान को ही 'प्राकटच' पदार्थ मान लें तो वह उचित न होगा, क्योंकि 'ज्ञान' आत्मसमवेत रहता है, अतः उसे घटसमवेत नहीं कहा जा सकेगा। यहाँ पर दूसरा सन्देह यह होता है कि प्राकटच के आश्रय को ही विषय मानने पर भूतकालिक एवं भविष्यत्कालिक पदार्थ प्राकटच के आश्रय न हो सकने से विषय कैसे बन सकेंगे? और वे विषय नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा नदी की बाढ़ या उमड़ते बादलों को देखकर भूत-भविष्यत् की वर्षा का अनुमान भी न हो सकेगा। इस पर समाधान इस प्रकार है कि भूत-भविष्यत् के पदार्थ भी प्राकटच के आश्रय हुआ करते हैं। यदि इस पर कोई यह आक्षेप करे कि बिना गुणी के गुण कैसे और किस पर पैदा होगा? उत्तर यह है कि संख्या की तरह। भूत-भविष्यत् पदार्थ पर संख्या नहीं रहती; यदि कहा जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि 'तिरत्र आहुतयो हुताः' 'षडपूपा भक्षिताः' 'दश मोदकाः कार्याः' आदि व्यवहारों को भ्रान्तिमूलक कहना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकटच भी एक पदार्थ है।

अग्नि आदि द्रव्यों में रहने वाली दाहाद्यनुकूला शक्ति, स्वर्गादिफल के अनुकूल यागादि क्रिया में रहनेवाली शक्ति, यागादि की उपकारक तत्साधनभूत पशु आदि की

---

१. 'ध्वन्यात्मकस्तु शब्दो गुणो नित्यश्च'''जायमानत्वात्'।
(तं० सि० र० पृ० ४५)
'अभिघातेन प्रेरिता वायवः''''नादशब्दवाच्या' इति। (शाब० भा०)

परिच्छेदक श्वेतादि गुणों में रहनेवाली शक्ति—इस प्रकार से शक्ति के तीन भेद हैं। नैयायिक और मीमांसकों के गुण-पदार्थों में यही अन्तर है।

'सत्ता' के सम्बन्ध में नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकों के विचार—नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म पर सत्ता नामक जाति को मानते हैं। किन्तु मीमांसक उसे 'जाति' पर भी स्वीकार करते हैं[१]।

प्राचीन मीमांसकों का कर्म के सम्बन्ध में विचार—क्रिया (कर्म) के सम्बन्ध में प्राचीन मीमांसकों का कहना है कि समस्त भूमण्डल पर एक ही क्रिया है और वह नित्य है तथा समय-समय पर पुरुषप्रयत्न के द्वारा अभिव्यक्त मात्र होती है। इस प्रकार इनके मत में ये चार ही भावपदार्थ हैं।

मीमांसकों के द्वारा 'विशेष' पदार्थ का अस्वीकार—अन्य मत में विशेष और समवाय दो पदार्थ अधिक बतलाये गये हैं। उस पर नारायण पण्डित कहते हैं—विशेष और समवाय खरगोश के शृंग की तुलना में हैं। क्योंकि उनके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। विशेष की सिद्धि में अनुमानप्रमाण बतलाना अनुचित है। पृथक्त्व के कारण 'सिद्ध' ही साध्य हो जाता है। अतः नित्यद्रव्यवृत्ति व्यावृत्ति-मात्र बुद्धि को विषय करनेवाला 'विशेष' होता है; यह कहनेवाले वैशेषिकों का खण्डन हो जाता है।

मीमांसकों के द्वारा 'समवाय' का अस्वीकार—'समवाय' के अस्तित्व में भी यदि कोई प्रमाण बतलाये तो उससे पूछा जा सकता है कि प्रत्यक्षप्रमाण बतला रहे हो या अनुमानप्रमाण? समवाय का प्रतिभास न होने से तार्किकों का अभिमत प्रत्यक्ष तो उसमें प्रमाण हो ही नहीं सकता। इस पर यदि कहा जाय कि 'पराश्रयं शौक्ल्यम्' 'इह पटे शौक्ल्यम्' आदि प्रत्यय इन्द्रियों के अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करते रहने से 'समवाय' का प्रत्यक्ष हो सकेगा। किन्तु यह भी उचित नहीं प्रतीत होता। जब कि समवाय का स्वरूप ही विवादग्रस्त है तो उसका ज्ञान समवाय को विषय कैसे कर सकता है? समवाय का स्वरूप सिद्ध होने पर वह अपने ज्ञान का विषय हो सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह भी है कि समवाय के बिना कुछ अनुपपन्न भी नहीं है। भेद सहिष्णु-अभेद से उपपत्ति हो जाती है। तीसरी बात यह है कि 'समवाय' समवायी से बिलकुल भिन्न है या अभिन्न? अभिन्न कह नहीं सकते। अन्यथा समवायी के अभाव से समवाय का भी अभाव कहना होगा। यदि उसे भिन्न कहें तो समवाय का समवायी से कोई सम्बन्ध बतलाना होगा। सम्बन्ध बतलाने पर पुनः उसके सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी, इस तरह से अनवस्था हो जायेगी। जब 'सम्बन्ध नहीं है' यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वसाधारण व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध न माने जायें तो 'इयं गौः' ऐसा व्यवहार न होकर 'पिण्ड-गोत्व-

---

१. 'तत्र द्रव्यगुणकर्मसामान्येषु चतुर्ष्वपि महासामान्यं वर्तते सत्तापरपर्यायम्। तेषां सत् सदिति सत्तया प्रतीयमानत्वात्'।

समवाय' शब्दों का व्यवहार होने लगेगा। अतः अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान् (व्यक्ति) तथा क्रिया और क्रियावान् इनमें तादात्म्य सम्बन्ध ही मानना चाहिए।

'अभाव' के सम्बन्ध में दोनों की समानता—नैयायिकों की तरह मीमांसक अभाव के भी चार प्रकार बतलाते हैं। इस प्रकार मीमांसक-सम्मत षट्पदार्थी प्रसिद्ध है।

गागाभट्ट के स्वतंत्र विचार—किन्तु भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट वैशेषिक-सम्मत कतिपय पदार्थों को स्वीकार कर अपनी अलग ही पदार्थ-संख्या बतलाते है।

ग्यारह द्रव्य—प्रमेय के प्रसंग में वे कहते हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, अन्धकार और शब्द ये ग्यारह द्रव्य हैं।

बीस गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और यत्न—ये बीस गुण हैं।

एक कर्म—चलनात्मक कर्म एक ही है।

दो सामान्य—पर और अपर भेद से सामान्य दो प्रकार का है।

एक समवाय—समवाय एक ही है।

तीन शक्तियाँ—शक्ति के तीन भेद हैं—सहजा, आधेया और पदशक्ति।

तीन अभाव—अभाव तीन प्रकार का है—ध्वंस, अत्यंताभाव और भेद। एवंच द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, अभाव—ये सात पदार्थ हैं। कुछ लोग संख्या को भी गुणादिवृत्ति होने से पदार्थान्तर मानते हैं। द्रव्य के सम्बन्ध में पूर्वमत से इसमें कोई भिन्नता नहीं है। किन्तु गुणों में संख्या को नहीं माना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संख्या को किसी ने पदार्थान्तर माना होगा[1]। इसी तरह इन्होंने पृथक्त्व को भी गुणों में नहीं गिना। कदाचित् उसे अन्योन्याभावरूप माना होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

धर्माधर्म का गुण में अन्तर्भाव—नैयायिक-सम्मत धर्म और अधर्म को कुछ मीमांसकों ने यागादि कर्म की शक्ति के रूप में माना है। चिन्तामणिकार ने उनको अदृष्ट नामक गुण के रूप में माना है। हमें प्रतीत होता है कि 'शक्ति अपने-अपने कारण में स्थित रहती है' इस नियम को ध्यान में रखकर विहित या निषिद्ध कर्मजन्य अदृष्ट भी कर्ता की आत्मा में रहने से उन्हें कर्म की शक्ति के रूप में मानना अनुचित होगा, अतः फलोत्पादनार्थ कर्म के अवान्तर व्यापारभूत अदृष्ट रूप में उन्हें मान लिया हो, शक्ति के रूप में नहीं।

ध्वनि का गुणों में अनन्तर्भाव—शब्द की नित्यता-साधन करने के प्रसंग में ध्वनि को वायुवृत्ति बतलाया है, इसलिए उसकी गुणों में गणना नहीं की गई।

पदार्थ की सप्तविधता विचारणीय है—ज्ञातता को सिद्ध करते हुए भी किसी पदार्थ में उसकी गणना नहीं की है, और स्वयं ने ही पदार्थों की संख्या सात बतलाई है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

---

१. 'तथा च पदार्थान्तरमन्ये' (भाट्टचि०)

शक्ति की अतिरिक्त पदार्थता—गुणों की द्रव्यमात्रवृत्तिता के नियम को मानकर शक्ति को इन्होंने एक अतिरिक्त पदार्थ माना है।

रूप का उत्पाद तथा विनाश—रूपादिकों की अनेकता और उत्पाद, विनाश इन्हें मान्य हैं।

'विशेष' का अस्वीकार किन्तु 'समवाय' का स्वीकार—'विशेष' पदार्थ को न मानकर ये समवाय को मानते हैं।

मोक्ष का स्वरूप—ये 'सुखानुभव' को मोक्ष नहीं कहते, किन्तु प्रपञ्च-सम्बन्ध विलय को ही मोक्ष मानते हैं।

मन का स्वरूप—इसी कारण मन की अखण्डता[1] भी उन्हें स्वीकार है।

(४) वेदार्थ-निर्णय तथा धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व

वेदार्थ-निर्णय में मीमांसा का महत्त्व—विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋगादि वेद हैं। प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु वेदों की तह में पहुँचने का प्रयत्न सदैव से करता आया है। वेदों के अर्थों का निर्णय जो व्यक्ति काव्य-कोषादि के बल पर करना चाहता है, उसका यह साहस मात्र ही कहा जायेगा। वेदार्थ का परिष्कृत स्वरूप तभी निखर सकता है, जबकि मीमांसा का पूर्णतया आश्रय लिया जाय। कुमारिलभट्ट जैसे विशिष्ट विद्वान् वेदार्थज्ञान के लिए मीमांसा के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उनका कहना है कि मीमांसा के व्याख्यान में प्रवृत्ति का मुख्य कारण वेदार्थज्ञान के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करना और कराना ही है। 'वेदार्थज्ञानरत्ने मे तृष्णातीव विजृम्भते' (श्लो० वा० ९ पृ० ३ चौ० सं०) अर्थात् वेदार्थज्ञानरत्न की प्राप्ति के लिए मीमांसा एक प्रधान साधन है। साधारण विद्वान् विविध वैदिक विषय-विवेचन के चक्कर में पड़कर यह भूल जाता है कि वेद का प्रधान विषय क्या है? किसी दूसरे दार्शनिक ने यह प्रयत्न नहीं किया कि उनके अध्ययन से वैदिक विषयों का ज्ञान हो। एकमात्र मीमांसा ने वेद के शब्द से लेकर अर्थ तक के प्रत्येक विषय पर पुष्कल प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, यदि मीमांसा का सराहनीय प्रयत्न न हुआ होता तो वेदों को ही आज के लोग किस्से-कहानी और कुछ असम्बद्ध प्रलापों का संग्रह मात्र मानते। मीमांसा-अनभिज्ञ अपने को दार्शनिक कहलाने वाले पाश्चात्य एवं कुछ प्राच्य लोगों ने भी वैसा ही कह दिया है। समय के प्रभाव से मीमांसा का विरल प्रचार होने के कारण वैदिक विद्वानों की विरलता इतनी हो गई है कि इस समय यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत में और उसी भारत में जहाँ कि पग-पग पर वैदिक विद्वानों का जमघट रहा करता था, वहाँ इने-गिने विद्वान् रह गये हैं। मीमांसा का अध्ययन करके यदि वैदिक धरातल पर कोई उतरा होता तो इस समय भी वैदिक विद्वानों की कमी न होती। मीमांसा-सागर की दुरवगाहता ने साधारण विद्वानों का साहस तोड़ दिया, जिससे मीमांसा ज्ञान से वंचित रहकर

---

१. गागाभट्टकृत चिन्तामणि, पृ० १६, पं० ५ नवीन संस्करण।

वेदार्थज्ञानरत्न को प्राप्त न कर सके। स्मृतिकारों ने मुक्तकण्ठ से यह माना है—'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' 'मीमांसासम्मितस्तर्कः सर्ववेदप्रवर्तकः'। मीमासा ने वेद का तात्पर्य इतिहास, भूगोल, आचार या सामाजिक व्यवहार के प्रकाशन मात्र में न मानकर धर्म जैसे महत्त्व के विषय-विवेचन में माना है। वस्तुतः वेदों की गरिमा भी इसी में है कि जनसाधारण की पहुँच के बाहर तथा दुर्लभ और अज्ञात विषयों का निरूपण करे। जनसाधारण में प्रसिद्ध जो धर्म है, वही 'धर्म' है, वेदार्थ है अथवा उससे भिन्न? मीमांसा ने भली प्रकार दर्शाया है कि वेद के सीधे-साधे सरल वाक्य कितना गंभीर तात्पर्य रखते हैं; यह एकमात्र मीमांसा-संस्कृत व्यक्ति ही समझ सकता है। जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितम्' वाक्य में अग्नि की चर्चा मात्र कर दी है, किन्तु अग्नि का स्वरूप क्या है और उसके कितने भेद हैं? किस अग्नि के आश्रित कौन कर्म हैं? आदि विषयों की व्यवस्था और शृंखला मीमांसा ने तैयार की है। जैसे बहुत से मूलग्रन्थों को सुव्यवस्थित करने का श्रेय पटुतम व्याख्याताओं को मिलता आया है, वैसे ही निर्भीक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैदिक विषय को सरल एवं सुव्यवस्थित बनाकर वेदों को सर्वोपरि महत्त्व देने का श्रेय मीमांसा को प्राप्त है। ऋगादि वेद परस्पर असम्बद्ध और बिखरे-से प्रतीत होते हैं, उनमें सम्बन्ध और सुश्लिष्टता मीमांसा ने ही स्थापित की। अन्य दर्शनों का एक साधारण विद्वान् यह नहीं बतला सकता कि 'इषेत्वा, ऊर्जेत्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्' आदि का सम्बन्ध और रहस्य क्या है? किन्तु मीमांसा का एक साधारण छात्र भलीभाँति इसे जानता है। अतः वेदार्थ का पूर्णतया असन्दिग्ध रहस्य मीमांसा पर ही निर्भर है। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र में मीमांसा का प्रयोजन धर्म का निर्णय करना ही जैमिनि ने बतलाया है। इस सूत्र में धर्म शब्द का अर्थ 'वेदार्थ' ही है, ऐसी व्याख्या करके प्रभाकर मिश्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'वेदार्थ-निर्णय' मात्र ही मीमांसा का एक मात्र उद्देश्य है। न्यायदर्शन का प्रमाण-निरूपण, वैशेषिक का पदार्थ-विश्लेषण, सांख्ययोग का प्रकृति-पुरुष-विवेचन एवं वेदान्त का ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादन में जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व मीमांसा का वेदार्थ-प्रतिपादन में है। सभी विद्वान् यह जानते हैं कि दूसरे दर्शन अपने मुख्य उद्देश्य से भिन्न विविध पदार्थों के निरूपण में जितने व्यग्र हैं, उतने अपने मुख्य लक्ष्य के प्रतिपादन में नहीं हैं, किन्तु मीमांसासूत्र का विशाल कलेवर एकमात्र वेदार्थ-निर्णय में ही संलग्न है। जहाँ वेदान्तदर्शन का एकमात्र प्रथम समन्वयाध्याय ब्रह्मज्ञानपरक है, वहाँ मीमांसादर्शन के पूरे बारह अध्याय धर्मसमन्वय या वेदार्थप्रतिपादन में समन्वय के प्रकाशक हैं। इसीलिए मीमांसा-सूत्रकार को इतना समय न रहा होगा कि वे सृष्टि-प्रलय, आत्मा-परात्मा के उलझन में पड़ते। उनके सामने वेदार्थ के वास्तविक स्वरूप को निखारना ही एकमात्र उद्देश्य था। उसकी सिद्धि में वे शतप्रतिशत सफल हुए। यद्यपि सृष्टि-प्रलय, आत्मा-परात्मा भी वेदार्थ की कक्षा से बाहर नहीं है, तथापि यज्ञयागोपयोगी वेदार्थ को ही सम्भवतः धर्म शब्द से लिया गया और उसी के प्रकाश से प्रकाशित सभी पदार्थों को ऋषि ने देख लिया था। शास्त्रों के दो भेद परिलक्षित होते हैं—एक वे जिनके अध्ययन-

अध्यापन से प्रवचन-कौशल मात्र प्राप्त होता है और दूसरे शास्त्र वे हैं, जिनके अध्ययन से कर्तव्यानुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। मीमांसादर्शन कर्तव्यपरायणता की ओर बालक से लेकर वृद्ध तक अपने सभी अधिकारियों को ऐसा प्रवृत्त करता है कि उनका एक क्षण भी वेदार्थानुष्ठान के बिना नहीं रह सकता। ब्रह्मज्ञान अनुष्ठेय नहीं है, अतः उसके प्रकाशन की आवश्यकता मीमांसादर्शन को नहीं हुई होगी। इसलिए वेदार्थ-प्रकाशन के अतिरिक्त मीमांसा ने अपने क्षेत्र को विस्तृत नहीं किया। वेदभाष्यकार सायण ने ऋगादि वेदों के व्याख्यान में पग-पग पर मीमांसा का उपयोग होता दिखलाया है। 'सनः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। स च स्वा नः स्वस्तये'॥ (ऋ० सं० मं० १, अ० १, सू० २, ऋ० ९)। इस प्रसंग में 'शास्त्र' को देवतास्मरण-रूप संस्कार कर्म अथवा अदृष्टफलक प्रधान कर्म समझा जाय, ऐसा विचार प्रस्तुत कर मीमांसा के नियमों को लगाकर सिद्ध किया कि यह प्रधान कर्म है। इसी तरह तैत्तिरीयब्राह्मण प्रथमकाण्ड-प्रथमप्रपाठक के पंचम अनुवाक में विचार उपस्थित किया गया है कि पवमानेष्टि से आहवनीयादि अग्नियों के संस्कृत होने पर दर्शपूर्णमासादि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। उसी तरह पवमानेष्टियों का भी उसी संस्कृत अग्नि में अनुष्ठान होना चाहिए। तब सिद्धान्त किया कि असंस्कृत अग्नि में ही उनका (पवमानेष्टि) अनुष्ठान होगा। इस तरह दसवें अध्याय के द्वितीय पाद के विचार का उपयोग यहाँ किया गया है।

धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व—धर्मशास्त्रकारों ने वेदविहित एवं मीमांसा-परिशोधित धर्मस्वरूप का प्रतिपादन निर्भीक रूप से किया है। मूल ग्रंथकार तो केवल 'मीमांसित्वा, मीमांसन्ते' आदि शब्दों का प्रयोग कर चलते बने। किन्तु टीकाकारों ने मीमांसा का उपयोग अथवा स्पष्टीकरण यत्र-तत्र किया। श्रौतकर्मों के प्रतिपादन में किसी भी ऐसे धर्म का विधान नहीं किया गया जो मीमांसा के विरुद्ध हो। कहीं-कहीं मीमांसान्याय का स्पष्ट प्रतिपादन भी किया गया है, जैसे जीमूत-वाहन-कृत दायभाग (अ० ११, परि० ५, खं० १६, पृ० ३१०, जी० वा० दा० प्रसन्न कुमार ठाकुर संपादित, कलकत्ता शक १७८५) में 'द्वयोः प्रणयन्ति' अधिकरण का उल्लेख मिलता है। तथापि मूल ग्रन्थकारों की अपेक्षा व्याख्याकारों ने मीमांसा का उपयोग अधिक किया है। मदनरत्न में निर्दिष्ट भविष्यपुराण में बतलाया गया है—'क्षमा, सत्य भाषण, दया, दान, स्वच्छता, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोम, सन्तोष, चोरी न करना'—ये दस धर्म सामान्यतः सभी व्रतों के लिए हैं। इस पर वर्धमान का कहना है कि उपर्युक्त 'सभी' शब्द से भविष्यपुराणोक्त व्रतों को ही समझना चाहिए। अन्य व्रतों में यदि होम का विधान हो तो उसे करे, न हो तो न करे। यही कारण है कि एकादशीव्रत में शिष्ट लोग हवन नहीं करते। इस पर कमलाकरभट्ट 'सभी' शब्द का रहस्योद्घाटन मीमांसा के द्वारा करके बतलाते हैं कि जैसे 'सप्तदशसामिधेनीरनुब्रूयात्' वाक्य किसी प्रकरण में पठित नहीं है, तब जिन पशुयाग, मित्रविन्दादि इष्टियों के प्रकरण में पठित सप्तदशसामिधेनी बोधक वाक्य हों, उनके साथ एकवाक्यता को पा लेने से पशुयाग प्रकरण के सप्तदश-

सामिधेनी के वाक्यों से उपर्युक्त प्रकरणरहित सामिधेनी वाक्य का उपसंहार कर लिया जाता है, वैसे ही विशेष व्रत में बतलाये गये होमविधायक वाक्यों से इस वाक्य का भी उपसंहार (संकोच) किया गया है। अतः वर्धमान का कथन ठीक नहीं। इसी सामिधेन्यधिकरण (मी० ३।६।२) का व्यावहारिक धर्म में महत्त्वपूर्ण उपयोग इस प्रकार किया जाता है—समाज में प्रायः देखते हैं कि लोग वसीयतनामा लिख जाते हैं। एक पुरुष जिसके दो नाबालिग पुत्र हों वह लिखता है कि 'मेरी मृत्यु के उपरान्त मेरी स्थावर सम्पत्ति की मालिक मेरी स्त्री होगी और जब लड़के बालिग हो जायेंगे तो यही उसके मालिक रहेंगे। इस लेख में स्त्री को 'मालिक' बतलाया गया है। इससे सन्देह होता है कि क्या स्त्री उस धन की वास्तव में मालिक अर्थात् स्वामिनी है? दूसरे शब्दों में क्या वह स्त्री उस सम्पत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार विक्रय कर सकती है? शास्त्र में तो स्त्री को 'स्थावर' धन के विक्रय का अधिकार नहीं है। तो क्या इस लेख में मालिक कहे जाने के आधार पर वह शास्त्रीय नियम का उल्लंघन कर सकती है? इस प्रकार का सन्देह होने पर यहाँ मीमांसा के अनुसार यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि स्त्री को मालिक कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक लड़के बालिग न हो जायें, वह स्थावर सम्पत्ति की देखरेख यानी पूरी तरह से रक्षा करे। दूसरे शब्दों में भाव यह है कि स्त्री के साथ मालिक शब्द का अभिप्राय मैनेजर (प्रबन्धकर्त्री) से है, और लड़कों के लिए मालिक शब्द का अर्थ 'स्वत्वाधिकारी' अर्थात् स्वामी है। एक स्थान में मालिक शब्द अपने पूर्ण अर्थ का बोध कराता है, तो दूसरे में उसका अर्थ प्रकरण तथा शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार संकुचित किया गया है। यह दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

दूसरा उदाहरण पृथ्वीचन्द्रोदय में उद्धृत अग्निपुराण के व्रत प्रकरण में है—'विप्रा भोज्या यथाशक्ति तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम्'। यहाँ 'विप्राः' शब्द में यदि एकशेष समास करें तो 'विप्रस्त्रियां और विप्रपुरुष' दोनों समझ लिये जा सकते हैं, किन्तु बिना प्रमाण के वह भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए 'द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्, बहुभ्यो यजमानेभ्यः' अर्थात् दो यजमान अथवा बहुत यजमान प्रतिपत् (शस्त्र नामक ऋचाओं में पहली ऋचा) को करें। यहाँ द्वित्व या बहुत्व का सम्पादन यजमान और उसकी स्त्री को लेकर नहीं किया जाता, ऐसा आचार्य मीमांसाकार एवं महामीमांसक पार्थसारथि का भी कहना है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणान् भोजयेत्' वाक्य में ब्राह्मण शब्द में श्रुत बहुवचन का अन्वय ब्राह्मण के ही साथ होता है, भोजन के साथ नहीं। अतः एक ही ब्राह्मण को बारबार भोजन कराने से संकल्पित अनेक ब्राह्मण भोजन का सम्पादन होना नहीं कहा जाता, यह सिद्धान्त किया है।

मीमांसारहित धर्मशास्त्र के भावों का ज्ञान उसी तरह है, जैसे विना साधन की इष्ट-प्राप्ति। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बातें बहुधा आया करती हैं जिनकी व्यवस्था मीमांसा की सहायता से ही हो सकती है। अतएव मीमांसा को एक प्रकार से व्याख्या के नियम 'लाज़ आफ इण्टरप्रिटेशन' कह सकते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

(१) मीमांसादर्शन का ह्रासकाल

ब्राह्मणों, धर्मसूत्रों तथा पुराणों के आधार पर आर्यावर्त[१] देश को यज्ञियभूमि[२] कहा गया है। और आर्यावर्त की परिभाषा में भी समय-समय पर हेर-फेर होता गया है[3]। आर्यावर्त के म्लेच्छावकीर्ण हो जाने पर शास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी कि—'यदि कश्चिद् क्षत्रियादिजातीयो राजा साध्वाचरणो म्लेच्छान् पराजयेत् चातुर्वर्ण्यं वासयेत् म्लेच्छांश्च आर्यावर्त इव चाण्डालान् व्यवस्थापयेत् भूयोऽपि स्यात् यज्ञियो, यतो भूमिर्न स्वतो दुष्टा, संसर्गाद्धि सा दुष्यति' (मनु० मेधाति० २।२३)

अर्थात् कोई क्षत्रिय राजा जिस देश में ही म्लेच्छों को परास्त कर चातुर्वण्य की स्थापना यथाशास्त्र कर दे, वह देश 'यज्ञिय' माना जाय। क्योंकि कोई भूमि स्वतः दूषित नहीं होती, किन्तु म्लेच्छादि के संसर्ग से दूषित होती है। यज्ञिय भूमि के साथ-साथ मीमांसा का देश-परिवर्तन भी होना अनिवार्य है। यद्यपि याज्ञिकों का और मीमांसकों का सदा से कुछ अन्तर रहा है, तथापि धर्ममीमांसा में अपेक्षित धर्मों का निरीक्षण-परीक्षण वहीं सम्भव है, जहाँ धर्मानुष्ठान होता है। यज्ञादिकों को ही धार्मिकों ने एक मत से धर्म माना है। मीमांसासूत्रकार महर्षि जैमिनि के लिए निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे किस देश के थे। किन्तु उपवर्ष ई० पू० १००–२०० ई० सन् से लेकर परितोष मिश्र (१२वीं शताब्दी) तक मीमांसाशास्त्र के प्रायः मैथिल ही रचयिता माने जाने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि निरन्तर १२०० वर्ष मिथिला भूमि को मीमांसकों की भूमि एवं यज्ञिय भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त रहा।

---

१. 'आसामुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः'॥ (मनु० २।२२)
'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्यं विन्ध्यहिमालयोः'। (अमरकोष)

२. 'तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्'।
(शतप० ब्रा० प्रवर्ग्यकाण्ड)
'यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्'।
(जाबा० उप० १)

३. 'प्राग्विनशनात् प्रत्यक् कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रम् एतद् आर्यावर्तम्'। (बौधा० धर्म० १।१।२७)

'आर्यावर्तः प्रागादशीत् प्रत्यक् कालकवनात् उदक् पारियात्राद् दक्षिणेन हिमवतः। उत्तरेण च विन्ध्यस्य'। (वसि० धर्म० १।८।९)

उसके अनन्तर मीमांसक-सम्प्रदाय दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। माधवाचार्य (१२९७-१३८६ ई०) से लेकर वाञ्छेश्वर यज्वा (१७६०-१८३० ई०) तक के मीमांसा आचार्य दक्षिण भारत (द्राविड, तैलंग, केरल, महाराष्ट्र) देश के कहे जाते हैं। उत्तर भारत में मीमांसा का ह्रास तेरहवीं शताब्दी में परिलक्षित होता है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—एक जैन और बौद्ध विचारधारा[1] का प्रभाव एवं म्लेच्छादि बर्बर जातियों के आक्र-

---

बौधायनधर्मसूत्र का कथन है कि आर्यावर्त 'विनशन' के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण और परियात्र के उत्तर में स्थित है।

इसी प्रकार वसिष्ठधर्मसूत्र का भी उल्लेख है। अन्तर केवल इतना ही है कि वसिष्ठ 'विनशन' के पूर्व न कहकर उस स्थान के पूर्व में आर्यावर्त की स्थिति बतलाते हैं, जहाँ सरस्वती सरिता अदृश्य हुई थी।

महाभारत के कथनानुसार (महाभारत वनप० ८२।१११) विनशन एक तीर्थ था, जो उसी स्थान पर स्थित था जहाँ सरस्वती विलुप्त हुई थी।

इस प्रकार प्रारंभिक सूत्रकारों के समय तक भारतवर्ष का पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भाग पूर्णतः आर्यसंस्कृति के अन्तर्गत नहीं हुआ था। यह निष्कर्ष बौधायन के इस कथन से और भी पुष्ट हो जाता है कि अवन्ती, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणीपथ, उपावृत, सिन्धु और सौवीर में वर्णसंकर जातियाँ रहती थीं।
(बौधा० ध० सू० १।१।३१)

१. जैनदार्शनिक—समय—ग्रन्थ

उमास्वाती—२ श०—तत्त्वार्थसूत्र (तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका, पृ० १–३६, पं० सुखलालजी)

पूज्यपाद देवनन्दी—६ श०—सवार्थसिद्धि

अकलङ्कदेव—८ श०—तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य

आचार्य विद्यानन्द—९ श०—अष्टसाहस्री, श्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा।

प्रभाचन्द्र—११ श०—प्रमेयकमलमार्तण्ड

मल्लिषेणसूरि—१३ श०—स्याद्वादमंजरी

बौद्धदार्शनिक—समय—ग्रन्थ

दिङ्नाग—ई० ३४५–४२५—प्रमाणसमुच्चय, आलम्बनपरीक्षा आदि

धर्मकीर्ति—६३५–६५०—प्रमाणवार्तिक, सबन्धपरीक्षा आदि

धर्मपाल—षष्ठशतकारंभ—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या

नागार्जुन (माध्य०)—द्वितीयशत०—माध्यमिकशास्त्र

चन्द्रकीर्ति—६००–६५०—माध्यमिकतावतार

शान्तरक्षित—८ शत०—तत्त्वसंग्रह

इन ग्रन्थों के द्वारा विधिवाक्यार्थ (नियोग-भावना), वेदापौरुषेयता, शब्द-

मण[1]। तब बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करने में मीमांसक सम्प्रदाय एकनिष्ठ होकर बौद्धों की पराजय का मार्ग सोचने लगा; और नव्यन्याय का आविष्कार उसके हाथ लगा। इस नव्यन्याय के अध्ययन-अध्यापन और शास्त्रार्थ में उलझा हुआ पण्डित-समाज अपने मीमांसा-विचार को सुरक्षित न रख सका। बुद्ध के जन्म से लेकर कुमारिल भट्ट के समय तक अर्थात् १२-१३ सौ वर्ष तक वैदिक मीमांसकों ने बौद्धों का डटकर सामना किया। मीमांसकों की दृष्टि अपनी परम्परा के रक्षण की ओर थी तो बौद्धों की दृष्टि उस परम्परा को भंग करने की ओर थी। इसलिए मीमांसकों का क्षेत्र उत्तरोत्तर संकुचित होता गया और बौद्धों का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता गया। गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) के ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' में मीमांसादर्शन के सिद्धान्तों का यथावसर इतना विशद विवेचन उपलब्ध होता है कि उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय के कथनानुसार गंगेशोपाध्याय को मीमांसा-पारदृश्वा कहना अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। किन्तु आगे चलकर जगदीश और गदाधर की विकट व्याख्याओं के आवरण में मीमांसा का दर्शन तक नहीं होता।

मुसलमानों के धुआँधार आक्रमणों[2] ने भी यज्ञानुष्ठान और यज्ञविचार की धारा पर आघात पहुँचाया।

बुद्ध और बौद्धों ने यज्ञानुष्ठान और यज्ञविचार का विरोध क्यों किया—इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग कहा करते हैं कि बुद्ध ने अहिंसा मार्ग अपनाया था और यज्ञ-यागादि में पशुबलि की प्रथा थी। किन्तु यह तो केवल भ्रम है, क्योंकि सभी यज्ञों में पशुबलि का विधान नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि बुद्ध और बौद्ध मासांहारी[3] होने के कारण उसका विरोध करते ही कैसे? वस्तुस्थिति यह थी कि समाज पर ब्राह्मणों का प्रभाव उन्हें सह्य नहीं था। समाज पर से उनके प्रभाव को हटाने के लिए उनके प्रभावोत्पादक आचारों, व्रतों और व्यवहारों का बौद्धों ने खुलकर विरोध किया है। शास्त्रीय दोष दिखलाते ही कैसे? जनसाधारण को चार्वाकों जैसी मोटी बातें सिखाकर अपने वर्ग का संवर्धन करते गये। यह वर्ग वैदिक आचारों से

नित्यता, स्वतःप्रामाण्य, सर्वज्ञतावाद आदि की कसकर आलोचना की गई है और क्षणिकवाद-शून्यवाद-विज्ञानवाद आदि का समर्थन किया गया है।

१. उत्तर-पश्चिम भारत पर अनेक आक्रमण हुए। जिनमें से दो आक्रमण बहुत प्रसिद्ध हैं। पहला ईरानियों का आक्रमण और दूसरा उसके २०० वर्ष बाद सिकन्दर का था।

२. अरबों ने ई० स० १२ में सिन्ध पर आक्रमण किया था। पश्चात् १० वीं शताब्दी में तुर्कों ने आक्रमण किया। गजनी के बादशाह महमूद ने भारत पर अनेक आक्रमण किये।

३. 'बुद्ध ने अपने शिष्यों को 'त्रिकोटि परिशुद्ध मांस ग्रहण करने की आज्ञा दी थी'। देखिए—शिक्षासमुच्चय, पृ० १३५, 'लंकावतारसूत्र' पृ० २५५।

केवल दूर ही नहीं हुआ, अपितु वैदिक आचारों के अनुयायियों के मार्ग में विविध बाधाएँ उपस्थित करता गया। उनकी बाधाओं से उत्पीड़ित होकर वैदिकगण इधर-उधर तितर-बितर हो गये। उनका संगठित स्वरूप भंग हो गया। संगठन के भंग हो जाने पर उसकी वही दशा हुई जैसे कि विघटित समाज की हुआ करती है।

अतिपुरातन काल में वैदिक आचार-व्यवहार और विचारों का प्रभाव पंजाब प्रान्त में था। कुछ बर्बर असुर जैसी जातियों के दबाव से वह प्रभाव क्रमशः पूर्व की ओर खिसका। छठी शताब्दी के लगभग बनारस के आसपास का क्षेत्र एवं मिथिला याज्ञिकों और मीमांसकों का प्रमुख प्रचार-स्थान रह चुका है। बौद्धों के साथ इन लोगों के संघर्ष और वाद-विवाद से इतिहास भरा पड़ा है। कौशल, मगध और कौशम्बी में शासकों पर बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ा। शासकों का मस्तिष्क विकृत हो जाने पर वैदिकों को आर्थिक साहाय्य और प्रोत्साहन नहीं रह गया। अनाश्रित विद्वान् अपने आश्रयदाता की खोज में दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। महाराष्ट्र, द्रबिड, केरल पर्यन्त वैदिक विद्वानों का प्रसार होता गया। इसीलिए बारहवीं शताब्दी में वर्तमान पार्थसारथि मिश्र के ग्रन्थों का व्याख्यान उस प्रान्त में न बनकर दक्षिण में ही बने। मिथिला क्षेत्र में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि १२वीं सदी के पार्थसारथि एवं चित्रधर मिश्र के समय १४०० मीमांसकों की मिथिला में सभा हुई थी[1]। १३ वीं शताब्दी के पश्चात् सायण माधव के समय से लेकर आज तक दक्षिण के प्रान्तों में मीमांसा एवं यज्ञानुष्ठान का प्राधान्य स्पष्ट रूप से देखने में आ रहा है। शासक वर्ग के तटस्थ हो जाने पर भी उस देश में कोई भी आचार्य तभी तक ही सुरक्षित रहता है, जब तक जनता का उसे आदर और प्रोत्साहन प्राप्त होता रहे।

मुसलमान शासक स्वभावतः इस धर्म के विरुद्ध थे, फिर भी जनता के बल पर याज्ञिक समाज जीवित रहा। उत्तर भारत के शासक और सामान्यजन में अभी भी याज्ञिकों का उतना सम्मान देखने में नहीं आता जितना कि दक्षिण में। वहाँ का धनिक वर्ग समय-समय पर याज्ञिकों और वैदिकों का सम्मेलन बुलाता रहा। जिससे याज्ञिक वर्ग की जीविका चलती रही और उनकी अनुष्ठानधारा अविरल रूप से प्रवाहित रह सकी।

मुसलमानों का जहाँ हिन्दुओं के स्थूल कलेवर के मन्दिरों एवं यज्ञशालाओं पर आकमण[2] हुआ, वहाँ पर अंग्रेजों का इनके सूक्ष्म कलेवर का मूलतः परिवर्तक आक्रमण

१. 'पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज' के परिशिष्ट में पृ० ४८, डॉ० म० म० उमेश मिश्र, तथा एक प्रशस्ति मिली है, जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि महाराज मिथिलेश भैरवसिंह के समय में एक पुष्करिणी के यज्ञ में निमंत्रित विद्वानों में केवल मीमांसकों की संख्या चौदह सौ थी। यह पन्द्रहवीं सदी की 'प्रशस्ति' है। (भारतीय दर्शन पृ० २४०, डॉ० म० म० उमेशमिश्र)

२. महमूद गजनवी ने हिन्दुस्तान पर प्रतिवर्ष आक्रमण करने का संकल्प कर

हुआ¹। फलतः हिन्दुओं का वह मानसिक स्तर न रहा, जिसके आधार पर वैदिक आचार-व्यवहार चल रहा था। मुसलमानों ने हिन्दुओं के उस मानसिक स्तर की कुछ भी क्षति नहीं की, या यूँ कहा जाय कि हिन्दुओं के आचारों-व्यवहारों के प्रति घृणा का उत्पादन वे नहीं कर सके, किन्तु अंग्रेजों की यह अपूर्व देन है कि आज वैदिक आचारों से स्वयं वैदिक वर्ग ही घृणा और उन्हें उपहास की दृष्टि से देखता है। बौद्धों के आघातों के कारण प्राचीन मीमांसकों की यज्ञ-परम्परा से जनसमाज की अरुचि हो गई थी। बुद्धिवाद का बोलबाला हो जाने के कारण भी लोगों की आस्था अदृश्य-फल के कर्मों पर से हटती गई। यज्ञानुष्ठान को देखकर लोग यह कहते हुए

लिया था। वह इन हमलों को 'जिहाद' अर्थात् पवित्र युद्ध समझता था। १००० ई० से लेकर १०२६ ई० तक उसने इस देश पर १७ बार आक्रमण किये। १००८ ई० में भारत-प्रसिद्ध ज्वालामुखी मंदिर को लूटा। १०१८ ई० में उसी ने मथुरा के अनेक मंदिरों को नष्ट किया। १०२६ ई० में भारत-प्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण किया। ई० स० ११९१ में मुहम्मद गोरी ने १,२०,००० सेना लेकर हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। ११९४ ई० में ई० कुतुबुद्दीन ने कन्नौज पर आक्रमण किया। कन्नौज के राठौरों को पराजित कर मुहम्मद गोरी ने काशी पर आक्रमण किया, नगर को लूटा और मन्दिरों को तुड़वाकर मिट्टी में मिला दिया। मुहम्मद के दूसरे सेनापति इख्तियार उद्दीन मुहम्मद ने ई० स० ११९७ में बिहार को जीता और वहाँ के बौद्ध मन्दिरों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। ई० स० १२०२ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिञ्जर के चन्देल राजा परमाल पर चढ़ाई कर दी और कालिञ्जर को जीत लिया। ई० स० १२०५ में सुलतान मुहम्मद गोरी ने पुनः भारत पर आक्रमण किया। इस प्रकार ई० स० १३०५ के अन्त तक उत्तरी भारत का बहुत-सा भाग मुगलों के अधिकार में आ गया था। पश्चात् दक्षिण भारत पर भी अनेक आक्रमण किये। ई० स० १३०९ में तेलंगाना के काकतीय राजा पर चढ़ाई की। १३१० ई० में हौयसल और पाण्डच को पराजित कर रामेश्वरम् तक पहुँच गया। वहाँ उसने प्राचीन मंदिर की जगह एक मस्जिद बनवाई। इस प्रकार अलाउद्दीन का साम्राज्य उत्तर में दिपालपुर और लाहौर से दक्षिण में मदुरा एवं द्वार समुद्र तक तथा पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सिन्ध और गुजरात तक फैल चुका था। इस तरह १८५८ ई० तक बराबर एक के बाद एक मराठाकाल तक आक्रमण होते ही रहे। जिसके दुष्प्रभाव से धर्म और समाज अपने को सुरक्षित न रख सका।

१. ई० स० १४९२ में कोलंबस ने जब अमेरिका को खोज निकाला तभी से यूरोपनिवासियों का भारत में आवागमन शुरु हुआ। धीरे-धीरे संबंध बढ़ते गये और भारत के सम्राट बन बैठे। ई० १८१३ में भारतीयों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की। ई० स० १८१६ से १८२० तक के समय में कलकत्ते में दो कालेज खोले गये और ई० स० १८३५ में गवर्नर जनरल की कौन्सिल के सदस्य लार्ड मेकाले के प्रस्ताव के अनुसार शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को स्वीकार किया गया।

पाये जाते हैं कि किसी समय लोगों में अग्नि की सुलभता प्राप्त कराने के लिए अग्नि रक्षा के केन्द्र बनाये जाते थे। पाषाणयुग या काष्ठयुग में पाषाण और काष्ठ के घर्षण से अग्नि पैदा की जाती थी, इसलिए यज्ञशालाओं का निर्माण हुआ था। किन्तु वे लोग यह नहीं बतला सकते कि इस लौकिक अग्निकर्म को अलौकिक और वैदिक मन्त्रों से सम्बद्ध महान् प्रतिभाशाली महर्षियों ने क्यों किया ?

भारत की वह आध्यात्मिकता-प्रधान दृष्टि विदेशों के मौलिक आविष्कार के प्रकाश में चकाचौंध होती जा रही है। यदि यही क्रम रहा तो कोई आश्चर्य नहीं कि वैदिक आचार-व्यवहार भारत में किसी समय में शून्यबिन्दु पर पहुँच जाय। आकाश जैसे व्यापक और विस्तृत वैदिक आचार-विचार तथा क्रियानुष्ठान आदि में क्रमशः संकीर्णता और ह्रास देखकर ही उदयनाचार्य जैसे महान् विद्वानों के मुख से सहसा यह निकल पड़ा था—'ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयता'[1]। यहाँ सम्प्रदाय शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने वैदिक आचार-व्यवहार एवं अध्ययन-अध्यापन किया है[2]। सम्प्रदाय का 'मीमांसा' एक मुख्य अंग रहा है। सम्प्रदाय की वृद्धि और ह्रास के साथ-साथ मीमांसा का ह्रास और वृद्धि का होना अनिवार्य था। उदायनाचार्य के समय मीमांसा-सम्प्रदाय मिथिला में प्रौढ़ रूप में था।

आज के गवेषणा-जगत् में दार्शनिकगण विशेषतः भारतीय दार्शनिक कुछ शिथिल प्रयत्न और किंकर्तव्यविमूढ़ से प्रतीत हो रहे हैं। एक ओर भौतिक अन्वेषणवाद से न्याय और वैशेषिक के आरम्भवाद पर गहरा प्रभाव यह पड़ा कि उसकी पदार्थ-विभाजन प्रणाली त्रुटिपूर्ण प्रतीत होने लगी। शारीरिक रचना और तत्त्व-समवाय के अध्ययन में सांख्य और योग के तत्त्वपरिशीलन को शिथिल-सा बना दिया है। वेदान्तदर्शन के प्रतिपाद्य पदार्थ भी आज की विचार-कसौटी पर कसने से एक पहेली के रूप में प्रतीत होते बताये जाते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में मीमांसा का भविष्य उज्ज्वल है, ऐसा कहना सम्भव नहीं। तथापि दूसरे दर्शन की अपेक्षा मीमांसादर्शन की एक बहुत बड़ी विशेषता उसकी विचार-शैली है। उस शैली का उपयोग भले ही विषयान्तर पर किया जाय, तब भी उसका लोप होना सम्भव नहीं है। न्याय-वैशेषिक का पदार्थ-विभाजन तथा सांख्ययोग का तत्त्व-विभाजन आज के युग में भले ही अनुपयोगी या निर्बल-सा आभासित होता हो, किन्तु मीमांसा शैली, आध्यात्मिक विचार से लेकर भौतिक विचार तक समान रूप से उपादेय है। मीमांसादर्शन के दार्शनिकगण लोक और वेद दोनों के प्रमेय जगत् का परिशीलन करना चाहते थे। वैदिक प्रचार युग में जिस विचार-प्रणाली का बोलबाला था, उसका आज के भौतिक विमर्शक जगत् में महत्त्व कम नहीं हुआ है। हाँ, केवल उसके अवलम्बन में परिवर्तन-सा हो गया है। साहित्य जगत् में सावधि और निरवधि दो प्रकार की सृष्टि उपलब्ध होती है, वैसे ही

---

१. उदयनाचार्यकृत 'कुसुमाञ्जलि' (स्त० २२, श्लो० ३)

२. हरिदासीव्याख्या—पृ० ३५, ई० स० १९१३, गुप्तबुकडिपो प्रकाशन, वाराणसी।

दार्शनिक संसार में सावधि और निरवधि दो प्रकार की विचारधाराएँ पायी जाती हैं। न्याय-वैशेषिकादि के विचार सावधि साहित्य के तुल्य ही सीमित हैं, किन्तु मीमांसादर्शन के विचार निरवधि साहित्य के समान सदा उपयोगी और उपादेय हैं।

प्रान्तीय परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह नितान्त स्पष्ट है कि १६वीं शताब्दी तक किसी-न-किसी प्रान्त में मीमांसा का प्रचार और प्रसार निरन्तर बना रहा। छठी शताब्दी तो मीमांसा का सुवर्णयुग कहलाता है। उसी समय शाबर-भाष्य पर कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र आदि ने अपने-अपने गंभीर वार्तिक ग्रन्थ बना डाले एवं मण्डनमिश्र ने विधिविवेक आदि मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके पश्चात् उम्बेक, शालिकनाथ आदि परिणिष्ठित विद्वानों ने उक्त वार्तिक ग्रन्थों पर व्याख्यान लिखे। यह क्रम १६वीं शताब्दी तक चलता रहा। खण्डदेव ने भाट्ट-दीपिका, भाट्टरहस्य, मीमांसाकौस्तुभ जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया। खण्डदेव के पश्चात् शंभुभट्ट कविमण्डन और वाञ्छेश्वरयज्वा दोनों ने खण्डदेव का सम्प्रदाय प्रचारित किया। उनके पश्चात् वैसे विशिष्ट विद्वानों का अभाव होने लगा। तथापि २०वीं शताब्दी तक मेरे गुरुचरण पूज्यपाद महामहोपाध्याय श्रीचिन्नस्वामीजी, पद्मभूषण श्रीपट्टाभिरामशास्त्रीजी, पद्मभूषण पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्रीजी, साक्षात् शंकरावतार स्वामी करपात्रीजी महाराज, मेरे पितृचरण पूज्यपाद श्री सदा-शिवशास्त्री मुसलगाँवकर, पण्डित-सार्वभौम श्रीहरिरामशास्त्री शुक्लजी, विद्या-सागर श्रीरामचन्द्रशास्त्री खड़ंग आदि अन्य मीमांसक विद्वान् भी हुए हैं। आज भी यत्र-तत्र क्वचित् वाराणसी तथा अन्यत्र परिणिष्ठित मीमांसक विद्वान् उपलब्ध हैं। किन्तु अब आगे मीमांसा-साहित्य में महत्त्व के अंगों का उपचित होना कठिन-सा लग रहा है।

एक समय था कि अन्य दार्शनिक भी अपने विचारों में मीमांसा की सरणी और मीमांसा को पूरा-पूरा स्थान देते थे[1]। गंगेशोपाध्याय (१२वीं शताब्दी) तक नैयायिकों में भी मीमांसाज्ञान की प्रौढिमा पाई जाती है। उसके पश्चात् के नैयायिकों में मीमांसा को उतना स्थान नहीं दिया गया। उसका कारण मीमांसा का विरल प्रचार होने से उन लोगों में इसका पुष्कल ज्ञान उपार्जित न हो सका। वेदान्तदर्शन में भी वाचस्पति ने जिस मीमांसा-गर्भित सरणी को अपनाया था, उस सरणी का उनके पश्चात् ह्रास ही देखने में आता है। इसका हेतु मीमांसा-प्रचार का सीमित और संकुचित होना ही है।

उस समय के धर्मप्रचारार्थ मीमांसा का दर्शन पंद्रहवीं शताब्दी तक के आचार्यों

---

१. चार्वाक-बौद्ध-जैन-नैयायिक-वेदान्ती-वैयाकरण आदि सभी दार्शनिकों ने अपने अपने ग्रन्थों में खण्डन-मण्डन-समर्थन के रूप में मीमांसा को पूर्णरूप में अपनाया है। जयराशिभट्टरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह'—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हुए ग्रंथ को देखिये। बौद्धों का प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसंग्रह आदि, जैनों की अष्टसाहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

की रचनाओं में जैसा पाया जाता है, वैसा पश्चात् के धर्म-प्रचारकों के ग्रन्थों में नहीं। मीमांसा लोगों की वेद पर श्रद्धा का परिवर्धन और परिपोषण करती थी। किन्तु उसका प्रचार कम होने के कारण वेदों से लोगों का सम्पर्क टूटता गया और वेदनिरपेक्ष बहुत से मतमतान्तर खड़े हो गये, जैसा कि प्राकृत भाषा में धर्म-प्रचारकों के उपदेशों से स्पष्ट है।

इस प्रकार मीमांसा के ह्रास का परीक्षण करने पर यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि १२ वीं शताब्दी अर्थात् पार्थसारथि मिश्र के समय तक मीमांसा का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता ही गया। किसी विद्वान् का किसी सिद्धान्त पर अधिक ऊहापोह न होना यही बतलाता है कि उसके पूर्व उसकी कई पीढ़ियों तक वह सिद्धान्त पुष्ट होता आया है। शास्त्रदीपिका में निहित विचार किसी पीढ़ी या किसी एक व्यक्ति के नहीं, अपितु कुमारिल भट्टपाद से लेकर तब तक के अखण्ड प्रचार का वह फल है। उसके पश्चात् के मीमांसकों में संग्रह और विवेचन का ही प्राचुर्य पाया जाता है[1]। भाट्टरहस्य के विचारों पर मीमांसा की अपेक्षा न्याय का अधिक प्रभाव लक्षित होता है। इससे भी यह स्पष्ट है कि १२ वीं शताब्दी तक का निखरा हुआ मीमांसा का स्वरूप क्रमशः आवृत और दूर होता गया।

प्रान्तीय परिस्थिति के अनुसार दार्शनिकों के विचारों, धार्मिकों के प्रचारों और मीमांसा के ग्रन्थकारों में जैसा मीमांसा का ह्रास-क्रम पाया जाता है, वैसा ही वैदिक सनातन धर्म के आचारों पर धर्मसापेक्षता का ह्रास होने से उनमें भी ह्रास पाया जाता है। म्लेच्छों और यवनों के शासनकाल में भी जनता के सभी आचार-विचार धर्मशास्त्रों पर निर्भर थे; तभी तक मीमांसा का सम्पर्क अक्षुण्ण रहा। मीमांसा का यह यह क्षीण कलेवर भी तब विमुक्त-सा होने लगा, जब आचारों पर धर्म की शिथिल सापेक्षता या निरपेक्षता होने लगी, क्योंकि धर्मशास्त्रकारों ने मीमांसा को अपना सर्वस्व बनाया था। यूरोपियनों का सम्पर्क जैसे-जैसे गाढ़ होता गया, वैसे-वैसे धर्म-निरपेक्षता बढ़ती गई। इसके पूर्व नीति को धर्म से असंपृक्त नहीं समझा जाता था। प्राचीन महासंघर्षों में भी धर्म को तिलांजलि नहीं दी गई थी। किन्तु नीति को धर्म से जैसे-जैसे लोगों ने दूर ढकेला, वैसे-वैसे इसका सम्पर्क धर्म से दूर होता गया।

इस प्रकार मीमांसा का ह्रासकाल खोजने से सुव्यक्त हो जाता है कि १२वीं शताब्दी के पश्चात् शैथिल्य और १६वीं शताब्दी के पश्चात् का काल ह्रासकाल है।

(२) मीमांसा पर पाश्चात्य विद्वानों के विचार

मीमांसा के साथ पाश्चात्य विद्वानों का सम्बन्ध उतना ही है जितना पद्मपत्र के साथ जल का सम्बन्ध। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने मीमांसा के सरोवर में अवगाहन

१. अर्थसंग्रह-मीमांसान्यायप्रकाश-मीमांसापरिभाषा–भाट्टभाषाप्रकाश–भाट्टभाषा-प्रकाशिका-मीमांसाबालप्रकाश-भाट्टसंग्रह–प्रभाकरविजय–न्यायमालाविस्तर–तंत्ररहस्य आदि ग्रंथों को देखना चाहिए।

करने का प्रयत्न तो अवश्य किया पर वही पद्मपत्र वाली बात रही। कारण यह है कि मीमांसादर्शन यज्ञ-परम्परा से संश्लिष्ट है। यज्ञपरम्परा का जहाँ नितान्त अभाव है, वहाँ उस पर उनके विचारों की खोज का प्रयत्न करना ठीक बालू से तेल निकालने जैसी ही बातें सोचना है।

प्रो० कीथ की कर्ममीमांसा ने आंग्ल भाषा-भाषी क्षेत्र के विद्वानों में आदर प्राप्त किया है। इसी प्रकार के० एल० सरकार की 'टैगोर के कानूनी व्याख्यान' नाम की पुस्तक भी है। एफ० मैक्समूलर तथा कोलब्रुक एवं थिबो का भी नाम प्रसिद्ध है।

इनकी प्रसिद्धि को सुनकर पुस्तकों को जब टटोला तब उत्सुकता शान्त हो गई। वेंकटाद्रियज्वन्, जो सोमनाथ के ज्येष्ठ भ्राता थे, उनको तिरुपतिपहाड़ी मंदिर के एक पुजारी के रूप में कोलब्रुक ने पहिचाना है। किन्तु वास्तविकता इससे बहुत दूर है।

इसी तरह के० एल० सरकार कुमारिल के साथ जुड़े हुए आदरसूचक 'भट्टपाद' का अर्थ करते हैं—'कुमारिल की कारिका'।

डा० थिबो जिन्होंने 'अर्थसंग्रह' का अंग्रेजी अनुवाद किया है, वे अर्थसंग्रह में परिसंख्या-विचार के प्रसंग में 'अत्र ह्येवावयन्ति' उदाहरण देकर 'गायन्ति' अर्थ करते हैं, जबकि श्रुति 'अतह्येवावपन्ति' कह रही है और आवाप-उद्वाप करने के लिए बतला रही है।

प्रो० कीथ लिखते हैं कि जो १२०० स्वर्णमुद्रा दे सकता हो, वही 'विश्वजिद् याग' करने का अधिकारी होता है। परन्तु यहाँ 'द्वादश शतं दक्षिणाः' द्वादश शत का अर्थ १२०० न होकर ११२ है। १२०० को बताने के लिए द्वादश शतानि अथवा द्वादश शती कहा जायेगा। किन्तु कीथ ने द्वादशशतं का अर्थ १२०० समझा है।

डा० गंगानाथझा अपने अंग्रेजी से भाषान्तरित श्लोकवार्तिक में लिखते हैं—'जैमिनि ने वेद के दो भाग किये हैं। मन्त्रों की संज्ञा संहिता है और ब्राह्मण की उपनिषद्; जैसे—'बृहदारण्यक-छान्दोग्य' आदि।

किन्तु मन्त्रों को संहिता की संज्ञा देना उचित नहीं है, क्योंकि शुक्लसंहिता में तथा ऋक्संहितादि में केवल मन्त्रों के रहने पर भी तैत्तिरीयसंहिता में वैसी स्थिति नहीं है। इसमें बीच-बीच में ब्राह्मणों को भी निविष्ट कर दिया गया है। इसलिए इसे 'कृष्णयजु' कहते हैं। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इस जैमिनिसूत्र के द्वारा मन्त्र का लक्षण 'मन्त्रत्वप्रकारकोऽभियुक्तप्रसिद्धिविषयत्वं' किया गया है और 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' सूत्र से 'मन्त्रभिन्नवेदवाक्यत्वम्'—ब्राह्मण का लक्षण जैमिनि ने स्थिर किया है। यही कारण है कि उपनिषद् के अन्तर्गत न होनेवाले 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत', 'समिधो यजति, वेदं कृत्वा वेदिं करोति', 'सोमेन यजेत' आदि वाक्यों को ब्राह्मण ही कहा जाता है, मन्त्र नहीं। अतः डा० झा महोदय का कथन उपेक्षणीय है।

'मन्त्र और ब्राह्मणों का ऋक्, साम और यजुः के भेद से एक अन्य विभाग है'। डा० झा का यह कथन भी उचित नहीं लग रहा है। क्योंकि सूत्रकार ने मन्त्र के ही दो विभाग बतलाये हैं, ब्राह्मण के नहीं। तथा 'गीतिषु सामाख्या' इस सूत्र से

'गीतिसमानाधिकरणत्वं' साम का लक्षण किया है, किन्तु डा० झा महोदय 'गानयोग्य वाक्यों को साम कहते हैं'—यह भी विचारणीय है।

डा० झा महोदय मीमांसासूत्रों की संख्या सामान्यतः १००० (एक हजार) बतलाते है। किन्तु २½ हजार (ढाई हजार) से कुछ अधिक ही सूत्र उपलब्ध होते हैं। 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य का स्वतस्त्व कुछ मीमांसकों के द्वारा माना जाता है' यह कथन डा० झा महोदय का है। किन्तु यह मत तो सांख्यों का है, मीमांसकों का नहीं। यह बात स्वतःप्रामाण्य के निरूपण के प्रसंग पर न्यायरत्नाकर ने उपपादन की है। अतः प्रामाण्याप्रामाण्य को स्वतस्त्व मानने वाले कुछ मीमांसक हैं, यह कहना उचित नहीं लग रहा है।

डॉ० झा महोदव कहते हैं—'व्रीहीन् प्रोक्षति' यहाँ प्रोक्षण शब्द का अर्थ 'व्रीहियों का प्रक्षालन' बतलाया है। किन्तु प्रोक्षण का अर्थ 'प्रक्षालन' नहीं, अपितु प्रोक्षण शब्द का अर्थ 'प्रकृष्ट सेचन' मात्र ही है।

परिसंख्या विधि को बतलाते हुए 'इमामगृभ्णन्' विधि को परिसंख्या बतलाते हैं और गर्दभरशनाग्रहण को बिना मन्त्र के ही ग्रहण करने को कहा है, किन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि गर्दभरशनाग्रहण में 'युजायागं रासभं भुवम् इति गर्दभम्' मन्त्र का गर्दभरशनाग्रहण में विनियोग बतलाया गया है। अतः गर्दभरशनाग्रहण बिना मन्त्र के ही करे—यह उक्ति भी विचारणीय है। यह समाख्या शब्द का विवरण 'नाम' किया है, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'समाख्या यौगिकः शब्दः' यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं, केवल 'नाम' को नहीं।

आहवनीय, गार्हपत्य और लौकिक भेद से अग्नि के तीन विभाग बतलाये हैं। किन्तु 'लौकिक' नामक भेद तो सुनने में भी नहीं आया है। 'दक्षिणाग्नि' नाम तो सुना गया है। अतः डा० झा का यह विभाग करना ठीक नहीं है।

अतिदेश वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—१. प्रत्यक्षवचन, २. नामधेय, ३. कल्पित-वचन। श्येन से इषु तक के बलिकर्म प्रथम प्रकार (प्रत्यक्ष वचन) में आते हैं। जैसे 'इषु प्रकरण' में 'समानमितरत् श्येनेन' है।

प्रो० कीथ इसे इस प्रकार बतलाते हैं—'इषु' में परिवर्तन प्रत्यक्ष वचन से होता है। किन्तु यह मेरी समझ में नहीं आता, क्योंकि इसके पूर्व कहा गया है कि इसे 'प्रकरण' अथवा 'स्थान' के अनुसार व्यवस्थित किया जाता है। इस प्रकार 'इषु' याग 'श्येन' का अनुकरण करता है, क्योंकि वे दोनों एक ही प्रकरण के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु कीथ यह नहीं समझ पाये कि प्रकरण या स्थान का अतिदेश से कोई सम्बन्ध नहीं होता और न ही 'इषु' तथा 'श्येन' ये दोनों एक प्रकरण के ही हैं। अतः यहाँ 'प्रत्यक्ष वचन' से अतिदेश होता है।

'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः' इस परिसंख्या के उदाहरण की व्याख्या करते हुए कीथ कहते हैं—'यह वचन पाँच नखवाले पशुओं में से पाँच पशु खाये जा सकते हैं और इनके अतिरिक्त पशुओं को खाने का निषेध करता है'।

इससे स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि कीथ को कुछ भी समझ में नहीं आया। इस वाक्य का वस्तुतः अर्थ यह है कि पंच नखवाले पशुओं के अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं खाना चाहिए। अर्थात् 'पंचातिरिक्तपंचनखभक्षण' की निवृत्ति में तात्पर्य है, खाने में तात्पर्य नहीं।

एक जगह के० एल० सरकार का अनुकरण करते हुए कीथ कहते हैं कि आज्ञा और नियम में भेद यह है कि नियम—नियम है जो पालन होना ही चाहिए, लेकिन यदि उसका उल्लंघन किया जाय तो वह कार्य नियम-विरुद्धता को नहीं बतलाता अर्थात् उसे नियम विरुद्ध नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार मनु का नियम है कि 'अपने अनुकूल और स्वस्थ कन्या से विवाह करो' इसका उल्लंघन करने पर यह नहीं कि अब वह विवाह ही न करे; किन्तु यह दूरदर्शिता का एक विचार है। मनु का वचन यहाँ आज्ञा रूप है या नहीं, इस विषय में उनके व्याख्याकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। लेकिन यह ठीक समझना चाहिए कि यदि यह आदेश है तो इसे उतना ही प्रामाणिक समझना चाहिए जितना कि नियम। अर्थात् इसका उल्लंघन यद्यपि विवाह का निषेध न भी करे, तब भी परिणामरूप दैवीदण्ड तो होगा ही। परन्तु यदि आदेश नहीं भी है तब भी दूरदर्शिता का विचार तो है ही, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि विद्वान् मि० कीथ नियम और परिसंख्या का भेद समझने में असफल रहे हैं। इन दोनों को अन्ततः निषेधार्थक कहा है, इसीलिए वे नियमविधि को घटाते-घटाते कहने लगे कि यह दूरदर्शितापूर्ण वचन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

किन्तु इन दोनों विधियों में असली अन्तर यह है कि नियम-विधि हमें बाध्य (मजबूर) करती है, जबकि परिसंख्या-विधि निषेध (मना) करती है। नियम-विधि का उल्लंघन करने वाला अपराधी ठहरता है, किन्तु परिसंख्या-विधि में निषेध की गई बात को यदि करे तो वह अपराधी नहीं समझा जाता। यही नियम और परिसंख्या में भेद है।

मीमांसा से अपरिचित विद्वानों के दोष-दर्शन करते रहना समय का अपव्यय करना है, अतः इसे यहीं समाप्त करता हूँ।

(३) मीमांसादर्शन के वर्तमानकालीन कतिपय विद्वान्

(१९-२० वीं सदी)

यद्यपि आज मीमांसादर्शन का अध्ययन-अध्यापन बहुत विरलरूप में आ पहुँचा है। वेदाध्ययन तो लुप्तप्राय-सा ही हो गया है। यज्ञ-यागादि के दर्शन ही दुर्लभ हो गये हैं, तथापि आज भी 'निर्वीरमुर्वीतलम्' नहीं है। यत्र-तत्र बिखरे हुए विद्वद्रत्न भारत की इस पुण्यभूमि पर आज भी उपलब्ध हो ही जाते हैं। कोई शताब्दी अभी तक ऐसी नहीं बीती होगी, जिसमें मीमांसा के विद्वान् न रहे हों।

हाँ, यह बात अलग है कि किसी शताब्दी में इसका अत्यधिक प्रचार था, कभी कम और कभी बहुत ही कम रहा होगा। आज इस बीसवीं सदी में मीमांसा का अत्यन्त ही विरल प्रचार दिखलाई पड़ रहा है। उत्तरप्रदेश की अपेक्षा कुछ अधिक मीमांसक आज भी दक्षिण में पाये जाते हैं। उधर ही कुछ यज्ञ-यागादि भी होते रहते हैं, जिससे कम से कम वैदिक यज्ञों के नाम तो कर्णगोचर होते ही रहते हैं। मद्रदेश (मद्रास) में आज भी जिनका यश सर्वत्र फैला पड़ा है, ऐसे मीमांसा के कतिपय उद्भट विद्वानों का यहाँ नामतः परिचय मात्र कराया जा रहा है।

१. स्व० म० म० श्रीरामसुब्बाशास्त्री—आपने भाट्टकल्पतरु—भाट्टदीपिका-व्याख्या, निवीतान्तप्रकाशिता। मद्रास। स्व० म० म० वाञ्छेश्वरयज्वा (१७६० ई०) के दौहित्र आपसे अध्ययन कर बहुत अच्छे मीमांसक हुए। (मद्रास)

२. स्व० म० म० राजुशास्त्री (त्यागराज मखी)—आपने अप्पय दीक्षित के शिवमहिमकलिकास्तुति की व्याख्या लिखी। आपसे अध्ययन कर अनेक मीमांसक विद्वान् हुए। (मद्रास)

३. स्व० म० म० रामाशास्त्री—आपके भी अनेक छात्र मीमांसकगण हैं। (मद्रास)

४. स्व० म० म० सुन्दर शास्त्री—मीमांसकगणों में आपके अनेक छात्र हैं। (मद्रास)

५. स्व० म० म० वैद्यनाथ शास्त्री, मीमांसाकण्ठीरव—आप म० म० सूर्यनारायण शास्त्री के पौत्र थे। आपने भाट्टरहस्य पर टिप्पणी लिखी है। मीमांसा विद्वानों में आपके अनेक छात्र हैं। (मद्रास)

६. स्व० म० म० विरूपाक्ष शास्त्री—आपने शाबरभाष्य पर एक अनुपम भूमिका लिखी है। मीमांसा विद्वानों में आपके अनेक छात्र हैं। (मद्रास)

७. श्री डी० टी० ताताचार्य, मीमांसाशिरोमणि—आपने मीमांसापरिभाषा पर दो व्याख्याएँ रची हैं। मीमांसाभ्युदय, मद्रास।

८. श्री बालसुब्रह्मण्य शास्त्री, मीमांसकशिरोमणि—प्रिन्सिपल, मैलापुर कालेज, मद्रास।

९. स्व० श्री० के० वी० रामस्वामी शास्त्री—सम्पादन—तत्त्वबिन्दु तथा श्लोकवार्तिक की काशिकाव्याख्या (भाग ३) का सम्पादन।

१०. श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री, श्रौतपण्डित—न्यायरत्नमाला एवं तन्त्र-रहस्य का सम्पादन।

११. स्व० म० म० चित्रधर मिश्र (मैथिल)—म० म० डॉ० गंगानाथ झा के गुरु। आपके पढ़ाये अनेक छात्र विद्वान् हुए।

१२. स्व० श्री वामनशास्त्री किंजवडेकर—मीमांसा विद्यालय पूना के संस्थापक तथा मीमांसाशास्त्र के प्रचारक, पूना।

१३. स्व० म० म० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर—मीमांसान्यायप्रकाश पर प्रभा-व्याख्या। अनेक छात्र आपसे पढ़कर विद्वान् हुए।

१४. स्व० पद्मभूषण—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्राविड—अनेक छात्र आपसे अध्ययन कर महान् विद्वान् हुए। आपका मीमांसा का अद्भुत पाण्डित्य देखते ही बनता है। वाराणसी।

१५. स्व० सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीहरिराम शास्त्री शुक्ल—अनेक शिष्य आपसे पढ़कर प्रतिष्ठित विद्वान् कहलाये। इनमें सर्वतोमुखी पाण्डित्य देखने मिलता है।

१६. स्व० श्री रामचन्द्र शास्त्री खडंग—अनेक छात्र आपसे पढ़कर विद्वत्समाज में प्रतिष्ठित हुए।

१७. स्व० म० म० श्री चिन्नस्वामी शास्त्री—आपके कितने ही छात्र उत्तम मीमांसक के रूप में विद्वत्समाज के द्वारा आदरणीय हैं। आपने कितने ही ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन किया है। मीमांसान्यायप्रकाश पर 'सारविवेचनी' व्याख्या लिखी तथा 'यज्ञतत्त्वप्रकाश' नामक ग्रंथ की रचना की।

१८. स्व० मीमांसकमूर्धन्य श्रीपट्टाभिराम शास्त्री, कुलपति, तिरुपति संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति। आपके कितने ही छात्र आज उत्तमोत्तम विद्वान् के रूप में हैं। आपने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। आपकी मीमांसा की अध्यापन-शैली अनुपम थी। कठिन से कठिन विषय को सरल से सरल बनाकर समझाने की अद्भुत कला आप में थी।

१९. स्व० म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री—आपने अनेक ग्रन्थ-व्याख्याएँ तथा भूमिकाएँ लिखी हैं। शास्त्रार्थकला में आपका विलक्षण कौशल था। आपमें मीमांसा-वेदान्त का अद्भुत् पाण्डित्य था।

२०. स्व० म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री—आपके अनेक छात्र उत्तम मीमांसक समझे जाते हैं। आपने अनेकों ग्रन्थों का सम्पादन किया तथा लेख लिखे हैं। विद्वत्समाज में आपका अद्भुत यश है।

२१. स्व० म० म० रघुपतिशास्त्री वाजपेयी, ग्वालियर सिन्धिया नरेश के राज-पण्डित तथा भूतपूर्व प्रिन्सिपल सं० महाविद्यालय लश्कर, ग्वालियर—आपके अनेक छात्र महापण्डितों में गिने गये हैं। आपकी बहुत-सी रचनाएँ भी हैं। मीमांसादि अनेक शास्त्रों में आपका अद्भुत पाण्डित्य था।

२२. स्व० म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली, सी० आई० ई०—आपके अनेक छात्र महापण्डित हुए हैं। आपमें मीमांसादि सभी शास्त्रों का विलक्षण पाण्डित्य था।

२३. स्व० म० म० नारायण शास्त्री मराठे (केवलानन्द सरस्वती), प्राज्ञ पाठशाला, वाई के संस्थापक—आपने मीमांसाकोश की रचना की है, जो मीमांसा-

क्षेत्र में सभी विद्वानों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है तथा मीमांसा-सूत्रों पर भी आपकी अच्छी शोधपूर्ण वृत्ति है जो विद्वानों के द्वारा आदर की दृष्टि से देखी जाती है। आप सदैव अध्ययन-अध्यापन में ही निमग्न रहते थे और अपने नियमों में अत्यन्त निष्ठावान् तपस्वी थे। आपके अनेक छात्र विद्वान् हुए जो संस्कृत क्षेत्र में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

२४. स्व० सर्वतन्त्रस्वतन्त्र शास्त्ररत्नाकर धर्मशास्त्रकानन-प्रचण्डपञ्चानन-महामहोपाध्याय श्रीसदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर—आप मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के महान् पण्डित समझे जाते थे। धर्मशास्त्रीय-व्यवस्थाओं में तथा शास्त्रार्थों में आपका मीमांसापाण्डित्य अद्‌भुत था। आप ग्वालियर सिंधिया-नरेश के राजदरबार के प्रधान राजपण्डित तथा राजकीय संस्कृत कालेज ग्वालियर के अध्यक्ष थे। आपने सौ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त की। उतनी वृद्ध अवस्था में भी शास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन में ही आप अपना समय व्यतीत करते थे। आपके अनेक छात्र अनेक शास्त्रों में सुप्रतिष्ठित एवं परिणिष्ठित विद्वान् गिने जाते हैं। भारत के प्रथम राष्ट्रपति, स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, भारत के प्रधानमन्त्री स्व० लालबहादुर शास्त्री, ब्रजभाषा के अन्तिम कवि स्व० सत्यनारायण कविरत्न, स्व० अमरनाथ झा, स्व० शालिग्राम शास्त्री साहित्याचार्य, स्व० उदयनारायण तिवारी, स्व० श्रीनारायण चतुर्वेदी, स्व० ब्रह्मदत्तशास्त्री नवरत्न आदि प्रसिद्धतम महापुरुष अनेक छात्र हुए हैं।

२५. शंकरावतार विश्वप्रसिद्ध स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज—आप महान् मीमांसक एवं महान् शास्त्रार्थी थे। आपके अनेक छात्र आज महान् पुरुष एवं महान् पण्डित के रूप में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं।

(४) मीमांसादर्शन की उपयोगिता और महत्त्व

'मीमांसायां त्विहाज्ञाते दुर्ज्ञाते वा विवेकतः।
न्यायमार्गे महान् दोषः इति यत्नोपचर्यता'॥

(श्लो० वा० १।१।१५)

न्यायमार्ग का स्पष्टीकरण—कुमारिलभट्ट ने यहाँ पर जिस न्यायमार्ग के लिए अत्यन्त उपादेयता प्रकट की है, वह न्यायमार्ग 'मीमांसा' है[1]।

वेदों की लोकोपयोगिता प्रकट करने का श्रेय—मीमांसा केवल स्वयं लोकोपयोगी नहीं, अपितु वेदों की लोकोपयोगिता को भी अच्छी तरह से बताती है।

मीमांसादर्शन की विशेष देन—मीमांसादर्शन की विशेष देन आत्मनिर्भरता है। कुछ व्यक्तियों को अपने कर्मों पर विश्वास न होकर किसी अदृष्ट शक्ति पर विश्वास होता है। उनके कर्म इतने सांगोपांग युक्त नहीं हो सकते, जितने कि उस व्यक्ति के कर्म जिसको केवल अपने कर्मों पर विश्वास हो। वह समझता है कि कर्म में किसी

---

१. 'मीमांसा हि सर्वशास्त्रगताज्ञानसन्देहविपर्ययव्युदासक्षमन्यायनिबन्धनात्मिका' (श्लो० वा० काशिका व्याख्या, पृ० ६ अनन्तशयन सं० ग्रंथावलि, त्रिवेन्द्रम् १९२६)

प्रकार की न्यूनता या निर्बलता होने पर अभीष्ट फल की प्राप्ति न होगी। अतः वह अपने पूर्णप्रयत्न और सावधानी से कर्म को सम्पन्न करता है।

मीमांसा ने अपने अधिकारियों को केवल देवतादि अदृष्ट शक्तियों पर निर्भर न रखकर अपने कर्म पर भरोसा करना सिखाया है।

लोक में देखा जाता है कि नौकरों से कराये गये काम की अपेक्षा अपने द्वारा किये गये काम अधिक सुदृढ़ और सफल होते हैं। इसका कारण यह है कि नौकर और मालिक की भावना में महान् अन्तर है। एक की दृष्टि कर्त्तव्यनिर्वाह मात्र से द्रव्योपार्जन पर है और दूसरे की दृष्टि केवल अपनी कर्मसम्पत्ति पर है।

मीमांसक अपने कार्यों का स्वयं स्वामी है। उन्हें सकल और विकल बनाने में वह सर्वथा स्वतन्त्र है। अतः जिस उद्देश्य से कर्म का आरम्भ हुआ है, उस उद्देश्य की निश्चित रूप से प्राप्ति तभी होगी जब कर्म सर्वांग सम्पन्न हो। इस आशय से मीमांसक यथाशक्य अपने कर्मों को सुदृढ़ और सुसम्पन्न बनाता है।

विश्व-व्यवस्था का संतुलन बनाये रखने का श्रेय—मीमांसा की शिक्षा ग्रहण कर प्रत्येक व्यवसायी अपने अध्ययन-शासन-कृषि आदि कार्य को सुचारु रूप से कर सकता है। लोकव्यवहार को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए उसकी नितान्त आवश्यकता है। किसी भी यन्त्र का एक अंग शिथिल हो जाने पर पूर्णतया कार्याक्षम न होना अनुभवसिद्ध है। लोक यंत्र तब तक सुव्यवस्थित और स्वस्थ रूप में प्रचलित रहता है जब तक कि उसके अंगभूत व्यक्तियों के अपने-अपने कर्म समुचित और यथावत् रूप में होते हैं। विश्वव्यवस्था का सन्तुलन बनाये रखने के लिए मीमांसा ने अपने बारह अध्यायों में महत्त्व के उन बारह अंगों[1] पर प्रकाश डाला है, जिनके सहारे विश्वरूपी चक्र टिका हुआ है।

लोकशासक के गुणों की तथा मीमांसा के विषयों की समानता—जो लोग वैदिक क्षेत्रमात्र में मीमांसा को सीमित कर लोक व्यवस्था से दूर समझते हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि मीमांसा में लोक का प्रथम स्थान श्रीमाधवाचार्य ने अपने 'बुक्कभूपतिप्रशंसा' में तथा मीमांसा के बारह अध्यायों के विषय-सामंजस्य करने में अपना केवल अलंकार-नैपुण्य ही नहीं दिखलाया, अपितु यह भी अभिव्यक्त कर दिया है कि एक लोकशासक के अन्दर प्रमाणादि द्वादश पदार्थों का स्वरूपतः रहना अनिवार्य है[2]।

१. 'धर्मो द्वादशलक्षण्या व्युत्पाद्यस्तत्रलक्षणैः।
प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्तिक्रमसंज्ञकाः ॥
अधिकारोऽतिदेशश्च सामान्येन विशेषतः।
ऊहो बाधश्च तन्त्रञ्च प्रसङ्गश्चोदिताः क्रमात् ॥
(जै० न्या० मा० वि० श्लो० १२, पृ० ५, आनन्दाश्रम, पुणे सन् १९९२)

२. 'युक्ति मानवतीं विदन् स्थिरधृतिर्भेदे विशेषार्थभागाप्त्योहः क्रमकृत् प्रयुक्तिनिपुणः श्लाघ्यातिदेशोन्नतिः।

मीमांसा में शासक से लेकर कृषीवल तक की व्यवस्था रखने के विषयों का निदर्शन—किसी प्रकार की भी व्यवस्था देने से पहले उसे प्रमाणों के आधार पर निश्चय करने के बाद उसके भेदों की चिन्ता होती है; पश्चात् उस व्यवस्था के सहायक अंगों का अन्वेषण होता है। अशोक के उत्कीर्ण शासनों में उसका हेतु और प्रेरक उल्लिखित है। क्रम से पदार्थों के रहने पर इनकी सजावट ही नहीं होती, बल्कि व्यवहार सौविध्य भी होता है। रेल, बस आदि के यात्रीगण क्रम से खड़े होकर अपनी और दूसरे यात्रियों की सुविधा बनाया करते हैं। इसके विपरीत 'क्रम' की उपेक्षा करनेवालों में भयंकर संघर्ष होते देखे जाते हैं। जब लोगों में अपने अधिकार का ज्ञान नहीं रहता तब एक अराजकता-सी फैल जाती है। शिक्षा-संस्थानों में इसी प्रकार की घटनाएँ ज्वलन्त निदर्शन हैं। कोई भी व्यक्ति विभिन्न प्रान्तों और देशों के व्यवहारों को देखकर अपने व्यापार या व्यवहार को बहुत उन्नत बना लेता है। पदार्थविज्ञानवेत्ता उसी अतिदेश के आधार पर पदार्थों का विश्लेषण या विभाजन किया करते हैं। किसी प्रकार के शिक्षार्थी को उसके पाठ्य साहित्य का अक्षर-अक्षर न पढ़ाकर उसकी बुद्धि में उस विषय के ग्रन्थकारों जैसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना एक सुयोग्य अध्यापक अपना कर्तव्य समझता है। कोई भी वैद्य देश-काल की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकथित योगों में जब तक परिवर्तन नहीं करता तब तक उसे सफलता नहीं मिलती। उसे प्रतिकूल पदार्थों को बाधकर अनुकूल तत्त्वों का संग्रह कर अपने औषधोपचार करने पड़ते हैं। किसी रोगी के अनेक रोग होने पर उसके उन सभी रोगों के समान अंगभूत प्रकृति (कारण) की खोज करनी पड़ती है। रोगों के निदान में उसे मुख्य और आनुषंगिक रोग का ज्ञान करना पड़ता है। फलतः विश्व के शासक से लेकर एक कृषीवल तक कथित पदार्थों का रहना आवश्यक है।

मनुष्य की आकांक्षाओं का समाधान—मनुष्य को प्रत्येक क्रिया के मूल में 'किम्,' 'केन' और 'कथं' ये तीन आकांक्षाएँ उपलब्ध होती हैं। धर्म-सम्बन्धी उन आकांक्षाओं का प्रतिपादन करके मीमांसा ने प्रत्येक कार्य की उन आकांक्षाओं और उनके समाधानों की ओर संकेत किया है। लोकव्यवहार में वह व्यक्ति अत्यन्त उन्नत समझा जाता है, जिसे प्रत्येक वस्तु के साधन, फल और कर्तव्याकर्तव्य अंग-समूह का पूर्णतया ज्ञान होता है। इस ज्ञान की जैसे-जैसे न्यूनता होती जाती है, वैसे-वैसे निम्नस्तर का एवं उस ज्ञान के पूर्णतया अभाव में मनुष्य को व्यवहारानुकूल ही पागल माना जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि मीमांसा में न्याय के समान प्रमाण और प्रमेय का निरूपण न होने के कारण मीमांसा का लोक में उपयोग नहीं हो सकता।

नित्यस्फूर्त्यधिकारवान् गतसदाबाधः स्वतन्त्रेश्वरो।
जागर्ति श्रुतिमत्प्रसङ्गचरितः श्रीबुक्कणक्ष्मापतिः॥ २॥
(जै० न्या० मा० वि० श्लो० २, पृ० २, सन् १८९२ आनन्दाश्रम, पुणे)

उच्चस्तर के जीवन का मार्ग—उन्हें यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि मीमांसा शास्त्र व्यवहार के अनुकूल चलनेवाला शास्त्र है। उसे जगत् को लेकर चलना है, अतः जगत् के सम्बन्ध में सांख्य-वैशेषिकों ने जो निर्णय कर दिया, वह उसे मान्य है। इसीलिए वह जगत् को मिथ्या नहीं कहता अथवा उसे मायाकल्पित नहीं समझता। यह शास्त्र जगत् की रक्षा के तत्त्व को भलीभाँति समझता है। इस शास्त्र के द्वारा उच्चस्तर के जीवन का मार्ग उपलब्ध होता है। प्राचीनकाल में गुरुकुलों में मीमांसा की शिक्षा प्रायोगिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार से दी जाती थी। और विद्यार्थी भी मनोयोग से अध्ययन करते थे। परिणाम यह होता था कि तपोवनों में रहकर भी उन्हें लोकवृत्त का पूर्ण परिचय प्राप्त होता था। अध्ययन के समय ही उन्हें यह ज्ञान हो जाता था कि लोकव्यवहार में अधीत विषय की योजना किस प्रकार करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि लौकिक व्यवहारों में मीमांसा-सिद्धान्तों की योजना बन पाती है, इसलिए मीमांसा-सिद्धान्तों का महत्त्व इस विकराल काल में भी ज्यों-का त्यों बना हुआ है। इन सिद्धान्तों को मीमांसकगण 'न्याय' कहते हैं। अब इन न्यायों का लोकव्यहार में किस प्रकार उपयोग हो रहा है, उसे भी थोड़ा-सा समझ लें— क्रिया और द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। तथापि मीमांसा के अनुसार दोनों में भेदाभेद है। क्रिया के आश्रयभूत किसी द्रव्य के न रहने पर भी क्रिया नष्ट नहीं होती। वह दूसरे तत्सम द्रव्य के आश्रय से कायम रहती है। जैसे सरकारी विभाग में वहाँ के किसी अधिकारी के हट जाने पर भी वहाँ का काम बन्द नहीं होता। उसके स्थान पर अन्य तत्सम अधिकारी की नियुक्ति होकर काम बराबर चलता रहता है। इसी तरह व्यक्ति के अनित्य रहने पर भी कर्म शाश्वत रहता है। शरीर-यन्त्र का यही नियम (Law of organism) है। यहाँ 'कर्म' को देही व 'द्रव्य' को देह के स्थानापन्न कर दें तो 'देही नित्यमवध्योऽयं देहे तिष्ठति भारत' इत्यादि देह-देही सम्बन्धी भगवद्गीता के अध्यात्मवाद का सुन्दर उपपादन हो जाता है। मीमांसा का यह सिद्धान्त उत्तम प्रकृति के विद्वानों के जीवन में ऐसा घुल-मिल गया है कि 'प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति' सुभाषित के रूप में परिणत हो गया है। प्रारम्भ किये कार्य को अवश्य ही समाप्ति तक पहुँचाकर उससे फल-संपादन करना चाहिए। व्यवहार में कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनके प्रतिनिधि कायम कर व्यवहार चलाये जा सकते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके प्रतिनिधि हो ही नहीं सकते। जैसे विवाहिता स्त्री, दास-दासी तथा स्वामी आदि का विनिमय नहीं होता। प्रतिनिधि की योजना कर कहाँ और कब काम चलाया जाता है, कब नहीं इसका गंभीर विचार मीमांसा में किया गया है। सोमयाग में प्रधान द्रव्य सोमलता के दुर्लभ हो जाने पर उसके स्थान पर प्रतिनिधि रूप में पूतिका नाम की लता को ग्रहण कर सोमसंस्था बराबर चलती रही। किन्तु विवाह में पाणिग्रहण के समय वर-वधू में से कोई किसी कारणवश उपस्थित न हो सका तो तत्सामयिक प्रतिनिधि रखकर काम नहीं चलाया जा सकता।

कर्मानुष्ठान के समय मुख्य द्रव्य के नष्ट हो जाने से उसकी जगह अमुख्य द्रव्य

की योजना कर ली गई, किन्तु कुछ पीछे यदि मुख्य द्रव्य मिल जाय तो उस मुख्य को लेकर अग्रिम अनुष्ठान किया जाय या पूर्व स्वीकृत किये अमुख्य द्रव्य को ही कायम रखकर अनुष्ठान किया जाय ? इस मीमांसा का सिद्धान्त है कि जिसका एक बार स्वीकार कर लिया उसे हटाया नहीं जाता, अतः उसी से काम चलाया जाय। ठीक इसी के अनुसार व्यवहार भी पाया जाता है। निर्णायकों द्वारा प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि श्रेणियाँ भी निर्णीत व्यक्तियों में से यदि समय पर प्रथम श्रेणी का अनुपस्थित रहे तो द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति की योजना की जाती है, पश्चात् प्रथम श्रेणी के व्यक्ति के उपस्थित होने पर भी पूर्व नियुक्त किये गये द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति को उस स्थान से हटाया नहीं जाता, यह नियम (Law of prescription) है।

किसी ने सत्रयाग करने का संकल्प किया, किन्तु वह उसे समय पर नहीं कर पाया, अतः उसके प्रायश्चित्तार्थ दूसरा विश्वजित् याग किया, तब उसे पुनः सत्रयाग करना आवश्यक है या नहीं ? इस पर मीमांसा का निर्णय है कि विश्वजित् याग तो प्रायश्चित्त के लिए किया गया था, सत्र के बदले नहीं। अतः सत्र का अनुष्ठान पूर्व संकल्पित होने के कारण आवश्यक है। न्यायालय के व्यवहार में भी शिक्षा और दण्ड दोनों रहते हैं। दण्ड न देने पर अधिक शिक्षा है, पर वह अधिक शिक्षा दण्ड के बदले में नहीं, अतः शिक्षा भुगतने पर भी दण्ड कायम रहता ही है। एवंच मीमांसा शास्त्र धर्मव्यवहार और लोकव्यवहार दोनों को सिखाता है। धर्मव्यवहार यज्ञरूप है, उसमें व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकार पाये जाते हैं। जो व्यष्टिगत होता है, उसे गृह्य और जो समष्टिगत होता है उसे सत्र कहते हैं। गृह्य से सत्र में अर्थात् व्यष्टि से समष्टि में जाते हुए गृहस्वामी का उत्कर्ष किस प्रकार होता जाता है, यह हमें यज्ञ-परम्परा में अच्छी तरह देखने को मिलता है। ब्रिटिश राज्यकाल के अन्त तक न्यायालयों में शास्त्रीय वचनों के अर्थ करते समय मीमांसा के न्यायों का अनुसरण किया जाता था। मीमांसा के न्यायों की सत्यता एवं महत्ता की परख ब्रिटिश न्यायाधीशों तथा पाश्चात्य विद्वानों को अच्छी तरह थी। मीमांसा के नियमों की उपयोगिता एवं महत्त्व के बारे में कोलब्रुक, थिबो, मैक्समूलर आदि विद्वानों ने तथा सर जान एज़, सर टामस स्ट्रेंज, मेन प्रभृति विधानशास्त्रियों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा-भरे उद्गार निकाले हैं। इस शास्त्र के कितने ही नियम आज के युग में पाश्चात्य देश के स्वीकृत नियमों (Law) के अर्थ करने की पद्धति में दिये गये नियमों से बिलकुल मिलते-जुलते पाये गये हैं। कहीं-कहीं तो पाश्चात्य-पद्धति के नियमों से भी अधिक सूक्ष्मता के साथ किये गये अर्थात् एकदम नपे-तुले विचारों से पूर्ण नियम मीमांसा के पाये गये हैं। यही कारण है कि मीमांसा के नियमों की उपयोगिता और महत्ता को गुणग्राही पाश्चात्य विद्धानों ने निष्पक्ष होकर स्वीकार किया है। दिग्दर्शनार्थ कतिपय प्रो० वि० वि० देशपाण्डे के द्वारा उल्लिखित मीमांसान्यायों और नियमों को हम यहाँ हिन्दी में प्रस्तुत कर रहे हैं—(१) प्रत्येक शब्द, वाक्य-खण्ड और वाक्य में कुछ-न-कुछ हेतु और अर्थ अवश्य रहना ही चाहिए। इसे

'सार्थकतान्याय' कहते हैं। (२) जहाँ एक नियम से काम चल सकता है, वहाँ एक से अधिक नियमों को मानना उचित नहीं होता; इसे 'लाघवन्याय' कहते हैं। (३) एक जगह स्थित शब्द या वाक्य का भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ नहीं करना चाहिए। राजकीय अनुशासन के शब्दों और वाक्यों का वही अर्थ करना होगा जो लोकव्यवहार में जनसाधारण के द्वारा किया जारहा हो; इसे 'अर्थैकत्वन्याय' कहते है। (४) जहाँ स्पष्ट विरोध हो वहाँ दो पक्षों में से किसी एक पक्ष का स्वीकार करना चाहिए; इसे 'विकल्पन्याय' कहते हैं। (५) जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक प्रयत्न-पूर्वक समन्वय करना चाहिए और विरोध दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए; इसे 'सामञ्जस्यन्याय' कहते हैं। (६) जहाँ शब्द या वाक्य के द्वारा मुख्य कल्पना के साथ विरोध रखनेवाली गौण कल्पना की प्रतीति हो रही हो, वहाँ उस गौण कल्पना का मुख्य कल्पना के साथ समन्वय कर लेना चाहिए, और समन्वय करना सम्भव न हो तो उस गौणकल्पना का त्याग कर देना चाहिए; इसे 'गुणप्रधान न्याय' कहते हैं।

प्रचलित राजकीय अनुशासन के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए विधानशास्त्र के महापण्डित मॅक्सवेल के नियमों 'रूलस आफ कन्स्ट्रक्शन एण्ड इण्टरप्रिटेशन' की मीमांसा के नियमों से समानता द्रष्टव्य है। राजकीय अनुशासन के अर्थ को विशद करने के लिए यह पहला नियम बनाया गया है कि राजकीय अनुशासन के शब्दों और वाक्यों का अर्थ वैसा ही करना होगा जैसा लोकव्यवहार में जनसाधारण के द्वारा किया जा रहा हो। मीमांसा ने जहाँ अर्थनिर्णय के लिए श्रुतिरूप साधन का निर्देश किया है, वहाँ भी इसी प्रकार का नियम बतलाया गया है। अनुशासन का किसी विशिष्ट प्रकार से अर्थ करने में कतिपय अनुशासनीय शब्दों का उस अर्थ के साथ सम्बन्ध अनुपपन्न होने पर उस अर्थ को स्वीकार नहीं किया जाता। यह अलग बात है कि सामयिक सम्पूर्ण सन्दर्भ के अनुरोध से आवश्यकता होने पर कहीं-कहीं वैसा अर्थ भी विवक्षित रहता है[१]। मीमांसा में भी इसी तरह कहा है कि विधि के समनन्तर ही कहे गये अर्थवाद विधि के अर्थ का ही उपबृंहण करते हैं[२]। यही कारण है कि विधि के समनन्तर श्रवण होने वाले अर्थवादों में अर्थहीनता का सन्देह नहीं होता। मीमांसा का यह तत्त्व मॅक्सवेल के तत्त्व से बिलकुल मिल रहा है। अनुशासनों के स्पष्टीकरण के लिए एक अन्य नियम भी है कि अर्थविवेचन के अवसर पर अनुशासन के सभी अंशों का एक साथ ही विचार कर लेना चाहिए; प्रत्येक अंश का पृथक्-पृथक् विचार करना उचित नहीं। ऐसा न करना महान् प्रमाद समझा जाता है। इसी प्रकार किसी शब्द के परस्पर विरुद्ध दो अर्थों के उपस्थित होने पर जो अर्थ अनुशासन के अभिप्राय का सम्पूर्णतया अनुसरण करे उसी अर्थ को स्वीकार

---

१. 'मॅक्सवेल' का षष्ठ संस्करण, पृ० ३३।
२. पू० मी० अ० १, पा० २, सू० १–७।

करना चाहिए[1]। मीमांसा में भी इसी प्रकार का नियम पाया जाता है[2]। मॅक्सवेल का कथन है कि जहाँ तक हो वहाँ तक विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनुशासनों में परस्पर समन्वय करने की दृष्टि रखनी चाहिए। जहाँ समन्वय होने की सम्भावना ही न हो वहाँ भिन्न-भिन्न दो अनुशासनों के तात्पर्य से विवक्षित भिन्न-भिन्न दो विषय हैं—यह समझना होगा। इसी कारण प्रत्येक अनुशासन की भाषा केवल उस अनुशासन के लिए ही होती है, यह ध्यान में रखकर उस अनुरोध से ही उस अनुशासन का अर्थ करना चाहिए। मीमांसा में भी ठीक इसी तरह का नियम प्रदर्शित किया गया है—किसी अनुशासन के अर्थ का विवेचन करते समय यदि उससे दो प्रकार के अर्थ सम्भव हो रहे हों तो उस परिस्थिति में किस अर्थ का अस्वीकार किया जाय? यह प्रश्न पैदा होता है। तब सिद्धान्त-निर्णायक औत्सर्गिक उपाय (नियम) से काम नहीं चलता; इसलिए अगत्या वैकल्पिक रीति से अर्थ को स्वीकार करना पड़ता है[3]। अन्यथा ग्रन्थ-विशेष का विषय-विशेष में ही उद्देश्य मानकर तदनुरोधेन व्यवस्था करनी पड़ेगी। अनुशासनों में जहाँ कहीं एकवचनान्त शब्द का प्रयोग दिखलाई पड़े वहाँ उस शब्द में बहुवचन का अन्तर्भाव रहता है; इस अभिप्राय का एक अंश[4] अनुशासन में है। इस प्रकार 'भारतीय जनरल क्लाजेज एक्ट' नामक अनुशासन ग्रन्थ में बतलाया गया है। ठीक इसी प्रकार का जैमिनि का नियम[5] भी उपलब्ध होता है। इस नियम में बतलाया गया है कि एकवचन में प्रयुक्त किये 'ग्रह' शब्द को बहुवचनान्त समझना चाहिए। मीमांसा के नियमानुसार किसी भी वाक्य में क्रिया की ही प्रधानता रहती है, इसलिए प्रत्येक वाक्य से कुछ-न-कुछ करने के लिए ही कहा जाता है और कर्ता स्वयं क्रिया की अपेक्षा गौण रहता है। यही कारण है कि उसके विशेषणों (गुणों) का वाक्यगत मुख्य शब्द (क्रिया) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ नारदस्मृति में कहा गया है कि 'धार्मिक कर्मों में अविभक्त बन्धुओं का समान अधिकार होता है[6]। यहाँ पर 'बन्धु' शब्द का प्रयोग अविभक्त कुटुम्बान्तर्गत पुरुष के विशेषण रूप में किया गया है। अतः अविभक्त कुटुम्ब में जो भी पुरुष हो (चाचा, पौत्र या अन्य कोई भी) उन पर भी यह नियम लागू होता है।

---

१. 'मॅक्सवेल' पृ० ९५।

२. पू० मी० सू० 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्' (अ० १, पा० ४, सू० १९)

३. 'एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद् व्रीहियववाक्ययोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते' ॥ (तं० वा० पृ० ९०)

४. Section 13. भारतीय जनरल क्लाजेज एक्ट, ई० स० १८९७ के दशम अनुशासनांश में।

५. पू० मी० ग्रहैकत्वाधिकरण, अ० ३, पा० १, सू० १३-१५।

६. 'अविभक्तानां बन्धूनां धार्मिकेषु कर्मसु समान एवाधिकारः'।
(नार० स्मृ०)

इस शास्त्र में वेदों की प्राचीनता,[1] कर्तव्य के सम्बन्ध में सारभूत कुछ नियम[2] और शब्द तथा वाक्य के अर्थज्ञान के लिए सुन्दर-सुन्दर उपपत्तियाँ बतलाई गई हैं[3]। अपनी उक्तियों के समर्थन में एक विशिष्ट तर्कपद्धति तथा अनेक असाधारण विषयों का विस्तार से विवेचन किया है,[4] यही कारण है कि मीमांसा आज तक विद्वानों के बहुमान की पात्र सतत होती आ रही है और अपनी शास्त्र या दर्शन संज्ञा को सार्थक कर रही है। सुलभता के साथ वेदवाक्यों का यथावत् अर्थज्ञान कराने में अत्यन्त उपयोगी नियमों का इसमें बड़े विस्तार के साथ संग्रह किया गया है। इन नियमों का वेदार्थज्ञान कराने में ही केवल उपयोग न होकर धर्मशास्त्रीय वाक्यों के अर्थों को विशद रूप से स्पष्ट करने में भी उपयोग होता है। इतना ही नहीं बल्कि प्रतिदिन पालनीय आचार कौन-से हैं; लोगों के व्रत (आचरण) कैसे होने चाहिए; उनके कर्तव्य-कर्म कौन-से हैं; आदि आवश्यक व्यवहार की शिक्षा भी इसमें दी गई है। दत्तक परिग्रह, विभाग, दायभागीयस्वत्व आदि राजकीय अनुशासन सम्बन्धी विषयों में उलझन पड़ने पर ऊहापोह के साथ समाधान करते समय भी मीमांसा के नियमों का ही आश्रय लेना पड़ता है।

वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिए इस प्रदर्शित किये गये नियमों का थोड़ा-सा विवेचनपूर्वक दिग्दर्शन करा दें—स्थूलदृष्टि से हम साधारण और विशेष रूप में इन नियमों का विभाजन कर सकते हैं। विधि भाग का अपना एक विशिष्ट अधिकार होता है। अर्थवाद जब तक विधिभाग के साथ विसंवाद को प्राप्त किये बिना उनकी अपूर्णता को नहीं बता पाते, तभी तक उनका प्रामाण्य रहता है। यह उदाहरण प्रथम वर्ग का है। दूसरे वर्ग में शुद्धविधि, नियम और परिसंख्या आ सकते हैं। प्रधान और अप्रधान का निर्णय कराने में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या —ये छह प्रमाण[5] सहायक होते हैं। इनमें से दो प्रमाणों की किसी जगह युगपत् प्राप्ति होने पर पूर्व-पूर्व प्रमाण को प्रबल और उत्तर प्रमाण को दुर्बल समझने का नियम प्रथमवर्ग में आ सकता है। 'विश्वजित्' याग में यजमान सर्वस्व का दान कर दे—इस अभिप्राय का एक श्रुतिवाक्य है। अपने स्वामित्व (मिलकियत) की जो और जितनी भी वस्तुएँ हों सबको विश्वजित् याग में दे देना चाहिए—यह उक्त श्रुति का अर्थ है। मीमांसा में इस प्रकार के जितने भी न्याय हैं, वे द्वितीय वर्ग में प्रविष्ट किये जा सकते हैं। इसी तरह 'रात्रिसत्र' के वाक्य और 'श्येन' एक याग का नाम है— उक्त दोनों न्यायों का समावेश द्वितीय वर्ग में होता है।

---

१. पू० मी० १।१।८।

२. पू० मी० ६।३।१-२, ४-७; १०-११ इत्यादीनि बहूनि अधिकरणानि।

३. पू० मी० १।१।७।

४. पू० मी० १।४।१२-२० इत्यादीनि अधिकरणानि।

५. 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'। (पू० मी० सू० अ० ३ पा० ३ सू० १४)

इस शास्त्र में जैमिनि ने कतिपय नियमों में तो प्रशंसनीय उदारता का भी परिचय दिया है। जैसे—यज्ञ-कर्म में दम्पति को समानाधिकार[1] देकर स्त्री-स्वातंत्र्य की घोषणा करनेवाले वर्तमान समय में स्त्रीदाक्षिण्य के पक्षपाती वर्ग का सचमुच सन्तोष किया है। स्त्रियों के क्रय-विक्रय का भी जैमिनि ने निषेध किया है। यद्यपि मनु ने 'स्त्री-पुत्र-भृत्य आदि के पास स्वस्वामिक (अपना) धन नहीं होता' कहा[2] है, तथापि जैमिनि ने स्त्रियों का स्वस्वामिक (अपना) धन भी बतलाया है[3]। यज्ञकर्म में पत्नी के साथ ही पुरुष को अधिकार जैमिनि ने दिया है[4]। दिव्यदृष्टि एवं दूरदर्शी जैमिनि के द्वारा कितनी ही शताब्दियों के पूर्व ही तथाकथित अन्यान्य श्लाघनीय नियमों का निर्माण किया जाना वास्तव में विस्मयोत्पादक है।

शूद्रों के लिए यज्ञकर्म करने का अधिकारदर्शक वचन वेद में उपलब्ध न होने से जैमिनि ने यज्ञकर्म में शूद्रों के अधिकार का निषेध किया है[5]। किन्तु बादरि ने उस समय में भी शूद्रों को यज्ञकर्म में अधिकारी बतलाया है[6]। रथकार (बौ० ध० सू० १।९।६) जाति के शूद्र को विधिपूर्वक अग्न्याधान तक का अधिकार दिया है[7]। निषादकुलप्रसूत शूद्र राजा को रौद्रयाग में अधिकार दिया गया है[8]। बोधायनादि ऋषियों ने निषद की जाति बतलाई है[9]। रौद्रयाग में निषाद का अधिकार[10] होने के कारण ही शूद्र के लिए भी ब्राह्मण के द्वारा होम (हवन) का सम्पादन किया जाना सम्भव हो सकता है; यह सोचकर व्यवहारमयूखकार ने यथाविधि दत्तक परिग्रह में शूद्र को अधिकार बताया है[11]। किन्तु शुद्धिविवेक के कर्ता तथा प्राचीन

---

१. 'जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्'। (पू० मी० सू० अ० ६ पा० १ सू० ८)

२. 'स्त्रीपुत्रभृत्यानां स्वस्वामिकं न किमपि धनं भवति'। (मनु० अ० ८।४१६, पृ० ३३८, सन् १९२९ नि० प्रे० मुं०)

३. 'स्ववत्तामपि दर्शयति'। (पू० मी० सू० अ० ६ पा० १ सू० १६)

४. 'दम्पत्योः सहाधिकरणम्'। (मीमांसादर्शन ६।१।४)

५. मी० सू० ६।१।२५–२८।

६. मी० सू० ६।१।२७।

७. मी० सू० ६।१।५५।

८. मी० सू० ६।१।५१।

९. बौ० ध० सू० १।९।२ 'ब्राह्मणात् शूद्रायां निषादः, अन्यत्र च २।२।२९ द्विजातिप्रवरात् शूद्रायां जातो निषादः। तथा—गौ० ध० सू० ४।१४।

१०. पू० मी० ६।१।१३ 'निषादस्थपत्यधिकरणे' 'वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत्' इति प्रकृत्य श्रूयते 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' इति।

११. 'दौहित्रो भागिनेयश्च शूद्रस्यापि च दीयते' एवं च निषादस्थपतिवत् तस्य अधिकारः'। (व्यव० मयूख पृ० ६८-६९, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, मुंबई)

विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं[१]। उनका कहना है कि दत्तकपरिग्रह में होम वैदिक मन्त्रों से होना बतलाया गया है। इस कारण शूद्र के लिए ब्राह्मण द्वारा भी वैदिकविधि से होम करना सम्भव नहीं हो सकता।

राजा का अपने राज्य पर निःशेषतया स्वामित्व होना मीमांसा को सम्मत नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति अपने अधिकार का खेत किसी को भी पारितोषिक रूप में दे सकता है या विक्रय कर सकता है, वैसे कोई भी राजा अपने राज्य को नहीं दे सकता[२]। मुंबई विभागीय 'लैंड रेव्हिन्यु कोड' नामक अनुशासन ग्रन्थ के ३७ वें अंश में राजा के स्वत्व सम्बन्ध में जो बतलाया गया है, उसकी अपेक्षया मीमांसा का स्वत्व कितना ही सुन्दर और प्रजा के अनुकूल प्रतीत हो रहा है। व्यवहारमयूख में राजा को प्रजा से केवल 'कर' ग्रहणमात्र करना है और खेत पर स्वामित्व कृषीवल (किसान) का ही बताया है[3]। इस विषय में व्यवहारमयूखकार ने प्रमाणरूप में मीमांसा[४] को ही माना है। विश्वजित् याग में यजमान सब कुछ दक्षिणादान में दे सकता है, किन्तु पत्नी एवं पुत्रादि अन्य सम्बन्धियों को दान देने का उसे अधिकार नहीं है,[५] क्योंकि उन पर उसका स्वत्व नहीं होता; यह मीमांसा का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को प्रमाण मानकर व्यवहारमयूखकार ने भी कहा है कि कलत्र-पुत्रादि सम्बन्धियों पर किसी भी मनुष्य का अनुशासन-सम्मत स्वत्व (अधिकार) कथमपि सम्भव नहीं है[६]। किन्तु मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर इससे सहमत नहीं हैं[७]।

यह सब उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि मीमांसाशास्त्र ने संसार का सूत्र हाथ में रखकर किस चतुराई और सफाई से उसे चलाया है, जो विचारपूर्वक मनन करने पर ही समझ में आता है। दार्शनिक तत्त्वों के रूक्ष विवादों में ही वह केवल उलझा नहीं रहा, बल्कि संचार की गतिविधि को समझ-बूझ कर सभी को अधिकारानुसार उसने सुख एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है; इससे बढ़कर उसका उपयोग और महत्त्व क्या हो सकता है ?

---

१. वैदिकमन्त्रसाध्यहोमवतिपुत्रप्रतिग्रहे शूद्रस्यानधिकारः'।

—(व्य० म०, शुद्धिविवेक)

२. 'न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्'। (पू० मी० सू० ६।७।३)

३. 'सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलस्य तत्तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्वं तु तत्तद् भौमिकादीनामेव। राज्ञो तु करग्रहणमात्रम्।' (व्यव० मयू० पृ० ५६–५७, गुज० प्रि० प्रेस, १९२३)

४. पू० मी० ६।७।२।

५. पू० मी० ६।७।१, ५।

६. 'गवादाविव भार्यायां स्वत्त्वाभावेन तस्मादुत्पन्नेऽपत्ये तदभावात्।'

(व्यव० मयू० पृ० ५७, गुज० प्रि० प्रे० सन् १९२३)

७. विरुद्धं व्यवहारमयूखगतं वचनमिदं विज्ञानेश्वरकृतया मिताक्षरया।

(या० स्मृ० २।१७४)

परिशिष्ट

मीमांसा के श्रौतपदार्थों का विवेचन

वैदिक वाक्यों के पाँच प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद।

विधि का स्वरूप—अप्राप्त (पूर्व अप्राप्त) अर्थात् किसी अपूर्व पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म) का बोधन (विधान) करनेवाले वाक्य को विधिवाक्य कहते हैं। विधान तो विधिवाक्य घटित लिङ्, लेट्, लोट्, तव्य, अनीयर् आदि प्रत्ययों से किया जाता है। अतः उक्त प्रत्ययों से घटित वाक्यों को विधिवाक्य कहते हैं।

जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति'—इस वाक्य में 'जुहोति' पद 'लेट्' लकार का है, लट् लकार (वर्तमान काल) का नहीं है। उस लेट् लकारबोधक आख्यात प्रत्यय 'ति' ने अग्निहोत्र-संज्ञक कर्म करने का विधान किया है। इसलिए 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह विधिवाक्य है। इसी को 'उत्पत्तिविधि' या 'अपूर्वविधि' कहते हैं। इस दृष्टि से 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य को अग्निहोत्र कर्म का 'उत्पत्तिवाक्य' कहा जाता है।

गुण-विधि का स्वरूप—कहीं-कहीं 'कर्म' की प्राप्ति अन्य किसी विधिवाक्य से रहने पर उस 'कर्म' को अपेक्षित केवल 'गुण' का विधान जिस वाक्य में किया गया हो, उसे गुणविधि (बोधक) वाक्य कहते हैं।

जैसे—'दध्ना जुहोति'—दही से होम करे; अर्थात् इस वाक्य ने केवल 'दधि' (दही) रूप गुण (साधन=अंग) का विधान किया है। क्योंकि 'अग्निहोत्रं जुहोति' अर्थात् अग्निहोत्र नामक होम (हवन) करे—इस विधिवाक्य के द्वारा 'होम' का विधान पहले से ही हो चुका है। विधान हो जाने से 'होम' तो हमें प्राप्त ही है। प्राप्त (विहित) का पुनः विधान नहीं हुआ करता—यह नियम है। इसलिए 'दध्ना जुहोति' वाक्य घटित 'लेट्' प्रत्यय अन्य विधिवाक्य से प्राप्त हुए 'होम' का विधान न कर केवल उसे अपेक्षित 'दधि' रूप द्रव्य का ही गुणत्वेन विधान कर रहा है। इसलिए यह 'गुणविधि' वाक्य अर्थात् गुणविधायक वाक्य है।

विशिष्ट बिधि का स्वरूप—जहाँ पर गुण और कर्म (याग) दोनों का एक साथ विधान किया जाता है, उसे विशिष्ट विधि (उभय विधि) कहते हैं। जैसे—'सोमेन यजेत' अर्थात् 'सोम' नामक लतारूप द्रव्य से 'याग' करे—यहाँ पर 'सोम' रूप गुण और यागरूप 'कर्म' दोनों का एक ही वाक्य (सोमेन यजेत) के द्वारा विधान किया गया है। अर्थात् सोमद्रव रूप गुण (साधन) से विशिष्ट हुए 'याग' का विधान उक्त वाक्य से किया गया है। इसलिए इस वाक्य को विशिष्ट विधिवाक्य कहते हैं।

पहले बता चुके हैं कि 'विधि' के चार प्रकार होते हैं, उसी के अन्तर्गत उपर्युक्त तीनों प्रकार आ जाते हैं—(१) उत्पत्ति-विधि, (२) विनियोग-विधि, (३) अधिकार-विधि, (४) प्रयोग-विधि। 'कर्मणः स्वरूपमात्रबोधको विधिः उत्पत्ति-विधिः'। कर्म के स्वरूपमात्र का ज्ञान करानेवाले विधि को **'उत्पत्ति-विधि'** कहते हैं। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति'।

विनियोग-विधि—'अंग' और 'प्रधानकर्म' के सम्बन्ध को बतलाने वाली 'विधि' को 'विनियोगविधि' कहते हैं। जैसे—'दध्ना जुहोति'—इस वाक्य में 'तृतीया विभक्ति' (दध्ना) के द्वारा जिसका 'अंगभाव' स्पष्ट किया गया है, उस 'दधि' का 'होम' के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। अर्थात् उसका 'होम' में उपयोग करना कहा गया है।

अंगत्वबोधक छह प्रमाण—

इस विनियोग-विधि के सहायक छह प्रमाण होते हैं—(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण (परस्पर आकांक्षा), (५) स्थान (क्रम), (६) समाख्या (यौगिक शब्द)। इन छह प्रमाणों की सहायता से 'प्रधानकर्म' के समीप कहे हुए 'द्रव्य' का 'अंगत्व' निर्णय किया जाता है।

ये अंगत्वबोधक छह प्रमाण उत्तरोत्तर क्रमशः दुर्बल रहते है। अर्थात् पूर्व-पूर्व प्रमाण प्रबल और उत्तरोत्तर प्रमाण दुर्बल होते हैं।

अंगत्वबोधक 'श्रुति' प्रमाण का स्वरूप—

श्रुति—श्रुति अर्थात् वैदिक शब्द, जिसकी प्रामाणिकता में किसी 'अन्य प्रमाण' की आवश्यकता नहीं होती, उसे 'श्रुति' प्रमाण कहते हैं।

श्रुति के तीन प्रकार—

(१) विधात्री श्रुति—'कर्म' की विधायक अर्थात् लिङ्, लोट्, लेट्, तव्य, अनीयर् आदि प्रत्यय।

(२) अभिधात्री श्रुति—अर्थात् वाचक शब्द (श्रुति)। जैसे—'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत'।

(३) विनियोक्त्री श्रुति—जिसके श्रवण मात्र से ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

विनियोक्त्री श्रुति के तीन प्रकार—

(१) विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति।

(२) समानाभिधानरूपा विनियोक्त्री श्रुति।

(३) एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति।

इनके क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं; जैसे—

(१) 'व्रीहिभिर्यजेत'—इस वाक्य में 'तृतीया विभक्ति रूप विनियोक्त्री श्रुति' के कारण 'व्रीहि' में 'अंगत्व' (अंगता) का ज्ञान हो रहा है, अर्थात् 'व्रीहि' का 'याग' में विनियोग करना बताया गया है।

दूसरा उदाहरण—'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या गत्वा सोमं क्रीणाति'— यहाँ पर भी तृतीया विभक्तिरूप विनियोक्त्री श्रुति के द्वारा 'गो' (गाय) में 'सोम-क्रयण' का अंगत्व बताया जा रहा है ।

(२) 'पशुना यजेत'—यहाँ पर 'पशुना' इस एक ही शब्द के द्वारा 'पुँस्त्व' रूप लिंग और 'एकत्व' रूप संख्या को बताया गया है । इसलिए 'समानाभिधान श्रुति' से उन दोनों में तृतीया विभक्ति (पशुना) से अभिहित करण कारक का अंगत्व बताया गया है ।

(३) उपर्युक्त 'पशुना यजेत' वाक्य में 'यजेत' जो एकवचनान्त पद है, उस 'एकवचन' अर्थात् 'एकत्व संख्या' का 'एकपद श्रुति' के द्वारा यज् धात्वर्थ 'याग' के साथ अन्वय होता है । अर्थात् आख्याताभिहित एकत्व संख्या को 'याग' का अंग माना जाता है, क्योंकि 'यजेत' यह एक ही 'पद' है, उसी से 'याग' और 'एकत्व संख्या' का बोध हो रहा है । तथा 'समानाभिधान श्रुति' से 'एकत्व संख्या' को आख्यात (त) प्रत्यय के द्वारा अभिहित 'भावना' का 'अंग' भी माना जाता है ।

अंगत्वबोधक छह प्रमाणों में परस्पर प्रबल-दुर्बल भाव—

पहले बता चुके हैं कि अंगत्वबोधक उक्त छह प्रमाणों में पहिला 'श्रुति' प्रमाण अपने से परवर्ती 'लिङ्ग' प्रमाण की अपेक्षया 'प्रबल' है । क्योंकि 'श्रुति' के द्वारा जहाँ विनियोग (अंगत्वबोधन) होता है, वहाँ विनियोजक विभक्ति आदि शब्द (श्रुति) प्रत्यक्ष रहता है । और 'लिङ्ग' प्रमाण से जहाँ विनियोग होता है, वहाँ उस विनियोजक 'श्रुति' की कल्पना करनी पड़ती है । किन्तु कल्पना करने से पूर्व ही स्वयंसिद्ध 'श्रुति' (प्रत्यक्ष-सिद्ध शब्द) के द्वारा 'विनियोग' हो चुका होता है । इसलिए 'लिङ्ग' प्रमाण की अपेक्षया 'श्रुति' प्रमाण को प्रबल माना जाता है । निष्कर्ष यह है कि 'श्रुति' प्रमाण को अपना विनियोग कार्य सम्पन्न करने के लिए किसी अन्य प्रमाण के साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती किन्तु 'लिङ्ग' प्रमाण को अपना विनियोगरूप कार्य सम्पन्न करने के लिए 'श्रुति' प्रमाण की कल्पना करना आवश्यक होता है । 'श्रुति' प्रमाण की कल्पना किये बिना 'लिङ्ग' प्रमाण अपना कार्य करने में असमर्थ है । उस कारण 'लिङ्ग' प्रमाण अपने पूर्ववर्ती 'श्रुति' प्रमाण से दुर्बल माना जाता है ।

जैसे—'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'—ऐन्द्री ऋक् से 'गार्हपत्य' अग्नि की स्तुति (उपस्थान) करनी चाहिए, यह कहा गया है । और 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'—हे इन्द्र ! हविर्भाग देने वाले को तू कभी मारने के लिए नहीं जाते हो, अपितु उसका संरक्षण करने के लिए जाते हो—इस ऋक् में 'इन्द्र' शब्द का श्रवण हो रहा है । उस कारण इस ऋक् (मंत्र) से 'इन्द्र' की स्तुति करनी चाहिए, यह प्रतीत हो रहा है । अतः सन्देह होता है कि ऐन्द्री ऋक् (ऐन्द्र मन्त्र) से 'गार्हपत्य' अग्नि की स्तुति करें, अथवा ऐन्द्री ऋक् से 'इन्द्र' देवता की स्तुति करें ? तब मीमांसा ने निर्णय दिया कि 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इसके

अनुसार 'इन्द्र' शब्दरूप लिङ्ग प्रमाण से 'इन्द्र' की स्तुति में उक्त ऋक् का विनियोग करने के पूर्व ही 'गार्हपत्यम्'—इस द्वितीया श्रुति के द्वारा गार्हपत्य अग्नि की स्तुति में 'ऐन्द्री ऋक्' का विनियोग किया जाय। अतः ऐन्द्री ऋक् का विनियोग 'इन्द्रोपस्थान' में न होकर 'गार्हपत्योपस्थान' में किया जाता है। क्योंकि लिङ्ग प्रमाण की अपेक्षया 'श्रुति' प्रमाण प्रबल है।

विनियोजक लिङ्ग प्रमाण का स्वरूप और उदाहरण—

लिङ्ग—अर्थबोधन करने में शब्दगत जो सामर्थ्य है, उस सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं। जैसे—'बर्हिर्देवसदनं दामि' अर्थात् देवताओं के आसनरूप 'दर्भ' को तोड़ना चाहिए—यह लवन (छेदन) मन्त्र 'लवन' क्रिया का अंग है, क्योंकि इस मन्त्र में 'लवनक्रिया' रूप अर्थ को प्रकट करने का सामर्थ्य है। यहाँ 'सामर्थ्य' का तात्पर्य 'रूढि' से है। इस तात्पर्य के कारण ही 'लिंग प्रमाण' को अन्तिम 'समाख्या' प्रमाण से पृथक् माना जाता है। एवं च 'लिङ्ग' = सामर्थ्य = रूढि, अर्थात् 'शब्द' का रूढ अर्थ। अतः 'लिङ्ग' प्रमाण 'शब्द' के रूढ अर्थ को बताता है। प्रस्तुत प्रसंग यह है कि दर्भ काटने के समय 'बर्हिर्देवसदनं दामि' मन्त्र को बोलना चाहिए। इसलिए लिंगप्रमाण ने उक्त मन्त्र को 'लवन' (छेदन) क्रिया का अंग बताया है।

लिङ्ग प्रमाण और समाख्या प्रमाण में भेद—

लिङ्ग प्रमाण और समाख्या प्रमाण में 'रूढ़ि तथा यौगिक' का भेद है। 'समाख्या यौगिकः शब्दः' अर्थात् यौगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं। एवं च 'समाख्या' से 'यौगिक अर्थ' की प्रतीति होती है, और 'लिङ्गप्रमाण' से 'रूढ अर्थ' की प्रतीति होती है; दोनों में यही भेद है।

लिङ्गप्रमाण और परवर्ती वाक्यप्रमाण दोनों में प्रबल-दुर्बल भाव का विचार—

यह 'लिङ्गप्रमाण' अपने से परवर्ती 'वाक्यप्रमाण' की अपेक्षया 'प्रबल' माना जाता है। क्योंकि 'वाक्यप्रमाण' की अपेक्षया लिङ्गप्रमाण से 'श्रुति' की कल्पना तत्काल हो जाती है, और 'वाक्यप्रमाण' को पहिले 'लिङ्ग' प्रमाण की कल्पना, तदनन्तर 'श्रुति' प्रमाण की कल्पना करनी पड़ती है। अर्थात् 'वाक्य' प्रमाण को अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए दो कल्पनाएँ करनी होती हैं और 'लिङ्ग' प्रमाण को केवल एक ही कल्पना (श्रुतिकल्पना) करनी पड़ती है। इस गौरव-लाघव को देखते हुए मीमांसा ने निर्णय दिया कि 'वाक्य' प्रमाण की अपेक्षया 'लिङ्ग' प्रमाण को ही प्रबल मानना चाहिए और 'वाक्यप्रमाण' को पूर्ववर्ती लिङ्गप्रमाण की अपेक्षया दुर्बल समझना चाहिए।

जैसे—'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि'— हे पुरोडाश ! मैं तुम्हारे स्थान को सुखकर करता हूँ (बनाता हूँ), तथा घृत की धारा से (घृत की धारा बहाकर) उस स्थान को सुसेव्य बनाता हूँ। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः'॥

अर्थात् हे पुरोडाश ! मैं तुम्हारे लिए एक सुन्दर-सा स्थान बना रहा हूँ। उस स्थान को घृत की धार बहाकर सेवन करने योग्य बना रहा हूँ। हे व्रीहि के सारभूत पुरोडाश ! उस स्थान पर तुम प्रसन्न मन से आकर बैठो।

यहाँ पर 'सदनं कृणोमि'—इस लिङ्गप्रमाण से पुरोडाश रखने का स्थान बनाने में उक्त 'मंत्र' का विनियोग किया गया है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है—उक्त मन्त्र के उत्तरार्ध के आरम्भ में ही 'तस्मिन्' पद दिया गया है। इस 'तस्मिन्' पद को 'कस्मिन्' पद की आकांक्षा होती है। उसे पूर्ण करने के लिए 'यत् समीचीनं (स्योनं) स्थानं (सदनं) कृणोमि (कल्पयामि) तस्मिन्'—इस प्रकार अन्वय लगाना चाहिए। अर्थात् मन्त्र के 'पूर्वाध' में जो कहा गया है कि—'तुम्हारे लिए मैं एक सुन्दर स्थान तय्यार कर रहा हूँ, और उसे घृत की धार के द्वारा सुसेव्य बना रहा हूँ'—इसके साथ 'उत्तरार्ध' की एकवाक्यता करना आवश्यक है। वस्तुतः पूर्वार्ध का वाक्य और उत्तरार्ध का वाक्य, दोनों भिन्न-भिन्न वाक्य हैं। किन्तु 'तस्मिन्' को आकांक्षा होने के कारण उक्त दोनों वाक्य मिलकर एक ही वाक्य (महावाक्य) बन जाता है, यह मानना होगा। यह निर्णय मीमांसा ने अध्याय २, पाद १, अधिकरण १४ में किया है। अतः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों अलग-अलग (भिन्न-भिन्न) मन्त्र न होकर 'एक ही मन्त्र' है, क्योंकि दोनों की एकवाक्यता हो गई है।

इस पर सिद्धान्ती कहता है—'स्योनं ते सदनं कृणोमि'—इस 'लिङ्गप्रमाण' से 'स्योनं ते ···कल्पयामि'—इस पूर्वार्ध मन्त्र को 'पुरोडाश के स्थानकरण' का अंग मानना चाहिए। तब 'अनेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यम्'—इस प्रकार 'मन्त्रविनियोजक श्रुति' की कल्पना करके उक्त पूर्वार्ध मन्त्र को 'स्थानकरण' का अंग माना जाता है। क्योंकि 'सम्पूर्ण मन्त्र' में दो अर्थों को अर्थात् 'स्थानकरण' और 'उस स्थान पर बैठाना' बताया गया है। मन्त्र के उत्तरार्ध के आरम्भ में ही 'तस्मिन्' पद है। इस 'तत्' शब्द से पूर्वार्ध के साथ 'एकवाक्यता' होने पर दो भाग नहीं रहेंगे, सम्पूर्ण मन्त्र 'एक ही वाक्य' कहलायेगा। तब 'वाक्य' प्रमाण से 'सम्पूर्ण मन्त्र' का विनियोग, चाहे 'स्थानकरण' में चाहे पुरोडाश को बैठाने (सादन) में भी हो सकेगा। किन्तु 'सदन अथवा सादन' को प्रकट करने में सम्पूर्ण मन्त्र का सामर्थ्य नहीं है। पूर्वार्ध का सामर्थ्य केवल 'सदनकरण' के प्रकाशन में ही है और उत्तरार्ध का सामर्थ्य केवल 'सादन' (प्रतिष्ठापन) के प्रकाशन में ही है।

यदि 'वाक्यप्रमाण' से सम्पूर्ण मन्त्र को 'सदनकरण' का अंग मानते हैं, तो उत्तरार्ध के 'सादन' प्रकाशकत्व की कल्पना 'पूर्वार्ध' को करनी होगी। यदि सम्पूर्ण मन्त्र को 'सादन' का अंग मानते हैं तो पूर्वार्ध के 'सदन' प्रकाशकत्व की कल्पना उत्तरार्ध को करनी होगी। किन्तु इन कल्पनाओं के पूर्व ही निश्चित सामर्थ्यशाला 'लिङ्ग-प्रमाण' मन्त्र के 'पूर्वार्ध' भाग को 'सदनकरण' का और 'उत्तरार्ध' भाग को 'सादन' का 'अंग' बना देता है। इस प्रकार लिङ्गप्रमाण के द्वारा किये गये कार्य से 'वाक्य-

प्रमाण' की 'कल्पकत्वशक्ति' बाधित हो जाती है। इसलिए वाक्यप्रमाण की अपेक्षया 'लिङ्गप्रमाण' प्रबल है, और लिङ्गप्रमाण की अपेक्षया वाक्यप्रमाण दुर्बल है—यह मानना चाहिए।

विनियोजक वाक्यप्रमाण का स्वरूप और उदाहरण—

'समभिव्याहारो वाक्यम्'—यह 'वाक्य' का लक्षण किया गया है। समभिव्याहार का अर्थ होता है—'सहोच्चारण'। लौकिक व्यवहार में जब हम वाक्य-प्रयोग करते हैं, या दूसरों के वाक्यों को सुनते हैं, तब उन वाक्यों में कर्म-करण-सम्प्रदान आदि कारकों की वाचक द्वितीया-तृतीया-चतुर्थी आदि विभक्तियों का प्रयोग भी करते हैं और सुनते भी हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना है कि 'विभक्तियों' के रहने पर ही 'वाक्य' बनता है, अन्यथा नहीं। द्वितीयादि विभक्तियों के न रहने पर भी 'वाक्य' की निष्पत्ति होती है। वाक्यनिष्पत्ति के लिए केवल 'समभिव्याहार' (सहोच्चारण) होना चाहिए। अनेक शब्दों के सहोच्चारण में 'द्वितीया' आदि विभक्तियाँ हों चाहे न हों; 'द्वितीया' आदि विभक्तियों का प्रयोग न रहने पर भी केवल सहोच्चरित शब्दों से भी 'वाक्य' की निष्पत्ति हो सकती है। जैसे आधुनिक युग में 'विद्युत्सन्देश' के वाक्य होते हैं। अतः द्वितीया आदि विभक्तियों से रहित वाक्य को भी 'विनियोजक वाक्यप्रमाण' के रूप में समझना चाहिए। अर्थात् अंग और अंगी के वाचक पदों के सहोच्चारण से भी 'विनियोजक वाक्यप्रमाण' की निष्पत्ति हो जाती है।

जैसे—'यस्य वर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'—यहाँ पर 'पर्णमयी' और 'जुहू'—इन दो शब्दों का 'सहोच्चारण' मात्र है। इस सहोच्चारण (समभिव्याहार) से ही प्रतीत हो जाता है कि 'पर्णता' अंग (शेष) है, और 'जुहू' अंगी (शेषी) है।

इस उदाहरण से अवगत होता है कि 'विशेषण-विशेष्य वाचक शब्दों के समभिव्याहार (सहोच्चारण) को वाक्य कहा गया है। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'—जिसकी 'जुहू' पलाश की बनी होती है, उसका 'यश' मलिन नहीं होता। यहाँ पर 'पर्णमयी' शब्द 'जुहू' का विशेषण है और 'जुहू' शब्द विशेष्य है। दोनों का सहोच्चारण किया गया है। इस वाक्यप्रमाण से 'पर्णता' में जुहू का (जुहूनिरूपित) अंगत्व ज्ञात हो रहा है। अर्थात् 'जुहू' नाम का यज्ञिय पात्र 'पलाश' का ही होना चाहिए, अन्यथा 'अंगवैगुण्य' होगा।

वाक्य-प्रमाण अपने परवर्ती प्रकरण प्रमाण से बलवान् होता है—

यह विनियोजक 'वाक्यप्रमाण' अपने से परवर्ती 'प्रकरण' प्रमाण की अपेक्षया बलवान् (प्रबल) होता है, क्योंकि 'प्रकरण' को 'आकांक्षा' की आवश्यकता होती है और 'वाक्य' को नहीं।

जैसे—दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में 'सूक्तवाक' संज्ञक एक 'अनुवाक' है। उसमें कुछ वाक्य पढ़े गये हैं—

(१) अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेताम्, महोज्यायोऽक्राताम् ।

(२) इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेताम्, महोज्यायोऽक्राताम्' इति ।

यहाँ प्रथम मन्त्र 'अग्नि' और 'सोम' देवता को उद्देश्य करके कहा गया है। और दूसरा मन्त्र 'इन्द्र' और 'अग्नि' देवता को उद्देश्य करके कहा गया है।

ये दोनों मन्त्र 'दर्शपूर्णमास' याग के प्रकरण में पठित हैं। जिस दिन चन्द्र और सूर्य दोनों एक साथ दीखते हैं, उसे 'दर्श' कहते हैं—'एकत्रस्थितचन्द्रार्कदर्शनात् दर्श उच्यते'। तथा जिस दिन 'चन्द्रमा' षोडशकला पूर्ण रहता है, उसे 'पूर्णमास' कहते हैं। इससे यह समझ में आता है कि 'अग्नीषोम' और 'इन्द्रानी'—ये दो-दो देवता, एक-एक विभागात्मक तिथि के लिए कही गई हैं। अतः पूर्णमासतिथि के दिन 'चन्द्रमा' अपनी षोडशकलाओं से पूर्ण हुआ दृष्टिगोचर होने से लिंग प्रमाण के द्वारा पूर्णमास याग के लिए 'अग्नीषोम' देवता का निश्चय किया जाय, तथा दर्श (अमावास्या) के दिन 'चन्द्रमा' दृष्टिगोचर न होने से 'लिंग प्रमाण' के द्वारा 'इन्द्राग्नी देवता को 'दर्शयाग' में रखा जाय।

इस प्रकार व्यवस्था करने पर भी 'इदं हविरजुषेताम्' इत्यादि अंश अभी प्रत्येक का शेष बचा है; इसकी व्यवस्था कैसे की जायेगी ?

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि 'इदं हविरजुषेताम्' इत्यादि दो मन्त्रों के दो अवशिष्ट भाग बच गये हैं, उन दोनों का पाठ दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में किया गया है, उस कारण 'प्रकरणप्रमाण' के बल पर यह व्यवस्था करनी चाहिए कि 'दर्शयाग' में 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्'—इस सम्पूर्ण मन्त्र को पढ़कर दूसरे मंत्र के 'अग्नोषोमौ' पद को छोड़कर उसके आगे पढ़े हुए 'इदं हविरजुषेताम्' इत्यादि अवशिष्ट भाग को भी पढ़ा जाय।

उसी तरह 'पूर्णमासयाग' में 'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्' इस सम्पूर्ण मन्त्र को पढ़कर दूसरे मंत्र के 'इन्द्राग्नी' पद को छोड़कर उसके आगे पढ़े हुए 'इदं हविरजुषेताम्'--इत्यादि अवशिष्ट भाग को भी पढ़ा जाय। इस प्रकार व्यवस्था करने पर ही ये दोनों मन्त्र प्रकरणप्रमाण के बल पर 'दर्शपूर्णमास' के अंग बन सकते हैं।

इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि इस प्रकार व्यवस्था करने के लिए प्रथमतः यह करना होगा कि 'प्रकरणप्रमाण' के बल पर उक्त प्रकार के अन्वयबोधक 'वाक्य' की कल्पना करनी होगी। उस वाक्य के अनुरोध से 'इदं हविरुजुषेताम्'—इस मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' देवताओं को प्रकाशित करने का सामर्थ्य है; इस प्रकार के 'लिंग' प्रमाण की कल्पना करनी होगी। तदनन्तर 'लिङ्गप्रमाण' के अनुरोध से 'इस मन्त्रभाग से 'इन्द्राग्नी' देवताओं से सम्बन्धित 'क्रिया' की जाय'—इस प्रकार से एक 'श्रुति' की कल्पना करनी पड़ेगी। तब आप उस कल्पित श्रुति के बल पर 'इदं हविरजुषेताम्' मन्त्र का विनियोग 'इन्द्राग्नी' देवता के लिए कर सकेंगे। अर्थात् 'प्रकरण' प्रमाण से 'विनियोग' तक पहुँचने के लिए—(१) प्रकरण, (२) वाक्य, (३) लिंग, (४) श्रुति (५) विनियोग—ये पाँच सीढ़ियाँ पार करनी होंगी।

यदि 'वाक्य' प्रमाण की दृष्टि से यहाँ व्यवस्था की जाय तो यह समझ में आता है कि 'अग्नीषोमौ, इदं हविरजुषेताम्'—यहाँ पर 'अग्नीषोमौ' और 'इदं हविरजुषेताम्' इन दोनों का एक वाक्य के रूप में अन्वय 'प्रत्यक्ष श्रुति' ने ही बताया है। अतः वाक्यप्रमाण से 'विनियोग' तक पहुँचने में—(१) वाक्य, (२) लिंग, (३) श्रुति और (४) विनियोग—इन चार सीढ़ियों को ही पार करना पड़ता है। इस लाघव को देखते हुए कहना पड़ता है कि 'वाक्य' प्रमाण अपने परवर्ती 'प्रकरण' प्रमाण से प्रबल है और प्रकरण प्रमाण अपने से पूर्ववर्ती 'वाक्यप्रमाण' से दुर्बल है। अतः मीमांसा ने निर्णय दिया कि 'अग्नीषोमौ' 'इदं हविरजुषेताम्' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र 'एकवाक्य' रहने से यह मन्त्र सम्पूर्ण 'दर्शपूर्णमास' याग का अंग (शेष) नहीं है। वह केवल 'पूर्णमास' याग का ही अंग (शेष) है। उसी तरह 'इन्द्राग्नी, इदं हविरजुषेताम्'—यह मंत्र भी सम्पूर्ण 'दर्शपूर्णमास' याग का अंग (शेष) न होकर केवल 'दर्शयाग' का ही अंग है। एवं च उक्त मन्त्रों को 'प्रकरण प्रमाण' के बल पर सम्पूर्ण दर्शपूर्णमासयाग का अंग नहीं समझना चाहिए, क्योंकि 'प्रकरणप्रमाण' से 'वाक्यप्रमाण' बलवान् है।

प्रकरणप्रमाण का स्वरूप और उसका उदाहरण—

'उभयाकांक्षा प्रकरणम्'—जहाँ अंग और अंगी दोनों को परस्पर आकांक्षा (अपेक्षा) होती है, वहाँ 'प्रकरणप्रमाण' से 'अंगांगिभाव' का निश्चय किया जाता है। एवं च 'परस्पराकांक्षा' को 'प्रकरणप्रमाण' कहते हैं।

जैसे—'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों को सुनने पर यह जिज्ञासा होती है कि 'समिद्याग' से क्या करें', और 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—दर्शपूर्णमाससम्बन्धी इस वाक्य को सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि इस दर्शपूर्णमासयाग को कैसे करें—इस प्रकार दोनों की परस्पर आकांक्षा रूप 'प्रकरणप्रमाण' से उनका 'अंगांगिभाव' निश्चित किया जाता है। 'समिद्याग' आदि पाँचों प्रयाज 'दर्शपूर्णमास' के अंग हैं और 'दर्शपूर्णमासयाग' अंगी (प्रधान) है।

यह 'प्रकरणप्रमाण' केवल 'क्रिया' की ही 'अंगता' को बताता है, 'द्रव्य' या 'गुण' की 'अंगता' को नहीं बताता।

यह 'प्रकरण' दो प्रकार का होता है—(१) महाप्रकरण और (२) अवान्तर प्रकरण। मुख्य भावना से सम्बन्धित प्रकरण को महाप्रकरण कहते हैं। इस 'महा प्रकरण' से ही 'प्रयाज' को दर्शपूर्णमासयाग का 'अंग' माना जाता है। तथा अवान्तर-प्रकरण से 'अभिक्रमण' को 'प्रयाज' का अंग माना जाता है।

प्रकरणप्रमाण अपने परवर्ती स्थानप्रमाण से प्रबल रहता है, अतः वही विनियोजक होता है—

यह 'प्रकरणप्रमाण' अपने से परवर्ती 'स्थान-प्रमाण' से बलवान् (प्रबल) कहलाता है।

जैसे—'राजसूय-याग' के प्रकरण में—(१) अनुमत्यादि इष्टियाँ, (२) आदित्यादि पशुयाग, (३) अभिषेचनीय, दशपेय आदि सोमयाग, (४) कुछ दर्वीहोम—ऐसे अनेक याग बताये गये हैं। अभिप्राय यह है कि इष्टि, पशु, सोम आदि यागों के समूह को ही 'राजसूय' याग कहते हैं। राजसूय में किये जाने वाले 'अभिषेचनीय' नामक सोमयाग के समीप ही 'विदेवन' (द्यूतक्रीडा) आदि भी करने के लिए कहा गया है—'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनः-शेपमाख्या-पयति'। यह देखकर इनके अंगत्व के सम्बन्ध में सन्देह होता है कि अभिषेचनीय सोमयाग के समीप 'विदेवन' आदि का पाठ रहने से इन्हें हम 'स्थान' प्रमाण के बलपर क्या 'अभिषेचनीय सोमयाग का अंग समझें अथवा राजसूय के प्रकरण में पठित रहने से 'प्रकरण'प्रमाण के बलपर विदेवनादिकों को राजसूय का अंग कहें' ? यह सन्देह होने पर मीमांसा ने यह निर्णय दिया कि वेदवनादि धर्मों को राजसूय का ही अंग समझना चाहिए। क्योंकि 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—इस विधिवाक्य का अर्थ यह किया जाता है कि 'राजा राजसूयेन यागेन स्वाराज्यं भाव-येत्' इस प्रकार अर्थ सुनने पर उसे कथंभावाकांक्षा उत्पन्न होती है। उस कथं-भावाकांक्षा को शांत करने के लिए प्रस्तुत राजसूय याग के प्रकरण में पठित जो विदेवनादि क्रियाएँ कही गई हैं, उनका अन्वय 'राजसूय याग' के साथ ही करना चाहिए। उसके साथ अन्वय करने से राजसूयान्तर्गत जितने भी याग किये जाते हैं, उन सभी यागों के वे विदेवनादिक धर्म अंग समझे जाते हैं।

किञ्च—अभिषेचनीय याग के समीप यद्यपि विदेवनादिकों को पढ़ा गया है, तथापि उस याग को उनकी आकांक्षा नहीं है, क्योंकि अभिषेचनीय याग तो प्रकृति रूप ज्योतिष्टोम याग की विकृति है। उस कारण अपनी प्रकृति से अतिदेश के द्वारा उसकी कथंभावाकांक्षा शान्त हो जाती है। इसलिए उस अभिषेचनीय याग को अब किसी अंग की आवश्यकता नहीं होती। एवंच सन्निधिरूप स्थानप्रमाण के बल पर विदेवनादिकों को 'अभिषेचनीय' का अंग नहीं कहा जा सकता।

यदि स्थानप्रमाण के बल पर विदेवनादिकों को अभिषेचनीय का अंग कहें तो सन्निधिरूपी स्थानप्रमाण को आकांक्षारूपी प्रकरण की कल्पना, तदनन्तर प्रकरण रूपी प्रमाण से वाक्यप्रमाण की कल्पना, तदनन्तर वाक्यप्रमाण से लिंगप्रमाण की कल्पना, तब लिंगप्रमाण से श्रुतिप्रमाण की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार पाँच सीढ़ी चढ़नी होगी।

और प्रकरणप्रमाण से विदेवनादिकों को यदि 'राजसूययाग' का अंग मानते हैं तो प्रकरणप्रमाण से वाक्यप्रमाण की कल्पना, उससे लिंगप्रमाण की कल्पना, उससे श्रुतिप्रमाण की कल्पना करने में चार ही सीढ़ी चढ़नी होगी। इस लाघव को देखकर स्थानप्रमाण की अपेक्षया 'प्रकरणप्रमाण' प्रबल सिद्ध हो रहा है और संनिधिरूप स्थानप्रमाण दुर्बल प्रतीत हो रहा है। अतः प्रबल प्रकरणप्रमाण से विदेवनादिकों को राजसूययाग का ही अंग माना जाता है।

स्थानप्रमाण का स्वरूप और उसका उदाहरण—

'देशसामान्यं स्थानम्'—दो अथवा उससे अधिक पदार्थों का समान देश (एक ही स्थान) रहना ही 'देशसामान्य' शब्द से कहा जाता है। इसी को स्थान अथवा क्रम शब्द से भी कहा करते हैं। इस स्थानप्रमाण के दो भेद—(१) पाठ-सादेश्य, (२) अनुष्ठान-सादेश्य। पाठ-सादेश्य के भी दो प्रकार हैं—(१) यथासंख्यपाठ, (२) सन्निधिपाठ।

जैसे—(१) ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्।
(२) वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्।

मैत्रायणीय शाखा के ब्राह्मण में उपर्युक्त 'ऐन्द्राग्न' और 'वैश्वानर' इन दो काम्येष्टियों को बतलाया है; और उसी शाखा के मंत्रभाग (संहिताभाग) में उन काम्येष्टियों के याज्या-अनुवाक्या (पुरोनुवाक्या) के मंत्र यथासंख्य क्रम से कहे गये हैं। उनका क्रम यह है—(१) 'इन्द्राग्नी रोचनादिवः' इत्यादि मन्त्रयुगल को प्रथमतः बतलाया; तदनन्तर (२) 'वैश्वानरोऽजीजनत्'—यह मंत्रयुगल द्वितीय स्थान में बतलाया गया है। अर्थात् क्रमतः प्रतिपादित दो इष्टियों की याज्या और पुरोनुवाक्या[1] यथासंख्यरीति के क्रम से पढ़ी गई हैं। अतः यथासंख्य क्रम से ही उनका अनुष्ठान करना चाहिए। यह तो हुआ पाठसादेश्य का पहिला प्रकार 'यथासंख्यपाठ' का उदाहरण।

अब पाठ-सादेश्य का ही दूसरा प्रकार 'सन्निधिपाठ' उसका उदाहरण—

काम्येष्टिकाण्ड में 'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः' वाक्य से 'सांग्रहणी' इष्टि का विधान किया गया है। उसी की सन्निधि में 'आमनस्य-आमनस्य देवाः इति तिस्र आहुतीर्जुहोति'—वाक्य से 'आमनहोम'[2] का विधान किया गया है। यहाँ पर सन्निधिरूप स्थानप्रमाण के बल पर आमनहोमों को सांग्रहणीष्टि का 'अंग' माना गया है। क्योंकि 'सांग्रहणीष्टि' एक विकृति इष्टि है; उसकी सन्निधि में जिन आमनहोमों को बतलाया है, वे विकृतियाग के अपूर्व अंग के रूप में अर्थात् विकृतियाग के लिए ही बतलाये गये हैं, यह उसकी सन्निधि में पठित होने से अवगत हो रहा है।

स्थानप्रमाण का दूसरा भेद अनुष्ठानसादेश्य का स्वरूप और उसका उदाहरण—

अनुष्ठानसादेश्य अर्थात् अनुष्ठान का देश समान होना। अभिप्राय यह है कि अंगी और अंगों के विधान (अनुष्ठान) का स्थल एक होना।

जैसे—औपवसथ्य (सुत्या का पूर्व दिन) के दिन अंगी (प्रधान) 'अग्नीषोमीय

---

१. पुरस्ताल्लक्ष्मा पुरोनुवाक्या भवति उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या'। अर्थात् मन्त्र के पूर्वभाग में देवतालिंग होने पर उस मंत्र को अनुवाक्या और उत्तरभाग में होने पर उसे याज्या कहते हैं।

२. अमनसे स्वाहा, रेतस्विने स्वाहा—ये आमनहोम कहे जाते हैं। यहाँ प्रथम आहुति में 'अमनसे' कहा होने से 'आमनहोम' नाम प्रसिद्ध हुआ।

पशु' का अनुष्ठान कर्तव्य है, और उसी दिन जो अन्यान्य कार्य बताये हैं, उनमें उपाकरण, पर्यग्निकरण आदि 'पशुधर्मों' को करना भी बताया गया है, अर्थात् एक ही दिन पशूपाकरणादि पशुधर्म और पशूपालंभन का अनुष्ठान कर्तव्य है। एवं च अनुष्ठानतः दोनों का देशसाम्य होने से (अनुष्ठानसादेश्य से) पशूपाकरणादिधर्मों को 'पशु' का ही अंग (साक्षात् पश्वपूर्वोपकारक) माना गया है। प्रधानभूतज्योतिष्टोमापूर्वोपकारक (ज्योतिष्टोम का अंग) उन्हें नहीं माना गया है।

स्थान और समाख्या का बलाबल विचार—

समाख्या प्रमाण से 'स्थानप्रमाण' बलवान् होता है। क्योंकि जहाँ स्थानप्रमाण से विनियोग होता है, वहाँ उनमें अंगांगिभाव रहता है, और समाख्या से जहाँ विनियोग होता है, वहाँ यह बात नहीं होती। क्योंकि 'पदार्थ' भिन्न-भिन्न स्थलों पर कथित होते हैं।

पूर्वपक्षी का कहना है कि 'कुंभी, शाखापवित्र, अभिधानी, दोहनपात्र आदि 'सान्नाय्यपात्र' तथा उलूखल, मुसल, कृष्णाजिन, दृषदुपल, जुहू आदि 'पुरोडाशपात्र' एवं 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' यह मन्त्र इन तीनों को पौरोडाशिक-काण्ड में कहा गया है। उस कारण 'पौरोडाशिक-काण्ड'—इस समाख्याप्रमाण के बल पर 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' मन्त्र से 'सान्नाय्यपात्रों की तथा पुरोडाशपात्रों की भी शुद्धि करनी चाहिए।

इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' यह मंत्र कहाँ पढ़ा गया है, उसे देखिये। यह मंत्र 'इध्मा बर्हिः सम्पादन' के अनुवाक और व्रीहिनिर्वापविषयक अनुवाक'—इन दोनों के बीच में 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'—यह मंत्र सान्नाय्यपात्रों के सन्निधि में पढ़ा गया है। अतः उक्त मंत्र को 'सान्नाय्यपात्र' ही समीप पड़ते हैं, 'उलूखलादिपात्र' तो मंत्र से दूर पड़ते हैं। इसलिए सन्निधिरूप पाठसादेश्य के द्वारा समाख्या का बाध हो जाता है, और 'शुन्धध्वम्' मंत्र को दोहनपात्रों का ही अंग माना जाता है।

समाख्या का स्वरूप—

'समाख्या यौगिकः शब्दः'—यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। धातु-प्रत्यय आदि अवयवों से उत्पन्न होने वाले अर्थ के वाचक शब्द को 'यौगिक शब्द' कहते हैं। जैसे--पाचक शब्द 'पच' धातु से कर्तृवाचक 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। वह अपने अवयवों से निष्पन्न होनेवाले अर्थ का बोधक होने से उसे 'यौगिक' कहा जाता है। इसी को 'समाख्या' कहा गया है, और अवयवार्थ को न लेकर 'समुदायशक्ति' से किसी विशेष अर्थ को जो शब्द बताता है, उसे 'रूढ़' शब्द कहते हैं; जैसे—'गो' शब्द। उसका अर्थ 'गाय' है। यह अर्थ 'गो' शब्द के धातु, प्रत्ययादि अवयवों की शक्ति से निष्पन्न नहीं हुआ है, अपितु अवयवों की 'समुदायशक्ति' के बल पर 'गो' शब्द 'गाय' के अर्थ में रूढ है। उस कारण 'गो' शब्द 'रूढ' कहलाता है।

उपर्युक्त समाख्यारूप यौगिक शब्द से अंगांगिभावात्मक विनियोग का निश्चय किया जाता है। इस समाख्या के दो भेद हैं—(१) वैदिकी समाख्या, (२) लौकिकी

समाख्या। लोकव्यवहार में यौगिक अर्थ से पूर्ण कोई समाख्या (नाम = संज्ञा) किसी को दी जाती है, तब प्रतीत होता है कि दोनों में कोई सम्बन्ध अवश्य है। 'पाचक' नाम (समाख्या) सुनते ही समझ में आ जाता है कि 'पचनक्रिया' से इसका कोई सम्बन्ध अवश्य है। इसीलिए इसे 'पाचक' कहा गया है।

इसी तरह वैदिक समाख्याएँ भी होती हैं; जैसे—(१) हौत्रम्, (२) आध्वर्यवम्, (३) औद्गात्रम् आदि। दर्शपूर्णमास एवं ज्योतिष्टोमादि यागों में अपेक्षित अनेक अनुष्ठेय कार्यों को तत्तद् वेदों में बताया गया है। जैसे—आहुति देते समय 'याज्या' और 'पुरोनुवाक्या' के मंत्रों को कहना होता है, उन्हें 'ऋग्वेद' में बताया है तथा गोदोहन, व्रीहिनिर्वाप आदि अनुष्ठेय कर्मों को यजुर्वेद में बताया है, और आज्यस्तोत्र, पृष्ठस्तोत्र आदि स्तोत्रों को सामवेद में बताया है। अब किन मंत्रों को और किन कर्मों को कौन करे? यदि इसका कोई विनिगमक साधन न हो तो यज्ञीय कोई भी ऋत्विज किसी भी कार्य को करने लगेगा, तब तो अनवस्था दोष हो जायेगा। वह न हो, इसलिए 'समाख्या' के बल पर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के भिन्न-भिन्न कार्य निश्चित किये गये हैं। भिन्न-भिन्न वेदों के द्वारा कहे गये कर्मों के अनुरोध से हौत्र, आध्वर्यव, औद्गात्र आदि समाख्याएँ निश्चित की गई हैं। अतः 'हौत्र' समाख्या के नाम पर जो कर्म बताया हो, उसे 'होता' ऋत्विक् करे और 'आध्वर्यव' समाख्या के नाम पर जो कर्म बताया हो, उसे 'अध्वर्यु' ऋत्विक् करे—इस प्रकार से जो व्यवस्था की गई है, वह 'समाख्या' नामक प्रमाण के बल पर ही की गई है। वैदिक समाख्या के उदाहरण—

'होतृचमस'—इस वैदिक समाख्या से ही ज्ञात हो जाता है कि 'होता' नाम का ऋत्विज 'चमसपात्र' से 'सोमपान' करे। अर्थात् 'होता' चमसभक्षण का अंग है और 'चमसभक्षण' अंगी है—यह अंगांगिभाव हमें समाख्या प्रमाण से ज्ञात होता है। यह वैदिकी समाख्या का उदाहरण है।

'आध्वर्यव'—यह समाख्या लौकिकी है। यजुर्वेद के आध्वर्यवकाण्ड में जिन अनुष्ठेय कर्मों को बताया है, उन्हें 'अध्वर्यु' नाम का ऋत्विक् करे। यह ज्ञान 'आध्वर्यव' इस लौकिक समाख्या से हो पाता है। अर्थात् अध्वर्युकाण्ड में कहे गये कर्मों का अंग 'अध्वर्यु' है।

'प्रैतु होतुश्चमसः'—इस प्रत्यक्ष वैदिक वाक्य ने 'होतृचमस' समाख्या को बताया है, उस कारण इसे वैदिकी समाख्या माना गया है। परन्तु 'आध्वर्यव समाख्या' को किसी वैदिक वाक्य ने नहीं बताया है, उस कारण उसे लौकिकी समाख्या कहा गया है। 'अध्वर्योः कर्म आध्वर्यवम्' इस प्रकार कर्मार्थक तद्धितप्रत्यय जोड़कर याज्ञिकों के द्वारा 'आध्वर्यव' यह कल्पित समाख्या है, इसलिए यह लौकिक समाख्या का उदाहरण है।

इस रीति से अंगांगिभावदर्शक छह प्रमाणों से 'अंगत्व' का निर्णय किया जाता है और समिदादि अंगयागों से उपकृत हुए दर्शपूर्णमासरूप अंगी का अनुष्ठान किया

जाता है। ये 'अंग' दो प्रकार के होते हैं—(१) सिद्धरूप, (२) क्रियारूप। प्रथम का उदाहरण—(१) जातिविशिष्ट पशु, अर्थात् जाति, द्रव्य, संख्या ये सिद्धरूप अंग हैं, जो 'दृष्टार्थ' ही होते हैं।

(२) क्रियारूप अंग दो प्रकार के होते हैं –(१) गुणकर्म और (२) प्रधान कर्म। इन्हीं को 'सन्निपत्योपकारक' और 'आरादुपकारक' भी कहते हैं। अर्थात् 'गुणकर्म' को 'सन्निपत्योपकारक' और 'प्रधानकर्म' को 'आरादुपकारक' कहते हैं। 'आरात् दूरात्, दूरे स्थित्वा, साक्षाद् द्रव्यादिसम्बन्धमन्तरा उपकरोतीति आरादुपकारकम्'—यह 'आरादुपकारक' की निरुक्ति है।

सन्निपत्योपकारक अंग कर्म तीन प्रकार का होता है—(१) दृष्टार्थ, (२) अदृष्टार्थ, (३) दृष्टादृष्टार्थ। इस सन्निपत्योपकारक कर्म को ही 'आश्रयिकर्म' के नाम से भी कहते हैं। क्योंकि अवघात, प्रोक्षण, पशुपुरोडाश आदि जो सन्निपत्योपकारक कर्म हैं, वे सभी 'द्रव्य', 'देवता' आदि के आश्रय से (संबंध से) होने वाले कर्म हैं। इसलिए तीनों प्रकार के सन्निपत्योपकारक कर्म को 'आश्रयिकर्म' यह दूसरा नाम भी दिया गया है—यह रामेश्वरभिक्षु का कथन है। किन्तु मेरे गुरुचरण पूज्यपाद, पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय श्रीचिन्नस्वामी जी ने 'इदमेव चाश्रयिकर्मेत्युच्यते' की व्याख्या अन्य प्रकार से की है। अत: उभयार्थ सन्निपत्योपकारक कर्म को ही 'आश्रयिकर्म' कहना उचित है। सूत्रकार, भाष्यकार, पार्थसारथि आदि विद्वानों ने भी इसी का समर्थन किया है।

(१) व्रीहि का अवहनन रूप सन्निपत्योपकारक कर्म 'दृष्टार्थ' है, क्योंकि अवहनन किये बिना 'चरु' या पुरोडाश तय्यार नहीं हो सकता। (२) प्रोक्षण रूप सन्निपत्योपकारक कर्म 'अदृष्टार्थ' है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष में कोई उपयोग दिखाई नहीं देता। (३) 'पशुपुरोडाश'—'दृष्टादृष्टार्थ' होता है। क्योंकि पशुयाग में या पुरोडाशयाग में देवता के उद्देश्य से किया जानेवाला 'द्रव्य-त्याग' अदृष्टार्थ है, और देवता का स्मरण प्रत्यक्षरूप से याग में उपयोगी होने से दृष्टार्थ है। इसी को आश्रयिकर्म कहा है।

द्रव्य आदि को उद्देश्य न कर विहित कर्म को आरादुपकारक कहा गया है। इसी को 'प्रधान कर्म' भी कहा है। जैसे—प्रयाज (समिधो यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति, तनूनपातं यजति) किसी कर्मांगभूत द्रव्य के संस्कारार्थ नहीं हैं। ये बिना किसी उद्देश्य के बताये गये हैं। इसलिए ये प्रयाज 'आरादुपकारक' कहे गये हैं। 'सन्निपत्योपकारक' और 'आरादुपकारक' में भेद केवल इतना ही है कि पहिला 'उद्देश्य' को लेकर है और दूसरा 'उद्देश्य' से रहित है।

प्रयोग-विधि—विलम्बरहित 'कर्म' कराने के लिए जो विधि होती है, उसे 'प्रयोगविधि' कहते हैं। यह 'प्रधान विधि' ही है, जो 'अंगवाक्यों' के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर चुका है।

कर्मानुष्ठान में अविलम्ब के लिए कर्मों में किसी एक क्रम की व्यवस्था रखनी

पड़ती है। उस क्रम को निश्चित करने वाले छह प्रमाण होते हैं—(१) श्रुति, (२) अर्थ, (३) पाठ, (४) स्थान, (५) मुख्य, (६) प्रवृत्ति। वेदवाक्य के अनुरूप क्रम को 'श्रुतिक्रम' कहते हैं। प्रयोजन के अनुरूप क्रम को 'अर्थक्रम' कहते हैं। पदार्थबोधक वाक्यानुरूप क्रम को 'पाठक्रम' कहते हैं। उपस्थिति के अनुरूप क्रम को 'स्थानक्रम' कहते हैं। प्रधानकर्मानुरूप क्रम को 'मुख्यक्रम' कहते हैं। गौण अंगों के अनुरूप क्रम को 'प्रवृत्तिक्रम' कहते हैं।

(१) **श्रुति**—क्रमपरक वेदवाक्य को 'श्रुति' कहते हैं। उसके 'दो' प्रकार हैं—(१) केवलक्रमपरक, (२) क्रमविशिष्टपदार्थपरक। जैसे—'वेदं[1] कृत्वा वेदिं करोति'—यह श्रुतिवाक्य केवलक्रमपरक है, क्योंकि 'वेदिकरण' का विधान 'अन्य-वाक्य' से प्राप्त है। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'—यह वाक्य 'क्रमविशिष्टपदार्थ' को बता रहा है। यहाँपर 'भक्ष' का अनुवाद कर (उद्देश्यकर) 'केवलक्रम' का विधान करना सभव नहीं है, क्योंकि समास में 'उद्देश्य-विधेयभाव' से जो पढ़ा गया है, उसका भंग हो जायेगा, अर्थात् 'वाक्यभेद' नामक दोष हो जायेगा। इसी को 'एकप्रसरता भंग' या 'अविमृष्टविधेयांश' दोष भी कहा गया है।

यह 'श्रुतिप्रमाण' अन्य प्रमाणों से बलवान् माना गया है, क्योंकि अन्य प्रमाणों को 'श्रुति' की कल्पना करके ही 'प्रामाण्य' प्राप्त होता है; और 'श्रुति' को अपने 'प्रामाण्य' के लिए किसी अन्य की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

जैसे—'ज्योतिष्टोम यज्ञ' में इन्द्र, वायु आदि देवताओं के पात्र बताये गये हैं। उनमें 'आश्विनपात्र' को तृतीय स्थान में पढ़ा गया है। इसलिए 'पाठक्रम' के अनुसार वह तीसरा पड़ता है, तथापि 'आश्विनो दशमो गृह्यते'—इस श्रुति-वाक्य से उसे 'दसवाँ पात्र' माना जाता है।

क्रमबोधक 'अर्थ' प्रमाण का स्वरूप और 'पाठक्रम' की अपेक्षा उसकी प्रबलता—

(२) क्रमबोधक **'अर्थ'** प्रमाण—जहाँ प्रयोजन की दृष्टि से 'क्रम' का निर्णय किया जाता है, उसे 'आर्थक्रम' कहते हैं। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति' और 'यवागूं पचति'। यहाँ पर 'यवागू' से 'अग्निहोत्र होम' किया जाता है। इसलिए 'पाठक्रम' के अनुसार 'अग्निहोत्र' के बाद 'यवागू' का पाठ रहने पर भी 'आर्थक्रम' से 'अग्नि-होत्र' के पूर्व 'यवागू' को पकाया जाता है, क्योंकि 'यवागूपाक' का प्रयोजन 'अग्नि-होत्र होम' करना है। यदि ऐसा न किया जाय तो 'यवागूपाक' का प्रयोजन 'अग्नि-होत्रानुष्ठान' न होकर 'अदृष्ट' हो जायेगा, किन्तु 'दृष्टफल' के संभव रहते 'अदृष्ट-फल' को मानना उचित नहीं है। अतः 'पाठक्रम' की अपेक्षा 'आर्थक्रम' को बलवान् माना जाता है।

---

१ वेदो नाम दर्भमुष्टिविशेषः। 'दर्भमुष्टिं विधाय द्विगुणं कृत्वा अग्रभागे प्रादेशानन्तरं बध्वा अग्राणि छिनत्ति, स वेदः'। अनेन पुरोडाशलग्नभस्मापोहनं क्रियते। कुशमुष्टिवाचको वेदशब्दः अन्तोदात्तः।

'पाठक्रम' के दो भेद—

(३) क्रमबोधक **'पाठ'** प्रमाण—पदार्थबोधक वाक्यों के 'क्रम' को 'पाठक्रम' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—(१) मन्त्रपाठ और (२) ब्राह्मणपाठ।

'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—वेद के दो भाग हैं—(१) मन्त्र और ब्राह्मण। उनमें से मन्त्रपाठ के अनुसार 'एक क्रम' किसी अनुष्ठेयकर्म का प्राप्त हुआ और ब्राह्मणपाठ के अनुसार कोई दूसरा ही 'क्रम' प्राप्त हुआ। तब कैसी व्यवस्था करनी चाहिए? यह संदेह होने पर मीमांसा ने निर्णय किया है कि दर्शपूर्णमासयाग में 'आग्नेय' और 'अग्नीषोमीय' नाम के 'दो याग' अन्य यागों के साथ बताये गये हैं। तब 'आग्नेययाग' को पहिले करें या 'अग्नीषोमीय याग' को? यह समस्या उत्पन्न होती है। क्योंकि तैत्तिरीयब्राह्मण के पञ्चम प्रपाठक में द्वितीय अनुवाक के एक वाक्य 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्' से 'अग्नीषोमीय-याग' को पहिले बताया गया है। तथा उसी ब्राह्मण के षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अनुवाक के 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाञ्च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' वाक्य से 'आग्नेय याग' को बाद में बताया है। अर्थात् तैतिरीयब्राह्मण के 'पाठक्रम' के अनुसार 'अग्नीषोमीय याग' को पहिले करें और 'आग्नेययाग' को उसके बाद करें। यह समझ में आता है। किन्तु इन्हीं यागों के सम्बन्ध में 'मन्त्रपाठक्रम' उसके विपरीत उपलब्ध होता है। मन्त्रपाठक्रम में आग्नेय याग की याज्या-अनुवाक्या के मन्त्र पहिले और अग्नीषोमीययाग की याज्या-अनुवाक्या के मन्त्रों को बाद में पढ़ा गया है। अतः ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा मन्त्रपाठ बलवान् होने से तत्तद् यागों की याज्या-अनुवाक्या मन्त्रों के पाठक्रम के अनुसार ही ब्राह्मणपाठोक्त यागों का क्रम समझना चाहिए और तदनुसार ही यागों का अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणपाठ की अपेक्षया मन्त्रपाठ को अन्तरंग रहने से बलवान् माना जाता है। ब्राह्मणवाक्य तो 'इदं एवं कर्तव्यम्'—यह कहकर कृतार्थ हो जाता है, किन्तु मन्त्र-वाक्य अनुष्ठान के समय अपना कार्य करते हैं। मन्त्र का कार्य है 'स्मरण' कराना और उसी से अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण होता है। एवं च अनुष्ठेय पदार्थों का क्रम मन्त्रक्रम के अधीन रहने से मन्त्रपाठ को अंतरंग समझा जाता है। उसी कारण उसे बलवान् कहा गया है।

जहाँ पर क्रम-निर्धारण के लिए मन्त्रपाठ न हो, वहाँ ब्राह्मणपाठ से ही उसका निर्धारण किया जाता है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अनुष्ठेय पदार्थ का विधान करके चरितार्थ हो जाते हैं, किन्तु अनुष्ठान के समय अनुष्ठेय पदार्थों की याद दिलानेवाला कोई साधन न होने से ब्राह्मणवाक्य वहाँ पर विधान के साथ ही उनके क्रम का भी स्मरण करा देते हैं। जैसे—प्रयाज आदि अनुष्ठेय पदार्थों के क्रम का अन्य कोई स्मारक नहीं है, अतः उनके क्रम का स्मरण भी ब्राह्मणवाक्य ही करा देते हैं। एवं च प्रयाजों के अनुष्ठान का क्रम 'ब्राह्मणपाठ' के अनुसार ही निश्चय किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ स्मारक मन्त्रभाग रहता है, वहाँ ब्राह्मणपाठ से क्रम का

निर्धारण नहीं किया जाता। किन्तु जहाँ स्मारक मन्त्रपाठ नहीं रहता, वहाँ ब्राह्मण-ग्रन्थ के पाठानुसार ही क्रम का निर्धारण किया जाता है। अर्थात् वहाँ पर ब्राह्मण पाठ कर्म करने के लिए तो कहता ही है, साथ ही साथ क्रम का स्मरण भी कराता है।

(४) **स्थानक्रम**—प्रकृति के अनेक पदार्थों का विकृति में अनुष्ठानकर्तव्य होने पर जिसके स्थान पर अनुष्ठान करना हो उसका प्रथम और अतिदेश से प्राप्त हुए का पश्चात् अनुष्ठान होता है। क्योंकि 'स्थान' का अर्थ है—उपस्थिति। इसलिए जिसकी जगह अनुष्ठान करना हो उसका अनुष्ठान होने के पश्चात् जिसकी उपस्थिति होती है, उसका अनुष्ठान करना उचित ही है। इस क्रम को स्थानक्रम कहते हैं।

उदाहरण—साद्यस्क्रयाग[1] में अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य—इनका अनुष्ठान[2] सवनीय की जगह कर्तव्य होने पर सवनीय पशु का अनुष्ठान प्रथम होता है; पश्चात् शेष दो पशुओं का अनुष्ठान किया जाता है। क्योंकि वह सवनीय का प्रदेश है, अन्य पशुओं का नहीं।

ये तीनों पशु ज्योतिष्टोम में हैं। वहाँ उनके दिन भी अलग-अलग हैं[3]। इस विकृतियाग में सवनीय की प्रधान का सम्बन्ध प्राप्त होने से मुख्यता है। इसलिए उसका प्रथम अनुष्ठान कर पश्चात् दोनों का करना उचित ही है।

(५) **मुख्यक्रम**—प्रधानक्रम के अनुसार जो अंगों का क्रम होता है, उसे मुख्यक्रम कहते हैं। जिस क्रम से प्रधान कर्म किया जाता है उसी क्रम से अंग कर्म का भी अनुष्ठान करने पर प्रत्येक अंग का प्रधान के साथ तुल्य व्यवधान रहता है। अन्यथा कहीं पर पूर्ण व्यवधान और कहीं पर अत्यधिक व्यवधान होगा। इसका फल यह होता है कि कर्मानुष्ठान की सुव्यवस्था असुरक्षित रहती है और आगे के कर्मों में आरंभ कहाँ से किया जाय, इस सम्बन्ध में अनवस्था भी नहीं होती। इसलिए प्रधानक्रम के अनुसार ही अंगक्रम मानना उचित है।

उदाहरण—प्रयाजशेषघृत से अग्निसम्बन्धी हवि का प्रथम अभिधारण करना चाहिए, पश्चात् इन्द्रसम्बन्धी दही का अभिधारण करना चाहिए। ये दोनों जिस क्रम से हैं उसी क्रम से ही हवन करना होता है। इस क्रम से कर्म करने पर उसमें

---

१. साद्यस्क्रः—एकादिनानुष्ठेयः सद्यः सोमक्रयविशिष्टः सोमयागविशेषः। (शा० भा०) साद्यस्कः—सद्यःकालीनः—(शा० दी०, न्या० मा०) ये दोनों पाठ हैं। यह याग सोमयाग की विकृति है। इसलिए इसमें भी सोम की ही प्रधानता है। उस प्रधानभूत सोम की प्राप्ति (प्रत्यासत्ति) अग्निषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य इन तीन पशुयागों में से सवनीय पशुयाग में ही होती है।

२. 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' न्याय से तीन पशुयाग साद्यस्क्र में प्राप्त हुए, तब 'सह पशून् आलभेत' इस श्रुति में उनका साहित्य बताया गया है।

३. औपवसथ्य के दिन अग्नीषोमीय पशु, सुत्या के दिन सवनीय पशु और अन्तिम दिन अनुबन्ध्य पशु।

किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता; केवल एकान्तरित कृत्य होता है, जो अधिक व्यवधान की दृष्टि की अपेक्षा सह्य है।

यह मुख्य क्रम पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल होता है। क्योंकि किसी अन्य प्रमाण के सहारे प्रधान का क्रम निश्चित कर उसके अनुसार मुख्य क्रम चलता है और पाठक्रम को स्वाध्याय क्रम के अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं होती।

उदाहरण—आग्नेययाग, उपांशुयाग और अग्नीषोमीययाग इनका यथाक्रम अनुष्ठान किये जाने पर भी उपांशुयाग सम्बन्धी आज्यनिर्वाप को मुख्यक्रम के अनुसार प्रथम न कर पाठक्रम के अनुसार पश्चात् किया जाता है, क्योंकि पाठक्रम मुख्यक्रम की अपेक्षा बलवान् होता है।

यह मुख्यक्रम 'प्रवृत्तिक्रम' की अपेक्षा प्रबल होता है। क्योंकि प्रवृत्तिक्रम का स्वीकार करने पर कितने ही अंगों को प्रधान से विप्रकृष्ट होना पड़ता है और मुख्य क्रम के स्वीकार करने पर सन्निकर्ष प्राप्त होता है।

(६) **प्रवृत्तिक्रम**—युगपत् अनुष्ठेय प्रधान कर्मों में उपस्थित अंगों की आवृत्ति। यहाँ पर द्वितीयादि पदार्थों का क्रम प्रथम पदार्थ के क्रम के अनुसार होता है।

उदाहरण—वाजपेय यज्ञ में सतरह[1] पशुओं का आलंभन बताया गया है और उनका अनुष्ठान 'साहित्य' से ही करने के लिए कहा गया है[2]। एक ही देवता के उद्देश्य से इन सतरह पशुओं के होने से इनका सहानुष्ठान तो संभव है किन्तु उपाकरणादिक अनेक क्रियाएँ जो बताई गई हैं उनका एक काल में अनुष्ठान होना असंभव है, क्योंकि एक ही समय सतरह पशुओं का उपाकरण होना संभव नहीं। अतः इनका साहित्य-संपादन करने के लिए प्रथम पदार्थ का अनुष्ठान जिस क्रम से किया गया है, उसी क्रम से दूसरे, तीसरे आदि पदार्थों का अनुष्ठान करने से यह साहित्य बन सकता है। इस क्रम के स्वीकार करने पर कहीं किसी में भी कम-ज्यादा व्यवधान नहीं होता।

अधिकार-विधि—कर्मफल के भोक्ता को बताने वाला जो विधि, उसे अधिकार विधि कहते हैं।

उदाहरण—'यजेत स्वर्गकामः' इस विधि से ज्ञात होता है कि स्वर्गकाम पुरुष यज्ञ फल के भोगने का अधिकारी है। अथवा—'यस्य गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते अष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्' अर्थात् जिस आहिताग्नी के घर को आग लगे वह क्षामवत् अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश देवे। इस विधि के द्वारा बताया गया है कि गृहदाह के होने पर कर्म करने वाले का पाप नष्ट होता है अर्थात् पापविनाश रूप फल का वह अधिकारी बताया गया है।

विधिवाक्य में कथित विशेषणों से विशिष्ट हुए बिना कर्म करने का अधिकारी नहीं बन सकता।

उदाहरण—'राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत' इस वाक्य से यह स्पष्ट है

---

१. 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते' (तै० ब्रा० १।३।४।३)
२. 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'। (मी० न्या० प्र० पृ० १८९)

कि स्वाराज्य इच्छुक कोई भी पुरुष 'राजसूय यज्ञ' नहीं कर सकता, बल्कि राजा यदि स्वाराज्य इच्छुक हो तो वही कर सकता है।

कतिपय अश्रुत पद भी पुरुष के विशेषण रूप में मान लिये जाते हैं। जैसे — १. अध्ययन-प्राप्त विद्या, २. आधानसिद्ध अग्नि, ३. सामर्थ्य।

(१) अध्ययनविधि-सिद्ध विद्या के बिना अर्थज्ञान होना संभव नहीं। और अर्थज्ञान हुए बिना कर्म कर पाना संभव नहीं, इसलिए अध्ययन-प्राप्त विद्या की आवश्यकता होती है।

(२) आधान-सिद्ध अग्नि की भी आवश्यकता होती है। उसके बिना अग्नि-साध्य कर्म का होना संभव नहीं। शूद्रादिकों को यागादि कर्मों का अधिकार नहीं क्योंकि उपनयन त्रैवर्णिकों के लिए ही बताया है, शूद्रादिकों के लिए नहीं। अब उपनीत हुए बिना वेदाध्ययन नहीं और वेदाध्ययन के बिना यज्ञाधिकार नहीं।

इसी तरह अग्नि का आधान[१] भी त्रैवर्णिकों के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। अर्थात् उपनयन, अध्ययन, अग्न्याधान — इनमें से कुछ भी न होने के कारण शूद्रादिकों को यागादि में अधिकार नहीं बताया गया है।

इसके विपरीत वर्षा ऋतु में रथकार[२] को अग्नि का आधान करने के लिए कहा गया है।

वेद के द्वारा आधान का अधिकार रथकार को मिलने पर भी आधानोत्तर कर्मों में उसे अधिकार नहीं है। क्योंकि अध्ययनविधिसिद्ध ज्ञान का उसके पास अभाव है।

इसी तरह स्त्रियों को यज्ञ में कहाँ तक अधिकार है? इस सम्बन्ध में मीमांसा के विचारों को थोड़ा-सा देख लिया जाय तो अनुचित न होगा।

'यजेत स्वर्गकामः' यहाँ पर 'स्वर्गकामः' पद यद्यपि पुँल्लिग है, तथापि क्रिया के उद्देश्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त उसका कोई प्रयोजन नहीं और लिंग का भी उसी से सम्बन्ध होने के कारण वह विवक्षित नहीं है। यह ग्रहैकत्वाधिरण[३] के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है। इस तरह पुँस्त्व के अविवक्षित होने पर स्त्रियों का भी अधिकार यज्ञादिकों में सिद्ध है। किन्तु कलियुग में स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन का निषेध होने से वे उस अधिकार से वंचित रहती हैं, यह अलग बात है।

१. 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः। तै० ब्रा० १।१।२
२. वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत'। (बौ० श्रौ० सू० २।१२।५३।१७)

पति	पत्नी	संतति (जाति)
क्षत्रिय	वैश्यकुमारी	माहिष्य
वैश्य	शूद्री	करिणी
माहिष्य पुत्र	करिणी कन्या	रथकार

३. शाबरभाष्य ३।१।७।

'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इस स्मृति-वचन से भी स्त्रियों को स्वतन्त्र रूप से अधिकार नहीं है, यह प्रतीत होता है।

केवल स्त्री या पुरुष के द्वारा यज्ञ संपूर्ण हो नहीं सकता। क्योंकि पुरुष के यज्ञ में पत्नीकर्तृक आज्यावेक्षण और स्त्रीकर्तृक यज्ञ में पतिकर्तृक आज्यावेक्षण लुप्त होने का प्रसंग आयेगा।

पति-पत्नी के सहाधिकार[1] का निर्णय होने पर उपर्युक्त अड़चन नहीं पड़ती और पति के अधीतवेद होने के कारण पत्नी के अध्ययनाभाव की कमी भी दूर हो जाती है।

(३) अध्ययन-सिद्ध ज्ञान और आधान-सिद्ध अग्नि के समान 'सामर्थ्य' की भी आवश्यकता होती है। बिना सामर्थ्य के समग्र विधि का अनुष्ठान होना संभव नहीं और समग्र विधि का अनुष्ठान हुए बिना फल का लाभ संभव नहीं।

नित्य और काम्य कर्म में इतना ही अन्तर होता है कि काम्य कर्म में अंग और प्रधान दोनों के अनुष्ठान में कर्ता को समर्थ होना होता है, और नित्यकर्म में केवल प्रधान कर्म के लिए समर्थ होने पर भी चल सकता है। सामर्थ्य को आवश्यक न मानने पर कर्म सांग नहीं हो पायेगा।

कर्मस्मरण में मंत्र की आवश्यकता—अनुष्ठान[2] के समय तत्संबंधित पदार्थों का स्मरण करानेवाले वेदभाग को मंत्र कहते हैं। मंत्रों का उच्चारण अदृष्ट फल के लिए न होकर स्मरण रूप दृष्ट फल के लिए ही माना जाता है। क्योंकि जहाँ दृष्टफल[3] की संभावना हो सकती हो, वहाँ अदृष्ट फल की कल्पना करना अनुचित है। किन्तु प्रत्यक्ष फलप्रद किसी कर्म को करने के लिए मंत्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह मानने पर मंत्रभाग निरर्थक हो जायेगा। अतः उसकी सार्थकता के लिए 'मंत्र के द्वारा ही स्मरण करना चाहिए'[4] इस नियम-विधि को स्वीकार करना पड़ता है।

विधि तीन प्रकार का होता है—

१. अपूर्वविधि, २. नियमविधि, ३. परिसंख्याविधि[5]।

अपूर्वविधि—जिसकी जिसके लिए अत्यन्त अप्राप्ति होती है, उसकी उसके लिए विधि बताना ही अपूर्वविधि है। अर्थात् अपूर्वविधि अपूर्व बात को बताती है।

उदाहरण—'यजेत स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य के द्वारा स्वर्ग के लिए यज्ञ करने की अपूर्व बात बताई गई है। इसलिए यह अपूर्वविधि है।

नियमविधि—पाक्षिक अप्राप्ति वाले कर्म के विधान को नियमविधि कहते हैं।

---

१. 'पाणिग्रहणात्तु सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु'। (मी० न्या० प्र० पृ० १९७)

२. 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मंत्राः'। (मी० न्या० प्र० पृ० २०१)

३. 'सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनमन्याय्यम्'। (मी० न्या० प्र० पृ० २०१)

४. 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्'। (मी० न्या० प्र० पृ० २०१)

५. 'विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥' (तं० वा० १।२।४)

उदाहरण—'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य में छिलका निकालने के लिए अवहनन का विधान न होकर अवघात के द्वारा ही छिलका निकालने के नियम को यह बता रहा है। क्योंकि यद्यपि इस वाक्य के द्वारा अवहनन नहीं बताया गया, तथापि चरु पुरोडाश करने के लिए व्रीहि का वितुषीकरण तो आवश्यक है ही। वह वितुषीकरण अवघात से या अन्य किसी भी प्रकार से किया जा सकता है, ऐसी स्थिति में अवघात से ही वितुषीकरण होना उचित है; इस नियम को यह उपर्युक्त वाक्य बता रहा है। इसलिए यह नियमविधि है। नियमविधि भावविषयक होता है।

परिसंख्याविधि—यह दो प्रकार का होता है। एक श्रौती परिसंख्या और दूसरा लाक्षणिकी परिसंख्या।

अन्यव्यावृत्तिपरक शब्द जहाँ हो उसे श्रौती परिसंख्या कहते हैं।

उदाहरण—'अत्र ह्येवावपन्ति'[1] वाक्य में 'एव' इस प्रत्यक्ष श्रुत शब्द से परिसंख्या को व्यक्त किया जा रहा है। इसलिए यह श्रौती परिसंख्या का उदाहरण है।

[2]कुछ पुस्तकों में 'अत्र ह्येवावयन्ति' पाठ भी देखने मिलता है। और इसी पाठ को लेकर डॉ० थीबो ने उसका भाषान्तर[3] किया है।

किन्तु यह पाठ और डॉ० थीबोकृत उसका अर्थ दोनों गलत हैं। डॉ० थीबो यहाँ के प्रसंग को समझ नहीं पाये। अध्या० १०।५।६ठे अधिकरण के आवावोद्वाप के प्रसंग को देखने से स्पष्ट होता है कि 'आवपन्ति' पाठ ही होना चाहिए। तब डॉ० थीबो का अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं हो पाता।

लाक्षणिकी परिसंख्या का उदाहरण 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' है। यहाँ पर अन्य निवृत्तिवाचक शब्द नहीं है। यहाँ परिसंख्या केवल अर्थाक्षिप्त होती है। इसलिए इसे श्रौती नहीं कहते। इसे लाक्षणिकी कहने का कारण यह है कि यहाँ 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का मुख्यार्थ बाधित होकर लाक्षणिक[4] अर्थ को स्वीकार करना पड़ता है।

इस लाक्षणिकी परिसंख्या में—१. श्रुतहानि, २. अश्रुतकल्पना, ३. प्राप्तबाध ये तीन दोष रहते हैं[5]। किन्तु श्रौती परिसंख्या में परिसंख्यावाचक शब्द के प्रत्यक्ष श्रुत होने से स्वार्थ-त्याग और परार्थ-स्वीकार इन दोषों के न होने पर भी केवल 'प्राप्तबाध' यह एक ही दोष वहाँ पैदा होता है[6]।

---

१. त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि यद् गायत्री, बृहती, अनुष्टुप् च। अत्र ह्येवावपन्ति अत एवोद्वपन्ति (मी० १०।४।१३)।

२. अर्थसंग्रह, मुंबई तथा बनारस संस्करण। आपदेवी, मुंबईसं०।

3. 'There only they sing'।

४. अपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति।

५. श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा॥ (अर्थसं० परि० सं० प्र०)

६. 'न च परिसंख्यायाः त्रिदोषत्वम्। एव कारेण तस्या एव श्रुतत्वात्।
(१०।४।१२ शा० दी०)

यहाँ पर 'श्रुतहानि' शब्द अन्वर्थक है। क्योंकि मांसाशन रागतः प्राप्त होने से 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' कथन का कोई तात्पर्य ही नहीं। परन्तु इससे 'तद्व्यतिरिक्त अभक्ष्य हैं' यह निश्चित हो जाने से यह अश्रुतकल्पना हुई। और संपूर्ण पशुओं की प्राप्ति होने पर पाँच पशुओं को ही भक्ष्य बताया गया, इसलिए प्राप्तबाध हुआ। इस तरह त्रिदोष-दूषित यह लाक्षणिकी परिसंख्या होती है। परिसंख्याविधि अभाव-विषयक होता है।

नामधेय—नामधेयों का भी अपना विशेष अर्थ होता है। किन्तु वह विधि के बताये विधान का केवल नियमन करता है।

उदाहरण—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में 'उद्भिद्'—यह याग का नाम है। इसके द्वारा अन्य यागों से इस याग की भिन्नता प्रकट होती है। नामधेय के होने में—१ मत्वर्थलक्षणा का भय, २. वाक्यभेद का भय, ३. तत्प्रख्यशास्त्र, ४. तद्-व्यपदेश—ये चार कारण हुआ करते हैं।

उदाहरण—(१) 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में 'उद्भिद्' को यज्ञ का नाम न मानने पर मत्वर्थलक्षणा[1] का स्वीकार करना होगा। किन्तु इस तरह लक्षणा का मानना अर्थ की दृष्टि से गौरव है। अतः गौरव को स्वीकार करने की अपेक्षा जो अर्थ ठीक जम सके उसी का स्वीकार करना उचित है। इसलिए यहाँ पर 'उद्भिद्' को याग का 'नामधेय' मान लिया गया है। (२) कहीं वाक्यभेद के प्रसंग से बचने के लिए नामधेय का स्वीकार किया जाता है।

उदाहरण—'चित्रया यजेत पशुकामः'[2] पशुओं की जिसे इच्छा हो वह 'चित्रा' याग करे। इस वाक्य में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'चित्रा' शब्द किसी याग का नाम है या चित्र विचित्र और स्त्रीलिंग का यहाँ विधान किया जा रहा है? विचार करने पर यह पता चलता है कि 'चित्रा' पद यहाँ गुणविधायक नहीं है, क्योंकि गुण-विधान तो पहले ही एक अन्य वाक्य[3] से किया जा चुका है। इसलिए गुणविशिष्ट याग का विधान करना अनुचित है। सिवाय एक ही वाक्य के द्वारा फल सम्बन्ध और गुणविधान करने पर वाक्य की आवृत्ति करनी पड़ेगी। इसी आवृत्तिरूप वाक्य-भेद[4] से बचने के लिए 'चित्रा' शब्द को याग का नाम स्वीकार करना पड़ा[5]।

तत्प्रख्यशास्त्र—जिस गुण का विधान करना चाहते हैं, उसके प्रख्यापक किसी अन्य शास्त्र के होने पर उसे याग का नाम मान लिया जाता है।

श्रुतत्वादेव स्वार्थत्यागपरार्थस्वीकारलक्षणदोषद्वयाप्रसङ्गान्न त्रयोऽपि दोषाः। किन्तु प्राप्तबाधलक्षण एक एव इति नात्यन्तदुष्टा परिसंख्या इति भावः (टीका)

१. उद्भिद्वता यागेन।

२. 'अपि वा नामधेयं स्यात् यदुत्पत्तावपूर्वविधायकत्वात्'। (जै० सू० १।४।२)

३. 'दधिमधुपयोघृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्'।

४. 'यागेन पशुं भावयेत्' 'दध्यादिविचित्रद्रव्येण यागं भावयेत्'।

५. यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः'। (जै० सू० १।४।३)

उदाहरण—'अग्निहोत्रं जुहोति'[1] 'आघारमाघारयति'—यहाँ अग्नि तथा आघार रूप गुणों का विधान नहीं किया गया है। क्योंकि अन्य शास्त्र[2] से ही अग्नि तथा आघार की प्राप्ति हो चुकी है। अतः पिष्टपेषण की तरह प्राप्त हुए का पुनः विधान करना विधि का कार्य न होने से अग्निहोत्र और आघार दोनों कर्म के ही नाम स्वीकार किये गये हैं।

'अग्नौ होत्रम्' ऐसा अर्थ कर अग्निरूप गुण का जैसे विधान नहीं किया जाता, वैसे ही 'अग्नये होत्रम्' ऐसा अर्थ कर अग्निरूप देवता का भी विधान नहीं हो सकता। क्योंकि किसी[3] अन्य वाक्य से 'अग्नि' रूप देवता की प्राप्ति हो चुकी है। जैमिनि ने इस बात को अच्छी तरह बताया है[4]।

तद्व्यपदेश—तद्व्यपदेश से भी कहीं-कहीं नामधेय का निर्णय किया जाता है।

उदाहरण—'श्येनेनाभिचरन् यजेत' यहाँ पर श्येन शब्द तद्व्यपदेश के कारण याग का नाम है।

व्यपदेश शब्द का अर्थ है—उपमान। अतः श्येन शब्द से यहाँ पक्षी का अर्थ न लेकर याग का नाम समझना चाहिए; अर्थात् श्येन नाम का याग। यदि ऐसा अर्थ न किया जाय तो अर्थवाद वाक्य का तात्पर्य ठीक-ठीक नहीं लग सकेगा।

श्येन का उपमान रूप से उल्लेख करने वाले वाक्य[5] में जो उपमानोपमेयभाव ज्ञात हो रहा है, उससे यह स्पष्ट है कि यहाँ पर श्येन शब्द कर्म का ही वाचक है। बिना उसके श्येन शब्द की उपमा ठीक नहीं बैठती। क्योंकि उपमानोपमेयभाव सदैव भिन्ननिष्ठ हुआ करता है। स्वयं की स्तुति स्वयं से ही नहीं हुआ करती। अतः यहाँ श्येनयाग को स्वतंत्र मानकर तत्संबंधित अर्थवाद के द्वारा उसकी स्तुति किया जाना और उसे श्येन पक्षी की उपमा देना आदि सुसंगत होता है। इस विषय को जैमिनि ने अच्छी तरह बताया है[6]।

इन चार कारणों के अतिरिक्त न्यायसुधाकार[7] आदि कुछ विद्वानों ने नामधेय का एक कारण और माना है जिसे 'उत्पत्तिशिष्ट गुणबलीयस्त्व' कहते हैं।

उदाहरण—'वैश्वदेवेन यजेत' यहाँ पर ऊपर बताये गये चार कारणों में से किसी का भी संभव न होने से इसी निमित्त के बल वैश्वदेव शब्द को कर्म का नाम माना गया है। उत्पत्तिशिष्ट गुणबलीयस्त्व का अर्थ है कि उत्पत्तिवाक्य में बताये गये

---

१. तै० सं० काण्ड १, प्रपा० ५, अनु० ९।

२. 'आहवनीये जुहोति'।

३. 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'।

४. 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (जै० सू० १।४।४)।

५. 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्य निपत्यादत्ते यमभिचरति श्येनेन'।

६. 'तद्व्यपदेशञ्च'। (जै० सू० १।४।५)

७. न्यायसुधा; चौ० सं०, पृ० ४७११, पं० ३३।

गुण की प्रबलता होना और उस कारण अन्य किसी भी गुण का समावेश न कर सकना। 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में विश्वदेव देवतारूपी गुण का विधान करना संभव नहीं, क्योंकि उसका विधान अन्य वाक्य से किया जा चुका है।

यहाँ पर विश्वदेव देवता का विधान एक अन्य[1] वाक्य से प्राप्त है, तथापि तत्प्रख्यशास्त्र से यहाँ नामधेयता नहीं हो सकती, क्योंकि 'वैश्वदेव' याग में आठ प्रकृत याग हैं, उनमें से सात में 'विश्वदेव देवता' प्राप्त है, आठवे में नहीं। 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य के द्वारा आठों यागों का विधान होने से देवता को अनुवाद रूप में बताया गया है।

किन्तु [2]पार्थसारथी मिश्र यहाँ पर तत्प्रख्यन्याय से ही नामधेय होना मानते हैं। और [3]भाट्टदीपिकाकार खण्डदेवादि केवल तत्प्रख्यन्याय से नामधेयता का स्वीकार न कर उत्पत्तिशिष्ट गुणबलीयस्त्व को भी सहकारी मानते हैं। अर्थात् इनके मत से उत्पत्तिशिष्ट गुणबलीयस्त्वसहकृत तत्प्रख्यन्याय से वैश्वदेव शब्द कर्म नामधेय माना गया है।

निषेध—निषेध के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसका पुरुषार्थ से क्या सम्बन्ध है? उत्तर में यही कहना होगा कि अनर्थकारक कर्म से मनुष्य को हटाकर इष्ट-प्राप्ति में उपस्थित होने वाले विघ्नों के दूर करने में निषेधवाक्यों का उपयोग होता है।

वेदवाक्य के द्वारा बताये गये कर्म को सुनते ही उसमें श्रेयस्कर बुद्धि हो जाती है और मनुष्य की उधर प्रवृत्ति होती है। इसी तरह निषेधवाक्य के सुनते बराबर निषिद्ध कर्म में अनर्थकारक बुद्धि हो जाती है और उस निषिद्ध कर्म से मनुष्य की निवृत्ति होती है।

निषेध का वाचक नञ् (न) होता है। उसका अन्वय अव्यवहित धातु के साथ करना उचित है या प्रत्यय की भावना के साथ?

उदाहरण—'न भक्षयेत्' 'न हन्तव्यः'।

अव्यवहित धातु के साथ ही नञ् का अन्वय करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार अन्वय करने पर 'यजेत' का अर्थ 'याग करो' होता है, उसी प्रकार 'न यजेत' का 'यागाभाव करे' अर्थ होगा, तब यह निषेधवाक्य न होकर विधिवाक्य ही होगा। परन्तु यह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं।

'किसी एक में दिया गया विशेषण तदन्य पदार्थ में पुनः विशेषण नहीं बन सकता।' इसी न्याय से प्रत्ययार्थ भावना में धातु का विशेषण रूप से सम्बन्ध होने के कारण उसके साथ अन्य विशेषणीभूत पदार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता।

---

१. यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्'।

२. 'तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयं वैश्वदेवशब्दः'। (शास्त्रदीपिका पृ० ८० पं० १३)

३. 'उत्पत्तिशिष्टदेवतावरोधसहकृत-तत्प्रख्यन्यायात्'। (भाट्टदीपिका पृ० १४७ पं० ३ ला० ज० सं०)

इसलिए 'न' इस अव्यय का अन्वय भावनावाचक प्रत्यय के साथ ही करना उचित है। एवं च 'न भक्षयेत्', 'न हन्तव्यः' में प्रत्यय के साथ ही 'नञ्' का अन्वय होगा। इस प्रकार लिङ् का अर्थ प्रवर्तना है और इसके साथ नञ् का अन्वय करने से प्रवर्तना के विपरीत निवर्तना रूप अर्थ होना स्पष्ट है। प्रवर्तना और निवर्तना परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं[१]। अर्थात् विधि और निषेध में ब्रह्महत्या और अश्वमेध के समान अन्तर है। किन्तु प्रत्यय के साथ नञ् का अन्वय करने में यदि कोई बाधक हो तो धातु के साथ भी उसका अन्वय किया जाता है।

पर्युदास और प्रतिषेध--जहाँ नञ् का धातु (पूर्वपद) के साथ अन्वय किया जाता है, वहाँ 'पर्युदास' कहा जाता है और जहाँ नञ् का प्रत्यय (उत्तर पद) के साथ अन्वय किया जाता है, वहाँ 'निषेध' कहा जाता है।[२]

धातु के साथ या प्रत्यय के साथ अन्वय करने में दो बाधक होते हैं—एक उपक्रम-विरोध और दूसरा विकल्प-प्रसक्ति।

उनमें पहले का उदाहरण—'तस्य व्रतम्' यह उपक्रम (प्रारंभ) कर 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'[३] यह निषेध बताया गया है। यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि 'ईक्ष्' धातु के साथ नञ् का अन्वय किया जाय या विधि प्रत्यय के साथ?

प्रत्ययार्थ[४] की प्रधानता के कारण प्रत्यय के साथ अन्वय करना उचित है, किन्तु इस प्रकार अन्वय करने पर 'विध्यर्थ प्रवर्तना के विरुद्ध निवर्तना' अर्थ होकर 'तस्य व्रतम्' उपक्रम के विरुद्ध अर्थ होने लगेगा। क्योंकि 'व्रत' शब्द से कर्तव्यरूप अर्थ का बोध होता है और आगे चलकर कर्तव्य के अभाव को बताया जाय, यह उचित नहीं। इसलिए यहाँ नञ् का अन्वय प्रत्यय के साथ न कर धातु के साथ करना उचित होगा, जिससे 'ईक्षणाभाव करे' यह विधि रूप अर्थ होगा। अतः उपक्रम-विरोध से बचने के लिए नञ् का अन्वय धातु के साथ करना उचित होता है।

किन्तु किसी नाम या धातु के साथ नञ् का सम्बन्ध होने पर वह कभी निषेधार्थक नहीं होता।[५] अब्राह्मण कहने से ब्राह्मण-भिन्न या ब्राह्मण-सदृश क्षत्रियादि अर्थ ही लिया जाता है।[६]

---

१. अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः।
दृश्यते तादृगेवेदं विधानप्रतिषेधयोः॥ (मी० न्या० प्र० पृ० २५१)

२. पर्युदासः स विज्ञेयो यत्र पूर्वपदेन नञ्।
प्रतिषेधः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥' (मी० न्या० प्र० नञर्थप्रक०)

३. मी० द० ४।१।३।

४. प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूते तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्।

५. नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥' (श्लो० वा० ३३)

६. अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृश एवानीयते। नासौ लोष्टमानीय कृती भवति। (महा०)

आश्वलायनगृह्यसूत्र की नारायणीय-वृत्ति में 'न नक्तं स्नायात्' का अर्थ 'नक्तं न स्नायाम् इत्येवं सङ्कल्पयेत्' ऐसा ही अर्थ पर्युदास मान कर किया गया है।[1]

विकल्प प्रसक्ति अर्थात् विकल्प का स्वीकार करना होगा, वह न करना पड़े इसलिए भी कहीं-कहीं नञ् का अन्वय प्रकृति (धातु) के साथ किया जाता है।

उदाहरण—'नानुयाजेषु ये यजामहं करोति' वाक्य में 'न' का अन्वय प्रत्यय के साथ करने पर अनुयाज में 'ये यजामहे' मन्त्र न बोला जाय—यह अर्थ होगा। निषेध हमेशा प्राप्तिपूर्वक हुआ करता है। 'यजतिषु ये यजामहं करोति' वाक्य से प्राप्ति है। अब शास्त्र प्राप्त का निषेध करने पर वचनों में परस्पर विरोध होने से कोई एक वचन व्यर्थ होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार विरोध के आने पर विकल्प का स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु विकल्प के स्वीकार करने में अष्टदोष स्वीकार करने पड़ेंगे। इसलिए ऐसे स्थलों में नञ् का अन्वय प्रत्यय के साथ न कर अनुयाज के साथ किया जाता है। तब 'अनुयाज' के अतिरिक्त स्थानों में 'ये यजामहे' मन्त्र बोला जाय—यह अर्थ निकल पाता है।

इस तरह अन्वय करने से परस्पर विरोध भी नहीं होता और न विकल्प ही स्वीकार करना पड़ता है तथा वाक्यार्थ सुसंगत होता है।

निषेध के सम्बन्ध में विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि जहाँ प्रतिषेध विकल्प का कारण बनता है, वहाँ वह अनर्थ का हेतु नहीं समझा जाता। क्योंकि विधि और निषेध दोनों यज्ञ के लिए ही हैं।

किन्तु जहाँ स्वभावतः प्राप्ति होने पर शास्त्रवचन से निषेध किया जाता है, वहाँ निषिद्ध पदार्थ अनर्थ का हेतु होता है।

उदाहरण—'न कलञ्जं भक्षयेत्'।

कहीं-कहीं इससे भी विलक्षण एक अन्य प्रकार दिखाई पड़ता है।

उदाहरण—'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इस वाक्य के द्वारा दीक्षित के लिए दान देने का तथा हवन करने का निषेध किया गया है, और 'दान देना, होम करना' भी शास्त्र ने बताया है। किन्तु यहाँ शास्त्र के परस्पर विरुद्ध विधानों के होने पर भी विकल्प नहीं किया जाता। क्योंकि दान-होम आदि का अनुष्ठान पुरुषार्थ को उद्देश्य कर कहा गया है।

---

१. आ० गृ०, ना० वृ० ३।९।५।

भावना-विचार

सम्पूर्ण विश्व में यच्च-यावत् समस्त चेतन-अचेतन का विचार करनेवाला एक मात्र ईश्वर ही है। उसी प्रकार विश्व की समस्त भाषाओं में एक ही ऐसी भाषा है, जो एक-एक मात्रा, स्वर अक्षर, पद, वाक्य उनके अर्थों तक का तलस्पर्शी विचार करा देती है, अतएव उसे 'देवभाषा' कहा जाता है। वही संस्कृत भाषा के नाम से विश्व में प्रसिद्ध है।

भारत के ज्ञानदायक समस्त मूलग्रन्थ इस देवभाषा संस्कृत में ही लिखे गये हैं। सम्पूर्ण विश्व में प्राचीनतम ग्रन्थ यदि कोई है तो 'वेद' ही हैं। इतना प्राचीनतम ग्रन्थ विश्व में कोई भी नहीं है। यह 'वेद' परमेश्वर की वाणी है। यही कारण है कि 'वेद' को सभी कोई पूजनीय मानता है और उसे आदर, श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। वेद के आधार पर ही शास्त्रों, पुराणों, आगमादि तंत्रों की रचना हुई है। वेदवाक्यों के अर्थों को स्पष्ट करनेवाला मीमांसाशास्त्र है। मनुष्य को निःश्रेयस् की प्राप्ति कराने के लिए वेदवाक्यगत पदों के अंश-अंश तक का विचार मीमांसाशास्त्र ने किया है। जैसे किसी वेदवाक्य में 'यजेत' पद दृष्टिगोचर होता है, तो मीमांसाशास्त्र उसी पर विचार करना प्रारंभ कर देता है कि 'यजेत' पद में दो अंश (भाग) हैं—यज् + त। 'यज्' धातु के आगे 'त' प्रत्यय को जोड़ा गया है। उस 'त' प्रत्यय में भी दो अंश (भाग) हैं—(१) आख्यातत्व, (२) लिङ्त्व। इन दोनों अंशों का अर्थ—'भावना' है। मीमांसाशास्त्र ने 'भावना' का स्वरूप बताया है—**'भवितुर्भवनाकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना'**। इसे समझने के लिए **'देवदत्तः ओदनं पचति'** इस वाक्य को उदाहरण के रूप में ले रहे हैं। उपर्युक्त 'भावना' के लक्षण को संस्कृत व्याख्याकारों ने इस प्रकार समझाया है—'भवितुः उत्पद्यमानस्य उत्पत्त्यनुकूलः भावयितुः उत्पादयितुः प्रयोजकस्य व्यापारविशेषः भावना'। उपर्युक्त उदाहरण में 'ओदन' पदार्थ 'उत्पद्यमान' है और उसकी उत्पत्ति के अनुकूल अर्थात् उस ओदन को उत्पन्न करनेवाला जो 'देवदत्त' नामक ओदनकर्ता, उसका ओदनोत्पत्ति के निमित्त जो एक विशेष प्रकार का व्यापार, उसी को 'भावना' शब्द से कहा जाता है।

इसी प्रकार एक 'आज्ञार्थक' उदाहरण **'गाम् आनय'** वाक्य में भी कोई आचार्य (गुरु) अपने शिष्य से गौ को लाने के लिए कह रहा है। गुरु की आज्ञा (आदेश-वाक्य) को सुनकर शिष्य के मन में जो 'गाय' लाने की 'प्रवृत्ति' उत्पन्न (उत्पद्यमान) होती है, उस प्रवृत्ति को देवदत्त के मन में उत्पन्न करनेवाला (प्रवर्तक या उत्पादयिता) जो 'गुरु' है, उसके मन में जो एक विशेष प्रकार का अभिप्राय उस समय रहता है, उसी को 'भावना' समझना चाहिए।

भावना का एक अन्य लक्षण भी उपलब्ध होता है—

'धात्वर्थव्यतिरेकेण **यद्यप्येषा** न लक्ष्यते। तथापि सर्वसामान्यरूपेणैवावगम्यते'॥

'यजेत' पद को देखकर जब 'भावना' का विचार करते हैं, तो प्रथमतः सन्देह यह होता है कि 'यजेत' पद में 'धात्वर्थ' (यज् धातु का आर्थ —'याग') ही 'भावना' है, अथवा उससे भिन्न कोई अन्य 'भावना' है ? किन्तु 'यजेत' पदगत 'यज्' धात्वर्थ 'याग' तो 'भावना' है नहीं, और यागरूप धात्वर्थ से भिन्न अन्य कोई भी 'क्रिया' दृष्टिगोचर न होने से उस धात्वर्थ याग से भिन्न भी वह नहीं हो सकती। इस प्रकार यदि कोई कहे, तो उसका यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि समस्त धात्वर्थों से सम्बद्ध एवं धात्वर्थातिरिक्त 'करोति' क्रिया प्रत्येक धात्वर्थ के साथ जुड़ी रहती है। जैसे 'यजति'=यागं करोति, 'पचति'=पाकं करोति, 'पठति'=पठनं करोति—यह अर्थ हुआ करता है। उक्त उदाहरणों में—'याग, पाक, पठन' ये धात्वर्थ हैं। इन प्रत्येक धात्वर्थ के साथ 'करोति' यह धात्वर्थव्यतिरिक्त क्रिया सम्बद्ध हुई दिखाई दे रही है। अतः 'करोति' पद से जो अर्थ व्यक्त होता है, उसी को 'भावना' शब्द से कहा जाता है। 'करोति समानार्थकभावयतेः'—इस प्रकार के प्रयोग प्रायशः किये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि 'भावयेत्' 'भावना' आदि का अर्थ और 'करोति' का अर्थ समान ही (एक ही) है। इसी भावना का स्पष्टीकरण अन्य प्रकार से एक पद्य में उपलब्ध होता है—

'सिद्ध-साध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधस्तयोः।
अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी'॥

'पचति' सुनने पर 'पाकं करोति'—यह अर्थ प्रतीत होता है। उक्त दो पदार्थों में से 'पाक' पदार्थ सिद्ध धात्वर्थरूप है; और 'करोति' शब्द से जो बात बताई जा रही है, वह अभी 'सिद्ध' नहीं हुई है, अपितु 'साध्य' की कोटि में है। यह भावना 'शाब्दी' और 'आर्थी' के भेद से दो प्रकार की होती है। 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना'; जैसे—'गाम् आनय' इस उदाहरण में शिष्य को आदेश देनेवाला 'गुरु' 'भावयिता या भावक' है। उस भावक (गुरु) के मन में यह इच्छा हुई कि मेरा शिष्य 'गाय' को लावे। उस इच्छा से वह अपने शिष्य को 'गाम् आनय' कहकर प्रेरित कर रहा है। भावक (गुरु) की यह जो 'प्रेरणा' है, वही उस गुरु का विशेष व्यापार (विशिष्ट व्यापार) है—'भावयितुर्व्यापारविशेषः'। इस प्रेरणात्मक व्यापारविशेष से 'गुरु' अपने शिष्य में गाय ले आने की 'प्रवृत्ति' को पैदा कराता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि 'आचार्य-कृत प्रेरणात्मक जो 'भावयितुर्व्यापारविशेष' है, वह 'पुरुषप्रवृत्ति' के अनुकूल (जनक) हो गया। निष्कर्ष यह है कि कोई काम कराने के लिए किसी की प्रवृत्ति को कराने वाला जो प्रेरक (प्रवर्तक) का प्रेरणा (प्रवर्तना) रूप मनोगत व्यापार है, उसी को 'शाब्दीभावना' के नाम से कहा गया है। भावयिता (भावक=प्रयोक्त=प्रेरक =प्रवर्तक) के मन में प्रथमतः इच्छा उत्पन्न होती है, उस कारण वह दूसरे के मन में प्रेरणा (प्रवर्तना) पैदा करता है, उस प्रेरणा से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे का 'कार्य-कारणसम्बन्ध' हो जाता है। इनका 'क्रम'

इस प्रकार अनुभव में आता है—(१) इच्छा (अभिप्राय), (२) प्रेरणा (प्रवर्तना), (३) प्रवृत्ति । **एवञ्च भावक (प्रयोजक) के मनोगत व्यापारविशेष को मीमांसकों ने 'शाब्दीभावना' की संज्ञा दी है ।**

इसके बाद जिज्ञासा होती है कि 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में किस 'शब्द' से उसको (शाब्दीभावना को) व्यक्त किया जा रहा है ?

इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है —'यजेत' में 'यज्' धातु के आगे जो 'त' प्रत्यय लगा है, उसमें 'आख्यातत्व' और 'लिङ्त्व' ये दो अंश हैं । उनमें से 'लिङ्त्व' अंश से 'शाब्दीभावना' को व्यक्त किया जाता है, और 'आख्यातत्व' अंश से 'आर्थीभावना' को व्यक्त किया जाता है । 'लिङ्त्व' अंश से शाब्दीभावना के व्यक्त होने में यह युक्ति तथा अनुभव बताया जाता है कि 'लिङ्' लकार का श्रवण होते ही श्रोता के मन में विचार चलने लगता है कि 'लिङ्' लकार का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति मुझे किसी कार्य में प्रवृत्त कराना चाह रहा है । इसी आशय को मीमांसकों की शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार कहा जायेगा—'मत्प्रवृत्त्यनुकूल-व्यापारवानयम्' अर्थात् 'मत्प्रवृत्तिजनकाऽभिप्रायवान् अयम्' । श्रोता यह समझता है कि किसी कार्य में मेरी प्रवृत्ति हो, यह इस आदमी का अभिप्राय प्रतीत हो रहा है ।

लिङ् लकार का श्रवण करनेवाले श्रोता को उक्त अर्थ का बोध नियमित रूप से होता है । जिस शब्द से जो अर्थ नियमितरूप से ज्ञात होता है, वही अर्थ उस शब्द का 'वाच्य' (मुख्य) अर्थ माना जाता है; जैसे—'गो' शब्द के सुनते ही 'गोत्व' अर्थ की नियमित प्रतीति होती है, उसी तरह 'लिङ्' लकार के सुनते ही 'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवान् अयम्' इस अर्थ की नियमतः प्रतीति होती है । इससे समझ में आता है कि 'लिङ्त्व' अंश से 'शाब्दीभावना' बताई जाती है । अभिप्राय यह है कि 'लिङ्' का अर्थ 'शाब्दीभावना' है । क्योंकि 'गाम् आनयति'—इस लट् लकार घटित वाक्य को सुनकर श्रोता की कोई प्रवृत्ति नहीं होती । जब कि वाक्य में 'गो' पद, 'अम्' विभक्ति प्रत्यय, आङ्पूर्वक 'नी' धातु और 'आख्यातत्व' अंश — इन सबके रहने पर भी उक्त वाक्य को सुनकर गाय लाने के लिए किसी की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु लिङ् लकार का श्रवण होते ही गाय को लाने की प्रवृत्ति होती दिखाई देती है, और लिङ् का श्रवण न होने पर प्रवृत्ति नहीं होती—इस अन्वय-व्यतिरेक से प्रवर्तक पुरुषनिष्ठ जो प्रवृत्त्यनुकूल अभिप्रायविशेष है, वही 'लिङ्' का अर्थ है । निष्कर्ष यह है कि 'लिङ्' का अर्थ 'प्रेरणा' (प्रवर्तना) है । प्रेरणा (प्रवर्तना) को ही 'शाब्दीभावना' के नाम से कहते हैं । लौकिक व्यवहार में प्रवर्तक (प्रेरक) पुरुष के रहने से उपर्युक्त शाब्दीभावना का विवेचन अच्छी तरह घटित हो जाता है, किन्तु 'वेद' तो अपौरुषेय हैं । वेद में प्रेरक पुरुष का अभाव रहने से यह 'शाब्दीभावना' कैसे व्यक्त हो पायेगी ? इस पर समाधान यह है कि वेद का रचयिता कोई न रहने से उसका अभिप्राय कहना तो संभव ही नहीं होगा, तथापि 'यजेत

स्वर्गकामः'—इस विधिवाक्य में प्रवृत्तिजनक अभिप्राय 'लिङ्' (विधि) शब्दनिष्ठ ही रहता है। अतएव इस 'भावना' को 'शाब्दी' कहा गया है—'शब्दनिष्ठत्वात् शाब्दीभावना'।

कुमारिलभट्टपाद के मतानुसार लौकिक व्यवहार तथा वैदिक व्यवहार में लिङादि प्रत्ययों का अर्थ—'विधि' ही है। मण्डनमिश्र तथा पार्थसारथीमिश्र के मत के अनुसार लौकिक-वैदिक उभयविध व्यवहारों में लिङ् का अर्थ—'इष्टसाधनत्व' ही है। प्रभाकर के मत में लिङ् का अर्थ—'नियोग' है। खण्डदेव और भट्टसोमेश्वर के मत में लिङ् का अर्थ—'अलौकिक धर्मविशेष, जिसे 'प्रवर्तना' कहते हैं। एवञ्च कुमारिल के मतानुसार दशलकार साधारण 'आख्यात' का अर्थ 'यत्न' रूप आर्थ-भावना' है, और 'लिङ्, लेट्, लोट्, तव्य' इन विधिप्रत्ययों का अर्थ—अलौकिक कोई धर्मविशेष है, जिसे 'प्रवर्तना' के नाम से कहा जाता है।

किन्तु प्रभाकर (गुरु) का कहना है कि 'केवल 'लिङ्' लकार में ही आख्यात का अर्थ 'कृति' है, सब लकारों में नहीं। लिङादि विधिप्रत्ययों का अर्थ तो 'नियोग' है, इसी को अपूर्व, कार्य भी कहते हैं। लौकिक व्यवहार में लिङ् का अर्थ 'कार्यत्वेन रूपेण क्रिया' है और वैदिक व्यवहार में लिङ् का अर्थ 'नियोग' है।

एवञ्च लिङर्थ 'शाब्दीभावना' (प्रवर्तना) के दो भेद हैं—(१) लौकिक शाब्दीभावना (२) वैदिक शाब्दीभावना। लौकिक शाब्दीभावना अर्थात् प्रेरणा, प्रवर्तना, अथवा अभिप्राय आदि 'प्रयोजक' (भावक) पुरुष के मन में रहते हैं, किन्तु वैदिक शाब्दीभावना अर्थात् प्रेरणा, प्रवर्तना या अभिप्राय 'वैदिक लिङादि' (विधि आदि) शब्द में रहते हैं, क्योंकि 'वेद' अपौरुषेय हैं। यह प्रवृत्तिजनक अभिप्राय 'लिङादि' शब्दों में रहता है, उस कारण उस अभिप्रायरूप भावना को 'शाब्दीभावना' के नाम से कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि लिङर्थ के विषय में नैयायिकों का मत अनादरणीय है। नैयायिकों का कहना है कि 'इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व त्रितयरूप 'विधि' हुआ करता है। उक्त तीनों में विशेषण-विशेष्यभाव मानने के लिए कोई विनिगमक न होने से लिङ् की शक्ति 'प्रत्येक' में स्वीकार की गई है। व्युत्पत्ति-वैचित्र्य के कारण तीनों का बोध युगपत् ही हो जाता है। अतः उक्त त्रितय का ज्ञान ही प्रवृत्ति के होने में कारण है। उसी कारण उस त्रितय को 'प्रवर्तना' शब्द से कहा जाता है।

इस पर मीमांसकों का कहना है कि 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः'—इस नियम के अनुसार "किस शब्द का क्या अर्थ है? यह जाना जाता है। वाच्य-वाचक भाव की मनगढ़न्त कल्पना नहीं की जाती। नैयायिक ने जिन इष्टसाधनत्वादिकों को 'विधि' (लिङादि) का अर्थ समझा है, वह इष्टसाधनत्व आदि तो '**अन्यलभ्य**' है, अनन्य-लभ्य नहीं है"। अर्थात् अपना प्रवर्तकत्व सिद्ध करने के लिए 'विधि' स्वयं ही उस इष्टसाधनत्वादि त्रितय का 'आक्षेप' से लाभ करा देता है। एवञ्च इष्टसाधनत्वादि

त्रितय 'अक्षेपलभ्य' हैं, उस कारण उसे 'अन्यलभ्य' कहा जाता है। किन्तु 'अर्थ' को अनन्यलभ्य होना आवश्यक है। अतः इष्टसाधनत्व आदि को विध्यर्थ समझना ही अनुचित है। इसलिए मीमांसक जिसे लिङर्थ कहते हैं, उसे ही मानना उचित होगा। मीमांसकों के मतानुसार **लौकिक लिङर्थ** तो 'अयमत्र प्रवर्तताम्' इत्याकारक 'प्रवर्तयितृपुरुषनिष्ठ' अभिप्राय-विशेष होता है। और वैदिक लिङर्थ—'अयमत्र प्रवर्तताम् इत्याकारकः प्रवर्तयितृशब्दनिष्ठः' अभिप्रायविशेष होता है।

'भावयतीति भावना'—इस व्युत्पत्ति से प्रयोजक पुरुष के व्यापार को बताया गया है। इस भावना (क्रिया) को साध्य, साधन (करण) और इतिकर्तव्यता (कथंभाव) की आकांक्षा होती है, जिसे 'किम्, केन, कथम्' शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है। शाब्दीभावना को जब 'किं भावयेत्'—इस आकार में 'साध्य' की आकांक्षा होती है, तब किम्-केन-कथम्—इन तीन अंशों से युक्त हुई 'आर्थीभावना' का साध्यत्वेन रूपेण उस शाब्दीभावना में अन्वय हो जाता है, उससे उसकी साध्याकांक्षा शान्त हो जाती है। तदनन्तर 'केन भावयेत्' इस आकार में उसे 'साधन' (करण) की आकांक्षा होती है, तब 'लिङादि-ज्ञान' का साधनत्वेन रूपेण (करणत्वेन) शाब्दीभावना में अन्वय किया जाता है, उससे उस शाब्दीभावना की साधनाकांक्षा शान्त हो जाती है। तदनन्तर शाब्दीभावना को जब 'इतिकर्तव्यतता' की आकांक्षा होती है, तब अर्थवादवाक्यों से ज्ञापित होने वाले प्राशस्त्य का 'इतिकर्तव्यतात्वेन' रूपेण शाब्दीभावना में अन्वय होता है। उससे उस शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा शान्त हो जाती है। इस प्रकार अंशत्रयवती शाब्दीभावना का विवेचन यहाँ तक किया गया।

आर्थी भावना—'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापारः'—यह आर्थीभावना का लक्षण है। 'अर्थः प्रयोजनं, तत्सम्बन्धिनी भावना आर्थीभावना। यागानुष्ठान करने वाले व्यक्ति के मन में 'अपने को स्वर्ग आदि फल प्राप्त हो'—यह इच्छा रहती है, उस इच्छापूर्ति के लिए वह याग आदि के अनुष्ठान के लिए प्रवृत्त होता है। अतः उस पुरुष की याग करने के लिए जो 'प्रवृत्ति' है, उसी 'प्रवृत्ति' को 'आर्थी भावना' शब्द से कहा जाता है। एवञ्च पुरुष की प्रवृत्ति (कृति) को आर्थीभावना कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि 'शाब्दीभावना' प्रेरणा (प्रवर्तना) उत्पन्न करती है, और 'आर्थीभावना' प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। 'यजेत' पद में जो 'त' प्रत्यय है, उसमें दो अंश रहते हैं—(१) लिङ्त्व, (२) आख्यातत्व। 'लिङ्त्व' अंश से वह आख्यात (त) प्रत्यय शाब्दीभावना को और 'आख्यातत्व' अंश से वही आख्यात (त) प्रत्यय आर्थीभावना को बताता है। निष्कर्ष यह है कि स्वर्ग अथवा किसी भी फल की इच्छा से की जानेवाली जो याग आदि क्रिया, तत्संबंधी जो भी 'व्यापार' किया जाय उसी को 'आर्थीभावना' समझना चाहिए।

कुछ लोग उक्त 'व्यापार' को 'प्रयत्नरूप' मानते हैं। किन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि 'रथो गच्छति' कहने पर उसमें भावनारूप गमनक्रियाविषयकव्यापार तो

रहता ही है, किन्तु उसे 'प्रयत्न' नहीं कहा जायेगा। कारण यह है कि 'रथ' अचेतन (जड) पदार्थ है। उस कारण उसमें 'प्रयत्न' का होना कदापि सम्भव नहीं है।

कुछ लोग 'भावना' को 'स्पन्द' कहते हैं, किन्तु यह भी उचित नहीं है। क्योंकि 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' में गमनानुकूल 'कृति' रूप व्यापार होता है, किन्तु उसे 'स्पन्द' शब्द से नहीं कहा जाता। 'गच्छति' का अर्थ—'गमनं करोति' होता है। सभी लोग ऐसे स्थल में 'करोति' पद का ही प्रयोग करते हैं। 'स्पन्दते' का प्रयोग कोई नहीं करता। अतः 'भावना' का अर्थ 'स्पन्द' करना अनुचित है। एवञ्च 'भावना' का अर्थ—अन्योत्पादनानुकूलव्यापार (कृति-प्रवृत्ति) ही किया जाता है। न्यायसुधाकार भट्टसोमेश्वर ने भी इसी का समर्थन किया है। आन्तरिक प्रयत्न (कृति) रूप आर्थीभावना 'चेतन' में ही रहती है, इसलिए 'रथ' जैसे जड़ पदार्थों के स्थल में 'आख्यातों' की क्रियासामान्य में लक्षणा की जाती है। 'क्रियासामान्य' यह लक्ष्यार्थ है, जो चेतन-अचेतन सभी में रह सकता है। माधवाचार्य ने न्यायमालाविस्तर के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में कहा है[1] कि 'पचति' 'खादति' आदि शब्दों में 'पच्' 'खाद' धातु के अर्थ (क्रिया) से सम्बद्ध 'कृ' धातु का अर्थ (करना) ही 'भावना' है, जिसे 'ति' आदि आख्यातों का अर्थ कहा जाता है। उदयनाचार्य ने भी अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि के पञ्चम स्तबक में कहा है कि पुरुषों का आन्तरिक प्रयत्न (प्रवृत्ति) रूप भावना ही आख्यातों का अर्थ है[2]। कुमारिल भट्ट ने भी कहा है कि 'सिद्धं साध्यं फलं चेति प्रवृत्तेर्विषयस्त्रिधा। तत्र सिद्धमुपादानं क्रिया साध्यं फलं सुखम्'॥ पार्थसारथि मिश्र ने भी अपनी शास्त्रदीपिका के भावार्थाधिकरण में कहा है कि 'भावना' व्यापारविशेष रूप है, जिससे दूसरी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—पुरुष के आन्तरिक व्यापार से 'पाकक्रिया' होती है।

निष्कर्ष यह है कि 'यजेत' में 'धात्वर्थ, आख्यातत्व और लिङ्त्व' ये तीन अंश हैं। उनमें से 'आख्यातत्व' अंश के द्वारा इस आर्थीभावना को व्यक्त किया जाता है। क्योंकि सभी प्रत्ययों में प्रायशः रहने वाला जो आख्यातत्व धर्म है, उसी से 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलव्यापार' को बताया जाता है।

पूर्वोक्त 'शाब्दीभावना' को साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा और इतिकर्तव्यताकांक्षा' होती है। उसी प्रकार इस आर्थीभावना को भी उक्त तीनों आकांक्षाएँ रहती हैं, जिनका स्वरूप क्रमशः 'किं भावयेत्' 'केन भावयेत्' और 'कथं भावयेत्' बताया जाता है।

आर्थीभावना को साध्याकांक्षा (किं भावयेत्) होने पर 'स्वर्गादिफलं भावयेत्' उत्तर देकर उस आकांक्षा को शान्त किया जाता है। अर्थात् इस आर्थी-

---

१. सर्वधात्वर्थसम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना। (२।१)

२. भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः। (स्त० ५)

भावना में 'स्वर्ग' का साध्यत्वेन रूपेण अन्वय किया जाता है। तदनन्तर साधनाकांक्षा (केन भावयेत्) होने पर 'यागेन भावयेत्' उत्तर देकर उस आकांक्षा को शान्त किया जाता है। अर्थात् इस आर्थीभावना में 'धात्वर्थ याग' का साधनत्वेन (करणत्वेन) रूपेण अन्वय किया जाता है। तदनंतर इतिकर्तव्यताकांक्षा (कथं भावयेत्) होने पर 'अंगजातेन उपकारं सम्पाद्य भावयेत्'—यह उत्तर देकर उस आकांक्षा को शान्त किया जाता है। अर्थात् इस आर्थीभावना में 'अंगों' का इतिकर्तव्यतात्वेन रूपेण (कथंभावत्वेन) अन्वय किया जाता है। जैसे दर्शपूर्णमास याग में—'प्रयाजाद्यङ्गजातेन उपकारं सम्पाद्य भावयेत्' कहा जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के पश्चात् 'स्वर्गकामो यजेत' का अर्थ इस प्रकार बताया जायेगा— 'स्वर्गफलिका याग-करणिका यत्किञ्चिदितिकर्तव्यताका शाब्दभावनाविषयिणी आर्थीभावना'। नवीन मीमांसकों के मत में 'आर्थीभावना' को ही 'मुख्य-विशेष्य' माना जाता है, अन्य कारकादिकों को तथा शाब्दीभावना को विशेषण बना कर उसी में अन्वित कर दिया जाता है।

किन्तु प्राचीन मीमांसक 'शाब्दीभावना' को ही मुख्य-विशेष्य मानते हैं।

वेदकाल

कुछ लोगों का मत है कि **भाषाविज्ञान** के अनुसार अपनी अभाव-पूर्ति के लिए मनुष्य भाषाओं को बनाया करते हैं, और भाषाएँ बदलती रहती हैं। स्वयं वैदिक भाषा कितने ही रूपों में आ चुकी है। ऋग्वेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता की भाषाओं में पर्याप्त भिन्नता है। शतपथब्राह्मण और गोपथब्राह्मण की भाषा-शैली में बड़ा भेद है। यजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता और माध्यन्दिनसंहिता की भाषाओं में भी मार्मिक भिन्नता है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक संहिताओं की रचना समय-समय पर हुई होगी, एक साथ नहीं।

भाषाविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक नकल पर ही शब्दों की सृष्टि हुई है। जिस समय माता बच्चे को दूध पिलाने लगती है, उस समय यदि बच्चे की इच्छा दूध पीने की नहीं होती है, तो वह स्वभावतः 'नि-नि' करने लगता है। इसी 'नि-नि' नकल पर 'ना, न, नॉट, नहीं' आदि शब्दों की सृष्टि हुई। मनुष्य श्लेष्मा फेंकते समय 'थू, पिच' आदि ध्वनि करता है। इसकी नकल पर ही 'थूक', 'पिच-पिच' आदि शब्दों की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार कुत्ते के भोंकने पर 'भों-भों', घोड़े के हिनहिनाने पर 'हिनहिनाहट', मेढक के टर्राने पर 'टर-टराहट' आदि शब्दों की सृष्टि हुई। एक ही विषय के लिए विभिन्न जातियों में विविध ध्वनियाँ भी हुआ करती हैं। अंग्रेजी में 'पिच' के लिए 'स्पिट्' और 'माता' के लिए 'मम्मी' ध्वनियाँ हैं। इस प्रकार विविध जातिगत ध्वनियों की विभिन्नता, विविध समयों के जलवायु की विभिन्नता और विविध-अनुकरणों की विभिन्नता के कारण विविध संकेतों, शब्दों और भाषाओं की सृष्टि हुई है। फलतः वैदिक भाषा हो, या कोई भी भाषा हो, इसी अनुकरण-प्रणाली पर मनुष्य के द्वारा ही बनाई गई है। मनुष्य ही भाषा को बनाता है, और 'गायत्री, जगती' आदि छन्दों की रचना करके उनमें वैदिक मंत्रों को निबद्ध करता है। ऐतिहासिकों का भी यही दृष्टिकोण है और इसी के अनुसार उन्होंने वैदिक साहित्य के ग्रन्थों का निर्माणकाल निश्चित किया है।

१. ब्रिटेन की 'Sacred Books of The East' नामक ग्रन्थमाला में **मैक्स-मूलर** ने ऋग्वेद (शाकलसंहिता) को मुद्रित कराया था। उन्होंने ऋग्वेद का रचना काल ई० पू० १२०० निश्चित किया है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि 'यह आनुमानिक तिथि' है। वेदों के आरंभिक काल का पता लगाना किसी के लिए भी संभव नहीं है। कॉलब्रुक, विलसन तथा कीथ आदि विद्वानों के मत मैक्समूलर से मिलते हैं।

२. **हॉग, आर्कबिशप प्राट** आदि विद्वानों ने ऋग्वेद का काल २००० शताब्दी पूर्व माना है। किन्तु कोई प्रामाणिक तर्क नहीं है। कोई अकाट्य युक्ति नहीं है। संभवतः इनकी उक्ति का आधार यह है कि 'बाइबिल' के अनुसार ६००० से ७०००

वर्षों के भीतर ही 'सृष्टि' हुई है। इसलिए उसके भीतर ही किसी भी पदार्थ की रचना हुई होगी।

३. **जैकोबी**—कल्पसूत्रों के विवाह-प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। इसके आधार पर प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी 'जैकोबी' ने लिखा है कि पहले 'ध्रुव' तारा अधिक चमकीला और स्थिर था। इसकी इस अवस्था की स्थिति २७०० शताब्दी पूर्व की है। इस तरह कल्पसूत्रों का निर्माणकाल ४७०० शताब्दी पूर्व का हुआ। एवञ्च नक्षत्रों और ग्रहों की आकाशीय स्थिति के आधार पर जैकोबी ने वेदों का निर्माणकाल ६५०० शताब्दी से भी अधिक पूर्व का सिद्ध किया है।

४. **लोकमान्य बालगंगाधर तिलक,** भाण्डारकर, शंकर पाण्डुरंग पण्डित, शंकर बालकृष्ण दीक्षित आदि भारतीय विद्वानों ने विदेशियों का अन्धानुकरण नहीं किया, अपितु इन विद्वानों ने स्वयं वेदकाल के अन्वेषण का प्रयत्न किया है।

लोकमान्य तिलक का कहना है कि ब्राह्मण काल में **'कृत्तिका'** नक्षत्र से नक्षत्रों की गणना होती थी और कृत्तिका नक्षत्र ही सब नक्षत्रों में आदि नक्षत्र गिना जाता था। उस समय कृत्तिका नक्षत्र में ही 'दिन-रात' बराबर (समान) (Vernal equinox) होते थे। आजकल २१ मार्च और २३ सितम्बर को दिन-रात बराबर होते हैं। सूर्य अश्विनी नक्षत्र पर रहता है। खगोल और ज्यौतिष सिद्धान्त के अनुसार यह परिवर्तन आज से ४५०० वर्ष पूर्व हुआ। इसलिए ४५०० वर्ष पूर्व 'ब्राह्मणग्रन्थों' की रचना हुई।

मन्त्रसंहिताओं के समय नक्षत्रों की गणना मृगशिरा से होती थी। मृगशिरा ही सबसे पहिला नक्षत्र गिना जाता था और इसी नक्षत्र के सूर्य में दिन-रात बराबर होते थे। खगोल और ज्यौतिष के सिद्धान्तानुसार आज से ६५०० वर्ष पूर्व की यह स्थिति थी। फलतः संहिताएँ ६५०० वर्ष पूर्व बनीं। लोकमान्य तिलक के मतानुसार २००० वर्षों में समस्त मंत्रों की रचना की गई। इस तरह कुछ प्राचीन ऋचाएँ ८५०० वर्षों की हैं। मृगशिरा में 'वसन्तसंपात' का होना ही लोकमान्य की सबसे बड़ी युक्ति और आधार है। धनिष्ठा में रात-दिन बराबर होने का उल्लेख पाकर लोकमान्य ने मैत्रायणीय उपनिषद् का रचनाकाल आज से प्रायः ३००० वर्ष पूर्व का माना है। लोकमान्य और दीक्षित ने वेदांग ज्यौतिष का रचनाकाल ई० पूर्व १४०० वर्ष पूर्व सिद्ध किया है।

सिकन्दर के समय ग्रीक विद्वानों ने अनेक देशों की वंशावलियों का जो संग्रह किया था, उसके अनुसार **चन्द्रगुप्त** तक १५४ राजवंश ६४५७ वर्ष तक भारत में राज्य कर चुके थे। **ओरायन** के मत से चन्द्रगुप्त तक १५३ राजवंश ६०४३ वर्ष तक राज्य कर चुके थे। इन सभी राजवंशों के बहुत पहिले ऋग्वेद बन चुका था। अतः ऋग्वेदका रचनाकाल ८००० वर्ष का इन लोगों ने निश्चित किया है। पूना के **पावगी** ने भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद का निर्माणकाल ९००० वर्षों का सिद्ध किया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में पूर्व और पश्चिम समुद्रों का उल्लेख है। पूर्व समुद्र पंजाब के ठीक पूर्व में सम्पूर्ण गांगेय प्रदेश को आच्छादित करके

अवस्थित था। इसके भीतर ही पांचाल, कोसल, वत्स, मगध, विदेह, अंग, वंग—ये देश लुप्त और गुप्त थे। ये समस्त भूभाग समुद्र के गर्भ में थे। पश्चिम समुद्र कदाचित् अरब सागर था। ऋग्वेद के दो मंत्रों (१०।४७।२ और ९।३६।६) में चार समुद्रों का उल्लेख है। इस प्रकार आर्यों के निवासस्थान के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चार समुद्र थे। उत्तरी समुद्र बाह्लीक और फारस के उत्तरी भाग में तथा तुर्किस्थान के पश्चिमी प्रान्त में था, जो प्राकृतिक कारणों से शुष्क होकर इन दिनों **कृष्णह्रद** (Black sea), **कश्यपह्रद** (Caspean sea), **अरालह्रद** (Sea of Aral) और **बल्काशह्रद** (Lake Balkash) के रूपों में स्थित हैं। भूगोलवेत्ताओं ने इसका नाम 'एशियाई भूमध्यसागर' रखा है। इसके उत्तर में आर्कटिक महासागर था। इसके पास ही वर्तमान भूमध्यसागर था। एशियाई समुद्र का तल ऊँचा था और यूरोपीय समुद्र नीचा था। प्राकृतिक परिवर्तनों ने जब बासफरस का मार्ग बना दिया, तब एशियाई समुद्र का जल, यूरोपीय समुद्र में चला गया और एशियाई समुद्र नष्ट-सा हो गया। इसके अंश उक्त ह्रादों के रूप में हो गये। दक्षिणी समुद्र का नाम 'राजपूताना समुद्र' था। इसी में सरस्वती नदी गिरती थी, जिसके तटों पर सैंकड़ों वेदमंत्र बने थे। नैसर्गिक कारणों से राजपूताना समुद्र और सरस्वती दोनों सूख गये। आज भी राजपूताने के गर्भ में खारे जल की सांभर आदि झीलें और नमक की तहें मरुभूमि में विलुप्त हुए राजपूताना समुद्र का साक्ष्य दे रही हैं। **एच० जी० वेल्स ने** अपने 'The Outlines of History' नामक ग्रन्थ में पचीस हजार से पचास हजार वर्षों का संसार का नक्शा दिया है। उसमें ऐसे समुद्रों का अस्तित्व पचीस हजार से लेकर पचास हजार वर्षों के बीच माना गया है। गांगेय प्रदेश, सरस्वती और चारों समुद्रों के संबंध में भूगर्भ शास्त्रियों का मत है कि पचीस हजार वर्षों से लेकर पचहत्तर हजार वर्षों के भीतर ये सब लुप्त, गुप्त एवं रूपान्तरित हुए हैं। इन प्रमाणों के तथा अन्य प्रमाणों के भी आधार पर **अमलनेरकर** ने ऋग्वेद का निर्माणकाल ६६००० वर्षों का और **अविनाशचन्द्रदास** ने ७५००० वर्षों का माना है। **प्रो० लोटूसिंह गौतम** के समान कुछ ऐतिहासिकों ने तो ऋग्वेद का रचनाकाल ४ लाख ३२ हजार वर्षों तक का बताया है।

जिन विदेशी विद्वानों ने वैदिक साहित्य के संबंध में लेखनी उठाई है, उन सब ने वेदकाल के निर्णय पर बड़ी माथापच्ची की है, फिर भी एक निश्चित निर्णय तक कोई भी नहीं पहुँच पाया। यही स्थिति भारतीय काल-निर्णायक विद्वानों की भी हुई। वेदों के उपदेश क्या हैं, उनकी अपूर्वता क्या है, उनका प्रतिपाद्य क्या है, वैदिक संस्कृति क्या है, इत्यादि बातों पर इन लोगों ने बहुत कम ध्यान दिया है।

काल-निर्णय में ही उलझे हुए विद्वानों की उलझन को जानकर ही जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान् **श्लेगल ने** लिखा है कि संसार में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ एकमात्र 'वेद' ही है। इसका काल-निर्धारण करना कभी भी संभव नहीं है। जर्मनी के ही एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् **वेबर** ने भी कहा है कि 'वेदों का निश्चित समय जानने का कोई

साधन हमलोगों के पास नहीं है। विद्यमान प्रमाणराशि हमलोगों को उस समय के उन्नततम शिखर पर पहुँचाने में सर्वथा असमर्थ है। यह उस विद्वान् वेबर का मत है, जिसने अपने जीवन का अधिकांश भाग 'वेद' के अध्ययन एवं चिन्तन में ही व्यतीत किया और अनेक वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन किया है।

वेदाभ्यासी विदेशी विद्वान् मैक्समूलर ने भी कहा है—

'We cannot hope to fix a terminus a quo whether the Vedic hymns were composed 1000–1500 or 2000–3000 years B. C. No power on the earth will ever determine. (Gifford Lectures)

अभी तक ऊपर निर्दिष्ट किये हुए विद्वानों की 'वेदकालनिर्णय-क्रीड़ा' पर भारतीय वैदिक परम्परा तो हास्यरस का आस्वाद ले रही है, साथ ही काल-निर्णायक विद्वानों की सुकुमार बुद्धि पर तरस खा रही है।

भारतीय वैदिक परम्परा दुन्दुभिघोष (डंके की चोट) के साथ सदा से कहती आ रही है कि 'वेद अनादि हैं, नित्य है, अपौरुषेय है'—अतः उसके काल-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता।

काल-निर्धारण तो किसी 'सादि वस्तु' का हुआ करता है, 'अनादि वस्तु' का नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से भी समझ में आता है कि बड़ा आदमी अपने से छोटे का काल-निर्धारण अच्छी तरह से कर सकता है, किन्तु छोटा आदमी अपने से बड़े का निश्चित काल-निर्धारण कभी नहीं कर पाता; यह अकाट्य सत्य है। ऐसी स्थिति में जब कि समीपवर्ती काल के बड़ों का निश्चित काल-निर्धारण नहीं हो पाता तो सुदीर्घतम काल के भी पूर्ववर्ती वेदों के काल-निर्धारण करने का प्रयत्न करना तो बालू से तेल निकालने के समान ही कहा जायगा। अतएव अकुण्ठित प्रतिभा के धनी ऋषियों ने तथा अभी-अभी तक के महान् से महान् विद्वान्, जिन्हें भगवती सरस्वती के पुरुषावतार के रूप में ही समझा जा सकता है, उन्होंने वेदकाल निर्धारण की बात कभी सोंची तक नहीं, और न अपनी बुद्धि का तथा समय एवं आयु का ही अपव्यय किया। अतः उन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर वेद में निहित ज्ञानरत्नों के अर्जन करने का ही प्रयत्न भारतीयों को करना चाहिए, वही सर्वथा श्रेयस्कर होगा।

वेदार्थ समझने के साधन

वेदार्थ का ज्ञान कराने के वास्तविक साधन हैं—'ब्राह्मणग्रन्थ, प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी, कल्पसूत्र, निरुक्त, जैमिनीयमीमांसा आदि ग्रन्थ; और सायण, स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव, उव्वट, महीधर के भाष्य, तथा वेद के सभी समीक्षकों की वेदार्थ से सम्बन्धित सम्मतियाँ। ये सभी साधन 'आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक'—इन तीन वर्गों में ही आ जाते हैं। वेदों में इन तीनों ही वर्गों का यथास्थान विन्यास किया हुआ उपलब्ध होता है, जिसे ब्रह्म-विलीन धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामीकरपात्रीजी ने अपने करपात्र-भाष्य में अच्छी तरह बताया है[1]।

उक्त तीन वर्गों में से किसी एक को ही स्वीकार करके समस्त वेदमंत्रों का एक-सा ही अर्थ खींचतान करते हुए निकालते रहना साम्प्रदायिक या एकपक्षीय मनोवृत्ति का परिचायक है; निरपेक्षता, उदारता, व्यापक दृष्टि का नहीं।

प्रयोग, निरीक्षण, व्यवहार, निर्वचन, अभ्यास, समनुगमन आदि का विचार किये किये बिना केवल अध्यात्मवाद की काल्पनिक उड़ान उड़ने तथा ग्रीक, लेटिन भाषाओं का कोरा अभ्यास करने मात्र से वेदार्थ को कोई भी नहीं समझ सकता।

वेद में आध्यात्मिक आदि तीनों ही अर्थ हैं। सायणाचार्य ने निरपेक्ष होकर (पक्षपातरहित होकर) तीनों ही अर्थों को यथास्थान लिखा है।

वेदों में 'समाधि भाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषा'—तीनों ही भाषाओं का प्रयोग पाया जाता है। सायणाचार्य ने यथास्थान तीनों का ही रहस्य बताया है। अतएव उन्होंने **'इन्द्र'** का अर्थ—ईश्वर, देव, ज्ञान, विद्युत् तक लिखा है। **'वृत्र'** का अर्थ—असुरराज, असुर, अज्ञान और मेघ तक लिखा है। जहाँ जिस भाषा और जिस वाद का सम्बन्ध है, वहाँ उसी का उल्लेख करके सायणाचार्य ने अर्थ-समन्वय किया है।

यह सब होते हुए भी देश और विदेश में सायण के विरुद्ध मत (विचार) रखनेवालों की कमी नहीं है। विदेशी वेदाभ्यासियों में 'LOSVON SAYANA' (सायण का बहिष्कार करो) की आवाज कई बार उठाई। 'वैदिक कोश' लिखने वाले 'रॉथ' और 'ग्रासमान' का 'सायण-मत खण्डन', जो किसी समय प्रकाशित हुआ था, वह बिलकुल निरर्थक ही समझा गया था। क्योंकि—

(१) वेदार्थ-निर्णय करने में सायण ने आर्य जाति की प्राचीन मर्यादा और परस्परा का पालन किया है।

(२) स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, उद्गीथ आदि ऋग्वेद के प्राचीन व्याख्याकारों का अनुगमन सायण ने किया है।

---

१. देखिये —वेदार्थपारिजात, शुक्लयजुर्वेदसंहिता-भाष्य।

(३) सायणभाष्य का समर्थन सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य, प्राचीन इतिहास और आर्यजाति के आचार-विचार परम्परा से किया गया है।

(४) विश्व की विविध भाषाओं में प्रकाशित वेद सम्बन्धी ग्रंथों के प्रणेता प्रायः सायण के ही अनुयायी हैं।

(५) सनातनधर्मानुयायी सदा से सायणभाष्य को आर्य जाति की संस्कृति, सभ्यता और रीति-नीति का अनुयायी मानते हैं।

(६) सायणभाष्य के अतिरिक्त ऋग्वेद पर किसी का भी पूर्ण भाष्य नहीं है। इसलिए सायणभाष्य के अभाव में ऋग्वेद का न तो सम्यक् अर्थ-ग्रहण होता और न 'रॉथ' की 'पीटर्स बर्ग लेक्जिकन' नामक कोष की पुस्तक ही बन पाती और न ही 'ग्रासमान' का वैदिक कोष ही लिखा जाता।

फलतः जिन विद्वानों की धारणा है कि 'ग्रीक और लैटिन' भाषाओं का ज्ञान और साधारण संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही 'वेदार्थ' समझा जा सकता है, वे सचमुच भारी भ्रम में हैं। हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म और हिन्दू शास्त्रों का मर्म समझने वाले सायणाचार्य के भाष्य से वेदार्थ समझने में जो सहायता मिलेगी, उसकी टुकड़ी सहायता भी 'ग्रीक और लेटिन' के ज्ञान से अथवा लाँलोआ (फ्रेंच), लुडविग (जर्मन) और ग्रिफिथ (इंगलिश) के किये वेदार्थ से नहीं मिलेगी।

अतः वैदिक साहित्य का परिचय पाने के लिये **'सायणभाष्य'** ही प्रधान सहायक है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। यह स्थिति कितनी ही शताब्दियों से आजतक चली आ रही थी, किन्तु भारतवर्ष के तथा वेदाभ्यासियों के सौभाग्य से इस बीसवीं शताब्दी में प्रकाशित वेदार्थपारिजात एवं शुक्लयजुर्वेद का करपात्र-भाष्य सायण के साथ अन्य सहायक भी उपलब्ध हो गया है।

अध्यायगत पादों में स्थित अधिकरणों की सूची

अध्याय	पादों में अधिकरणों की संख्या							
	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पञ्चम	षष्ठ	सप्तम	अष्टम	योग
प्रथम	८	४	१०	२०					४२
द्वितीय	१८	१३	१४	२					४७
तृतीय	१५	१९	२०	२१	२०	१६	२३	२३	१५७
चतुर्थ	१७	१३	२०	१२					६२
पञ्चम	१८	१२	१५	९					५४
षष्ठ	१३	११	२१	१४	२१	७	१३	९	१०९
सप्तम	५	१	१४	३					२३
अष्टम	१९	६	६	४					३५
नवम	१८	२०	१४	१५					६७
दशम	११	३४	२०	२७	२६	२२	२०	१९	१७९
एकादश	११	१६	१६	२१					६४
द्वादश	२१	१५	१६	१६					६८
									कुलयोग ९०७

अध्यायगत पादों में स्थित सूत्रों की सूची

अध्याय	पादों में स्थित सूत्रों की संख्या								
	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पञ्चम	षष्ठ	सप्तम	अष्टम	योग
प्रथम	३२	५३	३५	३०					१५०
द्वितीय	४९	२९	२९	३२					१३९
तृतीय	२७	४३	४६	५७	५३	४७	५१	४४	३६८
चतुर्थ	४८	३०	४१	४१					१६०
पञ्चम	३५	२३	४४	२६					१२८
षष्ठ	५२	३१	४१	४७	५६	३९	४०	४२	३४८
सप्तम	२३	२१	३६	२०					१००
अष्टम	४३	३२	३५	२८					१३९
नवम	५८	६१	४३	६०					२२२
दशम	५८	७४	७५	५९	८८	७९	७३	७०	५७६
एकादश	७०	६६	५४	५७					२४७
द्वादश	४६	३७	३८	४७					१६८
									कुलयोग २७४५

भाट्ट-प्राभाकर मतभेद प्रदर्शक सूची

अध्याय	भाट्टमत	प्राभाकरमत
प्रथम	धर्मप्रमाणनिरूपण	विधिवाक्यप्रामाण्यनिरूपण
द्वितीय	कर्मभेदनिरूपण	शास्त्रभेदनिरूपण
तृतीय	शेष-शेषिभावनिरूपण और प्रकरण के दो भेद—महाप्रकरण और अवान्तर प्रकरण	शेष-शेषिभावनिरूपण, अवान्तर प्रकरण का अस्वीकार
चतुर्थ	प्रयोज्य-प्रयोजकभावनिरूपण	उपादानप्रमाणगम्य शेषत्व-प्रयुक्ति - अधिकार - उत्पत्तिसंज्ञक चारों का निरूपण
पञ्चम	अनुष्ठानक्रम और वह विधेय है।	अनुष्ठानक्रम, किन्तु वह विधेय नहीं है।
षष्ठ	अधिकारनिरूपण	अधिकारनिरूपण
सप्तम	सामान्यातिदेश	सामान्यातिदेश
अष्टम	विशेषातिदेश	विशेषातिदेश
नवम	ऊह	ऊह
दशम	बाध, अतिदेश के द्वारा विकृति में प्रकृति से बाध्य-पदार्थ को नहीं लाया जाता।	बाध, अतिदेश के द्वारा विकृति में प्रकृति से बाध्यपदार्थ को लाया जाता है।
एकादश	तन्त्रनिरूपण	तन्त्रनिरूपण
द्वादश	प्रसंगनिरूपण	प्रसंगनिरूपण

पदार्थभेद-निरूपण

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि संज्ञक छह प्रमाण	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति संज्ञक पाँच प्रमाण
संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ततादात्म्य-तादात्म्य तीन सन्निकर्ष।	संयोग, संयुक्तसमवाय, समवाय तीन सन्निकर्ष।
चक्षु, घ्राण, रसन, त्वक्, श्रोत्र, मन— ये छह इन्द्रियाँ हैं।	ये ही छह इन्द्रियाँ हैं।
अभिहितान्वयवाद	अन्विताभिधानवाद
शब्द के दो प्रकार, वैदिक-लौकिक दोनों शब्द प्रमाण हैं।	शब्द के दो प्रकार, एक का पृथक् प्रामाण्य है, और लौकिक शब्द का आनुमानिक प्रामाण्य है।
दशलकारसाधारण आख्यात का अर्थ—'आर्थीभावना' है।	लिङ् में ही केवल 'आख्यात' का अर्थ—'आर्थीभावना' है, अन्य लकारों में नहीं।

लिङ् का अर्थ कोई अलौकिक विशेष-व्यापार है जो शब्दनिष्ठ होता है।	लिङ् का अर्थ 'नियोग' है।
दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति भेद से अर्थापत्ति दो प्रकार की है।	केवल दृष्टार्थापत्ति है, श्रुतार्थापत्ति नहीं।
द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, अभाव, ये छह पदार्थ हैं।	द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, सादृश्य, संख्या, समवाय—ये आठ पदार्थ हैं।
पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मनस्, शब्द, तम —ये ग्यारह द्रव्य हैं।	पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मनस्—ये नौ द्रव्य हैं।
वायु का स्पार्शनप्रत्यक्ष होता है।	वायु का ज्ञान अनुमान से होता है, अतः 'वायु' अनुमेय है।
आकाश, काल, दिक् का प्रत्यक्ष होता है।	आकाश, काल, दिक्—ये अनुमेय हैं।
आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है।	आत्मा को अहम्प्रत्यय से जाना जाता है।
'मनस्' अणु है।	'मनस्' अणु है।
'शब्द' द्रव्य पदार्थ है।	'शब्द' तो आकाश का गुण है।
'तमस्' द्रव्य पदार्थ है।	'तमस्' नामक कोई पदार्थ ही नहीं है।
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संस्कार, ध्वनि, प्राकटच—ये इक्कीस (२१) गुण हैं।	'संख्या' की गणना 'गुण' में नहीं है, वह पृथक् पदार्थ है। शेष सब स्वीकृत है।
'ज्ञान' अनुमेय है।	'ज्ञान' स्वयं प्रकाश है।
अन्यथाख्यातिवाद	अख्यातिवाद
'कर्म' प्रत्यक्ष है।	'कर्म' अनुमेय है।
पर और अपर के भेद से 'सामान्य' दो प्रकार का है।	'पर' सामान्य नहीं है, केवल 'अपर' सामान्य है।
ब्राह्मणत्वादि 'जाति' है।	ब्राह्मणत्वादि 'जाति' नहीं है, किन्तु उपलब्धि है।
अभाव चार प्रकार का होता है—१. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३. अत्यन्ताभाव, ४. अन्योन्याभाव।	'अभाव' नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। वह तो अधिकरण' स्वरूप ही है।

